

सत्तानिरपेक्ष–'संस्कृति' शब्द, एवं सत्तासापेक्ष–'सभ्यता' शब्द का चिरन्तन–इतिवृत्त

तथा

भारतीय–'सांस्कृतिक–आयोजनों' की रूपरेखा

उद्बोधनात्मक–सामयिक निबन्ध





निबन्धा—मोतीलालशर्म्मोपाह्वः—

यः कश्चिदपि मुक्तरक्तशर्म्मा–वेदवीथीपथिकः

आङ्गिरसो भारद्वाजः



प्रकाशकः—'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य–(मानवाश्रम)' दुर्गापुरा

(जयपुर–राजस्थान)

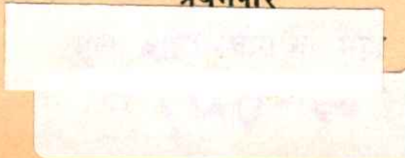




मुद्रकः—श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम दुर्गापुरा

प्रकाशनतिथिः—पुनर्वसुनक्षत्रान्विता चैत्रशुक्ला·श्रीरामनवमी वि० सं० २०१५ शनैश्चरवासर

प्रथमवार



श्री

राजस्थान–सत्तातन्त्र के मुख्यमन्त्री

महामान्य श्रीमोहनलालजी सुखाडिया महाभाग

के

बलोपेत–करकमलों में

संस्थान की ओर से सम्मानपूर्वक

समर्पित

महामान्य मुख्यमन्त्री महाभाग !

भारतराष्ट्र की ज्ञान–विज्ञानात्मिका प्राच्या संस्कृति का परम्परा से ही अनुगमन करते रहने वाले परमपावन सुसांस्कृतिक–राजस्थान के सत्तातन्त्रने विगत दस वर्षों से अपनी राजधानी (जयपुर) में ही समायोजिता जिस "सांस्कृतिक–साहित्यिक–निधि" की ओर अबतक दृष्टिपात का भी अनुग्रह नहीं किया था, उस अचिन्त्य, एवं अप्रतर्क्य दृढतम वारुणपाश–बन्धन को सर्वप्रथम आपने हीं यत्किञ्चित् 'शिथिल' करने का जो महान् अनुग्रह किया है, तत्कृतज्ञता–ज्ञापन के रूप में हीं प्रस्तुत 'सांस्कृतिकनिबन्ध' श्रीमान् के समर्थ करकमलों में नम्रतापूर्वक इस दृढ 'मान्यता' के साथ समर्पित होरहा है कि, अब निकट–भविष्य में हीं राजस्थान–सत्तातन्त्र अपने हीं प्रान्त में घटित इस 'अन्तर्राष्ट्रीय'–सांस्कृतिक–कार्य्य' के उचित मूल्याङ्कन में अन्य प्रान्तों से पीछे नहीं रहेगा, जिसके बल पर कि राजस्थान अपने अतीत 'सांस्कृतिक-गौरव' के संस्मरण-पथ पर पुनः आरूढ किया जासके ।

समर्पकः—नम्रः

मोतीलालशर्म्मोपाह्वः–यः कश्चिदपि

मुक्करक्तशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः

(संस्थानाध्यक्षः)

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान

मानवाश्रम–दुर्गापुरा (जयपुर)

आश्विनशुक्ल–विजयदशमी

वि० सं० २०१५

श्रीः

सांस्कृतिक-निबन्धानुगता-संक्षिप्ता--विषयसूची

(परिच्छेदात्मिका)

श्री:

निबन्ध के प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का सङ्केत—

श्रीः

सांस्कृतिक-निबन्धानुगता-संक्षिप्ता-विषयसूची

(परिच्छेदात्मिका)

*-'किमपि प्रास्ताविकम्' (प्रस्तावना) की विषयसूची—
(२६६ परिच्छेदों से समन्विता)—

उपरता चेयं–'किमपि प्रास्तविकस्य' संक्षिप्ता–विषयसूची

—*—

'सत्तानिरपेक्ष-'संस्कृति' शब्द, एवं सत्तासापेक्ष-'सभ्यता' शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त' नामक-प्रथमकरण की संक्षिप्ता-विषयसूची

—१—

—उपरतञ्चेदं चिरन्तनेतिवृत्त-संस्कृतेः, सभ्यतायाश्च—

इति–निरपेक्ष–संस्कृति, सापेक्ष–शब्दयोश्चिरन्तनेतिवृत्तात्मकं प्रथमं प्रकरणमुपरतम्

१



'भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा' नामक
द्वितीय–प्रकरण की

संक्षिप्ता-विषयसूची

इति-सांस्कृतिक–आयोजनरूपरेखात्मकं

द्वितीयं प्रकरणमुपरतम्

२

'भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों का इतिवृत्त' नामक तृतीय–प्रकरण की संक्षिप्ता–विषयसूची

३

तत्र–(१)–भारतराष्ट्र के महान् सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–पर्व
प्रथम अवान्तरप्रकरणात्मक

रक्षाबन्धनमहोत्सव की संक्षिप्ता विषयसूची

उपरता चेयं-प्रथमावन्तरप्रकरणात्मिका ब्राह्मणानुगता—

रक्षाबन्धनपर्वस्वरूपमीमांसा-प्रथमा

१

——*——

भारतराष्ट्र के महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व
द्वितीय अवान्तरप्रकरणात्मक--विजयदशमीपर्वोत्सव की संक्षिप्त विषयसूची

२

(१)-निगमागमशब्दों का चिरन्तन इतिहास

अत्र-निगमागमशब्देतिवृत्त-उपरत

——१——

२—'विद्या' शब्द का चिरन्तन-इतिवृत्त

'विद्या' शब्द का चिरन्तन-इतिवृत्त उपरत

—२—

३—'दशमहाविद्या' शब्द का चिरन्तनेनिवृत्ति

१–महाकालपुरुष, और उनकी महाशक्ति महाकाली प्रथमा–आद्या–महाविद्या

——*——

२–अक्षोभ्यपुरुष, और उनकी महाशक्ति तारा
द्वितीया–महाविद्या

——*——

३–पञ्चवक्त्र शिव, और उनकी महाशक्ति षोडशी
तृतीया–महाविद्या

——*——

४–त्र्यम्बक शिव, और उनकी महाशक्ति भुवेनश्वरी
चतुर्थी–महाविद्या

——*——

५–कबन्ध शिव, और उनकी महाशक्ति छिन्नमस्ता
पञ्चमी–महाविद्या

---*---

६–दक्षिणामूर्त्ति कालभैरव, और उनकी महाशक्ति भैरवी षष्ठी–महाविद्या

---*---

७–पुरुषशून्या महाशक्ति धूमावती भगवती सप्तमी–महाविद्या

---*---

८–एकवक्त्र रुद्र, और उनकी महाशक्ति वल्गामुखी अष्टमी–महाविद्या

९–मतङ्गशिव, और उनकी महाशक्ति मातङ्गी
नवमी–महाविद्या

——*——

१०–सदाशिवपुरुष, और उनकी महाशक्ति कमला
दशमी–महादशमी

दशमहाविद्या शब्द का चिरन्तनेतिवृत्त अत्र उपरत

३

४–विजयदशमीपर्व का संक्षिप्त इतिवृत्त

उपरता चेयं क्षत्रियानुगता विजयदशमीपर्वस्वरूपमीमांसा द्वितीया
उपरतश्चात्र–'विजयदशमी' नामकं पर्व

२

—— * ——

श्रीः

भारतराष्ट्र के महान्-सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व

तृतीय अवान्तरप्रकरणात्मक 'दीपावली-पर्वोत्सव' की संक्षिप्ता विषयसूची

गोवर्द्धनोत्सवानुगता–गोस्वरूपात्मिका–'नहुष–च्यवन संवादरूपा' पावनगाथा का माङ्गलिक संस्मरण (सर्वात्मना अवधेय, तथा आचरणीय)

उपरता चेयं–वैश्वर्णानुगता—
दीपावलीपर्वस्वरूपमीमांसा तृतीया
३

—*—

श्रीः

भारतराष्ट्र के महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व

चतुर्थ अवान्तरप्रकरणात्मक "होलापर्वोत्सव" की संक्षिप्त विषयसूची

उपरता चेयं–शूद्रवर्णानुगता

होलिकापर्वस्वरूपमीमांसा–चतुर्थी

४

——*——

सेयं सांस्कृतिकनिबन्धानुगता संक्षिप्ता

विषयसूची–उपरता

——*——

श्रीः

उद्बोधनात्मक-सांस्कृतिक-निबन्धानुगतं

किमपि प्रास्ताविकम्

(प्रस्तावना)

श्रीः

उद्बोधनात्मक–सांस्कृतिक–निबन्धानुगतं
किमपि प्रास्ताविकम्

१–कालानुबन्धिनी सामान्य घटनाओं के महत्त्वपूर्ण परिणाम—

परमकालात्मक–अनन्त–अमूर्त्त–अव्यक्त-लक्षण '**अक्षरकाल**' के नियन्त्रण से नियन्त्रित अवमकालात्मक–सादि सान्त–मूर्त्त-व्यक्त–लक्षण '**क्षरकाल**' के विवर्त्तरूप दिक्–देश–कालात्मक–'**सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्बत्सरकालात्मक**' त्रैलोक्य में घटित–विघटित होतीं रहने वालीं कालिक–दैशिक घटनाएँ कब, क्यों, और कैसे अकल्पित–तथ्यों की निमित्त बन जाया करतीं हैं ?, प्रश्न दुरधिगम्य है । निमित्त बन अवश्य जातीं हैं, यह निर्भ्रान्ति सत्य है । और प्रस्तुत सामायिक–निबन्ध का आधार एक ऐसी ही घटना है ।

२–संस्कृतिप्रेमी पत्रकार का दर्शनप्रदानानुग्रह, और तत्परिणाम—

भारतीय सत्तातन्त्र के नवजागरणात्मक प्रक्रान्तकाल में सर्वत्रैव संस्कृति, **सांस्कृतिक–आयोजन, मानवता, मानवधर्म्म, सत्य, नैतिकता, अहिंसा, मैत्री, पञ्चशील, सहास्तित्त्व, समानता, विश्व-शान्ति, विश्वबन्धुत्त्व**, आदि आदि रूपेण परःशत आदर्श–घोषणाओं का तुमुलनाद यत्रतत्र सर्वत्र 'अनाहत-नादरूपेण' प्रतिध्वनित हो रहा है । इस प्रतिध्वनि के अनुकरण में हीं भारतराष्ट्र के तत्तत्प्रान्तों के तत्तद् राष्ट्रीय नेताओं के नेतृत्त्व में, किंवा तटस्थ निरीक्षण में परःशत सामयिक–पत्र असंख्य–संख्या में अभिव्यक्त हो रहे हैं । गतवर्ष राजस्थानप्रान्त के एक तथाविध ही पत्रकार, क्रान्तिकारी पत्रकार, अपनी क्रान्ति से भारत-राष्ट्र को सर्वात्मना परिवर्त्तित कर देने के लिए प्रतिक्षण आकुल–व्याकुल बने रहने वाले प्रचण्ड सुधार-वादी तेजस्वी पत्रकार, आज की भाषा में त्याग–तपस्या–बलिदान–जेलयन्त्रणादि अनेक–तपोभावों में तपे हुए, मँजे हुए, परखे हुए कर्म्मठवीर पत्रकार '**राजस्थान**' की '**संस्कृति**' के सम्बन्ध में एक '**सांस्कृतिक–विशेषाङ्क**' अपनी कल्पना में प्रतिष्ठित कर इस कामना से पधारे कि, "**हम इनके विशेषाङ्क के लिए राजस्थान की संस्कृति, किंवा भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में अपने विचार अभिव्यक्त करें**" । इसप्रकार के महत्त्वपूर्ण सामयिक–आयोजनों, योजनाओं में योगदान करने की क्षमता से सदा से ही सर्वात्मना वञ्चित हमने पत्रकार महोदय से क्षमा–माँगली सांस्कृतिक–विचाराभिव्यक्ति के लिए । और सम्भवतः हमारी इस असमर्थता को समझ लेने से ही सन्तुष्टमना पत्रकार महाभाग प्रसन्नतापूर्वक ही परावर्त्तित होगए ।

३–कालिकघटनावश 'संस्कृति' शब्द के प्रति सहज आकर्षण—

घटना सर्वथा सामान्य थी, जो प्रायः सभी के जीवन में घटित होती ही रहती है । किन्तु इस सामान्य-सी घटना ने हमारे मनस्तन्त्र को सर्वात्मना आलोड़ित–विलोड़ित ही कर डाला । "**संस्कृति, सभ्यता, सांस्कृतिक-आचार**" '**सांस्कृतिक-आयोजन**' '**सांस्कृतिक विशेषाङ्क**' आदि आदि रूपेण अनेक प्रकार के ऊहापोह अन्तर्जगत् में स्वतः ही अभिव्यक्त हो पड़े, जिनका शब्दार्थ-समन्वय कर लेना भी हमारे लिए एक कठिन

समस्या बन गई। **संस्कृति, तदाचार,** तथा **तदायोजन** पक्ष जहाँ सदा से ही हमारी स्वाध्यायनिष्ठा के अङ्ग रहे हैं, वहाँ इन शब्दों के शब्दार्थसमन्वय की ओर कभी हमारा दृष्टिकोण अद्यावधि आकर्षित ही नहीं हुआ था, जिस आकर्षण का आधार वही उक्त घटना बनी। और इसी घटना के अनुग्रह से वर्त्तमान-भारतराष्ट्र में महता-समारम्भेण समायोजित उन आयोजन-समारोहों की ओर भी हमारा ध्यान सहसा आकर्षित हो ही तो पड़ा, जो आयोजन वर्त्तमान राष्ट्रीय-प्राङ्गण में **'सांस्कृतिक-आयोजन'-'सांस्कृतिक-झलकियाँ, 'सांस्कृतिक-समारोह'-'सांस्कृतिक प्रदर्शन'** आदि आदि उपाधियों से समलङ्कृत, सुविभूषित हैं।

४-'राजा कालस्य कारणम्' मूलक वर्त्तमान 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के महान् विजृम्भण-

तथाविध आयोजयों में यद्यपि साक्षात्रूप से 'द्रष्टा' बनने जैसा महद्भाग्य तो अद्यावधि भी हमें उपलब्ध नही हो सका। तथापि युग-सङ्ग-जनित-प्रभाव से कर्णाकर्णिपरम्परया इन राष्ट्रीय-आयोजनों का जैसा, जो कुछ महान् इतिवृत्त ! सुना गया, उस श्रवणमात्र से ही हमें सहसा स्तब्ध ही हो जाना पड़ा। और यह स्तब्धता उस अवस्था में तो सीमा का अतिक्रमण ही कर गई, जबकि यह सुना गया कि-**'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-प्रभुसत्तासमर्थ गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्रात्मक सत्तातन्त्र'** स्वयं भी अपने केन्द्रप्रतिष्ठान-माध्यम से इत्थंभूत आयोजनों को अन्यतम संरक्षण प्रदान कर रहा है, एवं तत्पदचिह्नानुवर्ती अन्य प्रान्तीय-सत्तातन्त्र भी इसी संरक्षण-पद्धति की आराधना-उपासना में प्रवृत्त हैं। केन्द्रसत्ता के द्वारा सर्वात्मना स्वीकृत, एवं प्रान्तीय सत्ताओं के द्वारा सर्वात्मना अभिनन्दित तथाविध आयोजन-समारोहों का-**'राजा कालस्य कारणम्'** न्याय से यदि भारतीय जनतन्त्र भी सोल्लास सोत्साह अनुकरण करने लग पड़े, तो इस में भी कोई आश्चर्य्य नहीं है। फलतः आज के इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतवर्ष में **केन्द्रसत्ता, प्रान्तसत्ताएँ, तथा जनतन्त्र,** तीनों का ही **संस्कृति, सांस्कृतिक-आचार,** एवं **सांस्कृतिक-आयोजन**-रूप से एकमात्र महान् पौरुष यही रह गया है कि, वे अपने छोटे से छोटे, एवं बड़े से बड़े सामाजिक-राजनैतिक-राष्ट्रीय,-तथा अन्तर्राष्ट्रीय आयोजनों में, प्रत्येक में सर्वप्रथम तथाविध उन आयोजनों को ही प्रमुखता प्रदान करते रहें, जिन आयोजनों के **मणिपुरनृत्य-कत्थककली-नृत्य-मयूरनृत्य-ढोलकनृत्य-लँगानृत्य**-आदि आदि नाम आज आबाल-वृद्ध-वनिता-सबके लिए माङ्ग-लिए-पारायणपाठ का स्थान ग्रहण कर चुके हैं। सूचना ग्रामसंगठन की, तो तत्र प्रथम संस्मरण नाच-गान के आयोजन का। समाचार गणतन्त्रदिवस के, तो तत्र प्रथम प्रचार विविध प्रान्तों से आगत-समागत नाच-गान-करने वालीं मण्डलियों का। आयोजन रचनात्मक कार्य्यों का, तो तत्र प्राथम्य सांस्कृतिक-झल-कियों का।

५-अन्तर्राष्ट्रीय-ख्यातिविमोहन-मूलक सांस्कृतिक-शिष्टमण्डलों का गमनागमन, और संस्कृति—

जनश्रुति तो ऐसी भी है कि, आज भारतीस सत्तातन्त्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री-सम्बन्धों को दृढमूल प्रमाणित करने के लिए यथावसर जो सांस्कृतिक-शिष्टमण्डल विदेशों में भेजा करता है, उन शिष्टमण्डलों में भी प्रमुखता तथाविध सांस्कृतिक-भावों की ही रहती है। विशिष्ट **कलाकार,** सम्भवतः **अभिनेता,** एवं लोक-ख्याता **अभिनेत्रियाँ,** तथा कुशल **नर्त्तक-वादक-गायक,** आदि आदि विशिष्टतम सांस्कृतिक-प्रतीकों से सर्वात्मना सुसज्जित सांस्कृतिक-शिष्ट मण्डल ही भारतीय संस्कृति के महान् सांस्कृतिक सन्देश को विदेशों में मुखरित करने के लिए यथाकाल सत्तातन्त्र के द्वारा ही तत्र गमन करते रहते हैं, एवं तत्परिणाम में तथाविध ही

शिष्टमण्डल वहाँ से यहाँ पधारते रहते हैं। यों इन दोनों मण्डलों के पारस्परिक विचारादानप्रदान से दोनों देशों की संस्कृतियों का ही परस्पर आदान-प्रदान प्रक्रान्त है, जिस इस सांस्कृतिक-आदान-प्रदान का नाम हीं है वह 'मैत्री', जिसकी कृपा से ही भारतराष्ट्र ने बहुत थोड़े से समय में हीं अन्तर्राष्ट्रीय-जगत् मे अपना एक विशिष्ट सम्मानित स्थान बना लिया है। विदेशों के कलाकार मुग्ध हैं आज भारतीय सांस्कृतिक-कलाकारों के प्रदर्शनों से। अनेक बार वे अपनी ऐसी आतुरता व्यक्त कर चुके हैं कि, वे भारत आकर इसी पद्धति से नृत्य-गीत वाद्यादि में कौशल प्राप्त करना चाहते हैं। इधर हमारी सत्ता के सर्वोच्च प्रतीक भी तत्र गमनावसरों पर भारतीय सांस्कृतिक-कलाओं के प्रशिक्षण के लिए सम्पूर्ण सुविधाएँ प्रदान कर देने के आश्वासनों से उनका अभिनन्दन ही करते रहते हैं। और यों आज सांस्कृतिक-आयोजनों के नाम से भारतराष्ट्र में एक वैसी प्रचण्ड बाढ सी ही आई हुई है, जिसके प्रचण्डवेग के सामने अन्य कोई भी लक्ष्य क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रह सकता। **अभिनय, नाटक, नर्त्तन, वादन, गायन, हास, परिहास, विनोद, उल्लास, अट्टाट्टहास, भोज, महाभोज, चित्रचित्रण,** आदि आदि विवध सांस्कृतिक ? तथ्यों से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः ओतप्रोत ये **'सांस्कृतिक-आयोजन'** ही भारतराष्ट्र की स्वतन्त्रता के संरक्षण के महान् पतवार प्रमाणित हो रहे हैं। मानो क्षणमात्र भी यदि भारत्तराष्ट्र ने इन आयोजनों को विस्मृत कर दिया, तो अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति के साथ साथ इस की स्वतन्त्र-प्रतिष्ठा भी विलीन ही हो जायगी।

६—पुरातत्त्वानुगत ध्वंसावशेषों के माध्यम से संस्कृति के स्वरूपान्वेषण का महान्-व्यामोहन—

यह तो हुई सत्तातन्त्रानुगता सांस्कृतिक-निष्ठा की पुण्यगाथा। अब इसी प्रसङ्ग से सहसा उस संस्कृतिनिष्ठ 'प्रज्ञातन्त्र' की ओर भी स्वतः ही हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है, जो प्रज्ञातन्त्र दिग्देशकालव्यवस्थापक सत्तातन्त्रों के माध्यम से ही अपनी सांस्कृतिक-निष्ठाओं के ऐतिहासिक, तथा भौगोलिक समन्वय में प्रवृत्त रहता आया है विगत तीन सहस्र वर्षों से। युगधर्म्मप्रवर्त्तक सत्तातन्त्र जिसे 'संस्कृति' मान लेता है अपनी बाह्यदृष्टि से, भारतीय प्रज्ञातन्त्र उसी 'संस्कृति' को अपने चिन्तन का क्षेत्र बना लेता है। और बुद्धयुग से आरम्भ कर वर्त्तमान प्रक्रान्तयुग पर्य्यन्त भारतराष्ट्र के सभी श्रेणि के प्रज्ञातन्त्रों (विद्वानों) की सांस्कृतिक-व्याख्याओं का चिन्तनाधार सत्तानुगत दृष्टिकोण ही बनता आरहा है। सत्ता के आश्रय में पुष्पित-पल्लवित होती रहने वाली त्रिसहस्रवर्षात्मिका भारतीय-संस्कृति, सांस्कृतिक-आचार, सथा सांस्कृतिक-आयोजन, सब-कुछ सत्तातन्त्रों की युगधर्म्मानुगता, अतएव युगपरिवर्त्तनानुसार परिवर्त्तनशीला सत्तासंस्कृतियों से ही अनुप्राणित माने जायँगे। कदापि इन्हें **'भारतीय-संस्कृति'** की सम्मानित उपाधि से समन्वित नहीं किया जा सकेगा, जो भारतीय संस्कृति-आचार-आयोजन अपनी दिग्देशकालातीतता से सत्तामान्यताओं से, एवं युगधर्म्मानुगत परिवर्त्तनों से सर्वथा असंस्पृष्ट ही माने गए हैं।

७-सत्तासापेक्ष प्रज्ञातन्त्रों (विद्वानों) की मान्यताओं से अनुप्राणित 'सांस्कृतिक-इतिहास' का भौतिक-सभ्यता-मात्र पर ही पर्य्यवसान—

संस्कृति के आश्रय से सत्तातन्त्र जीवित रहा करते हैं, जबकि सत्ता के आश्रय से 'संस्कृति' 'संस्कृति' न रहकर केवल भौतिक 'सभ्यता' मात्र ही बनी रह जाती है। अतएव सत्ता के द्वारा मान्या स्वीकृता 'संस्कृति' को ही स्वचिन्तन का आधार मान बैठने वाले सत्तासापेक्ष, किंवा सत्ताश्रित प्रज्ञातन्त्र

अपने प्रज्ञाबल पर 'संस्कृति' का जो इतिहास उपनिबद्ध करते हैं, उसमें अवधानपूर्वक, जागरूकतापूर्वक तद्युग के सत्तातन्त्रों की मान्यताओं को ही प्रमुखता प्रदान करनी पड़ती है। यदि ये ऐसा नहीं करते, तो इनका सांस्कृतिक-इतिहास अप्रामाणिक ही बन जाता है, जिस अप्रामाणिकता के साथ ही इनका सत्तानुबन्धी लोक-स्वरूप ही परिसमाप्त हो जाता है। अपने इत्थंभूत व्यक्तित्त्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही सत्तासापेक्ष प्रज्ञातन्त्रों को युगधर्म्मानुगता सत्तानुबन्धिनी मान्यताओं के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए ही अपने सांस्कृतिक उद्गार अभिव्यक्त करने पड़ते हैं। सत्तानुगता सभ्यता के परिचयचिन्ह हीं इन विद्वानों की दृष्टि में वे 'प्राचीन-पुरातन' तत्त्व हैं, जिन्हें ये अपनी भाषा में—'**पुरातत्त्व**' (**पुरातनतत्त्व**) कहा करते हैं। भूपृष्ठस्थ प्राचीन खण्डहर, तथा भूगर्भस्थ प्राचीन ध्वंसावशेष ही इनकी ऐतिहासिकता, तथा भौगोलिकता के प्रमुख मापदण्ड बने रहते हैं, एवं इन्हीं के माध्यम से ये 'संस्कृति' का स्वरूप व्यवस्थित करते हैं, एवं इन ध्वंसावशेषों को ही ये '**सांस्कृतिक-परिचयचिह्न**' कहा करते हैं। स्पष्ट ही इस सांस्कृतिकता की पर्य्यवसानभूमि केवल 'सभ्यता' ही बनी रहती है, जिसका 'संस्कृति' के शब्दार्थ से भी तो सम्पर्क नहीं है। सत्तातन्त्रों की युगधर्म्मानुगता सभ्यताओं से सर्वथा असंस्पृष्ट रहने वाला सनातन-पुरातन-मौलिक-साहित्य ही वह सांस्कृतिक-पुरातनतत्त्व, किंवा 'पुरातत्त्व' है, जिसकी प्रतीकता के माध्यम से ही 'संस्कृति' शब्द का चिरन्तन इतिहास उपनिबद्ध हुआ करता है, जो दिग्देशकालातीत बनता हुआ 'सनातन-इतिहास' बना रहता है, जो स्वयं अपने रूप से निर्विकार है, युगधर्म्मानुगत विकारों से असंस्पृष्ट है, अतएव '**सामासिक**' जैसे सभ्यतानुबन्धी लौकिक शब्द का तत्र प्रवेश भी असम्भव है।

८—'सामासिक-संस्कृति' का महान् व्यामोहन, एवं प्रतिद्वन्द्वितामूला 'सामासिक-सभ्यता'—

ध्वंसावशेषमूलक तथाकथित सत्तानुबन्धी पुरातत्त्वों के माध्यम से ही सभ्यतात्मक जो प्रसून अभिव्यक्त विकसित होते हैं, उन्हीं का नाम रख लिया जाता है—'**सामासिक-संस्कृति**', जिसका अर्थ किया जाता है—'**अनेक संस्कृतियों के मेल से उत्पन्न होने वाली एक समन्वय संस्कृति**'। अवश्य ही इस सामासिकता में, इस समन्वय में अनेक भावों का समन्वय है। निश्चय ही अनेन भावों के मिलने से ही युगधर्म्मानुगता सामासिकता का जन्म हुआ करता है। किन्तु जिन अनेक भावों का समन्वय होता है, जिन अनेकों के समन्वय से 'सामासिकता' जन्म लेती है, वे अनेक भाव 'संस्कृति' के रूप कदापि नहीं हैं। अपितु ये अनेक-भाव तो सत्तानुबन्धी सभ्यताभावमात्र ही हैं। युगधर्म्मानुगता तात्कालिकी अनेक सभ्यताओं के एकत्र समन्वय से ही '**सामासिक-सभ्यता**' का जन्म हुआ करता है, संस्कृति का नहीं। क्योंकि 'संस्कृति' में अनेकत्त्व है ही नहीं। **सम्पूर्ण** विश्व की '**संस्कृति**' एक है, जिस अखण्डा अभिन्ना संस्कृति के गर्भ में हीं खण्ड-खण्ड-भावात्मिका युगधर्म्मानुगता सत्तानुबन्धिनी-सभ्यताएँ **सामासिकसभ्यता**, तथा **विषमासभ्यता** के रूप से आविर्भूत तिरोभूत होती रहती है। जो सत्ता प्रबल होती है, वह अपनी सभ्यता में इतर निर्बल सत्ता-सभ्यताओं का निगरण कर सामासिकसभ्यता का रूप धारण कर लेती है। जो सभ्यता प्रतिद्वन्द्विनी बन कर सबला सभ्यता से परास्त नहीं होती, वह **विषमासभ्यता** कहलाने लगती है, जिसके दोनों हीं प्रतिद्वद्वी परस्पर एक दूसरी सभ्यता को '**असभ्यता**' कहने लग पड़ते हैं। यों सामासिकता, एवं तन्मूलक साम्य, तथा तन्मूलक वैषम्य, दोनों हीं सभ्यताविवर्त्त दिग्देशकालसीमाओं से सीमित बने रहते हुए मानव की भावुकता

को समुत्तेजित करते ही रहते हैं। इस उत्तेजनापूर्ण सम, विषम, इतिहास का ही नाम **'सभ्यता का इतिहास'** है, यही आजकी भाषा में **'सांस्कृतिक–इतिहास'**, किंवा **'समा–विषमा-संस्कृतियों का इतिहास'** है, जिसके आधार पर ही पुरातत्त्ववेत्ता शोधक विद्वान्, इतिहासमर्म्मज्ञ विद्वान् **'सांस्कृतिक–निबन्ध'** उपनिबद्ध करते रहते हैं।

९–श्रीनेहरू महाभाग की भूमिका से समलङ्कृत श्रीरामधारीसिंह दिनकर महोदय के सांस्कृतिक निबन्ध पर एक दृष्टि––

अपनी सांस्कृतिक लेखिनी से महान् सांस्कृतिक राजा कर्ण के चरित्र का **'रश्मिरथी'** नाम से कविता में चित्रण करने वाले **सर्वश्री रामधारीसिंह दिनकर** महोदय **'संस्कृति के चार अध्याय'** नामक एक ऐसा ही सांस्कृतिक–निबन्ध उपनिबद्ध किया है, जिसकी भूमिका के लेखक हैं **सर्वश्री जवाहरलाल नेहरू**। वर्त्तमान दृष्टिकोण से अनुप्राणित 'संस्कृति' शब्द के व्याख्या–व्यामोहनाकर्षण से इस निबन्ध के स्वाध्याय का हमने भी महद्‌भाग्य प्राप्त किया। इस महान् स्वाध्याय के आधार पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, श्रीदिनकर महोदय का सम्पूर्ण प्रयास उस **'सामासिक-संस्कृति'** का ही यशोगान कर रहा है, जिसके मूलसूत्र पश्चिमी विद्वानों की प्रज्ञा से ही व्यवस्थित हुए हैं। प्रतीच्य विद्वानों नें अपनी दिग्देशकालानुगता **मानसिक अनुभूतिरूपा संस्कृति**, तथा **शारीरिक भूतरूपा सभ्यता** के माध्यम से, ध्वंसावशेषात्मक पुरातत्त्वों के माध्यम से जैसा जो कुछ मान लिया है, उसी को प्रमाण मान कर इस भारतीय अभिनव विद्वान् ने उसी क्रमविकासकालानुपात से अपने उद्‌गार अभिव्यक्त कर डाले हैं।

१०–इङ्गलिशभाषाशब्दों के अनुकरण-माध्यम से भारतीय शब्दार्थसन्वय के दुष्परिणाम, एवं शब्दों का काल्पनिक लाक्षणिकत्त्व–व्यामोहन—

ऐसा क्यों !, और किसलिए !। ऐसा यों, और इसलिए कि, **संस्कृति, सभ्यता, समाज, राजनीति, शासनव्यवस्था, सभा, संविधान, समिति, आचार,** आदि आदि जितने भी शब्द आज हिन्दीजगत् में हिन्दी के अभिनव–लेखकों के माध्यम से श्रुतोपश्रुत हैं, वे सभी शब्द प्रायः इङ्गलिशशब्दों के ही अनुवाद–मात्र हैं। वहाँ के **'कल्चर'** (Culture) शब्द का अनुवाद ही यहाँ **'संस्कृति'** हो गया है, वहाँ का **'सिविलाइजेशन'** (Civilization) शब्द ही यहाँ **'सभ्यता'** रूप में परिणत होगया है। यही दशा अन्यान्य शब्दों की है। इस अनुकरणप्रियता के कारण ही वहाँ इन शब्दों के सम्बन्ध में उनकी जो जो धारणाएँ अभिव्यक्त हुई हैं, वे ही धारणाएँ, वे ही अर्थ इन शब्दों के भी मान लिए गए हैं। और निष्कर्षतः प्रतीच्य-विद्वानों की मान्यता के अनुवादमात्र का नाम ही यहाँ का वर्त्तमान सम्पूर्ण सांस्कृतिक वैभव, किंवा सभ्यतावैभव है। एवं युगधर्म्मप्रभाव से, किंवा तथाकथिता सत्ताश्रयता के निग्रहात्मक अनुग्रह से इच्छा से, किंवा अनिच्छा से उनका दृष्टिकोण ही हमारे लिए सर्वमूर्द्धन्य प्रमाणित हो रहा है। यही कारण है कि, हम स्वयं अपनी मौलिक-साहित्यनिधि के माध्यम से अपने इन मौलिक सांस्कृतिक शब्दों के चिरन्तन–मौलिक–इतिहास के माध्यम से इन के शब्दार्थसमन्वय में असमर्थ ही प्रमाणित हो रहे हैं। अतएव संस्कृति, सभ्यता, आदि शब्दों का शब्द–

मर्य्यादानुबन्धी वाच्यार्थ हम आजतक नहीं कर पाए हैं। अपितु तत्स्थान में परमान्यतानुपात से इन शब्दों के लाक्षणिक अर्थों पर ही हम विश्राम कर लेते हैं *।

११--भारतीय संकृतज्ञ विद्वानों का मतवादात्मक अभिनिवेश, एवं तदनुग्रह से राष्ट्रीय संस्कृति का उत्तरोत्तर अभिभव--

क्या स्वयं भारतीय विद्वानों नें (उन भारतीय विद्वानों नें–जिनके लिए एकमात्र भारतीय श्रुति–स्मृति-पुराणादि शास्त्र ही प्रमाण है) इस दिशा में कोई प्रयास किया है इस त्रिसहस्रवर्षात्मिका अवधि में ?।

---

* "संस्कृति एक ऐसी चीज है, जिसे लक्षणों से तो हम जान सकते हैं, किन्तु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते। कुछ अंशों में वह सभ्यता से भिन्न गुण है। अंग्रेजी में कहावत है कि, सभ्यता वह चीज है, जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है, जो हम में व्याप्त है। मोटर–महल–सड़क–हवाईजहाज–पोशाक और अच्छा भोजन, ये, तथा इनके समान सारी अन्य स्थूल वस्तुएँ संस्कृति नहीं, सभ्यता के सामान हैं। मगर पोशाक पहनने और भोजन करने में जो कला है, वह संस्कृति की चीज है।" इत्यादि

—देखिए–'**संस्कृति के चार अध्याय**' नामक निबन्ध, ले० श्रीदिनकरजी, परिशिष्ट 'क' पृ० सं० ६५१ का आरम्भ।

'**अंग्रेजो नें जो कुछ कहा है**' वह तो ठीक ही कहा होगा अपनी मनःशरीरानुगता लोकमान्यताओं के अनुपात से। किन्तु क्या आपके देशके किसी भी मनीषीने संस्कृति, और सभ्यता–शब्दों के सम्बन्ध में आजतक कुछ नहीं कहा ? । मोटर–हवाईजहाज–आदि सभ्यता के सामानों से अपना स्वरूप व्यवस्थित करने वाली वह 'सभ्यता' है क्या ?, एवं पोशाक, तथा भोजन करने की उस 'कला' का स्वरूप–परिचय क्या है ?, जिसे श्रीदिनकरजी '**संस्कृति की चीज**' कह रहे हैं, इत्यादि सभी प्रश्न सर्वथा प्रश्नरूप से ही इसलिए सुरक्षित रह जाते हैं कि, इन प्रश्नों का आप के प्रमाणभूत अंग्रेजों नें लाक्षणिकता के अतिरिक्त शब्दवाच्यार्थमर्य्यादा से संस्मरण भी नहीं किया है। फलतः '**अंग्रेजो नें कहा है**' इस आप्तवाक्य–प्रमाण की अभिव्यक्ति के अनन्तर लेखक महाभाग के सभी प्रयास परिसमाप्त हो जाते हैं।

ठीक यही स्थिति राष्ट्र के प्रमुख कर्णधार भूमिकालेखक **सर्वश्री जवाहरलालनेहरू** महाभाग की है, जिन्होंनें 'संस्कृति' के जो अर्थ दिए हैं, वे भारतीय मौलिक वाङ्मय में तो हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए। निश्चयेन नेहरू महाभाग के भी वे उद्धरण, वे लाक्षणिक अर्थ पश्चिमीजगत् की मान्यताओं से ही अनुप्राणित होंगे। आप कहते हैं—

"संस्कृति है क्या ?। शब्दकोश (भारतीय शब्दकोश नहीं, अपितु विदेशी–शब्दकोश) उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि—'**संसार भर में जो सर्वोत्तम बातें जानी, या कही गई हैं, उन से अपने आप को परिचित कराना ही संस्कृति है**'। एक दूसरी परिभाषा में यह कहा गया है कि–'**संस्कृति शारीरिक, या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण, या विकास, अथवा उस से उत्पन्न अवस्था है**'। यह (संस्कृति) '**मन, आचार, अथवा रुचियों की परिष्कृति, या शुद्धि**' है। यह (संस्कृति)–'**सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है**'। इस अर्थ में संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है" इत्यादि–(निबन्ध-भूमिका)।

यही वह महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिस के उपस्थित होते ही वर्त्तमानयुग के अभिनव विद्वानों के सम्मुख हम लज्जासे सर्वथा ही अवनतशिरस्क बन जाते हैं। और यही समाधान कर देना पड़ता है इस सम्बन्ध में कि, बुद्धयुग से आरम्भ कर वर्त्तमान-प्रक्रान्तयुग-पर्य्यन्त भारतीय शास्त्र के प्रति अनन्य आस्था-श्रद्धा रखने वाले भी भारतीय विद्वानों नें तो इस दिशा में अपनी प्रज्ञा को यत्किञ्चित्रूप से भी उत्पीड़ित करना आवश्यक ही नहीं समझा। 'संस्कृति' का महान्‌कोश **वेदशास्त्र** इनके लिए अपौरुषेय, अतएव सर्वथा पूजन–अर्चन की ही सामग्री बना रहा, सांस्कृतिक–आचारों का महान् कोश **स्मृतिशास्त्र** इनके लिए निरपेक्ष ही प्रमाणित होता रहा। एवं सांस्कृतिक–आयोजनों का महान् कोश **पुराणशास्त्र** इनके लिए उपेक्षणीय ही बना रहा इस त्रिसहस्रवर्षावधिकालमें। अपेक्षित रहे तत्तद्युगों के सत्तातन्त्र, सत्तातन्त्रानुगता मान्यताओं के समर्थक स्वकल्पनया कल्पित अभिनव शास्त्र, एवं स्व स्व व्यक्तित्वप्रतिष्ठामूलक साम्प्रदायिक–मतवादात्मक निबन्ध।

१२--सत्तासापेक्ष भारतीय प्राच्य विद्वानों की मतवादासक्ति, एवं तद्द्वारा ही भारतराष्ट्र का पारतन्त्र्य—

सत्ताश्रयतामूला सत्तासापेक्षता के महान् व्यामोहन से व्यामुग्ध भारतीय प्राच्य विद्वानों की प्रज्ञा से प्रसूता मतवादपरम्पराओंनें हीं तो भारतीय मूलसंस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों के सनातन–मौलिक–अखण्ड-स्वरूप को खण्ड–खण्डरूप में परिणत कर दिया है। इस निर्बलता से ही तो भारतराष्ट्र अनेक शताब्दियों से परतन्त्रता के वारुण–पाश में आबद्ध रहा है। और आज भी वर्त्तमान भारत के वर्त्तमान अभिनव–विद्वानों की ओर से प्रतीच्य दृष्टिकोणानुसार जो सामयिक उद्गार अभिव्यक्त होते रहते हैं, उन सबका श्रेय भी यहाँ के शास्त्रभक्त विद्वानों को ही सधन्यवाद समर्पित कर दिया जासकता है, जो अपने राष्ट्रके सम्मुख अपनी मूलनिधिके चिन्तन-माध्यम से मूलसंस्कृति का कोई भी स्वरूप उपस्थित न करते हुए केवल प्रतीच्यालोचना में हीं अपनी प्रज्ञा परिसमाप्त करते रहते हैं। सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों का वैसा कौनसा स्वरूप उपनिबद्ध हुआ इन प्राच्य–संस्कृतज्ञ–विद्वानों की ओर से, जिसे हम सम्प्रदायवाद-मतवाद-निरपेक्ष विशुद्ध वैसा मौलिक स्वरूप कह सकें, मान सकें, जिसके **अनुशीलन–आचरण-अनुसरण-अनुकरण** से भारतराष्ट्र अपने अभ्युदय, निःश्रेयस् में समर्थ बन सके ?। अतएव हमें तो इन अभिनव विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ही अभिव्यक्त कर देनी चाहिए, जिनकी प्रेरणा से ही आज हम संस्कृति, सभ्यता, शब्दों के चिरन्तन–इतिहासान्वेषण में प्रवृत्त हो रहे हैं।

१३–प्रतीच्य दृष्टिकोण के भक्त भारतीय अभिनव विद्वानों के सांस्कृतिक चार अध्याय, एवं उन की आपातरमणीयता का नग्नचित्रण—–

और सर्वश्री दिनकर महाभाग जैसे अभिनव विद्वानों के तथाविध सांस्कृतिक–निबन्धों के प्रति भी हमें कृतज्ञताञ्जलि ही समर्पित कर देनी चाहिए, जिन्होंनें **'संस्कृति के चार अध्याय'** जैसे अपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध

में आदमी की नस्ल पहिचानने वाले सुविकसित नवीन शास्त्रों के बल पर (१), औष्ट्रिक, या आग्नेय जातियों के आगमन (२), द्रविड़जाति के आगन (३), आर्य्यों के आगमन (४), आर्य्यों के आदिस्थान (५), ऋग्वेदरचनाकाल (६), आदि आदि अपनी महत्त्वपूर्ण खोजों के माध्यम से तीन सहस्रवर्षों के **'सांस्कृतिक–अधःपतन'** का बड़ा ही मार्म्मिक विश्लेषण किया है। विभिन्न मतवादात्मक जिस सम्प्रदायवाद ने तीन सहस्र वर्षों से भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति,÷ विश्ववारा व्यापक संस्कृति, तथा तदाधार पर प्रतिष्ठिता आर्षसभ्यता के मौलिक चिरन्तन जिस स्वरूप को उत्तरोत्तर अभिभूत ही किया है, उस त्रिसहस्रवर्षात्मक सांस्कृतिक–अधःपतन का ही आपके इन चार अध्यायों में विस्तार से निरूपण हुआ है, जिस निरूपण के प्रमुख आधारस्तम्भ प्रतीच्य-विद्वानों के सुविकसित अभिनवशास्त्र, तथा भाषाविज्ञानादि शास्त्र ही बने हुए हैं। आपने आग्रह किया है कि, आपकी इस पुस्तक को अवश्य ही भारतीय जनता पढ़े *। राष्ट्र के त्रिसहस्रवर्षात्मक, मतवादा–भिनिविष्ट सांस्कृतिक-अधःपतन के इतिहासविश्लेषक इन चार अध्यायों के प्रति जिन्हें आकर्षण हो, जो अपने सांस्कृतिक पतन के परप्रदत्त मलीमस इतिहास को एक भारतीय की राष्ट्रीयभाषा–हिन्दी में अनूदित देखना चाहते हों, दूसरे शब्दों में–आज की सभ्यता के संरक्षण के लिए अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक इंगलिशभाषा से जो अपरिचित हों, अतएव प्रतीच्य विद्वानों के विचारों को–साक्षात्रूपेण जानने में जो असमर्थ हों, मादृश ऐसे व्यक्तियों को अवश्य ही इस निबन्धावलोकन से उद्बोधन प्राप्त कर ही लेना चाहिए। और यह अनुमान लगा ही लेना चाहिए कि, भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक–निष्ठाओं के शैथिल्य में प्रतीच्य विद्वानों के अभिनवग्रन्थ उतने कारण नहीं है, जितने कारण उनके ये अनुवादग्रन्थ बने हुए हैं। अपने विशुद्ध राजनैतिक स्वार्थ के, किंवा साम्राज्यलिप्सा के संरक्षण के लिए जिन चाणाक्षचतुर प्रतीच्य विद्वानों नें भारतीय आर्य्यजाति को भारतराष्ट्र के अतिथि प्रमाणित कर दिया था, उसी दृष्टिकोण का अनुकरण करने वाले इन **चार अध्यायों** को आप आदि से अन्त तक पढ़ जाइए, **'संस्कृति–सभ्यता'** शब्दों के आचारात्मक अर्थ का भी आप बोध प्राप्त न कर सकेंगे इस महान् स्वाध्याय से। हाँ, वह सबकुछ विदित हो जायगा आपको, जो इंगलिश न जानने के कारण आजतक आपके लिए केवल कर्णाकर्णि–परम्परा ही बना हुआ था। पश्चिमी विद्वानों नें भारतीय–संस्कृति,–सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक-आयोजनों के सम्बन्ध में अपने राजनैतिक स्वार्थ की संरक्षणलिप्सा से जो धारणाएँ व्यक्त कीं हैं, उनका बोध आप अवश्य ही प्राप्त कर लेंगे इन चारों अध्यायों से, जिसे हम उद्बोधन का ही कारण मानेंगे। एवं इस उद्बोधन की दृष्टि से अन्ततोगत्वा हम भी श्रीदिनकरजी के ग्रन्थ के अवलोकन के आग्रह से उनसे पीछे न रहेंगे।

---

(१)–पृ०सं० १८,१९ (२)–पृ०सं० २३ (३)–पृ०सं० २५ (४)–पृ०सं० २७ (५)–पृ०सं० २८ (६)–पृ० सं० २२—

÷ **सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा** (यजुसंहिता)।

* "मेरा अपना क्षेत्र तो काव्य ही है। एवं मेरे साहित्यिक जीवनका यश, और अपयश मेरे काव्य पर निर्भर करता है। किन्तु जिस परिश्रम से मैंने यह पुस्तक लिखी है, उस परिश्रम से मैंने और कुछ नहीं लिखा। मैंने पाठकों से कभी यह अनुरोध नहीं किया कि, वे मेरी किसी भी कृति को पढ़ें। किन्तु इस ग्रन्थ को देख जाने का अनुरोध मैं सबसे करता हूँ"

—लेखक की भूमिका से उद्धृत—

१४-'सामासिक-संस्कृति' का फलितार्थ, एवं अभिनव विद्वानों की आवेशपूर्णा सर्व-नाशकारिणी भावुकता—

'सामासिक-संस्कृति' का फलितार्थ निकलता है-'संस्कृति का आत्यन्तिक अभाव'। अपनी कोई निश्चित निष्ठा, निर्णीत जीवनपद्धति नहीं। अपितु गङ्गा गए गङ्गादास, एवं जमना गए जमनादास। नितान्त व्यामोहक 'सामासिक' शब्द का यही अर्थसमन्वय है, जिस भावुकतापूर्ण इस सामासिक-समन्वय की कृपा से ही तो भारतराष्ट्र अपने मौलिक-नैष्ठिक-निश्चित-निर्णीत-स्वरूप से पराङ्मुख होता आ रहा है विगत तीन सहस्रवर्षों से। लोकैषणात्मिका वित्तैषणा को, किंवा वित्तैषणात्मिका लोकैषणा को, अथवा तो विशुद्धा लोकैषणा को आधार बना लेने वाली सत्ताश्रयता से ही इसप्रकार का व्यामोहन आविर्भूत होजाता है, जिससे स्वदर्शन अन्तर्मुख बन जाता है, एवं परदर्शन प्रमुख बन जाता है। स्वस्वरूपबोध की निष्ठावृत्ति से वञ्चित कर देने वाली परप्रत्ययनेयमूला-परदर्शनात्मिका सर्वनाशकारिणी भावुकता से ही मानव लक्ष्य-विहीन बन जाया करता है। ऐसे लक्ष्यविहीन भावुक मानव की भाषा तो होती है-'वसुधैव कुटुम्बकम्' की। किन्तु आचारदृष्ट्या स्वयं इसका कोई स्वरूप ही नहीं होता। भावावेशवश विश्वमैत्री का उद्घोषमात्र करने वाला यह सामासिक-संस्कृति का पुजारी कालान्तर में स्वयं अपनी मित्रता से भी वञ्चित हो जाता है, जिसका-'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' इत्यादि से स्पष्टीकरण हुआ है।

१५-परतन्त्रता से उन्मुक्त भारतराष्ट्र के 'स्व' तन्त्र की अन्वेषण-जिज्ञासा, एवं 'स्वतन्त्र' शब्दार्थसमन्वय—

महद्भाग्य से भारतराष्ट्र अनेक शताब्दियों के अनन्तर उस परतन्त्रता से तो अवश्य ही मुक्त होगया, जिस परतन्त्रता के निबिड़-वारुणपाश में आवद्धा भारतराष्ट्र की प्रज्ञा को अनिच्छन्नपि परसत्तातन्त्रों की मान्यताओं को अवनतशिरस्क बन कर मान ही लेना पड़ता था। क्या 'पर' 'तन्त्रों' के पाश से मुक्त हो जाने मात्र से ही भारत 'स्व' तन्त्र में भी प्रतिष्ठित होगया ?, यह प्रश्न उपस्थित है दासता से उन्मुक्त भारतराष्ट्र की प्रज्ञा के सम्मुख। परतन्त्रता से मुक्त होजाना अन्य पक्ष है, एवं परतन्त्रता से मुक्त होकर 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित होते हुए 'स्वतन्त्र' बन जाना अन्य पक्ष है। क्या अर्थ है 'स्व' 'तन्त्र' रूप 'स्वतन्त्र' शब्द का ?। क्या है भारतराष्ट्र का 'स्व' नामक वह 'तन्त्र', जिसमें प्रतिष्ठित होने के अनन्तर ही यह 'स्वतन्त्र' उपाधि से समन्वित माना जासकता है ?। एक दास का दासता के पाश से उन्मुक्त होजाना हीं तो उसकी 'स्वतन्त्रता' नहीं है। अपितु जो दास अबतक दासवृत्ति के कारण अपने वैय्यक्तिक स्वरूप से, इच्छा से जैसी जीवनव्यवस्था सोच सकता था, तदनुपात से स्वेच्छा से स्वस्वरूपानुपात से जैसी व्यवस्था कर सकता था, वैसा सबकुछ करने लग पड़ जाना ही इसका 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित होना माना जायगा, एवं तभी इसे 'स्वतन्त्र' कहा जासकेगा।

१६-वर्त्तमान भारतीय सत्तातन्त्र से भारतराष्ट्र के 'स्व' रूप प्रातिस्विक तन्त्र के सम्बन्ध में आज के जागरूक जनतन्त्र की प्रश्नात्मिका जिज्ञासा, एवं 'स्वतन्त्र', 'परतन्त्र'-शब्दों का मौलिक-अर्थसमन्वय—

भारतराष्ट्र ने, परतन्त्रता से उन्मुक्त भारतराष्ट्र ने अपने दशवर्षात्मक इस मुक्तिकाल में 'स्व' की क्या परिभाषा जनतन्त्र के सम्मुख उपस्थित की ?, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। ब्रिटिशदासतालक्षणा-परतन्त्रता के

युग की अपेक्षा इस मुक्तिकाल में भारतराष्ट्र अपने किन किन 'स्व' भावों, 'तन्त्रों' में प्रतिष्ठित होगया स्वप्रतिष्ठा से ?, क्या स्वस्था-प्रकृतिस्था प्रज्ञा से राष्ट्रीय कर्णधारोंनें इस प्रश्न को चिन्तन का क्षेत्र बनाया है ?। जिन महत्त्वपूर्ण शासनपदों से भारतीय वञ्चित थे परतन्त्रतायुग में, उन पदों पर प्रतिष्ठितमात्र होकर पर-तन्त्रताप्रवर्त्तक सत्ताधीशों के ही समस्त विधि-विधानों का भारतीय जनतन्त्र से पालन करवाते रहना ही क्या 'स्व' तन्त्र की परिभाषा है ?। अर्थात् विदेशी शासक कटुता से जिन विधि-विधानों, आचारपद्धतियों का बलात् पालन करवाते थे जनतन्त्र से, उन्हीं विधि-विधानों, आचारपद्धतियों का जनतन्त्र की घोषणा के माध्यम से, उससे भी अधिक कटुता से जनतन्त्र से पालन करवाते रहने का ही नाम क्या 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित हो जाना है ?। अथवा तो जो केन्द्रसत्ता परतन्त्रतायुग में नृत्य-गान-वादन-ढोलकनृत्य-आदि महान् ! सांस्कृतिक-आयोजन जैसे 'स्व' ? तन्त्रों को नहीं पनपने देती थी, उन 'स्व' तन्त्र रूप आयोजनों को केन्द्र-सत्ता के द्वारा अनुदिन माने, और मनवाए जाते रहने का नाम हीं क्या 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित हो जाना है ?। किंवा परतन्त्रतायुग में सत्ताभयनिबन्धना जो एक अनुशासनात्मिका मर्य्यादा प्रक्रान्त थी, उस मर्य्यादा को जलाञ्जलि समर्पित कर अनुशासनहीनतापूर्वक यथेच्छाचारविहारपरायण बन जाना हीं क्या 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित हो जाना है ? । कहाँ, किस क्षेत्र से, किस पद्धति से, कैसे अन्वेषण करैं भारतराष्ट्र के उस 'स्व' को, जिस में प्रतिष्ठित हो जाने का नाम ही 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित होना माना गया है, एवं ऐसे 'स्वतन्त्र' शब्द का अधिकारी राष्ट्र ही '**स्वतन्त्र राष्ट्र**' माना गया है, जिस इत्थंभूत '**स्व**' '**तन्त्र**' की निष्ठा-प्राप्ति के लिए तो परतन्त्रता से मुक्ति पाने की अपेक्षा भी कहीं सहस्रगुणित प्रयास-पुरुषार्थ अपेक्षित माना गया है ।

१७-'परतन्त्रता' से उन्मुक्त, किन्तु अद्यावधि भी 'स्व' तन्त्ररूपा 'स्वतन्त्रता' से असंस्पृष्ट, दिग्देशकालविमूढ आज का भारतराष्ट्र—

सर्वात्मना यह अविस्मरणीय, अतएव सतत संस्मरणीय है कि, भारतराष्ट्र इन दस वर्षों में भी '**स्व**' तन्त्र में प्रतिष्ठित नहीं हो सका है । अपितु '**पर**' तन्त्रानुगत अन्तर्राष्ट्रीय व्यामोहनों को हीं 'स्व' तन्त्र मानता-मनवाता हुआ अपनी मुक्ति को उत्तरोत्तर महर्घ ही प्रमाणित करता जा रहा है । लक्षण सर्वात्मना यही प्रमाणित कर रहे हैं कि, पर तन्त्रों के साक्षात् सत्ताकाल में भारतराष्ट्र की प्रज्ञा अपने अन्तर्जगत् में जिस '**स्व**' भाव को प्रणापण से बचाए रखती थी, परतन्त्रता-मुक्तिकालात्मक वर्त्तमान काल में वह आभ्यन्तर '**स्व**' भी उत्तरोत्तर '**पर**' तन्त्रों के व्यामोहनों से व्यामुग्ध ही बनता जा रहा है । मानो इस भारतराष्ट्र के कोश में '**स्व**' कहने जैसी मूलनिधि कभी भी किसी भी युग में रही ही न हो । और इस तथ्य के आधार पर तो हमें यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं हो रही कि, परतन्त्रतायुग में जिन '**पर**' भावों को हम अनिच्छा से मानते-मनवाते थे, परतन्त्रामुक्तिकालात्मक इस वर्त्तमानकाल में तो हम उन '**पर**' भावों को स्वेच्छा से, आवेशपूर्वक मानने, मनवाने के लिए सर्वात्मना सज्जीभूत-कटिबद्ध ही बनते जा रहे हैं । तो क्या इच्छापूर्वक उन '**पर**' तन्त्रों की मान्यताओं को भारतराष्ट्र के '**स्व**' तन्त्र मान बैठने का नाम हीं '**स्व**' तन्त्र में प्रतिष्ठित होना मान लिया जाय ?। भारतीय '**स्व**' तन्त्र की मूलनिधियों से अपरिचित, किन्तु '**पर**' तन्त्रों की निधियों से मनसा, वाचा, कर्म्मणा, सर्वात्मना सुपरिचित राष्ट्रीय कर्णधार तो यही कहेंगे तत्प्रश्न के समाधान में कि,-"**जरूर इस वतन को अपना पुराना दकियानूसीपन छोड़ कर नई रोशनी में हीं आ जाना चाहिए, जिस नई रोशनी से**

ही दूसरे मुल्कों नें तरक्की हासिल की है'' । यदि परतन्त्रता से मुक्त होकर इस विराट् अवधि * में 'स्वतन्त्र' बन जाने का यही अर्थ समझ लिया है, तो फिर तथाविध प्रज्ञाशील कर्णधारों से तो अब हमें कुछ भी विवेदन नहीं करना है भारतराष्ट्र की मूलसमस्याओं के सम्बन्ध में ।

१८–स्वतन्त्रतासंग्राम के दिवंगत हुतात्माओं के द्वारा प्रश्नोत्थान, एवं तत्समाधान में नितान्त असमर्थ 'नई रोशनी वाला' आज का भारत—

निवेदन करना है उस जनतन्त्र से, जिसने बड़ी आशा–प्रतीक्षा से वर्त्तमान युग के आविर्भाव के लिए अपना सर्वस्व आहुत कर दिया था स्वातन्त्र्य–संग्राम में, एवं जिसके स्वनामधन्य कर्णधार मानवश्रेष्ठ एकमात्र भारतीय संस्कृति, सभ्यता के संरक्षण की स्वातन्त्र्य-कामना से ही स्वातन्त्र्य-संग्रामयज्ञ के होता बने थे । दिवंगत वे हुतात्मा आज उसी जनतन्त्र से यह मूक प्रश्न कर रहे हैं कि, क्या जनतन्त्र अपने लक्ष्य पर आरूढ है ? । कहीं इसने परतन्त्रतापाश से उन्मुक्त होने का नाम हीं तो 'स्वतन्त्रता' नहीं मान लिया ? । कहीं यह प्रवाह में प्रवाहित होकर अपने सांस्कृतिक–स्वातन्त्र्य–लक्ष्य को तो विस्मृत नहीं कर बैठा ? । ये ही वे कतिहय प्रश्न हैं, जो आज लक्ष–लक्ष–कोटि–कोटि–भारतीय मानवों को उत्पीड़ित कर रहे हैं । अवश्य ही जनतन्त्र मूकरूप से आज स्वयं भी अपने हीं सत्तातन्त्र से ऐसे प्रश्न कर रहा है, जिन प्रश्नों का इसे कोई भी समाधान उपलब्ध नहीं हो रहा । 'स्व संस्कृति-स्व सभ्यता' नुबन्धी जो स्वतन्त्र प्रश्न इसे परतन्त्र युगों में उत्पीड़ित कर रहे थे, आजके इस मुक्तिकाल में तदपेक्षया भी अधिक भयानकरूप से वे ही प्रश्न इसे उत्पीड़ित कर रहे हैं । समाधान में मिलने वाली 'नई रोशनी' इसे सहसा चकाचौंध में तो अवश्य ही डाल रही है । किन्तु इस भातिसिद्धा रोशनी से सत्तासिद्ध जनतन्त्र की आंशिक भी तो तुष्टि–तृप्ति नहीं हो रही ।

१९–प्रश्नसमाधान की एकमात्र आधारभूमि जनतन्त्र के आस्था–श्रद्धा–भाव—

कौन जनतन्त्र के इन प्रश्नों का यथार्थ समाधान करेगा ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर स्वयं जनतन्त्र की आस्था–श्रद्धा–परिपूर्णा वह चिरपुरातना चिरनूतना सांस्कृतिक–प्रज्ञा ही मानी जायगी, जिसके बल पर ही इसने विगत–भुक्त–प्रक्रान्त–तीन सहस्रवर्षों के धारावाहिक उत्पीड़नों का समालिङ्गन करते हुए भी अपनी सांस्कृतिक-निष्ठा को गच्छतः स्खलनरूपेण येनकेनाप्युपायेन सुरक्षित रक्खा है मूलबीजरूप से । बीजरूपेण अवशिष्टा संस्कृति, सांस्कृतिक आचार, तथा सांस्कृतिक आयोजन हीं भारतराष्ट्र के आस्थाश्रद्धाशील जनतन्त्र के प्रश्नों का यथार्थ समाधान कर सकेंगे । एवं इन मूलबीजों के गर्भ में हीं इसे भारतराष्ट्र के उस–'स्व' के दर्शन का महद्भाग्य प्राप्त होगा, जो 'स्व' ही इसकी 'स्वतन्त्रता' का मूलप्रतिष्ठान बनता आया है, जो कि मूलबीज भारतराष्ट्र के मौलिक साहित्य में ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं ।

२०–'सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा' का माङ्गलिक संस्मरण—

जिन चिरन्तन सत्य–तथ्यों के आधार पर संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, आदर्श, आचार, आदि आदि अर्थगभीर सांस्कृतिक शब्द आविर्भूत हुए हैं सहजरूपेणैव, उन शब्दों के चिरन्तन–सत्य–तथ्यात्मक

---

* दशाक्षर छन्द का नाम ही विराट् है, जो १० वर्षों का संग्राहक बन रहा है ।

वाच्यार्थों का चिरन्तन इतिहास ही जनतन्त्र को वैसा उद्बोधन प्रदान कर देगा, जिस उद्बोधन के बल पर ही यह स्वयं ही अपने प्रज्ञा-बल से 'स्व' स्वरूपबोध में सर्वात्मना समर्थ बन जायगा, एवं तदनुपात से ही 'स्व' तन्त्र की निष्ठा के माध्यम से स्वतन्त्रतापूर्वक यह अपनी जीवनपद्धति व्यवस्थित कर लेगा। एकमात्र इसी पावन उद्देश्य से आस्थाश्रद्धाशील भारतीय जनतन्त्र के लिए ही प्रस्तु निबन्ध में–**'सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा'** (यजुर्वेदसंहिता) मूलक **'संस्कृति'** शब्द, एवं–**'सभ्यता'** शब्द, इन दोनों शब्दों का वाच्यार्थरूप चिरन्तन इतिवृत्त उपनिबद्ध हो रहा है, जिसका सम्पूर्ण श्रेय उस सामान्य सी घटना को ही है, जिसका प्रास्ताविक के उपक्रम में हीं संस्मरण किया जा चुका है।

२१–वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा 'रामराज्य' स्थापना की घोषणा के साथ ही स्वशासननीति में 'धर्म्मनिरपेक्ष' घोषणा की अभिव्यक्ति—

"घटना सर्वथा अकिञ्चित्कर, किन्तु तत्परिणाम घटना के समतुलन में अप्रत्याशित"–प्रकृति के इस सहज नियम को विस्मृत कर देने से ही कभी कभी सामान्य सी घटनाएँ भी बड़े बड़े अनर्थों का बीजवपन कर दिया करतीं हैं, जिसके सम्बन्ध में दो घटनाओं की ओर ही हम जनतन्त्र का, तथा विशेषरूप से सत्तातन्त्र का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। सत्तातन्त्रने अपने शासन का आदर्श माना मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के **रामराज्य** को। एवं जनतन्त्र के सम्मुख पदे पदे इसने यही घोषणा अभिव्यक्त की कि, वह पुनः भारत में वैसा **'रामराज्य'** स्थापित कर देना चाहता है, जिसमें प्रजा को कोई भी कष्ट उत्पीड़ित नहीं कर सकेगा। भारतीय जनतन्त्रने अन्तःकरण से इस आदर्शघोषणा का अभिनन्दन किया, एवं सत्तातन्त्र के प्रति प्रणतभाव से अपनी आस्था–श्रद्धाएँ समर्पित कर दीं बिना किसी तर्क, हेतु, वितण्डा, छल, जातिनिग्रहादि के। और यह सब कुछ दोनों हीं पक्षों की ओर से ठीक ठीक, एवं सामायिक ही हुआ। किन्तु इसी अवसर में सत्तातन्त्र ने रामराज्य के आदर्श पर जब भारतीय **'संविधान'** उपनिबद्ध किया, तो एक सामान्यसी वैसी घटना घटित हो पड़ी संविधान के निर्म्माताओं से, जिस सामान्य सी, छोटी सी घटना, किंवा दुर्घटना के प्रतिक्रियास्वरूप भारतराष्ट्र का अधिकांश जनतन्त्र सर्वात्मना उद्विग्न ही हो पड़ा। और वह घटना थी **'शासननीति'** की ओर से उद्घोषित शब्द–**'धर्म्मनिरपेक्ष'**।

२२–रामराज्य के व्यवस्थापक भगवान् राम की धार्म्मिक घोषणा का, एवं रामराज्य के उद्घोषक आज के सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षघोषणा का समतुलन—

जनतन्त्र ने इसका जैसा, जो कुछ अर्थ समझा हो, बहुत सम्भव है (और परमात्मा करे यही सम्भावना सत्य हो) शासननीति के 'धर्म्मनिरपेक्ष' शब्द का वैसा अभिप्राय न हो। किन्तु **'धर्म्म'** शब्द के साथ **'निरपेक्ष'** शब्द का सम्बन्ध व्यक्त कर देना मात्र ही पर्य्याप्त था उस जनतन्त्र को प्रतिक्रियावादी बना देने के लिए, जिस ने उस **'रामराज्य'** की घोषणा के आधार पर हीं सत्तातन्त्र को अपनी निष्ठाएँ समर्पित कीं थीं, जिस रामराज्य के संस्थापक **'भगवान् राम'** का मानुषावतार हुआ ही था **'धर्म्मसंस्थापन'** के लिए, धर्म्म की निरपेक्षता के समूलोत्पाटन के ही लिए। आदर्शपुरुष भगवान् राम धर्म्म के सम्बन्ध में भविष्य में आविर्भूत होने वाले सत्ताधीशों को यही माङ्गलिक उद्बोधनसूत्र प्रदान करते रहते थे कि—

भूयो भूयो भाविनो भूमिपालान्–नत्वा नत्वा याचते रामचन्द्रः।
सामान्योऽयं धर्म्मसेतुर्नराणां–काले काले पालनीयो भवद्भिः॥

भगवान् राम कहते हैं—"युग युग में होने वाले शासक राजाओं से यह रामचन्द्र बार बार नमस्कार करता हुआ अत्यन्त प्रणतभाव से यही भिक्षा माँग रहा है कि, यह धर्म्मसेतु मानवों का सामान्य धर्म्मसेतु है। अतएव अपने अपने समय में वे भूमिपाल इसका अवश्य ही पालन करते रहें"। ऐसे धर्म्मनिष्ठ, धर्मसंस्थापक भगवान् राम के 'रामराज्य' की घोषणा को एक ओर रखिए, और ऐसे रामराज्य की स्वरूपव्यवस्थापिका शासननीति के 'धर्म्मनिरपेक्ष' शब्द को दूसरी ओर रखिए, और फिर मुकुलितनयन बन कर विचार कीजिए (विचार करना चाहिए सत्तातन्त्र को) कि, क्या यह सामान्यसी घटना किसी महान् फल को उत्पन्न करने वाली प्रमाणित हुई प्रक्रान्त दशवर्षात्मक शासनकाल में ?। नेति होवाच।

२३-धर्म्मनीति, एवं राजनीति की सम्बन्धविच्छेदिका 'धर्म्मनिरपेक्ष' घोषणा के सम्बन्ध में सत्तातन्त्र का राजनैतिक-स्वार्थमूलक-समाधान, एवं तत्समाधान की आपात-रमणीयता—

राजनीति से धर्म्मनीति का व्यवच्छेद कर डालना हीं 'धर्म्मनिरपेक्ष' शब्द का एकमात्र स्वारस्य है, जिसे अनेक धर्म्मों की विभीषिका से त्राण प्राप्त करने के लिए ही सम्भवतः सत्तातन्त्रने अपनी 'शासननीति' को ऐसे शब्द से समलङ्कृत किया होगा, जैसाकि प्रस्तावना के अन्त में इसी सम्बन्ध में कुछ विशेष विस्तार से निवेदन किया जाने वाला है। यदि एकमात्र यह राजनैतिक-स्वार्थ ही अभीप्सित था सत्तातन्त्र को, तो किसी अन्य उपाय से भी इस स्वार्थ का संरक्षण किया जा सकता था, जैसे कि इस संविधान के विधि-विधानों के मूलाधारभूत प्रतीच्य ब्रिटिशतन्त्र ने बड़े ही राजनैतिक-कौशल से यही स्वार्थ सिद्ध कर लिया था इस घोषणा के माध्यम से कि—"**हम किसी के भी धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे। सब को स्व स्व धर्म्म के परिपालन की पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी**" (श्रीविक्टोरिया के शासनकाल की लोकप्रिय-घोषणा)।

२४-चाणाक्षचतुर ब्रिटिशसत्तातन्त्र की धार्म्मिक-घोषणा से भारतीय-प्रजा का धार्म्मिक व्यामोहन, एवं धर्म्मभीरु भावुक विद्वानों की धर्म्मनिष्ठा का पतन—

घोषणा का तात्कालिक चमत्कार यह हुआ था उस युग में कि, नितान्त भावुक, अतएव धर्म्मभीरु तत्कालीन धर्म्मिष्ठ समाज, विशेषतः पण्डितसमाज गद्गद हो पड़ा था उक्त घटनाश्रवणमात्र से, जबकि इस घटना के मूल में हीं भारतवैभव के सर्वविनाश के बीज सुरक्षित थे। उन चाणाक्षचतुरोंनें इस घोषणा-वाक्य जैसे एक छोटे से भावुकतासंरक्षक वाक्य से भारतीय धर्म्मभीरु जनतन्त्र का जीवन राजनैतिक क्षेत्र से सर्वथा ही पृथक् कर डाला। और उस सीमापर्य्यन्त भारतराष्ट्र की राजनैतिक मृत्यु ही हो गई, जिस सीमा पर पहुँचने वाले धार्म्मिक-समाज के अग्रणी विद्वानों का यही मूलसूत्र बन गया अपने धार्म्मिक-सम्मेलनों में कि, "**हमारी सभा विशुद्ध धार्म्मिक है। इसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है**"। माङ्गलिक देवस्मरण की भाँति इस वाक्य का स्मरण करने के अनन्तर ही पण्डितसभाओं के धर्म्मप्रचार (यदि इसी का नाम धर्म्मप्रचार था, तो) उपक्रान्त बनते थे। इसी महापापसंस्कार से मूलतः आबद्ध भारतराष्ट्र के इस पण्डितसमाज ने राजनैतिक जागरणकाल में भी तो उद्बोधन प्राप्त नहीं किया था। फलस्वरूप यह वर्ग विशेष-रूपेण प्रथम तो राजभक्त (ब्रिटिशसत्ताभक्त, अथवा तद्दासरूप सामन्त राजाओं का भक्त) ही बना रहा था,

अथवा तो तटस्थ बन गया था स्वतन्त्रतासंग्राम से। बोलिए! कैसा चामत्कारिक परिणाम हुआ था उस लोकप्रिय घटना का ?, जिस चमत्कार का मूलोच्छेद हुआ आगे चलकर संस्कृति-धर्म्मनिष्ठ महाप्राण राष्ट्रीय-नेताओं के तपोयोग से, जिनका नामस्मरण अग्रे सम्भावित है।

२५–भारतीय सत्तातन्त्र का राजनैतिक स्खलन, एवं भावुकतापूर्ण उद्वेगकारी धर्म्म-निरपेक्ष-घोषणा—

सचमुच सर्वस्वतन्त्रस्वतन्त्र-प्रभुसत्तात्मक स्वशासन के हर्षातिरेक से ही सम्भवत: हमारे अभिनव राष्ट्र-निर्म्माताओं से इस दिशा में भारतराष्ट्र की भावुकता का संरक्षण न हो सका, और उसी प्रिय घोषणा का ठीक अनुकरण न कर उसे **'निरपेक्ष'** जैसे भावुकतोत्तेजक शब्द से ही अनुप्राणित कर डाला, जिसे **'राजनैतिक-निष्ठा के स्खलन'** के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्व नहीं दिया जासकता।

२६–भारतराष्ट्र के साम्प्रदायिक-विभिन्न धर्म्मों के संघर्षात्मक कलहों से आत्मत्राण प्राप्त कर लेने का एकमात्र उपाय 'धर्म्मनिरपेक्षता', एवं ऐसी धर्म्मनिरपेक्षता का प्रज्ञातन्त्र-द्वारा हृदयाभिनन्दन—

तो क्या चाणाक्षचतुर ब्रिटिशसत्तातन्त्रवत् हमारा सत्यनिष्ठ सत्तातन्त्र भी भावुकता-संरक्षण की, अर्थात् छल की भाषा से जनतन्त्र की प्रतारणा कर बैठता अपने नैतिक-कौशल के द्वारा। नहीं, सर्वथा नहीं। जैसे **'निरपेक्ष'** शब्द राजनैतिक-स्खलन है, तथैव धर्म्मव्याजात्मिका **प्रतारणात्मिका** प्रियघोषणा तो तदपेक्षया भी महान् स्खलन ही माना जायगा भारतीय-राजनीति के पावन दृष्टिकोण से। तो फिर नैतिक-कौशल करता क्या भारतवर्ष में प्रचलित अनेक-असंख्य-धर्म्मों की विद्यमानता में ?। क्या अहोरात्र इन धार्म्मिक-कलहों के निर्णयों में ही उलझा रहता हमारा सत्तातन्त्र, जो उलझन आज तीन सहस्र वर्षों से इस राष्ट्र की मानवता को, इसकी संस्कृति को, इसकी सभ्यता को उत्पीड़ित करती आ रही है, एवं जिस धार्म्मिक-कलहने हीं राष्ट्रीय-संघठन का उच्छेद किया है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप ही राष्ट्र को तीन सहस्र वर्षों से सांस्कृतिक-दासता से, तथा लगभग १५ सौ वर्षों से परसत्तादासताओं से परतन्त्र ही बने रहना पड़ा है ?। प्रश्न अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है। एवं प्रत्यक्ष में इन अचिन्त्य प्रश्नों का सफल-समाधान खोज निकालने में मानव की दिग्देशकालानुबन्धिनी लोकबुद्धि कुण्ठित ही हो जाती है। और इस कुण्ठितता से ऊब पड़ने वाली लोकबुद्धि का सहज निर्णय वही व्यक्त हो जाता है, जैसा कि हमारे सत्तातन्त्र ने **'निरपेक्ष'** शब्द से व्यक्त कर अपनी लोकबुद्धिमत्ता का ही परिचय प्रदान किया है। अवश्य ही सत्तातन्त्र को धर्म्मों से न केवल निरपेक्ष ही बने रहना चाहिए, अपितु जो धर्म्म, किंवा जो धार्म्मिक कलह राष्ट्रीय-प्रगति में बाधक बनने की धृष्टता करे, उसका तत्काल दृढतम नियन्त्रण भी कर ही देना चाहिए।

२७–मतवादात्मक साम्प्रदायिक धर्म्मों की प्रतिद्वन्द्विता से ही राष्ट्रीय संघठन का मूलोच्छेद, एवं धर्म्म, तथा 'मत' का महान् पार्थक्य—

हँहो ! यदि सत्तातन्त्र तथाविध नियन्त्रण को माध्यम बना कर **'धर्म्मनिरपेक्ष'** शब्द की घोषणा कर देता, तो कदापि भारतीय जनतन्त्र 'धर्म्म' दृष्ट्या प्रतिक्रियावादी न बनता। यही नहीं, यह नियन्त्रण ही

सत्तातन्त्र को अनायासेनैव उन दो शब्दों के मर्म्म की ओर भी आकर्षित कर ही लेता, जिस आकर्षण के अनन्तर 'धर्म्म' शब्द से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण धर्म्मों के धार्म्मिक-कलहों को भी उपशान्त कर देता, एवं धर्म्म का दिग्देशकालातीत–सांस्कृतिक–सनातन–स्वरूप भी इसके लिए बुद्धिगम्य बन जाता। वे दोनों प्रसिद्ध शब्द हैं–**धर्म्म**, और **मत**। जिसे रिलीजन (Raligan) कहा जाता है, उसी का नाम '**मत**' है जो दिग्देश–काल की सीमाओं से नियन्त्रित रहता है। आज जिन्हें **सनातनधर्म्म–हिन्दूधर्म्म–आर्य्यधर्म्म वैष्णवधर्म्म-दादूधर्म्म–रैदासधर्म्म–कबीरधर्म्म**–आदि आदि नामों से व्यवहृत किया जा रहा है, वे सब हैं 'मत', जिनका मानवीय मन की मान्यताओं से ही प्रधान सम्बन्ध है। तत्तद्युगों की देश–काल–परिस्थिति की समता–विषमता के मापदण्ड से तत्तद्युगों के मेधावी बुद्धिमान् दिग्देशकालज्ञ महापुरुषों के द्वारा तत्तद्युगमात्र की तात्कालिकी लोकभावुकताओं के संरक्षण के लिए निर्दिष्ट तात्कालिक नियमों, विधि–विधानों का नाम ही है—'**मत**', जो दिग्देशकालात्मक युगों के परिवर्त्तनानुपात से परिवर्तित होते रहते हैं। अपनी अपनी दिग्–देशकालसीमाओं में जहाँ ये मत सर्वथा उपादेय हैं लोकभावुकता का संरक्षण करते हुए, वहाँ ये ही 'मत' जब अपने आप को शाश्वत–सनातन कह देना आरम्भ कर देते हैं मतवादप्रवर्त्तकों के अनुयायियों के व्यक्ति–स्वविमोहनों के द्वारा, तो ये ही 'मत' '**मतवाद**' का रूप धारण कर लेते हैं, एवं मतवादात्मक ऐसे मत ही परस्पर प्रतिद्वन्द्वी बन कर राष्ट्रीय-संघठन को उच्छिन्न ही कर दिया करते हैं। कोई भी '**मत**', अर्थात् '**मजहब**', अर्थात् कोई भी '**रिलीजन**', तत्प्रवर्त्तक आचार्य्य की अपेक्षा से, तद्युगानुगता मान्यताओं के अनुबन्ध से बुरा नहीं है। बुरे हैं मतवाद, किंवा मतवादाभिनिवेशमूला प्रतिद्वन्द्विता। अवश्य ही सत्तातन्त्र को सुशासन के लिए इत्थं-भूत मतवादात्मक मतों से, 'धर्म्म' नाम से प्रसिद्ध मतों से निरपेक्ष रह कर, ऊपर उठकर ही अपने विधि–विधान–व्यवस्थित करने चाहिएँ। और ऐसी **मतवादनिरपेक्षतारूपा धर्म्मनिरपेक्षता** का सभी प्रज्ञाशील तो निश्चयेन अभिनन्दन ही करेंगे। किन्तु,–

२८–मतवादों से असंस्पृष्ट 'शाश्वतधर्म्म' की स्वरूप–परिभाषा—

इस किन्तु ? परन्तु ? के इतिहास के लिए ही तो "**संस्कृति, तथा सभ्यता शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त**" प्रज्ञाशीलों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। प्रकृतिसिद्ध सनातन नियमों की अजस्र धारा का नाम ही 'धर्म्म' है, जो लक्षणत्त्वेन प्राकृत होता हुआ भी स्वस्वरूपतः अप्राकृत (प्रकृति से अतीत, दिग्देशकाल की सीमाओं से अतीत) बनता हुआ '**शाश्वतधर्म्म**' नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है, जिसके आत्मबुद्धिनिबन्धन '**तत्त्वात्मक**' स्वरूप का ही नाम है '**संस्कृति**', एवं मनःशरीरनिबन्धन '**आचारात्मक**' स्वरूप का ही नाम है '**सभ्यता**', जैसा कि पाठक निबन्ध में विस्तार से देखेंगे।

२९–आत्मबुद्धिनिबन्धन 'शाश्वतधर्म्म', मनोनिबन्धन 'प्राकृतधर्म्म', तथा शरीरनि–निबन्धन 'लोकधर्म्म', रूपेण धर्म्म का तात्विक–स्वरूप–समन्वय—

आत्मबुद्धिनिबन्धनभाव ही धर्म्म का अप्राकृत–तत्त्वात्मक–स्वरूप है, और यही संस्कृति है। अतएव धर्म्म, तथा संस्कृति अभिन्न तत्त्व है, जिसका स्थूल–भौतिक–आचार से कोई सम्बन्ध नहीं है, **और** यही इसकी शाश्वतता है। मनःशरीरनिबन्धनभाव ही धर्म्म का आचारात्मक–रूप है, और यही सभ्यता है, जिसके **सांस्कृतिक–आचार**, तथा **सांस्कृतिक–आयोजन**, ये दो शाखा–विवर्त्त हो जाते हैं। शरीरगर्भित मानसिक आचार का नाम ही हैं सांस्कृतिक–आचार, जिसे हम '**अन्तःसभ्यता**' कहेंगे। एवं मनोगर्भित शारीरिक

आचार का नाम हीं है सांस्कृतिक–आयोजन, जिसे हम **'बहिःसभ्यता'** कहेंगे। बहिःसभ्यता नियन्त्रित रहेगी अन्तःसभ्यता से, एवं ये दोनों सभ्यताएँ नियन्त्रित रहेंगीं आत्मबुद्धिलक्षणा–शाश्वतधर्म्मरूपा **'संस्कृति'** से। क्या परिणाम होगा इस नियन्त्रण का ?, उत्तर स्पष्ट है। लोकसभ्यतारूपा बाह्यसभ्यता अपने शारीरिक–भूतों के अनुबन्ध से युगधर्म्मानुपात से बदलेगी अवश्य। किन्तु यह बदलाव ऐसा स्थिरगति से होगा उस अन्तःसभ्यता के नियन्त्रण के कारण, जिससे लोकसभ्यता की पद्धतियों में तात्कालिक विस्फोट का अवसर ही नहीं आपाएगा। तदपेक्षया मनोऽनुगता धर्म्मलक्षणरूपा अन्तःसभ्यता दृढमूला बनती हुई इसलिए सनातना बनी रहेगी, जिसका नियन्त्रण आत्मबुद्धिरूप धर्म्म से, किंवा तद्रूपा संस्कृति से होता रहेगा। यों बाह्यसभ्यताओं के बदलते रहने पर भी सभ्यता के मौलिक आधार सनातन ही प्रमाणित होते रहेंगे, प्रमाणित होते रहे हैं आजतक। जो लोकसभ्यताएँ इन पारस्परिक नियन्त्रणसूत्रों से वञ्चित रह गईं, वे तत्काल ही कालकवलित होगईं। कृतज्ञ बनना चाहिए भारतीय जनतन्त्र को उस ऋषिप्रज्ञा के प्रति, जिसके द्वारा द्रष्टा **आत्मबुद्धिनिबन्धना संस्कृति** [**शाश्वतधर्म्म**], तद्द्वारा नियन्त्रित **मनोनिबन्धन सांस्कृतिक–आचार** [**प्राकृतधर्म्म**], एवं तद्द्वारा नियन्त्रित **शरीरनिबन्धन सांस्कृतिक–आयोजन** [**लोकधर्म्म**], इन तीन धर्म्मस्तम्भों के प्रभाव से ही भारतीय सभ्यता **'सनातन'** उपाधि ग्रहण करने में समर्थ बन सकी है, जिन इन तीनों धर्म्मस्तम्भों के नियामक व्यवस्थापक शब्दशास्त्र ही क्रमशः श्रुति–स्मृति–पुराण–नामों से प्रसिद्ध हुए हैं।

३०-धर्मत्रयी की आधारभूता शास्त्रत्रयी, एवं तदनुगता संस्कृति, तन्मूलक सांस्कृतिक–आचार, एवं तदनुप्राणित–सांस्कृतिक–आयोजन —

चौंकिए नहीं। यदि इस शास्त्रत्रयी का सनातन दृष्टिकोण मतवादाभिनिविष्ट–साम्प्रदायिक–विद्वानों की भावुकता से विगत तीन सहस्र वर्षों से मतवादात्मक बन गया है, अथवा तो बना दिया गया है, तो इसमें शास्त्र का कोई दोष नहीं है, जैसेकि मतवादप्रवर्त्तक आचार्य्यों के उपयोगी दृष्टिकोण को तदनुयायी मतवादाभिनिविष्ट जन विकृत कर दिया करते हैं। फिर शास्त्र, एवं तत्सिद्ध शाश्वतधर्म्म के प्रति आक्रोश क्यों ?। यदि आप आक्रोश करते हैं, तो निश्चयेन आप भी मतवादाभिनिविष्ट ही मान लिए जायँगे, और उस दशा में भारतीय संस्कृति, धर्म्म, सभ्यता, आचार, आयोजन, आदर्श, आदि सनातन–विमल–विभूतियों के नामश्रवण–मात्र से अग्निश्च वायुश्च हो पड़ने वाले आप जैसे प्रज्ञाशील के लिए ढूँढे से भी हमें व्यवहार्य्या उपाधि न मिल सकेगी। मतवादाभिनिवेश के माध्यम से ही सही, एकबार तीन सहस्र वर्षों से पीछे चलकर सम्पूर्ण, मतवादों को जलाञ्जलि समर्पित कर स्थिरप्रज्ञा से दृष्टिपात का अनुग्रह तो कीजिए भारतीय-सांस्कृतिक–निधि पर। और तदनन्तर ही आक्रोश की मीमांसा कीजिए अपने अन्तर्जगत् में ही, मुकुलितनयन बन कर ही। अवश्य ही आपको धर्म्मनिरपेक्षता की निरपेक्षता का स्वतः ही साक्षात्कार हो जायगा, और स्वयं ही आस्था–श्रद्धा–पूर्वक आप यह मान लेंगे कि, सत्ताधीश लोकधर्म्म का ही व्यवस्थापक है, जिस लोकधर्म्म का ही नाम **'राजनीति'** है, जिसके द्वारा अपनी स्वरूप-रक्षा के लिए प्रत्येक दशा में शास्त्रमर्म्मज्ञ विद्वान् के द्वारा निर्णीत, व्यवस्थित प्राकृतिक-धर्म्म को ही आधार बना लेना अनिवार्य्य हो जाता है। विद्वान् के द्वारा निर्णीत, धर्म्मलक्षणात्मक प्राकृतधर्म्म नियन्त्रित है उस अप्राकृत, दिग्देशदेशकालातीत शाश्वतधर्म्म से, जिसे विस्मृत कर देने पर प्राकृत धर्म्म भी उसी प्रकार अधर्म्म बन जाया करता है, जैसे कि प्राकृतधर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाने वाली लोकधर्म्मात्मिका राजनीति अनीतिरूप में हीं परिणत हो जाया करती है। निरपेक्षसत्तासिद्ध ईश्वर ही शाश्वतधर्म्म है, जो मानव

में आत्मबुद्धिरूप से अभिव्यक्त होता है । ईश्वरधर्म्मसापेक्ष आचारधर्म्म ही प्राकृत धर्म्म है, जो मानव में मनोरूप से अभिव्यक्त होता है एवं प्राकृतधर्म्मसापेक्ष आयोजनधर्म्म ही लोकधर्म्म है, जो मानव में शरीर-रूप से अभिव्यक्त रहता है । शरीर लोकधर्म्म की प्रतिष्ठा है, तो लोकधर्म्मात्मक शरीर की प्रतिष्ठा प्राकृत-धर्म्मात्मक मनस्तन्त्र है, एवं तत्प्रतिष्ठा, किंवा सर्वप्रतिष्ठा वही आत्मबुद्धिनिबन्धन शाश्वत-ईश्वरीय-धर्म्म है । परिलेख को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए ! स्थिति का सर्वात्मना समन्वय हो जायगा ।

१—ईश्वरीयधर्म्मः————मानवधर्म्मः————भूतधर्म्मः

२—शाश्वतधर्म्मः————प्राकृतधर्म्मः————लोकधर्म्मः

३—धर्म्मः——————धर्म्मनीतिः——————राजनीतिः

४—संस्कृतिः——————सांस्कृतिक-आचारः---सांस्कृतिक-आयोजनम्

५—संस्कृतिः——————अन्तःसभ्यता——————बहिःसभ्यता

६—श्रुतिरत्र प्रतिष्ठा———स्मृतिरत्र प्रतिष्ठा————पुराणमत्र प्रतिष्ठा

७—स्वयंव्यवस्थितो धर्म्मः---विदुषा व्यस्थितो धर्म्मः—सत्ताधीशेन व्यवस्थितो धर्म्मः
(आत्मबुद्धिधर्म्मः) (मनोधर्म्मः) (शरीरधर्म्मः)

३१-मतवादनिरपेक्ष, अतएव राष्ट्र के लिए सर्वात्मना सापेक्ष शाश्वतधर्म्म का विश्व-प्रतिष्ठात्त्व, एवं तन्निरपेक्षता से राष्ट्रस्वरूप का मूलोच्छेद—

तो देखा आपने कि, एक सामान्य सी घटना से, '**धर्म्मनिरपेक्ष**' जैसे एक शब्दमात्र से भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण सांस्कृतिक-निधि पर ही ऐसा भयानक आक्रमण हो गया आपके द्वारा, जिसका यदि सांस्कृतिक-स्वरूप-विश्लेषण के माध्यम से राष्ट्र की तटस्थ प्रज्ञाओं नें अविलम्ब निरोध न किया, तो कालान्तर में यह '**धर्म्मनिरपेक्षता**' ही भारत की भावी सन्तति की दृष्टि में उसी प्रकार भारत की चिरन्तन-संस्कृति का स्थान ग्रहण कर बैठेगी, जैसे कि विगत युगों में आविर्भूत-तिरोभूत-होते रहने वाले व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक मतवादोंनें ही भारतीय शाश्वत-धर्म्म, सनातनसंस्कृति, सनातन-सांस्कृतिक-आचार, तथा सनातन-सांस्कृतिक-आयोजनों का स्थान ग्रहण कर लिया है, एवं जिस काल्पनिक-स्थानग्रहणता से ही राष्ट्र को विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्पीड़ित ही होते रहना पड़ा है । बोलिए ! क्या ऐसी धर्म्मनिरपेक्षता आप जैसे राष्ट्रहितैषी अभीप्सित मान लेंगे भारतराष्ट्र के लिए ? । कदापि नही, स्वप्न में भी नहीं ।

३२-मनःशरीरधर्म्मा प्राकृत मानव के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित मनोविनोद, और तन्मूलक सांस्कृतिक-आयोजन---

दूसरी सामान्य घटना है-'**सांस्कृतिक-आयोजनों**' की । आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-भेद से चतुष्पर्वा बना हुआ मानव कालानुपात से अपने **आत्मा[1]-बुद्धि[2]-मनः[3]-शरीर[4]**, इन चारों हीं मानवीय-तन्त्रों को क्रमशः **शान्ति[1]-तृप्ति[2]-तुष्टि[3]-पुष्टि[4]**-प्रदान करना चाहता है । अतएव आत्म-बुद्धि-सम्मत तत्त्वचिन्तन, तथा तत्त्वाचरण-रूप महान् उत्तरदायित्त्वों की समाप्ति के अनन्तर इसे अपने मनः-शरीरानुबन्धी मानस-विनोद, तथा शारीरिक

भोगादि की अपेक्षा रहती है, रहनी ही चाहिए, और इसे पूरी भी करनी ही चाहिए। गायन–वादन–नर्त्तन–अशन–पान–कविता–नाटक–चित्र–आदि आदि इसी अपेक्षा के पूरक माने भी गए हैं, जिन इन मानस, शारीरिक–विनोदों का प्रकृति के चान्द्रप्राणरूप गन्धर्वाप्सराप्राणों से सम्बन्ध माना गया है, जैसाकि–'**काले गन्धर्वाप्सरसः प्रतिष्ठिताः**' (अथर्वसंहिता १६।५४।४।) इत्यादि से प्रमाणित है। किन्तु '**काले**' एव। अर्थात् इन मानसिक–शारीरिक–विनोदभावों के आयोजनों के लिए अमुक समयविशेष ही निर्द्धारित माना गया है, जिसे भारतीय ऋषिप्रज्ञाने तो दाम्पत्यजीवन से ही मर्य्यादित किया है। आत्मा, और बुद्धि, ये दोनों मानव के **दिव्यभाव** हैं, एवं मन, तथा शरीर, ये दोनों **पशुभाव** हैं। पशुभावों का अनुगमन किसी अन्य–मर्य्यादा से मर्य्यादित है, तो दिव्यभावों का अनुगमन अन्य मर्य्यादा से मर्य्यादित है।

३३–सांस्कृतिक–आचारों से नियन्त्रित, मर्य्यादित मनोविनोदों का ही सांस्कृतिक–आयोजनत्व, एवं तदैव निष्ठास्वरूप–संरक्षण—

आत्मा, और सत्त्वबुद्धि, इन दोनों सुसूक्ष्म-तत्त्वों से अनुप्राणित अप्राकृत, अतएव दिग्देशकालातीत सनातन आत्मदेवभाव का ही नाम 'संस्कृति' है। अतएव आत्म–देव–भावानुगत आचारों को ही तो '**सांस्कृतिक–आचार**' कहा जायगा, एवं आत्म-देव–भावानुप्राणित आयोजनों को ही '**सांस्कृतिक–आयोजन**' माना जायगा, जिसका सीधा सा अर्थ यही होगा कि, मानव के मनःशरीरानुबन्धी उन्हीं विनोदभावों को 'सांस्कृतिक–आयोजन' कहा जायगा, जो विनोदभाव मानव के आत्मा से, तथा सत्त्वबुद्धि से सांस्कृतिक–धार्मिक–आचारों के द्वारा नियन्त्रित, मर्य्यादित रहेंगे स्व स्व गृहस्थतन्त्रों में। गृहस्थतन्त्रानुगतित्त्व ही इन आयोजनों की परोक्षता मानी जायगी, जिन इन परोक्ष आयोजनों को कभी परिवार, समाज, किंवा राष्ट्र के प्रत्यक्ष धरातल पर व्यक्त नहीं किया जासकेगा। तभी परिवार की, समाज की, तथा राष्ट्र की आत्मबुद्धिनिबन्धना सांस्कृतिक-निष्ठाएँ सुरक्षित रह सकेंगीं।

३४–प्रत्यक्षविनोदात्मिका विलासलीलाओं से राज्यतन्त्रों का पतन, एवं तदालोचक प्रजातन्त्रात्मक वर्त्तमान सत्तातन्त्र के आज के ये प्रत्यक्षविनोदात्मक सांस्कृतिक-आयोजन—

जिस परिवार के, समाज के, एवं राष्ट्र के वैय्यक्तिक विनोदात्मक मानसिक–शारीरिक विनोद परिवार–समाज, एवं राष्ट्र में सामूहिकरूप से प्रत्यक्ष बन जाते हैं, उस परिवार–समाज–राष्ट्र का आत्मबुद्धिसम्मत निष्ठाबल शिथिल हो जाता है, जिसके प्रत्यक्ष उदाहरण निकट अतीत के वे सामन्तगण ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिनके सत्तातन्त्रों का अभिभव आत्मबुद्धिनिबन्धन निष्ठाबल के परित्याग से, तथा मनःशरीरनिबन्धन अनियन्त्रित मानस–शारीरिक तथाविध विनोद–व्यासङ्गायोजनों से ही हुआ है, जिसे हमारा वर्त्तमान–सत्तातन्त्र स्वयं अपने मुख से '**भारतीय राजाओं की विलासलीला**' कह कर उनका उपहास किया करता है। उपहास यथार्थ है। सत्ताधीश राजाओंनें आत्मबुद्धिनिबन्धननिष्ठा की, संस्कृति की उपेक्षा कर प्रत्यक्षरूप से जिन मानसिक–शारीरिक–विनोदात्मक आयोजनों के प्रति अपने आपको सर्वात्मना समर्पित कर दिया था, सामन्त–राजाओं की ये प्रत्यक्ष विनोदलीलाएँ हीं, आज की भाषा के अनुसार नृत्य–गीत–वाद्य–अशन–पानादि लक्षण ये अमर्य्यादित सांस्कृतिक–आयोजन हीं स्वयं इनके भी पराभव के कारण बनें, एवं इनके पराभव के साथ साथ राष्ट्रचेतना को भी पराभूत हो जाना पड़ा।

३५–गायन–नर्त्तनादि–आयोजनों के सम्बन्ध में वेदशास्त्र का 'सर्व'–'कृत्स्न' मूलक महान् उद्बोधन—

मानव को कब, किस अवस्था में मानसविनोदात्मक गायन–नर्त्तनादि आयोजनों का अधिकार मिलता है ?, किंवा मानव को कब, किस अवस्था में गीत–वाद्यादि रमणभावों में प्रवृत्त होना चाहिए ?, कैसे, किस पद्धति से प्रवृत्त होना चाहिए ?, इत्यादि प्रश्नों का बड़ा ही मार्म्मिक जो समाधान स्वयं श्रुतिशास्त्र ने किया है, उसे कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिए। समाधान का सम्बन्ध उस पार्थिवसृष्टि से है, जिसका 'अर्णव' नामक रोदसीसमुद्र के गर्भ में **आपः, फेन, मृत्, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयः, हिरण्य,** इन आठ चितियों से स्वरूप–निर्म्माण हुआ है। **आपः–तेजः–वायुः (पानी, आग, हवा)** इन तीनों भूतों के अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक सम्मिश्रण से, यागात्मक यजन से अर्णवसमुद्र का पानी सर्वप्रथम **'फेन'** रूप में परिणत होता है, जिसे 'झाग' कहा गया है। इस प्रथमा घनावस्था का दूसरा घनरूप **'मृत् (चिकनी मिट्टी)** है, तीसरा घनरूप **'सिकता (भुरभुरीमिट्टी)** है, चौथा घनरूप **'शर्करा (बालूमिट्टी)** है, पाँचवा घनरूप **'अश्मा' (पाषाण)** है, छठा घनरूप **'अयः' (कच्चा लौह)** है, सातवाँ घनरूप **'हिरण्य' (सुवर्ण–रजत–ताम्र–सीसक–आदि आदि धातुमात्र)** है। एवं आठवाँ प्रारम्भिक घनभाग वह **'आपः'** है, जिसे सङ्केतभाषा में–**'आपो वै पुष्करपर्णम्'** के अनुसार **पुष्करपर्ण (कमल का पत्ता)** कहा गया है, यही भूपिण्ड का मूल जन्मदाता है। अतएव पार्थिव–भौम–केन्द्रीय–प्रजापति **'पद्मभूः'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। अतएव पुराणशास्त्र ने **भुवनकोशविद्या (भूगोलविद्या)** का **'पाद्मभुवनकोश'** रूप से ही निरूपण किया है।

भूपिण्ड वैसा आपोमय पद्म है, जिसमें आपः–फेनादि आठ घनभाव सञ्चित हैं। भूपिण्ड के इस स्वरूप–निर्म्माण का निरूपण करने के अनन्तर श्रुति कहती है कि, जब पृथिवीने इन आठों पर्वों का स्वरूप सम्पादन कर लिया, दूसरे शब्दों में जब भूपिण्ड का सम्पूर्ण स्वरूप सर्वात्मना सुसम्पन्न होगया, तो तदनन्तर पृथिवी **'गा उठी', (और 'नाच उठी')**। स्वाक्षपरिभ्रमणपूर्वक क्रान्तिवृत्त के आधार पर सूर्य्य के चारों ओर भूपिण्ड की परिक्रमा लगाते रहना हीं तो इस पृथिवी का नर्त्तन है। एवं अपने आठ अवयवों से सम्पूर्ण-स्वरूप को अभिव्यक्त करने के अनन्तर ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्म–पुष्प–फल–मञ्जरी–आदि आदि असंख्य मुद्राओं से सुविकसित हो पड़ना हीं तो पृथिवी का गायन है। सचमुच पृथिवी गा रही है, एवं नाच रही है। नर्त्तनानुगत इस गायन से ही तो पृथिवी का नाम **'गायत्री'** हुआ। कब, किस अवस्था में पृथिवी ने नाचना गाना आरम्भ किया ?, एवं किस पद्धति से नाच–गारही है पृथिवी ?, दोनों प्रश्न इसी सृष्टिप्रक्रिया से गतार्थ हैं। जबतक पृथिवी का अपना स्वरूप सर्वात्मना सम्पन्न नहीं हुआ, तबतक पृथिवी न तो गा ही सकी, न नाच ही सकी। जब पृथिवी–**'अभूत्'** रूप से **'भूमि'** रूप में परिणत होगई, तो तदनन्तर, अपने इस सर्वाङ्गीण सुसमृद्ध–सुविकसितरूप के अनन्तर ही इसका गायन–नर्त्तन–आरम्भ हुआ। श्रुति के निम्न-लिखित अक्षरों को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए, एवं तदाधार पर ही स्वयं ही यह निर्णय कीजिए कि, आपके राष्ट्र को नाच–गान–रूप विनोदों का किस अवस्था में, कब, किस पद्धति से अनुगमन करना चाहिए !।

"सेयं पृथिवी सर्वाप एवानुव्यैः। तदिदमेकमेव रूपं समदृश्यत–'आप' एव। सोऽकामयत प्रजापतिः–'भूय एव स्यात्, प्रजायेय' इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानः–'फेन' मसृजत। सोऽवेत्– अन्यद्वा एतद्रूपम्। भूयो वै भवति। श्राम्याण्येवेति। स श्रान्तस्तेपानः–'मृदं', 'सिकतं' शर्करां', 'अश्मानं'–'अयः'–'हिरण्यं', ओषधि–वनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथवीं प्राच्छादयत्। अभूद्वा इयं प्रतिष्ठा–इति तत्–'भूमि' रभवत्। तामप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्। सेयं पृथिवी सर्वा·कृत्स्ना मन्यमाना–'अगायत्', तस्मादियं पृथिवी गायत्री। अथोऽआहुः–अग्निरेवास्यै पृष्ठे सर्वः–कृत्स्नो मन्यमानः–'अगायत्'। यदगायत्, तस्मादग्निर्गायत्रः"।

३६–'गायति वैव गीते वा रमते' लक्षण श्रौत–उद्बोधन का तात्त्विक समन्वय–

मानव ने क्या समझा उक्त श्रौत–सन्दर्भ से ?, इस प्रश्न का उत्तर भी मानव की दिग्देशकालात्मिका सीमित–बुद्धि पर अनुग्रह कर स्वयं श्रुति ही इसप्रकार दे रही है कि,–"जो मानव अपने मानवीय स्वरूप को सर्वात्मना सुसम्पन्न, सुसमृद्ध कर लेता है, वही गायनादि मनोविनोदात्मक आयोजनों का अनुगामी बनता है"–"तस्मादु हैतत्–यः–सर्वः कृत्स्नो मन्यते, गायति वैव, गीते वा, रमते"–(शतपथब्राह्मण ६ काण्ड। १ अध्याय। १ ब्राह्मण। १२, १३, १४, १५, कण्डिकाएँ)। क्या तात्पर्य्य निकला इस श्रौत–उद्बोधन–सूत्र का ?। मानव जबतक अपने आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर, इन चारों मानवीय पर्वों को स्वस्थ, तथा प्रकृतिस्थ नहीं बना लेता, तबतक इसमें मनोविनोदात्मिका प्रवृत्तियाँ जागरूक ही नहीं होतीं। यदि अपने मानवीय–स्वरूप की अपूर्णता में भी ऐसे मनोविनोद जागरूक बन जाते हैं, तो फिर वह 'मानव' तो नहीं है। ऐसे भी सर्ग विद्यमान हैं प्रकृति के क्रोड़ में, जो अथ से इति पर्य्यन्त अपूर्ण–अविकसित–असमृद्ध, एवं आर्त्त ही बने रहते हैं। किन्तु इस अपूर्णावस्था में हीं वे प्राकृत पशु–पक्षी-कीट–कृमि–आदि यथाजात सर्ग नाचते, गाते रहते हैं। चहकते, कूकते रहते हैं, जिन के प्राकृत जीवन का इस नाच–गान–अशन-पान–शयन–गमन-हास-परिहास-आमोद–प्रमोद–आदि मानसिक, शारीरिक व्यासङ्गों के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य ही नहीं है। आत्मबुद्धिनिबन्धन उत्तरदायित्वों से सर्वथा असंस्पृष्ट पशुजगत् स्वतन्त्र है अपनी सभी अवस्थाओं में इत्थंभूत मानसिक–शारीरिक–गायन–नर्त्तनादि आयोजनों के अनुगमन में।

३७–मानव का दिव्यभाव, एवं तदनुबन्धी दाम्पत्यजीवनानुगत परोक्ष विनोदात्मक आयोजन

किन्तु मानव ?। मानव पशु नहीं है, अपितु आत्मबुद्धिनिष्ठ दिव्यभाव का नाम ही 'मानव' है। अवश्य ही यह दिव्यमानव भी अपने मनःशरीरधर्म्मों से अमुक सीमापर्य्यन्त पशुप्रवृत्तियों से भी समन्वित है। अतएव इन प्रवृत्तियों के उपशम के लिए इसे भी मानसिक–शारीरिक-विनोद अपेक्षित हैं। किन्तु अपने

आत्मबुद्धिनिबन्धन उत्तरदायित्व की सम्पूर्णता के अनन्तर ही, सो भी परोक्षरूपेणैव, जिस परोक्षता का आधार मानव का '**दाम्पत्यजीवन**' ही माना गया है। अतएव सामासिकरूप से, दूसरे शब्दों में सामूहिकरूप से तो कदापि किसी भी अवस्था में भारतीय संस्कृति की दृष्टि से तो तथाविध आयोजनों का सांस्कृतिक (आत्मबुद्धि–निष्ठ) मानव से तो संस्पर्श भी नहीं है। गृहस्थानुबन्धी दाम्पत्यजीवनानुबन्धी विनोदों का अवसर भी उत्तर–दायित्वपूर्ण कर्त्तव्यों के अमुक विश्राम–क्षणों से ही सम्बन्धित है। सम्पूर्णता, सर्वता, कृत्स्नता के प्रवर्त्तक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्यकर्म्मों के विश्रामक्षणों में सर्वथा परोक्षरूपेण अपने दाम्पत्यजीवन में गीत–रमणादि आयोजनों का व्यासङ्ग क्षम्य मान लिया है तत्त्वद्रष्टा नैष्ठिक मानवमहर्षियोंनें।

३८–सत्तातन्त्र के परिगणित कर्णधारों की निश्चिन्तता, एवं तन्मूलक उनके ये क्षम्य सांस्कृतिक–आयोजन—

क्या ऐसे विश्राम–क्षणों में हीं, तथाविध परोक्षरूप से ही, मर्य्यादितरूप से ही आज के ये अभिनव 'आयोजन' महता समारम्भेण प्रक्रान्त हैं ?। क्या भारतराष्ट्र की वे सम्पूर्ण आवश्यकताएँ श्रुति के शब्दों में 'सर्व'–'कृत्स्न' बन गईं ?। शत–शत–शताब्दियों से प्रक्रान्त रहने वालीं परतन्त्रतामूला क्षतिरपम्पराओं को क्या राष्ट्र ने इन दस वर्षों की अवधि में ही पूरी करलीं ?। यदि 'हाँ', तो कोई आपत्ति नहीं है अहोरात्र इन आयोजनों की उत्ताल–तरङ्गों में हीं प्रवाहित रहने में। यह बहुत सम्भव है कि, जिन राष्ट्रीय–कर्णधारोंनें एवंविध अदृष्ट–अश्रुतपूर्व जिन आयोजनों का अद्‌भुत आविष्कार कर डाला है, उन्होंनें अपनी भी क्षतिपूर्त्ति कर ली हो, एवं साथ साथही अपनी आगामिनी अनेक पीढ़ियों के लिए भी क्षतिपूर्त्ति की व्यवस्था कर ली हो। और अतएव यह भी सर्वथा उचित ही है कि, अब उन तथाकथित कतिपय परिगणित महानुभावों की दृष्टि में अपने व्यक्तित्त्व के लिए, अपने परिवार के लिए, अपने समसम्बन्धियों के लिए, एवं मित्रों के लिए किसी भी उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य–कर्म्म की कोई भी आवश्यकता शेष न रह गई हो। अतएव च अपनी इस स्वदृष्टि से ही जिन समदर्शी महानुभावों के लिए समाज, तथा राष्ट्र के लिए भी अब कोई कर्त्तव्यकर्म्म शेष नहीं रह गया हो। तो अवश्य ही ऐसे अमुक परिगणित महानुभाव सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं तथाविध आयोजनों में हीं अपनी जीवनलीला समाप्त कर देने के लिए। '**यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते, गायति वैव। गीते वा, रमते**' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अपने आप को सभी कर्त्तव्य–कर्म्मों की दृष्टि से, प्रज्ञा से, बुद्धि से, प्रतिभा से, भूत–भौतिक–भोगपरिग्रहों से, अन्तर्राष्ट्रीय यशःपरम्पराओं से, पदप्रतिष्ठाओं से, आदि आदि अन्यान्य भी ज्ञात–अज्ञात–परःशत मानसिक शारीरिक–तुष्टि–तृप्तियों से सर्वात्मना कृत्स्नरूपेण कृतकृत्य बन जाने वाले महानुभावों के लिए प्रकृत्या ही गीत–रमणादि का स्वतन्त्राधिकार निर्णीत है।

३९–किन्तु सर्वात्मना अनिश्चिन्त, तथा चिन्तासमाकुलित राष्ट्रप्रजा की दृष्टि से तथाविध आयोजनों का सर्वात्मना कर्त्तव्यविघातकत्व—

किन्तु परःशत–शताब्दियों से समुत्पीड़ित राष्ट्र का मध्यमवर्गीय समाज, तथा अवरवर्गीय–समाज, इन दोनों वर्गों की दृष्टि से तो यह दसवर्षीय स्वतन्त्र–भारतराष्ट्र पूर्वापेक्षया भी कहीं अधिकरूपेण व्यामुग्ध ही बन गया है तथाविध निश्चिन्त, सर्व–समर्थ परिगणित महानुभावों के मनोविनोदार्थ आविष्कृत हो पड़ने वाले नृत्य–गीत–वाद्यादि–विजृम्भणों के संसर्गजनित महान् अनुग्रह से। अन्य क्षेत्रों की तो बात जाने दीजिए। जिन शिक्षाक्षेत्रों का एकमात्र मुख्य उद्देश्य राष्ट्र के भावी कर्णधार सुकुमारमति छात्रों को शिक्षा–माध्यम से बौद्धिक

प्रतिभा–निष्ठा–प्रदान करना ही था, उन शारदाक्षेत्रों में भी आज इन 'सांस्कृतिक–आयोजनों' का ही प्राधान्य हो पड़ा है। कभी नाट्यप्रदर्शन, तो कभी सङ्गीतायोजन, तो कभी अन्यान्य विविध क्रीड़ा–कौतुकों का महान् समारम्भ। वर्ष में ५ मास का परिमित शिक्षाकाल, तत्रापि सीमित घन्टे, उन में भी प्रमुखता विविध आयोजनों की ही, जिन्हें बड़े गौरव से आजकी लोकप्रियभाषा में 'फंक्शन्स' (functions) कहा जा रहा है। इन दस वर्षों में शिक्षा का बौद्धिक स्तर किस धरातल पर आपहुँचा है?, प्रश्न का संस्मरण भी हृत्कम्प–उत्पन्न कर रहा है। यही अवस्था, किंवा दुरवस्था अन्यान्य सामाजिक, तथा राष्ट्रीय–कर्त्तव्यानुबन्धों की है। वह सामाजिक अनुष्ठान ही क्या, जिस में–'सांस्कृतिक–आयोजन' के नाम से सर्व–प्रथम विनोदभावों की घोषणा न करदी जाती हो। वे राष्ट्रीय आयोजन ही क्या, जिन में समष्टि–व्यष्टिरूप से उभयथा थकान को दूर करने के 'आयोजनों' की प्रमुखता के साथ सुव्यवस्था न हो। यों आज आप को सम्पूर्ण भारतराष्ट्र में अटक से कटक पर्य्यन्त, एवं कुमारिकाक्षेत्रपर्य्यन्त ग्रामे–ग्रामे, नगरे–नगरे, प्रान्ते–प्रान्ते–सर्वत्र सभी–अवसरों पर इन सांस्कृतिक–झलकियों के ही वेतालचेष्टित प्रदर्शन उपलब्ध होंगे, मानो अब राष्ट्रप्रज्ञा के कोश में इन 'सांस्कृतिक–आयोजनों' के अतिरिक्त और कुछ भी तो उत्तरदायित्वपूर्ण–कर्त्तव्य शेष ही नहीं रह गया हो।

कैसे, और क्यों ऐसा घटित–विघटित–होपड़ा उस पावन भारतराष्ट्र में, जिस भारतराष्ट्र की चिरन्तन–प्रज्ञाने सृष्टि के दुरधिगम्य तत्त्वों के समन्वय से किसी युग में सम्पूर्ण विश्व को चमत्कृत कर जगद्गुरुत्व का स्थान ग्रहण करते हुए उन्मुक्त कण्ठ से यह उदात्त घोषणा करदी थी कि–**"इस देशमें उत्पन्न ज्ञान–विज्ञाननिष्ठ तत्त्वज्ञ, तथा आचारनिष्ठ ब्राह्मण से संसार भर के मनुष्य अपने अपने दैशिक–कालिक–कर्त्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करते रहें"** *। क्या आधार था इस घोषणा का?। उत्तर सुनकर आप उद्विग्न तो नहीं हो पड़ेंगे?। तो श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्।

४०–'पुरुषार्थ', और प्रकृत्यर्थ का स्वरूपभेद, एवं भारतराष्ट्र की चिरन्तनप्रज्ञा के द्वारा पुरुषार्थ से प्रकृत्यर्थों का नियन्त्रण—

नर्त्तन–गायन–वादन–प्रकृतिप्रेम–उल्लास–हास–परिहास–आमोद–प्रमोद–आदि आदि मनःशरीरधर्म्मों को इस राष्ट्र की प्रज्ञाने कभी 'पुरुषार्थ' नहीं माना। अपितु इस की दृष्टि में तो आत्म–बुद्धि–निबन्धना, उत्तर–दायित्वपूर्णा कर्त्तव्यनिष्ठा ही मानवजीवन का प्रधान 'पुरुषार्थ' बनी रही, जिस पुरुषार्थ से सदा ही इस राष्ट्र के नृत्य–गायनादि 'प्रकृत्यर्थ' नियन्त्रित ही बने रहे। कदापि इन के सम्बन्ध में यहाँ की राष्ट्रनिष्ठा ने राष्ट्रप्रजा को स्वैराचारिता प्रदान नहीं की, जैसे कि आज का मानव प्रकृतिप्रेम में अपने आत्मबुद्धितन्त्रों को एकान्ततः विस्मृत ही कर बैठता है। तो क्या यहाँ की चिरन्तन प्रज्ञाने प्रकृति से द्रोह किया?, किंवा प्रकृति की उपेक्षा की?। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

४१–प्रकृतिद्रोही दार्शनिक, एवं इस की जगन्मिथ्यात्वमूला भ्रान्ति से ही राष्ट्रवैभव का सर्वनाश—

सम्भव है–यहाँ के दिग्देशकालभ्रान्त, अतएव सर्वभ्रान्त दार्शनिकोंनें, विशेषतः जगन्मिथ्यात्ववादी अध्यासवादियोंनें प्राकृत विश्व को, तदभिन्न सौरसम्वत्सरात्मक सत्यभाव को, पार्थिव सम्वत्सरात्मक शिवभाव

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ —मनुः

को, तथा चान्द्रसम्वत्सरात्मक **सौन्दर्य्य** को निरपेक्ष, किंवा उपेक्षणीय ही मान लिया हो। और यह भी सम्भव ही क्या, निश्चित ही है कि, विश्व के **सत्यं-शिवं-सुन्दरं**-लक्षण आधिदैविक-महिमाभाव से अपरिचित बने रह जाने वाले कल्पित अध्यात्मवादी तथाविध दार्शनिकों की कृपा से ही आगे चलकर **असत्य-अशिव-असुन्दर**-रूप वैसा प्रकृतिप्रेमात्मक **'जड़प्रेम'** आविर्भूत होगया हो, जिस जड़प्रेम के कारण हीं प्रकृति का आधिदैविक सत्य-शिव-सौन्दर्य्य-भाव उत्तरोत्तर अभिभूत ही होगया हो, जिस अभिभूति के कारण हीं भारतराष्ट्र का प्राकृत-विश्ववैभव, तथा राज्य-साम्राज्य-वैराज्य-सार्वभौमत्त्व अन्तर्मुख बन गया हो-क्या, बन ही तो गया।

४२-भारतीय ऋषिप्रज्ञा के द्वारा प्रकृति का पूजन, एवं तन्माध्यम से ही प्रकृतिप्रेमात्मक-जड़प्रेम का तिरस्कार—

कदापि भारतराष्ट्र की ऋषिप्रज्ञा ने इसप्रकार से न तो प्रकृति के साथ कभी द्रोह ही किया, एवं न प्राकृत विश्व के सत्य-शिव-सौन्दर्य की कभी उपेक्षा ही की। अपितु प्रकृति के छोटे से छोटे, तथा बड़े से बड़े महिमा-विवर्त्तों के सम्मुख ऋषिप्रज्ञाने अपने आपको सर्वात्मना **'उपासक'** के रूप से ही समर्पित कर प्रकृति के वरदान से उपलब्ध होने वाले उस समस्त विश्ववैभव से अपने भारतराष्ट्र को सर्वात्मना समलङ्कृत ही कर दिया था, जिस प्राकृत ऐश्वर्य्य की, श्री-लक्ष्मी-ऋद्धि-समृद्धि-पुष्टि-आदि की आज के ये प्रकृतिप्रेमी स्वप्न में भी कल्पना भी तो नहीं कर सकते। **प्रकृति का प्रेम भारतराष्ट्र की समृद्धि का कदापि कभी भी आधार नहीं रहा,** अपितु **'प्रकृतिपूजन' ही भारतवैभव की मूलप्रतिष्ठा बना।** * नाचते हुए, और केकावाणी के द्वारा गाते हुए 'मयूर' को देख कर ऋषि का मनमयूर नाचने गाने नहीं लग पड़ा। अपितु आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र की अधिष्ठात्री माता सरस्वती के नैदानिक वाहन के रूप में ऋषिप्रज्ञाने इस मयूरदर्शन से सर्वप्रथम मयूरासना माता सरस्वती का ही संस्मरण किया, एवं तन्माध्यम से ही मयूर के इस पारमेष्ठ्य सत्य-शिव-सुन्दर प्राकृतभाव के प्रति अपने श्रद्धाप्रसून समर्पित किए।

४३-सौर सत्य, पार्थिव शिव, तथा चान्द्र-सुन्दर-भावमाध्यमेन सत्यं-शिवं सुन्दरं लक्षण-प्राकृत विश्व का आराधन—

इत्यादिरूपेण समष्टि-व्यष्टिरूपात्मक प्राकृत पदार्थों के सत्य[1]-शिव[2]-सुन्दर[3]-, इन तीनों सौर[1]-पार्थिव[2]-चान्द्र[3]-महिमाभावों का क्रमशः अपने प्राकृत **सौर बुद्धितन्त्र[1], पार्थिव शरीरतन्त्र[2],** तथा **चान्द्र मनस्तन्त्र[3],** इन तीनों तन्त्रों से पूजनाराधन करते हुए इस प्रकृतिपूजन के माध्यम से ही, इस प्राकृत उपासना के अनुग्रह से ही प्रकृति से अतीत पुरुषब्रह्म का भी अनुग्रह प्राप्त कर लिया, एवं तन्निष्ठानुग्रह से प्राकृत आसक्तियों से अपने बुद्धि-मनः शरीर-तन्त्रों को असंसृष्ट रखते हुए प्रकृति के सम्पूर्ण वैभवों से भी अपने आपको समन्वित कर लिया। और हम समझते हैं, प्रकृति (विश्व), और पुरुष (विश्वात्मा-विश्वेश्वर) का ऐसा लौकिक-अलौकिक, अभ्युदय-निःश्रेयसात्मक समन्वय भारतीय ऋषिप्रज्ञा के अतिरिक्त आजतक विश्व की किसी भी अन्य भूतप्रज्ञा के द्वारा समन्वय तो क्या, कल्पना का भी विषय नहीं बन सका है।

---

* **'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'** नामक सहस्र पृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध में **'प्रकृतिपूजन'** तथा **'प्रकृतिप्रेम,'** इन दोनों शब्दों के चिरन्तन इतिवृत्त का दिग्दर्शन करा दिया गया है।

४४-सप्तर्षिप्राणानुबन्धी सप्त स्वराक्षरों से समन्वित प्राकृतिक सङ्गीत की 'वीणावादन' माध्यम से आराधना----

नृत्य-गीत-वाद्यात्मक सङ्गीत क्या ऋषिप्रज्ञा के द्वारा उपेक्षणीय रहा है ?। कैसे उपेक्षणीय रह सकता था, जिन ऋषियों की आचार-मीमांसाओं में, श्रौत-स्मार्त्त-आधिदैविक सांस्कृतिक-संस्कारों तक में-'**वीणागाथिनो गायन्ति**' इत्यादि रूपेण * वीणात्मक सङ्गीत का समावेश हुआ है । सप्तर्षिप्राणमूर्ति अव्यक्त-अक्षरात्मक मूलप्रकृतिरूप स्वयम्भू प्रजापति के अक्षरात्मक सप्त-ऋषिप्राणों के आधार पर ही वितत सप्त रश्मिमय-सप्त छन्दोमूर्ति **सप्त स्वरों** के द्वारा सम्पन्न सङ्गीत कैसे उपेक्षणीय रह सकता था भारतीय ऋषिप्रज्ञा के द्वारा । इसीलिए तो भगवान् याज्ञवल्क्य ने प्रकृति के सप्त स्वरात्मक सङ्गीत को भी मुक्ति के साधनों में स्थान दे दिया है । किन्तु कदापि भार ीय सङ्गीत प्रकृति-प्रेमानुबन्धी नहीं है । अपितु इतर प्राकृत-विवर्तों की भाँति यह भी प्रकृतिसृजनात्मक ही है, जो अमुक प्राकृतिक मर्यादाओं से ही नियन्त्रित है ।

क्या सीमा है इस नियन्त्रण-मर्यादा की ?, प्रश्न के समन्वय का इस प्रस्तावना में अवसर नहीं है । प्रसङ्गसमन्वय की दृष्टि से केवल यही निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि, जो ऋषिप्रज्ञा अमुक सांस्कृतिक-आचार-कर्म्मों में-'**वीणागाथिनो गायन्ति**' इत्यादिरूप से सङ्गीत को संस्कार का अङ्ग मान रही है, वही ऋषिप्रज्ञा उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठा के प्रसङ्गों में तन्निष्ठ तत्त्वानुशीलक, तत्त्वाचारपरायण ब्राह्मण के लिए '**तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेत्, न नृत्येत्-माग्लागृधः स्यात्**' (गोपथ-ब्रा० पू० २।२१।) इत्यादि रूप से प्रचण्ड विरोध भी कर रही है । जिस राष्ट्र की आत्मानुशीलनपरायणा ब्राह्मणप्रज्ञा ज्ञानविज्ञानात्मक 'ब्रह्म' के संग्राहक, इष्टभावात्मक ÷ 'वर्चस्व' की उपेक्षा कर नृत्य-गीतादि मनोभावों में निमग्न होजाती है, कदापि न तो वह ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्वानुशीलन में ही सफलता प्राप्त कर सकती, एवं न ऐसे नाचने गाने वाले विद्वानों से राष्ट्र को कभी प्रज्ञात्मक नैष्ठिक-निर्णय ही उपलब्ध हो सकते। यही अवस्था उस क्षात्र-सत्तातन्त्र की है, जो ब्राह्मण की आत्मनिष्ठा के द्वारा व्यवस्थित नीति का अपनी बुद्धिनिष्ठा के द्वारा प्रजासे आचारमर्य्यादाओं का पालन कराने जैसे महान् लौकिक उत्तरदायित्व से अनुप्राणित है । अतएव ब्रह्मवत् इस क्षत्र को भी अपनी इस बौद्धिक-निष्ठाके संरक्षण के लिए अपने आप को इन नाच-गान-समारोहों की सूत्रधारता से सर्वथा असंस्पृष्ट ही बनाए रखना पड़ेगा, तभी यह उस '**मन्दाक्षता**' नामक महान् दोष से अपने शासनतन्त्र का

* सुप्रसिद्ध '**सीमन्तसंस्कार**' में गर्भविनाशिका इन्द्रविद्युत् की उपशान्ति के लिए इन्द्रव्यामोहनार्थं वीणावादन के माध्यम से सङ्गीत का समन्वय हुआ है-देखिए-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के-'**कर्मयोगपरीक्षा**' नामक चतुर्थ खण्ड का '**संस्कारविज्ञान**' नामक प्रकरण ।

÷ **तद्धचेव ब्राह्मणेन-एष्टव्यं-'यद् ब्रह्मवर्चसी स्यात्' इति ।**

—शतपथ० १।६।३।१६।

परित्राण कर सकेगा, जिस 'मन्दाक्षता' * से शासन की मर्य्यादाएँ सर्वथा ही शिथिल बन जाया करती हैं, जिसके सबसे बड़े उदाहरण आज हमारेलिए सर्वश्री वे जवाहरलाल नेहरू महाभाग ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिन की मन्दाक्षता से ही आज भारतीय सत्तातन्त्र में वैसी अप्रत्याशित घटनाएँ घटित होतीं जारहीं हैं, जिनके संस्मरणमात्र से भी भारतीय हृत्प्रतिष्ठा विकम्पित है।

४६–लोकनिष्ठ सर्वश्री गाँधीजी की सहजप्रज्ञा से दीक्षित सर्वश्री नेहरू महाभाग का उत्तरदायित्वपूर्ण शासनपद—

अपने राजनैतिक दीक्षागुरु सुप्रसिद्ध रामभक्त परमलोकनिष्ठ सर्वश्री जिन गान्धीजी के नेतृत्व में परमसौम्य, स्फटिकहृदय, राष्ट्रप्रेम की साकारप्रतिभारूप सर्वश्री जिन नेहरू महाभाग ने भारतराष्ट्र के शासन का उत्तरदायित्व अपने पवित्र स्कन्धों पर उठाया था, उस महान् उत्तरदायित्व के प्रति आजतक यह महाप्राण मानवश्रेष्ठ अडिगरूप से प्रतिष्ठित है। और इस में अणुमात्र भी सन्देह नहीं है कि, यदि आपके स्थान में कोई अन्य नवीन–पीढ़ी का मानव इस पद पर आरूढ कर दिया जाता, तो भारतराष्ट्र सर्वथा ही विकम्पित हो पड़ता। यदि सांस्कृतिक–चिरन्तन–आर्षनिष्ठा के दृष्टिकोण को हम थोड़ी देर के लिए पृथक् करदें, तो मान लेना पड़ेगा कि, वर्त्तमान शताब्दी में श्रीगाँधीजी जैसा लोकनिष्ठ मानवश्रेष्ठ दूसरा उत्पन्न ही नहीं हुआ। लोक–राजनीति–विशारद, साथ ही अपनी रामभक्ति की आस्था से निर्म्मलान्तःकरण प्रमाणित होने वाले इस मानवश्रेष्ठ की दूरदर्शितानें हीं अन्यान्य वयोवृद्ध नेताओं की विद्यमानता में भी तरुणमूर्त्ति श्रीनेहरू को ही शासन के उत्तरदायित्व के योग्य समझा, और इस 'समझ' के अनुग्रह से ही भारतराष्ट्र का स्वरूप येनकेनरूपेण आजतक व्यवस्थित भी बना हुआ है।

४७–शुचिभावापन्न श्रीनेहरू की सहज भावुकता, एवं भावुकतामूलक 'मन्दाक्षता'-लक्षण व्यक्तित्वविमोहन, और उस के दुष्परिणाम—

'येनकेनरूपेण' वाक्य का प्रयोग इसलिए करना पड़ रहा है कि, जहाँतक शासन में 'शुचिता' का सम्बन्ध है, वहाँतक तो श्रीनेहरू के नेतृत्व में यत्किञ्चित् भी अविश्वास करना अपने आप को प्रायश्चित्त

---

* अपराधों की उपेक्षा करा देने वाली मानसिक भावुकता का नाम हीं राजनीतिशास्त्र में 'मन्दाक्षता' नामक वह महान् दोष माना गया है, जिसके कारण शासक अपराधी को दण्ड देने में असमर्थ बना रह जाता है। यही नहीं, अपितु अपनी इस मन्दाक्षता के कारण ही ऐसा मन्दाक्ष, भावुक, मनोवशवर्त्ती शिथिल शासक अपनी कल्पित–आभिज्यात्य–मर्य्यादा के व्यामोहन से तथाविध अपराधियों का भी यशोगान ही करता रहता है, जिस इस मन्दाक्षता से ही आज हमारे भारतराष्ट्र को आए दिन कैसे कैसे भयानक दुष्परिणाम भोगने पड़ रहे हैं ?, यह अचिन्त्य है। कोटि–कोटि–मित द्रव्यराशि का चरणामृत कर जाने वाले अपराधी भी आज सधन्यवाद पुरस्कृत कर दिए जाते हैं इसी मन्दाक्षता–रूप महान् दोष की कृपा से। सत्तातन्त्र जब मानस–विनोदों को ही अपना महान् पुरुषार्थ मान बैठता है, तो उस की नैष्ठिकी भी बुद्धि मनोवशवर्तिनी बनती हुई 'मन्दाक्षा' प्रमाणित हो जाती है। ऐसी मन्दाक्षता में सत्तातन्त्र नैष्ठिक निर्णय ले ही नहीं सकता। अतएव ज्ञानविज्ञानानुशीलनक्षेत्रवत् सत्ता का क्षेत्र भी मन्दाक्षताप्रवर्त्तक नृत्यगीतादि आयोजनों से असंस्पृष्ट ही मान लिया गया है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा।

का ही भागी बना लेना होगा । किन्तु चाणाक्षचातुर्य्यमूला 'निष्ठा' की दृष्टि से श्रीनेहरू अपने आप को आजतक न केवल अभिव्यक्त ही कर सके, अपितु दसवर्षीय प्रचण्ड–संघर्षों से समुत्पन्न हो पड़ने वाली प्रति–क्रियाओं के संवरण में सर्वात्मना समर्थ न होने के कारण श्रीनेहरू की शुचितामूला सहज भावुकता उत्तरोत्तर प्रवृद्ध ही होती जारही है, जिस भावुकता को ही–**'व्यक्तित्त्वविमोहन'** कहा गया है । यह सम्भावित था कि, राष्ट्र के महद्भाग्य से भारतराष्ट्र के समर्थ सेनानी इस भावुक अर्जुन को यदि ५–७ वर्ष राजनीतिनिष्ठ (लोकवृत्तनिष्ठ) रामभक्त श्रीगाँधीजी जैसे कुशल सारथि का सहयोग और प्राप्त होजाता, तो श्रीनेहरू अपनी आभिजात्य–भावुकता का सर्वात्मना नहीं, तो अमुक सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही नियन्त्रण कर लेने में समर्थ बन जाते, और निश्चयेन उस अवस्था में आज भारतवर्ष की स्थिति कुछ दूसरी ही होती । और कुछ होता, अथवा न होता, किन्तु तदवस्था में सत्तातन्त्र यों सांस्कृतिक–आयोजनों में, पदप्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्त्वविमोहनों में तो राष्ट्र के आत्मबुद्धिभावों को सर्वथा ही विस्मृत न कर बैठता । लोकमान्य **श्रीबालगङ्गाधरतिलक, श्रीगोपालकृष्ण गोखले, श्रीचित्तरञ्जनदास, श्रीविपिनचन्द्रपाल, श्रीलाजपतराय, श्रीमोतीलालनेहरू, महामना श्रद्धेय श्रीमालवीयजी महाराज,** आदि आदि सांस्कृतिक नेताओं के अनन्तर भारतीय प्राच्यसंस्कृति, एवं राष्ट्रीय चिरन्तन आदर्श के गच्छतः–स्खलनात्मक आंशिक प्रतीक एकमात्र **श्रीगांधीजी** ही शेष रह गए थे, जिनके सहयोग का भी श्रीनेहरू के सत्तातन्त्र को अधिक समय न मिल सका, एवं जिसके जो परिणाम सम्भावित थे, वे ही आज राष्ट्र को भोगने पड़ रहे हैं, विवश बन कर भोगने पड़ रहे हैं, और भगवान् जाने, कबतक भोगने पड़ेंगे ।

४८–पदप्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्त्वविमोहन से असंस्पृष्ट महाप्राण मानवश्रेष्ठ श्रीनेहरू महाभाग—

क्या श्रीनेहरू जैसा शुचि मानव भी **'पदप्रतिष्ठात्मक–व्यक्तित्त्वविमोहन'** पर नियन्त्रण न कर सका ? । महती भ्रान्तिः । कदापि ऐसा आरोप श्रीनेहरू पर तो नहीं लगाया जासकता । राष्ट्र का **'प्रधान–मन्त्रित्त्वपद'** तो श्रीनेहरू के महान् व्यक्तित्व से बहीं छोटा है, बहुत छोटा है । श्रीनेहरू महान् हैं इस पद के समतुलन में ।

४९–स्वरूपविमोहनात्मक–व्यक्तित्त्वविमोहन की स्वरूप–परिभाषा, एवं उसके साथ श्रीनेहरू का समतुलन—

तो फिर **'व्यक्तित्त्वविमोहन'** का क्या अर्थ ? । अर्थ स्पष्ट है । अपनी महत्ता की सीमाबिन्दु पर पहुँच कर उस सीमाबिन्दु पर ही अपने व्यक्तित्त्व का अवसान मान लेना हीं वह **'व्यक्तित्त्वविमोहन'** है, जो पदप्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्वविमोहन से भी कहीं अधिक भयानक मान लिया गया है भारतीय राजनीतिशास्त्र में । **'मैं जैसा ठीक समझता हूँ, वही ठीक है'**, इस विमोहन का नाम ही **'स्वरूपविमोहनात्मक व्यक्तित्त्व–विमोहन'** है, जिसपर पहुँचते ही मानव अपने सहजसिद्ध महान् भी व्यक्तित्व से **'बहुत छोटा'** बन जाता है । और भारतराष्ट्र की अपनी सांस्कृतिक–निष्ठा के संरक्षणाकर्षण से हमें सर्वथा अभयरूप से राष्ट्रीय–प्रजा के सम्मुख सम्मानपूर्वक प्रणतभाव से श्रीनेहरू के सम्बन्ध में भी यह निवेदन कर देने में यत्किञ्चित् भी तो संकोच नहीं हो रहा कि, श्रीनेहरू ने भारतीय संस्कृति के हृदय से अपरिचित रह जाने के कारण **'अज्ञातरूप'** से

ही अपने आप को उस 'व्यक्तित्वविमोहन' पर ला खड़ा किया है, जिस विमोहनने भारतीय-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से तो आपको सर्वथा ही–'सीमित' प्रमाणित कर दिया है। भारतराष्ट्र के इस महान् कर्णधार को, महान्–मानवश्रेष्ठ को, अत्यन्त शुचिहृदय निर्म्मलहृदय को जब हम विदेशों से आते रहने वाले नृत्य-गायन-परायण-अभिनेता, और अभिनेत्रियों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय–ख्यातिविमोहनाकर्षण से चित्रित देखते हैं, तो हमारा ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण राष्ट्रीयता का हृदय हाहाकार कर उठता है, और हाहाकारपूर्वक ही भारतराष्ट्र की चिरपुरातना–चिरन्तना–राष्ट्रीयता के आर्त्त–पीड़ित हृदय से ये ही उद्गार निकल पकड़ते हैं कि, क्या भारतराष्ट्र की संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों का ऐसा ही उज्ज्वल चित्र है ?। क्या भारतराष्ट्र के सुसमृद्ध–युगों के सर्वसत्ता–प्रभुसत्ता–समर्थ सर्वैश्वर्य्यशाली सत्ताधीशों का ऐसा ही कुछ चित्रण हुआ है इतिहास के पृष्ठों में ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना सांस्कृतिकस्यास्य भारतराष्ट्रस्य व्यक्तित्व–विमोहनानुग्रहेणैव ।

५०–श्रीनेहरू का 'अज्ञात' भावापन्न विमोहन, एवं तन्मूलक प्रतिक्रियात्मक प्रचण्ड आक्रोश, तथा अभिनिवेश—

'अज्ञातरूप से ही हो पड़ने वाले व्यक्तित्वविमोहन' का 'अज्ञात' शब्द कुछ विशेष महत्त्व रखता है, जिसका स्पष्टीकरण न करना भी श्रीनेहरू के व्यक्तित्व के साथ अन्याय ही करना होगा। यह कहा जा चुका है कि, श्रीनेहरू अपने इस भारतराष्ट्र के प्रति आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः आपादमस्तक सर्वथा शुचि हैं, पवित्र हैं, एवं प्रत्येक सम्भव असम्भव उपाय से आप अपने महान् व्यक्तित्व से अभिन्न इस राष्ट्र को सर्वात्मना सुसमृद्ध बनाने के लिए ही प्रतिक्षण समातुर हैं। ऐसे विशुद्ध व्यक्तित्व से जैसा जो कुछ विमोहन हो रहा है, उस विमोहन का आधार सम्भवतः ही नहीं, निश्चयेन स्वयं श्रीनेहरू के लिए भी इसलिए 'अज्ञात' ही बना हुआ है कि, आपने अपने शिक्षा–दीक्षाकाल में जिन प्रतीच्य–भौतिक–संस्कारों से अपने व्यक्तित्व को सर्वतः समाप्लुत कर लिया है, उन प्रतीच्य–विचारों के अतिरिक्त, उस प्रतीच्य दृष्टि के अतिरिक्त आपके सम्मुख भारतराष्ट्र का प्राच्य–दृष्टिकोण सर्वथा अज्ञातवत् ही प्रमाणित रहा है । इसके साथ साथ ही जिन वर्तमान–भारतीय–विद्वानों, धार्म्मिक पुरुषों, आदि के द्वारा जैसा जो भी प्राच्य–दृष्टिकोण श्रीनेहरू के सम्मुख कर्णाकर्णिपरम्परया यदा कदा आता रहा है, उसने आपको इस ओर आकर्षित करने के स्थान में अधिकाधिक प्रतिक्रियावादी ही प्रमाणित किया है। ऐसा क्यों ?, और किस लिए ?।

४१–श्रीनेहरू के परस्परात्यन्तविरुद्ध विभिन्न प्रकार के दो व्यक्तित्व —

यों, और इसलिए कि, प्राच्यसंस्कृति, प्राच्य शाश्वतधर्म्म, आदि के स्थान में मतवादात्मक साम्प्र–दायिक दृष्टिकोण हीं विगत अनेक शताब्दियों से यहाँ प्रमुख बनें हुए हैं, जैसाकि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। ऐसे साम्प्रदायिक मतवादात्मक दृष्टिकोण से आपका समुत्तेजित हो पड़ना जहाँ स्वाभाविक था, वहाँ प्रतीच्य–दृष्टिकोण के अतिरिक्त किसी आचारात्मक–भारतीय–दृष्टिकोण के सम्मुख उपस्थित न् होने से अज्ञात–रूपेणैव आपका प्रतीच्यपद्धति के अनुसार ही अनुगमन करने लग पड़ना भी सर्वथा अस्वाभाविक तो नहीं कहा जा सकता। यों आप अज्ञातरूपेणैव परदर्शनमूलक–स्वरूपविमोहनात्मक उस व्यक्तित्वविमोहन से उत्त–रोत्तर अभिभूत ही होते गए। तद्द्ष्परिणामस्वरूप ही आज तो आप के मुख से अज्ञातरूप से ही 'प्राचीनता'

के लिए सर्वथा वैसे उद्गार ही अभिव्यक्त हो पड़ते हैं, जो श्रीनेहरू के स्वयं के व्यक्तित्त्व के उद्गार तो प्रतीत नहीं होते। सचमुच श्रीनेहरू आज दो विभिन्न स्वरूपों में परिणत हो गए हैं, जिन दोनों विभिन्न स्वरूपों को अवधानपूर्वक लक्ष्य बना कर ही हमें आपके **'व्यक्तित्त्व'**, तथा **'व्यक्तित्त्व-विमोहन'**-भावों का मूल्याङ्कन कर लेना चाहिए।

५२–'राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व' की प्रतिमूर्त्ति श्रीनेहरू, एवं तन्मूलक महान् व्यक्तित्त्व—

भारतीय-स्वतन्त्रतासग्राम के समर्थ सेनानी श्रीनेहरू, एकमात्र इसी राष्ट्रीय अनुबन्ध से भारत के कण कण में व्याप्त श्रीनेहरू वे नेहरू हैं, जिनके व्यक्तित्त्व पर भारतराष्ट्र गर्व कर-सकता है, सदा करता रहेगा। और श्रीनेहरू बाह्य-परिस्थितियों के निग्रहानुग्रह से भले ही अपने बाह्यस्वरूप से कितनें हीं बदल जायँ। किन्तु आपका यह सहज-सौम्य-विशुद्धतम-**'राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व'** कदापि नहीं बदल सकता, एवं भारतराष्ट्र की कृतज्ञ प्रजा इत्थंभूत 'राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व' के प्रति सदा ही उन्मुक्तहृदय से कृतज्ञताञ्जलियाँ हीं आस्था-श्रद्धापूर्वक समर्पित करती आई है, करती ही रहेगी। और अपनी इसी कृतज्ञता का पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयं-रूपेण स्वल्प-तम परिचय प्रदान करने के लिए ही भारतीय प्रजातन्त्रने बड़े उत्साह के साथ अपने इस हृदय-सम्राट् को सर्वसम्मति से भारतराष्ट्र के सर्वोच्च शासन पद पर प्रतिष्ठित भी किया है।

५३–'अन्तर्राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व' की साकार-प्रतिमा श्रीनेहरू, एवं तन्मूलक महान् 'व्यक्तित्त्वविमोहन'—

इसी सत्तारोहणकाल से दुर्भाग्यवश श्रीनेहरू का वह दूसरा सत्तालक्षण व्यक्तित्त्व आविर्भूत हो पड़ा, जिसे हम राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व न कह कर-**'अन्तर्राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व'** की उपाधि से ही समन्वित मान सकते हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहिले तक जो नेहरू केवल भारतराष्ट्र की विमलविभूति थे, इस देश की प्रातिस्विक सम्पत्ति थे, सत्ता-सूर्य्य की प्रथम किरण के उदय से ही अन्तर्राष्ट्रीय-व्यामोहन ने इस महती सम्पत्ति को भारतराष्ट्र से मानो बलपूर्वक ही अपहृत कर लिया। **'स्वस्वरूपप्रतिष्ठापूर्वक पर-भावुकतासंरक्षण'** जैसे महान् निष्ठासूत्र के आधार **'स्वराष्ट्रप्रतिष्ठासंरक्षणपूर्वक परराष्ट्रभावुकतासंरक्षण'** नामकी विश्वमानवता का, विश्व-बन्धुत्त्व का भारतीय राजनीतिने भी सर्वात्मना समर्थन किया है। अतएव भारतीय नेहरू यदि इस निष्ठासूत्र के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय नेहरू बन जाते, तो भारतराष्ट्र का गौरव महान् ही प्रमाणित होता। किन्तु हुआ ठीक इससे विपरीत।

५४–स्वराष्ट्र के प्रति भावुक श्रीनेहरू का परराष्ट्रों के प्रति नैष्ठिक-व्यामोहन, एवं तन्मूलक स्वराष्ट्रीय-निष्ठाओं का आत्यन्तिक अभिभव—

"परनिष्ठास्वरूपसंरक्षणपूर्वक स्वभावुकता-संरक्षण' के माध्यम से समन्वित हो पड़ने वाला श्रीनेहरू का व्यक्तित्त्व पर-राष्ट्रों के हितानुबन्धन से जहाँ स्वर्णिमयुग प्रमाणित होता गया, वहाँ स्व-राष्ट्र (भारतराष्ट्र) हितानुबन्ध से आपका यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्त्व स्वयं भारतराष्ट्र के लिए उत्तरोत्तर अन्धयुग ही बनता गया। और यह सबकुछ जान बूझ कर स्वस्थ-प्रकृतिस्थ-दशा में नहीं हुआ। अपितु स्व-भारतराष्ट्र की किसी नैष्ठिक आचारपद्धति के समन्वय करने में नितान्त असमर्थ श्रीनेहरू के द्वारा परराष्ट्रों की पद्धतियाँ

हीं यहाँ के लिए भी हितप्रद प्रमाणित होगई, किंवा चाणक्षचतुर परराष्ट्रों के लोकनिष्ठ, स्वरूपविमोहनकला में सर्वात्मना कुशल अन्तर्राष्ट्रीय मानवों के द्वारा ही बलपूर्वक प्रमाणित करदीं गई। यों सर्वथा **'अज्ञात'**–रूप से ही श्रीनेहरू इस **'अन्तर्राष्ट्रीय–व्यक्तित्त्वविमोहन'** रूप दूसरे प्रातिभासिक व्यक्तित्त्व से समन्वित हो ही तो पड़े, जिस से अधिक बड़ा दुर्भाग्य भारतराष्ट्र का और कुछ हो ही नहीं सकता।

५५–स्वस्वरूपनिष्ठा के स्वरूपबोध से पराङ्मुख श्रीनेहरू के द्वारा स्वराष्ट्र में पर–स्वरूप भावों के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति, एवं तद्‌ष्परिणामस्वरूप ही स्वराष्ट्र की सांस्कृतिक-परम्पराओं की उत्तरोत्तर अन्तर्मुखता—–

भारतराष्ट्र की आत्मबुद्धिप्रधाना मौलिक प्राणमयी सांस्कृतिक–निधि से सर्वात्मना अपरिचित, एवं भारतेतर राष्ट्रों की मनःशरीरप्रधाना भूतमयी सभ्यतानिधि से आलोमभ्यः–आनखाग्रेभ्यः सुपरिचित श्रीनेहरू के सत्तातन्त्रानुगत अन्तर्राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक इस दूसरे रूपने अपनी निर्म्मलान्तःकरणजनिता सहज शुचिता के अनुग्रह से परराष्ट्रों के विधि–विधानों को ही भारतराष्ट्र के लिए महान् माङ्गलिक मान लेना आरम्भ कर दिया, एवं आवेशपूर्वक मनवाना भी आरम्भ कर दिया। वहाँ क्योंकि नाच–गान–वादनादि को **'सांस्कृतिक–आयोजन'** कहा गया है, तो यहाँ भी तथाविध ही आयोजन सुप्रतिष्ठित कर दिए गए। वहाँ **'पञ्चवर्षीय–योजनाएँ'** अनुरूप हैं, तो यहाँ भी उनकी कल्पना कर ली गई। वहाँ **'तलाकप्रथा'** क्योंकि प्रशस्त है, अतएव यहाँ भी उसका शिलान्यास कर देना आवश्यक राष्ट्रीय–उत्थान मान लिया गया। वहाँ **'गोपशु'** का **वध'** कोई महत्त्व नहीं रखता, तो यहाँ भी इस राष्ट्रीय महान् प्रश्न के साथ गजनिमीलिका कर ली गई। निष्कर्षतः सभी क्षेत्रों के लिए, अथ से इतिपर्य्यन्त वहाँ के आदर्श ही यहाँ के लिए भी आदर्श घोषित कर दिए गए। और यहाँ **'प्राचीनता का'-'स्वराष्ट्रनिष्ठा का'** नामस्मरण भी श्रीनेहरू के लिए उत्तेजना का ही कारण प्रमाणित बनने लग पड़ा। यहाँ का पुरातन सबकुछ खण्डहर ही प्रमाणित होगया इन अन्तर्राष्ट्रीय श्रीनेहरू की दृष्टि में, जिन पुरातन–खण्डहरों की रक्षा के लिए ही 'स्वतन्त्रता'से पूर्व के इन्हीं भारतीय श्रीनेहरूने ब्रिटिशसत्ता के साथ प्रचण्ड संघर्ष किया था स्वतन्त्रतासंग्रामकाल में। और पुनः हम यही कहते हैं कि, यह सब कुछ सर्वथा अज्ञातरूप से ही हो पड़ा, एवं हो रहा है आज भी अज्ञातरूप से ही श्रीनेहरू के द्वारा।

५६–स्वराष्ट्रीय–संस्कृतिनिरपेक्षा, तथा परराष्ट्रसभ्यतासापेक्षा श्रीनेहरू की मानसिक मान्यताओं के प्रति भारतीय–संस्कृतिनिष्ठ–जनतन्त्र की आत्यन्तिक उपेक्षा—

क्या तात्पर्य्य?। तात्पर्य्य यही है कि, तीन सहस्र वर्षों के पारम्परिक उत्पीड़नों से अपनी संस्कृति–सभ्यता–आदर्श–आचार–आदि को आततायियों के द्वारा लुटवाता हुआ भी भारतराष्ट्र अपने मूलबीजरूप से आजतक कुछ भी नहीं बदला है, आकल्पान्त नहीं ही बदलेगा। ठीक इसीप्रकार निरन्तर दस वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय–व्यामोहनात्मक आक्रमणों से सर्वतः परिवेष्टित भी श्रीनेहरू आजतक अपने मौलिक भारतीय–स्वरूप से यत्किञ्चित् भी तो नही बदले हैं। श्रीनेहरू के अनुग्रह से उपजीवित आज के काल्पनिक भक्त कहेंगे कि, यह तो हम श्रीनेहरू की चाटुकारिता करने लग पड़े। वैसे काल्पनिक–भक्तों से यही निवेदन कर दिया जावगा कि, व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का तभीतक समादर है हमारे हृदय में, जबतक कि वह निश्छलरूप से राष्ट्र के प्रति श्रद्धा समर्पित किए हुए है। और इस अंश में श्रीनेहरू के सम्बन्ध में कोई भी अभियोग नहीं लगाया जा सकता।

जो लगाते हैं, वे श्रीनेहरू के प्रति नहीं, अपितु राष्ट्र के प्रति कृतघ्नता करते हैं। रही बात उपयोगिता, अनुपयोगिता की, सो तत्सम्बन्ध में तद्भक्त सम्भवत: हम से अधिक जान रहे होंगे कि, हमें इस चाटुकारिता से श्रीनेहरू को प्रसन्न कर कौनसा वैय्यक्तिक–लाभ उठा लेना है ?, जबकि हमें उनकी कोई सी भी मान्यता सांस्कृतिक–दृष्टिकोण से स्वप्न में अभीप्सित नहीं है।

५७–श्रीनेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय–विमोहनात्मक व्यक्तित्वविमोहनानुबन्धी 'अज्ञात' भाव का वास्तविक–समन्वय—

बहुत सम्भव है तद्भक्तों की दृष्टि से श्रीनेहरू विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय मानव ही प्रमाणित हो गए हों, अथवा तो अपने मतवादों के आवेश से आविष्ट प्रतिक्रियावादी अमुक वर्गविशेषों की दृष्टि में श्रीनेहरू भारतीय न रहे हों। किन्तु श्रीनेहरू के मुख से विनिर्गत अमुक वाक्यविशेषों को कर्णाकर्णिपरम्परया सुनने से, एवं सामयिक पत्रों में प्रतिबिम्बित श्रीनेहरू की आकृतियों से हमें तो इसी तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, बाह्यरूपेण सबकुछ बदल जाने पर भी श्रीनेहरू कुछ भी तो नहीं बदले। विदेशों से आने वाले सांस्कृतिक–शिष्टमण्डलों के अभिनेता, तथा अभिनेत्रियों के बीच में बैठ कर चित्र उतरवाने वाले चित्रित श्रीनेहरू की मुखच्छवि को जब जब भी हमने ध्यान से देखा है, तबतब ही यह स्पष्ट प्रतीत होता रहा है कि, इस भारतीय–सांस्कृतिक–पुरुष को अज्ञातरूप से ही, विवशतापूर्वक ही इस मण्डली में बैठ जाना पड़ा है। हमारे एक मित्रने हमें राजस्थान के सत्ताहस्तान्तरणकाल का उदयपुर का एक चित्र दिखलाया था, जिसमें श्रीनेहरू की प्रच्छन्न वेदनामयी वह सांस्कृतिक प्रतिमा अभिव्यक्त हो पड़ी थी, जिसे देख कर यही कह देना पड़ता था कि, श्रीनेहरू सचमुच भारतीयता के प्रतीक हैं। और हम समझते हैं, सत्तातन्त्र के बाह्य–व्यासङ्गों से परित्राण पाने के स्वस्थ–प्रकृतिस्थ–क्षणों में जब भी श्रीनेहरू स्वात्मनिष्ठ बन कर वर्त्तमान भारत की इन राष्ट्रीय प्रगतियों–पर, अपने से ही प्रसूत यहाँ के सांस्कृतिक-आयोजनों के विजृम्भणों पर दृष्टि डालते होंगे, तो निश्चयेन वे स्वयं भी इन से उत्पीड़ित ही हो पड़ते होंगे। अतएव हम आपके व्यक्तित्वस्वरूप के विश्लेषण के लिए आपके सम्बन्ध में-'**अज्ञात**' शब्द को सर्वात्मना समीचीन मान रहे हैं।

५८–सामान्य घटना के अनुग्रह से राष्ट्र के भविष्य की अन्धकारपूर्णता—

और श्रीनेहरू के अज्ञातभावापन्न अन्तर्राष्ट्रीय-विमोहनात्मक व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट हो पड़ने वाले भारतीय वर्गविशेषों से प्रणतभाव से हम यह आवेदन कर देना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य मान रहे हैं कि, उन्हें निर्णय से पहिले इस निष्ठासूत्र को सदा ही लक्ष्यारूढ बना लेना चाहिए कि,–"**भूल देखना क्योंकि मानव का सहज स्वभाव है। अतएव कहीं भी, किसी में भी भूल देखना मानव की भूल नहीं है। किन्तु इस भूल देखने में मानव को कभी भूल नहीं करनी चाहिए। यदि मानव भूल देखने में भूल कर बैठता है, तो उसे जीवनपर्य्यन्त पश्चात्ताप ही करते रहना पड़ता है**"। हम समझते हैं-भारतराष्ट्र के अमुक जनतन्त्र जहाँ श्रीनेहरू की भूल–देखने में भयानक भूल कर रहे हैं, वहाँ **अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमुग्ध श्रीनेहरू भी भारतराष्ट्र की प्राच्यनिष्ठा के समझने में भूल कर रहे हैं**। इस भूल देखने की भूल से ही श्रीनेहरू आपादमस्तक मूलतः सर्वात्मना भारतीय होते हुए भी भारतीय सांस्कृतिक–निष्ठा के सम्बन्ध में उस सीमापर्य्यन्त आज आवेशाविष्ट बन गए हैं, जिस आवेश के निग्रहात्मक अनुग्रह से भारतराष्ट्र का आत्मबुद्धिनिष्ठ

'सांस्कृतिक-स्वातन्त्र्य' शङ्कास्पद ही बन गया है। 'संस्कृति के चार अध्यायों' पर उन्मुक्तहृदय से भूमिका लिखने में प्रवृत्त हो जाने वाले श्रीनेहरू को 'संस्कृति' से तो प्रेम है। किन्तु जिस 'संस्कृति' शब्द का स्वरूप सम्पूर्ण विश्व के साहित्य में एकमात्र भारतराष्ट्र के मौलिक साहित्य में हीं निहित है, उस भारतीय–प्राच्यसाहित्य का नामश्रवण भी श्रीनेहरू को अभीष्ट नहीं है अन्तर्राष्ट्रीय–व्यामोहन के कारण। इसी व्यामोहनगर्त्त में नेहरू जैसे महान् भारतीय की भी भारतीयता आज सर्वात्मना निमज्जित हो पड़ी है, जिस इस छोटी सी सांस्कृतिक–घटना, किंवा घोरघोरतमा महती दुर्घटना से भारत का सांस्कृतिक–भविष्य ही आज अन्धकारपूर्ण बन गया है।

५६–भारतीय सांस्कृतिक–'हिन्दू-मानव' के प्रति श्रीनेहरू का प्रतिक्रियात्मक आश्चर्योत्पादक अभिनिवेश, एवं भारतराष्ट्र का दुर्भाग्यपूर्ण इतिवृत्त —

अन्यदपि महदाश्चर्य्यम्। श्रीनेहरू के आक्रोश का प्रधान क्षेत्र है वह 'हिन्दू–मानव', जिसकी कृपा से ही भारतराष्ट्र की संस्कृति के मूलबीज आजतक सुरक्षित रहते आए हैं। जिस 'पण्डित' शब्द से समुत्तेजित होकर श्रीनेहरू ने अपनी इस आभिजात्य उपाधि का परित्याग कर दिया है, उस 'पण्डित' नामधारी भारतीय ब्राह्मण ने हीं युग–युग के घोरघोरतम उत्पीड़नों को सहते हुए भी भारतराष्ट्र की उस मूल साहित्यिक–निधि को आजतक बचाए रक्खा है, जिस मूलनिधि के एक-एक चिरन्तन सत्यसिद्धान्तों से श्रीनेहरू की शिक्षा–दीक्षा के आचार्य्य प्रतीच्य विद्वान् न केवल प्रभावित ही होते आए हैं, अपितु उन महामानवों नें मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार कर लेने में भी कोई आपत्ति नहीं की है कि,–"**भारतवर्ष के औपनिषद ज्ञान से ही विश्व का संघर्ष शान्त हो सकता है** ÷"। हम उस समय आश्चर्य्य से स्तब्ध रह जाते हैं, जबकि 'हिन्दू' नाममात्र के उपस्थित हो जाने से अपने इस राष्ट्रकर्णधार को समुत्तेजित होते पाते हैं। ऐसा क्यों?। हिन्दू ने भूलें कीं हैं, और बड़ी बड़ी भूलें कीं हैं। अपनी इन भूलों से ही तो इसका राष्ट्रीय-संघठन उच्छिन्न हुआ है। इसी भूल से तो इसने भारतीय–संस्कृति को सत्ताश्रित बना देने की महाभूल करते हुए संस्कृति का स्वरूप ही विकृत कर लिया है। अपनी इस परप्रत्ययनेयमूला सर्वनाशकारिणी भूल से ही तो इसने आततायी–वर्गों को 'अतिथि' मानने की घोरघोरतमा भूल करते हुए भारतराष्ट्र को श्रीसमृद्धि से वञ्चित करा लिया है। और क्षमा करेंगे उदारहृदय श्रीनेहरू महाभाग हमें इस स्पष्टवादिता के लिए कि, उसी हिंदुत्त्व की सीमा के निग्रहात्मक अनुग्रह से ही, हिन्दू की सहज भावुकता की कृपा से ही हिन्दूश्रेष्ठ, तथा पण्डितश्रेष्ठ श्रीनेहरू की भावुकता से ही, परप्रत्ययनेय–मूला अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिभ्रान्ति–से ही आज पुन: भारतराष्ट्र का हिन्दुत्त्व ही सर्वात्मना संकटग्रस्त बन गया है, जबकि हिन्दू से अतिरिक्त अन्य कोई भी वर्ग श्रीनेहरू के लिए आक्रोश का लक्ष्य नहीं है। अन्यान्य सभी वर्ग जहाँ '**नेहरूसरकार**' से यथेच्छ वर प्राप्त कर सकते हैं, कर रहे हैं, वहाँ निरीह वह हिन्दू ही सत्तातन्त्र के अभिशापों का मुख्य केन्द्र–प्रमाणित हो रहा है, जिस **रामभक्त उद्घोषित हिन्दू** * की कृपा से ही तो भारतराष्ट्र परतन्त्रता से उन्मुक्त हुआ है, एवं जिस हिन्दुत्त्व के स्वस्व–प्रतिदान से ही आज का सत्तातन्त्र जीवित है। "हिन्दूमानव की सभी सांस्कृतिक आस्थाएँ निर्म्मूल, रूढिवादात्मिका, अतएव त्याज्या। एवं तदतिरिक्त सभी

÷–'**उपनिषद्विज्ञाभाष्यभूमिका**' प्रथमखण्ड में इन सभी प्रतीच्य विद्वानों की धारणाएँ अभिव्यक्त हुईं हैं।

*–रामभक्त महान् नैष्ठिक सर्वश्री गाँधीजी महाभाग।

वर्गों की मान्यताएँ मानवता–मानवसंस्कृति से समाप्लुत"। क्या भारतीय हिन्दू के श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रों से यही मर्म्म निकाला है हमारे इस महान् राष्ट्रीय कर्णधार ने ?।

६०–भारतीय-हिन्दूमानव की सहज-भावुकता से ही इस सांस्कृतिक हिन्दूमानव का सत्तातन्त्रों के द्वारा उत्पीड़न, एवं इसकी आत्मनिष्ठा का ही अन्ततोगत्वा महान् विजय—

नहीं। अपितु वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी ही है सदा से ही इस हिन्दू–मानव की कि, इसने उस सीमापर्य्यन्त तो सभी युगधर्म्मों के आक्रमणों को अवनतशिरस्क बन कर सहलिया है, जिस सीमापर्य्यन्त इसके शरीर, मन, एवं अधिक–से अधिक लोकबुद्धि का सम्बन्ध माना गया है। अपने सहज औदार्य्य से, सौजन्य से, सर्वोपरि सांस्कृतिक–आभिजात्य से उत्पीड़क के प्रति इसने इच्छा से, अथवा तो अनिच्छा से अपना शरीर भी समर्पित कर दिया है, मन भी समर्पित कर दिया है, और अन्ततोगत्वा लोकबुद्धि भी समर्पित कर दी है, जिस समर्पण को ही दुर्भाग्यवश इसकी निर्बलता मान बैठने की भयानक भ्रान्ति कर डाली है समर्पण कराने वालों नें। उदाहरण के लिए बृटिशसत्तातन्त्र ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा। क्या प्राप्त नहीं कर लिया छल से, बल से, आतङ्क से, एवं करभारों से ब्रिटिशसत्तातन्त्र ने भारतराष्ट्र से ?। और किस सरलता से ही यहाँ की हिन्दूप्रजाने अपना शरीर–मन, बुद्धि, सभी कुछ समर्पित कर दिया सबकुछ सहते हुए भी। इसकी इस सहनशक्ति को ही स्वरूपविमूढ उस सत्तातन्त्रने जिस क्षण इसके सांस्कृतिक–आत्मा पर प्रहार करने की भयानक भूल कर डाली, उसी क्षण परम सत्ताभक्त भी यही हिन्दू अपनी आत्मनिबन्धना सांस्कृतिक–निष्ठा से उद्दीप्त–प्रदीप्त हो ही तो पड़ा, जिस प्रदीप्ति के अन्यतम उदाहरण हिन्दूश्रेष्ठ श्रीनेहरू भी बने हुए हुए थे तद्युग में। जबतक इसकी आत्ममूला यह सांस्कृतिक–निष्ठा जागरूक नही बन जाती, जबतक ही सत्तातन्त्र इसे उपेक्षणीय भी मान सकता है, इसके बुद्धि–मनः–शरीर–तन्त्रों को निर्बल समझने की भ्रान्ति करता हुआ इसे उत्पीड़ित भी कर सकता है, स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है। किन्तु·········?। अपने हीं सत्तातन्त्र के प्रति इस किन्तु परन्तु ! जैसे भयानक क्षण का आविर्भाव न हो, यही भगवान् से प्रार्थना है। और प्रार्थना है उसी विश्वम्भर से कि, वही हमारे सत्तातन्त्र को इस दिशा में अविलम्ब उद्बोधन प्रदान करे, जिस उद्बोधन के बिना आज हमारा सत्तातन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय–व्यामोहन–जाल से आबद्ध होता हुआ वैसे **आयोजनों**, एवं **योजनाओं** का ही सर्ज्जन करता जा रहा है, जिन आयोजन–योजनाओं के बाह्य–भौतिक–विजृम्भणों को भारतराष्ट्र में कभी भी न आज से पूर्व सफलता मिली, न भविष्य में हीं इन भौतिक–आडम्बरमात्रों से भारतराष्ट्र कभी तुष्ट तृप्त ही होगा। परमात्मा करे–भारतराष्ट्र के राष्ट्रदेवता सर्वश्री नेहरू को योगज–आयु प्रदान कर इन्हें दीर्घजीवी बनावें, जिससे अपनी सहजसिद्धा राष्ट्रीयता के बीज को राष्ट्रीय मूलसंस्कृति के अमृतस्रोत से सिञ्चित करते हुए ये ही भारतराष्ट्र को सांस्कृतिक अभ्युदय–निःश्रेयस् की प्रतिष्टा में प्रतिष्ठित करें, यही हमारी लोकप्रिय–मङ्गलकामना है।

६१–आचारनिष्ठाशून्या आज की ये 'लोकप्रियमात्र' मङ्गलघोषणाएँ—

अवश्य ही श्रीनेहरू के सम्बन्ध में 'परमात्मा' के माध्यम से हमारी मङ्गलकामना को लोकप्रिय–कामना ही माना जायगा वर्त्तमान लोकप्रिय–जनतन्त्र के जनमानस के द्वारा। किन्तु जबतक इस 'लोकप्रियता'–

को सांस्कृतिक–निष्ठा के साथ जनतन्त्र अपने राष्ट्र में प्रतिष्ठित नहीं कर लेगा, तबतक इत्थंभूला लोकप्रिय 'मङ्गलकामना' स्वप्नजगदनुवर्त्तिनी 'भावुकता' के अतिरिक्त और कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध न कर सकेगी। क्योंकि हम देख रहे हैं, अहोरात्र, प्रतिक्षण–पल–विपल सुन रहे हैं कि, आज लोकप्रिय–मङ्गलकामनाओं का प्रचण्ड प्रवाह ही उमड़ रहा है यत्र–तत्र–सर्वत्र भारतराष्ट्र में। सत्य–अहिंसा–नैतिकता–मानवता–सहास्तित्त्व–विश्व–शान्ति–दया–करुणा–आदि आदि महामाङ्गलिक–शब्द तो आज प्रतिव्यक्ति के जिह्वाग्र में हीं विराजमान हैं। इन उदात्त शब्दों की माङ्गलिकी–लोकप्रिय–घोषणाओं को मध्यस्थ बनाए बिना तो आज का राष्ट्रीय–मानव किसी भी कार्य्य में प्रवृत्त ही नहीं होता।

६२–प्रकृतिसिद्ध भेदवाद के द्वारा व्यवस्थित कर्त्तव्य–कर्म्मों की सहजनिष्ठा का अभिभव, एवं आज के भारतराष्ट्र की काल्पनिकी 'ब्राह्मीस्थिति'—

यही नहीं, अपितु खण्ड–खण्ड–भावात्मिका विषमा प्रकृति–से सम्बन्ध रखने वाले यच्चयावत् प्राकृत जड़–चेतन–पदार्थों में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठिता ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–नामकी जो प्राकृत वर्णचतुष्टयी, चातुर्वर्ण्यनिबन्धन प्रकृतिसिद्ध जो प्राकृतिक वर्गभेद प्रकृति से अतीत, अखण्डभावात्मक, महामहिमामय, परात्पर–विश्वातीत ब्रह्म पर परिसमाप्त हो जाता है, जिस 'परात्पर' नामक विश्वतीत ब्रह्म पर प्रकृति का प्रकृतित्त्व, एवं तदनुगत ब्रह्म–क्षत्र–विडादि वर्गभेदात्मक–विषमवर्त्तनात्मक–वर्गभेद उपशान्त हो जाता है *, जिस विश्वातीता अखण्डावस्थात्मिका–प्राकृतिकवर्गभेदविहीना दिग्देशकालातीता अनन्तता की प्राप्ति के लिए मानव को अनेक जन्मपर्य्यन्त प्राकृतिक–वर्गभेदात्मक–आचारधर्म्मों का अनुगमन करना पड़ता है ÷, इत्थंभूता, वर्गवादविहीना, अप्राकृतिकी, विश्वातीता अनन्तब्रह्ममूला जैसी **'ब्राह्मीस्थिति'** तो आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतराष्ट्र की मूल **'मङ्गलकामना'** ही प्रमाणित हो रही है।

६३–विश्वबन्धुत्त्व के आवेश से भूतावेशवत् आवेष्टित, एवं स्वबन्धुत्त्व से पराङ्मुख आज का भारतराष्ट्र—

दूसरे शब्दों में–प्राकृतिक–भेदवादात्मक–'वर्गभेदों' का मूलोच्छेद तो आज के राष्ट्रीय–मानव की सर्व–लोकप्रिया प्रमुखा प्रथमा ही मङ्गलकामना बन रही है। प्रकृतिसिद्ध वर्गभेद के मूलोच्छेद का दृढसंकल्प, तन्मूलक अज्ञातलोकानुबन्धी प्रजासमाजवादात्मक वादविशेष की स्थापना के लिए आतुरता, तद्युक्ता मानवता, तदनुगत विश्वबन्धुत्त्व, तदनुप्राणित सहास्तित्त्व, तत्सफलताप्रवर्त्तक पञ्चशील, एवं तत्पोषक सत्य–अहिंसा–आदि विमलभाव, इत्यादिरूपेण एक से एक उत्कृष्ट–उत्कृष्टतर–उत्कृष्टतम–लोकप्रिय–माङ्गलिक–घोषणाएँ क्या पर्य्याप्त नहीं थीं आज के मानवतावादी, वर्गभेदमूलोच्छेदाभिनिविष्ट–विश्वबन्धु–भारतीय–राष्ट्रीय–मानव के लिए, जिस अभाव की पूर्त्ति के लिए हम परमात्मा के माध्यम से एक और नवीन मङ्गलकामना व्यक्त कर बैठे ?।

***–तत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति, क्षत्रमक्षत्रं भवति, चाण्डालः–अचाण्डालः, पौल्कसः–अपौल्कसो भवति (उपनिषत्)।**

÷–अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। (गीता)।

बहूनां–जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। (गीता)।

६४–सर्वात्मना बुभुक्षित-पिपासित-आज का भारतराष्ट्र, एवं केवल घोषणाओं के माध्यम से तच्छान्ति के काल्पनिक प्रयास—

अतएव हमें यह अनुभव कर लेना पड़ा कि, आचारनिष्ठाशून्या केवल–माङ्गलिक–घोषणाओं से, इन स्वाप्न विवर्त्तों से, इन मनोमोदकों से उस आज के भारतराष्ट्र की बुभुक्षा–पिपासा यत्किञ्चित्–रूपेणापि उपशान्त नहीं हो सकती, जो भारत निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से माङ्गलिक–लोकप्रिय–घोषणाओं के उद्घोष में एक दूसरे को परास्त करते रहने में प्रतिद्वन्द्वी बने रहने वाले असंख्यसंख्य सम्प्रदायवादात्मक–मतवादों की ओर से धारावाहिकरूपेण नवीन-नवीन साज–सज्जाओं से समलङ्कृता बन कर समुपस्थित होतीं रहने वालीं केवल मङ्गलकामनाओं से उत्पीड़ित रहता हुआ इस अवधि में बुभुक्षित-पिपासित ही प्रमाणित होता चला आ रहा है। क्या क्या माङ्गलिक प्रलोभन नहीं मिले इसे उन मतवादाभिनिविष्ट–साम्प्रदायिक गुरुओं से ? । इसने जो इच्छा की, वही वरदान मिला । किस रूप से ?, वाणी के रूप से, माङ्गलिक-कामना के रूप से, सर्वोपरि आशीर्वाद के रूप से ।

६५–अबुद्धियोगात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा से वञ्चिता वचनदान–परम्पराओं से भारत राष्ट्र की दुःखपरम्पराओं की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि, एवं तत्सम्बन्ध में श्रीनेहरू के प्रति मङ्गलकामना—

वचनदान में कोई दरिद्रता नहीं हुई उन उद्धारकों के द्वारा । किन्तु आचारात्मक इतिहास इस त्रिसहस्र-वर्षात्मिका अवधि में तथाविधा मङ्गल–कामनाओं, माङ्गलिक–घोषणाओं के सम्बन्ध में यही स्पष्ट, एवं उच्च उद्घोष करता आ रहा है कि, आत्मबुद्ध्यनुगता संस्कृति, तन्नियन्त्रित बुद्धिमनोऽनुगत सांस्कृतिक–आचार, तन्नियन्त्रित मनःशरीरानुगत सांस्कृतिक-आयोजन, इन तीनों प्रकर्मों को आत्यन्तिकरूपेण विस्मृत कर देने वाले, दूसरे शब्दों में 'अबुद्धियोगात्मक-बुद्धियोग-' की निष्ठा से समन्वित 'आचारधर्म्म' को विस्मृत कर बैठने वाले भावुक भारतीय मानव नें तीन सहस्र वर्षारम्भ के जिस दुर्भाग्यपूर्ण क्षण में सत्यं–शिवं–सुन्दरं–लक्षण–प्राकृत–वैभव का तिरस्कार कर केवल आचारशून्या, अतएव शून्यं-शून्यं, दुःखं–दुःखं-क्षणिकं-क्षणिकं-लक्षणा तथाविधा माङ्गलिक–घोषणाओं, आशीर्वादों, वरदानों को ही अपना लक्ष्य बना लिया, उसी क्षण से इसका पतन आरम्भ हो गया । एवं तत्र से आरंभ कर आज पर्य्यन्त ज्यों ज्यों यह अनुकूलतावादी भावुक मानव लोकप्रिय-घोषणाओं में अधिकाधिक आसक्त–व्यासक्त होता गया, त्यों त्यों ही इसकी दुःखपरम्पराएँ अधिकाधिकरूपेण अभिवृद्ध ही प्रमाणित होतीं गईं । सभी कुछ खो दिया इसने अपनी इन माङ्गलिक–कर्णप्रिय, किन्तु संस्कृति–सांस्कृतिक–आचार–शून्य घोषणाओं के द्वारा उत्पन्न हो पड़ने वाले व्यक्तित्वविमोहनों के आवेश से । अतएव श्रीनेहरू के सम्बन्ध में हम भले ही परमात्मा के ही माध्यम से क्यों न माङ्गलिक–कामना की घोषणा कर डालें । कदापि यह घोषणा तबतक केवल 'भावुकता' के अतिरिक्त और कुछ भी अर्थ नहीं रखती, जबतक कि स्वयं श्रीनेहरू अपने दृष्टिकोण को भारतीय–दृष्टिकोण का अनुवर्त्ती नहीं बना लेते, एवं तदाधारेण सांस्कृतिक–आचार–निष्ठा का अपनी जीवनपद्धति में समावेश नहीं, तो तत्प्रति न्यूनतम उसीप्रकार अपनी आस्था–श्रद्धाएँ प्रणतभाव से समर्पित नहीं कर देते, जैसे कि प्रतीच्य राष्ट्रों की भौतिक–मान्यताओं के प्रति उन्होंनें अपने आपको सर्वात्मना समर्पित कर दिया है ।

६६-मङ्गलकामना के आचारात्मक-कर्त्तव्यपक्ष के सम्बन्ध में अनतिप्रश्नात्मक प्रश्न का आविर्भाव—

क्या ऐसा सम्भव है ?। परमात्मा के साम्राज्य में यद्यपि कुछ भी असम्भव नहीं है। किन्तु मानव की आचारशून्या कल्पनाएँ सम्भव बन जायँ, यह अवश्य असम्भव है। और प्राकृतिक नियम-विधि-विधानों के अनुसार मानव अपनी ३० वर्ष की आयु के पश्चात् अपने भौतिक व्यक्तित्त्व को परिवर्तित कर डाले, यह असम्भव नहीं, तो असम्भव-प्राय तो अवश्य ही है। राजस्थान में एक लोक-सूक्ति प्रसिद्ध है कि-'चीकटे घड़े बूँद कोन ठहरे'। तैल-घृत-आदि के असंख्य-पुट-संस्कारों से चिक्कणतम बन जाने वाले मृण्मय-घट पर जैसे जलकण सम्मिश्रणात्मक यागसम्बन्ध से प्रतिष्ठित नहीं हो सकते, तथैव जिस मानव का मन जिन संस्कारपुटपरम्पराओं से दृढ़मूल बन जाता है, उस मन पर अन्य संस्कारों का अन्तर्य्याम-सम्बन्ध असम्भव नहीं, तो कठिनतम अवश्य बन जाता है। एवं इस प्राकृतिक अनुबन्ध से अब हमें यह मान ही लेना चाहिए कि, श्रीनेहरू के दृष्टिकोण में परिवर्त्तन का उदित हो जाना कठिनतम ही बन रहा है। कठिनतम भी सरलतम बन जाया करता है केवल एक प्रकार से, जिसप्रकार से श्रीनेहरू, तथा तत्पदचिह्नानुवर्त्ती अन्यान्य भी भारतीय नेता आज सर्वथा पृथक् ही हो चुके हैं उसी व्यक्तित्त्वविमोहन के कारण। वह उपाय है **'जिज्ञासा-पूर्वक समझने का प्रयास'**, जिस प्रयास को सफल बनाने के लिए एकबार तो मानव का अपनी समझ के सम्पूर्ण आवरण को उतार कर एक ओर रख ही देना पड़ता है। क्या पद्धति है-इस आवरण को उतार फैंकनें की ?। क्या श्रीनेहरू सुनना चाहेंगे इस एक भी प्रश्न का उत्तर ?। यदि हाँ, तो मानवसुलभ 'धृतिगुण' को आधार बना कर वे सुनने का अनुग्रह करें !

६७-महर्षि दीर्घतमा के द्वारा निर्दिष्ट उद्बोधनसूत्र का माङ्गलिक संस्मरण, एवं तदाचरण मे ही मानव के व्यक्तित्त्वविमोहन की उपशान्ति, तदैव च संस्कृति-स्वरूप-दर्शन की सम्भावना—

'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' ही उस पद्धति का मूलसूत्र है, जिसका अर्थ है-**'अपने पाण्डित्य के, समझ के, विद्वत्ता के अतिमान को छोड़कर जिज्ञासु मानव को सर्वथा एक अबोध निरीह बालक की भाँति हीं बना लेना चाहिए'**। तभी मानव में सहजरूप से वह प्रणतभाव अभिव्यक्त होता है, जिसके बिना **'श्रद्धा'** का उदय असम्भव है, एवं जिस श्रद्धा को मध्यस्थ बनाए बिना मानव वास्तविक **'ज्ञान'** के साथ अपने भूतात्मा का सम्बन्ध कराने में सर्वथा असमर्थ है *। इसी सम्बन्ध से एक ऐतिहासिक चिरपुरातन उदाहरण व्यक्त कर देने का लोभ संवृत नहीं हो रहा है हम से। ऋग्वेद में एक सुप्रसिद्ध सूक्त है--**'अस्यवामीय,'** जो सम्पूर्ण-ऋग्वेद में कठिनतम-दुर्बोध्यतम सूक्त माना गया है विद्वज्जगत् में, जिसके आरम्भ के-**'अस्य वामस्य पलितस्य होतुः'** इस मन्त्र के **'वामपलित'** के अक्षरार्थमात्र में भी पश्चिमी-विद्वानों की प्रज्ञा कुण्ठित प्रमाणित हो चुकी है। **सम्वत्सरमूला क्रान्तिविद्या,**

---

* **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (गीता ४।३६।)।

अग्निपृष्ठविद्या, त्रैलोक्यत्रिलोकीविद्या, योषावृषाविद्या, संप्ततन्तुवितानविद्या, सुपर्णविद्या, छन्दोविद्या, सलिलविद्या, गर्भविद्या, केन्द्रविद्या, परमव्योमविद्या, कादम्बिनीलक्षणा-सौदामिनी-समन्विता वृष्टिविद्या, चतुर्द्धा विभक्ता वाग्विद्या, आदि आदि अनेक रहस्यपूर्ण 'सृष्टिविद्याओं (सृष्टिविज्ञानों)' का इस अस्यवामीयसूक्त में जिस महामहिमशाली प्रज्ञामूर्त्ति दीर्घतमा नामक महर्षि के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, उन दीर्घतमा महर्षि के नामस्मरणमात्र ही से हमारा मस्तक आस्था-श्रद्धा से अवनत हो जाता है। सृष्टिविज्ञान के परपारदर्शी ये दीर्घतमा महर्षि दुरधिगम्य सृष्टितत्त्वों के समतुलन में अपने तथाविध महतोमहीयान् भी व्यक्तित्त्व के आवरण को किस बालभाषा में क्षणमात्र में उतार फैंक देते हैं ?, यह सुनने मात्र से हम स्तब्ध हो पड़ते हैं। अपने इसी व्यक्तित्त्व का उसी सूक्त में स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि क्या कह रहे हैं ?, सुनिए ! और सुनाइए अपने राष्ट्रीय मानवों को, जो आज साधारण से पदप्रतिष्ठा-व्यामोहन-मात्र से ही अपने आपको कल्पना में हीं कुछ का कुछ मान बैठने की महाभयावहा भ्रान्ति कर बैठे हैं। ऋषि-कहते हैं—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षड़िमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥

—ऋक्संहिता १।१६४।६।

"मैं स्वयं इस रहस्य की तात्त्विक मीमांसा करने में असमर्थ हूँ। अतएव इस विषय पर (अत्र) तात्त्विक चिन्तन करने वाले उन क्रान्तिदर्शी विद्वानों को इसलिए यह पूँछ रहा हूँ—कि मैं स्वयं नहीं जानता इस तथ्य को कि, जिसने ६ लोकों का अपने किसी एक शाश्वत अज रूप में स्तम्भन कर रक्खा है", यही मन्त्राक्षरार्थ है। दीर्घतमा जैसे विदितवेदितव्य-अधिगतयाथातथ्य-विज्ञानपाथोधितलावगाही-महर्षि अपने सम्बन्ध में-'अचिकित्वान्, न विद्वान्' जैसी बालभावापन्ना वाणी अभिव्यक्त करते हुए मानव को यह उद्बोधन ही प्रदान कर रहे हैं कि,—"**यदि वह संस्कृति का तात्त्विक स्वरूप वास्तव में जानना चाहता है, तो उसे अपने पाण्डित्य का गर्व छोड़ना ही पड़ेगा, दिगदेशकालानुबन्धिनी अपनी बुद्धिमानी का परित्याग कर सर्वथा बालभाव से, प्रणतभाव से तद्विज्ञों के प्रति आत्मसमर्पण कर ही देना पड़ेगा, एवं प्रणतिभावात्मिका इस आस्था श्रद्धा से ही इसकी जिज्ञासा को उचित समाधान प्राप्त हो सकेगा। ठीक इसके विपरीत यदि यह अपने बुद्धिगर्व से अभिनिविष्ट बना रहेगा, तो कदापि इस की मृदुभावापन्ना सहज श्रद्धा अभिव्यक्त न हो सकेगी। एवं उस दशा में कदापि न तो यह जिज्ञासा ही कर सकेगा, एवं न इसके मानस का वास्तविक तथ्य के साथ समन्वय ही हो सकेगा**"।

६८—'जिज्ञासा' शब्द का स्वरूप—परिचय, तदनुगता श्रद्धा, एवं बुद्धिवाद के द्वारा तदभिभव—

'**जिज्ञासा**' का अर्थ है-'**जानने की इच्छा**', इस इच्छा का मूल है 'श्रद्धा', एवं 'श्रद्धा' के क्षेत्र में मानव के 'व्यक्तित्त्व' का कोई भी महत्त्व स्वीकार नहीं किया ऋषिप्रज्ञाने। चान्द्ररसात्मिका सौम्या श्रद्धा सौररसात्मिका बुद्धि से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। अतएव जबतक सौरी आग्नेयी बुद्धि का व्यक्तित्त्व अभिव्यक्त रहता है, तबतक चान्द्री सौम्या श्रद्धा की स्वस्वरूपेण अभिव्यक्ति उसी प्रकार सम्भव ही नहीं है, जैसे कि अहःकालात्मक सौर-

सत्ताकाल (दिन) में रहता हुआ भी चन्द्रमा अपनी सौम्या चन्द्रिका (चाँदनी) की अभिव्यक्ति से सर्वथा अभिभूत बना रहता है। आग्नेयी बुद्धि, किंवा बुद्धिमानी जिज्ञासा का द्वार नहीं है, अपितु सौम्य–चान्द्र–मन की सौम्या श्रद्धा ही इस इच्छा की मूलाधिष्ठात्री है। अतएव बुद्धिवादग्रहग्रस्त वैसे बुद्धिमान् का श्रद्धात्मिका–जिज्ञासा से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो अपनी समझ से अपने मनोराज्य में स्वतः ही 'सर्वज्ञ' मान बैठता है अपने आपको।

६६–धर्म्मप्रचार का महान् व्यामोहन, एवं प्रचारव्यामोहनानुगता शिष्यसंख्याभिवृद्धि से ही भारतीय–संस्कृति, धर्म्म की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता—

यही कारण है कि, इतर यच्चयावत् मतवाद जहाँ अपने शिष्यों की संख्या बढ़ाने के लिए सदा ही प्रयत्नशील बने रहते हैं, अतएव धर्मप्रचार (मतप्रचार) ही जिनका मुख्य लक्ष्य बना रहता है, वहाँ ठीक इसके विपरीत भारतीय सांस्कृतिक–शाश्वत–धर्मक्षेत्र में इस प्रचारप्रवृत्ति को, शिष्यसंख्याभिवृद्धि को न केवल उपेक्षणीया ही, अपितु सर्वथा त्याज्या ही मान लिया गया है। **सांस्कृतिक धर्म्म आचार का क्षेत्र है, प्रचार का नहीं, प्रदर्शन का नहीं। धर्म्म का अनुशीलन हुआ करता है, तदनुगत आचरण हुआ करता है, तदनुगत अनुसरण हुआ करता है, जिसके द्वारा सामान्य जनता भी अनुकरण करने लग पड़ती है*। यों आत्मानुबन्धी धर्म्मानुशीलन, बुद्धयनुबन्धी धर्म्माचरण, मनोऽनुबन्धी धर्म्मानुसरण, एवं शरीरानुबन्धी धर्म्मानुकरण, भेद से चार भावों में विभक्त धर्म्म का प्रचार–प्रदर्शन–से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है**। क्या धर्म्म का प्रचार नहीं हुआ पूर्व युगों में ?। हुआ है, और बड़े आवेश से हुआ है। इस धर्म्मप्रचार से ही तो धर्म्म का आचारात्मक पक्ष शिथिल होता गया है उत्तरोत्तर। प्रचार दिग्देशकालानुबन्धी है। अतएव दिग्देशाकालानुबन्धी तात्कालिक मतवादों, सम्प्रदायवादों का ही प्रचार–प्रदर्शन हुआ करता है, एवं होता आया है विगत तीन सहस्र–वर्षों से। जब से यह प्रचार–व्यामोहन जागरूक हुआ है, तभी से धर्म्म का आचारपक्ष अन्तर्म्मुख बन गया है। और आचारधर्म्म की इस अन्तर्म्मुखता से ही भारतराष्ट्र आचारमूला–श्री–समृद्धियों से वञ्चित होता हुआ अन्ततोगत्वा शून्यं शून्यं ही प्रमाणित होगया है। धर्म्मप्रचार की यही एषणा कालान्तर में उन भारतीय शासकों में भी दुर्भाग्यवश जागरूक हो पड़ी, जिसने तो सर्वात्मना ही भारतवैभव को शून्यवाद के प्रति समर्पित कर डाला। मतवादात्मक धर्म्म के प्रचार के लिए भारतीय अन्तिम सम्राट् देवानां प्रियदर्शी अशोक की प्रेरणा से काषायकन्था धारण करने वाले साम्राज्य के उत्तराधिकारी सुकोमलमति युवराज महेन्द्र के, एवं तद्भगिनी सहजसौम्या तिष्यमित्रा के धर्म्मप्रचार से बहुत सम्भव है लङ्का–सुमात्रा–जावा–आदि द्वीपों के आदिवासी जीवन्मुक्त बन कर निर्वाणपद प्राप्त कर गए हों। किन्तु भारतीय–इतिहास तो हमें उद्घोषपूर्वक यही बतला रहा है धर्म्मप्रचारक अशोक के सम्बन्ध में कि, अशोक से आगे वैसा सार्वभौमपद आजतक भारतराष्ट्र में पुनः अभिव्यक्त हो ही नहीं सका।

इस धर्म्मप्रचार की दृष्टि से तो भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण को अपने प्रियसखा अर्जुन को काषायवस्त्र धारण करा के कहीं द्वीपान्तरों में धर्म्मप्रचार के लिये ही भेज देना था। कितना बड़ा नरसंहार बच जाता वैसे

*** यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥ —गीता

धर्म्मप्रचार से । और अर्जुन जैसे सहज दयालु से कितना बड़ा उपकार होजाता इस धर्म्मप्रचार के द्वारा मानवता का ? । और कुछ होता, अथवा न होता । यह तो अवश्य ही होजाता पाँच सहस्र वर्ष पूर्व ही, जो अशोक के धर्म्मप्रचार के अनन्तर भारतराष्ट्र में हो पड़ा, एवं जिस 'होनी' का कुफल आजतक भारतराष्ट्र भोगता आ रहा है । यदि अर्जुन उस तात्कालिक सामान्य से संहार को उपेक्षित मानकर धर्म्मप्रचार के लिए निकल पड़ता, तो दुर्य्योधन-प्रमुख आततायी-कौरवगण अपनी साम्राज्यलिप्सा से उसीप्रकार विश्वसंहार का ही अभिनय आरम्भ कर देते, निशाचयेन कर देते, जैसा कि सम्राट् अशोक के सम्राज्यकालानन्तर भारतराष्ट्र में वैसे ही भीषणतम संहारकर्म्म उपक्रान्त हो पड़े हैं ।

७०-प्रचारभावुकता से आचारनिष्ठा का आत्यन्तिक अभिभव, एवं तत्पुनराविर्भावात्मिका स्वम्भूप्रजापति की कालिक-प्रेरणा—

हाँ, तो निवेदन का अभिप्राय यही है कि, **'आचारनि ा'** का स्थान जिस दिन से **'प्रचारभावुकता'** ने ग्रहण कर लिया, उसी दिन से लक्ष-लक्ष-कोटि-कोटि-कण्ठों से बड़ी बड़ी लोकप्रिय घोषणाएँ तो उन्मुक्ततापूर्वक उद्-घोषित होने लग पड़ीं, किन्तु धर्म्म का, तदभिन्ना संस्कृति का आचारात्मक पक्ष सर्वथा ही अभिभूत हो गया * । आचारात्मिका ज्ञानविज्ञानसिद्धा कर्त्तव्यपद्धतियों का स्थान प्रचारमूलक मतवादोंनें अपहृत कर लिया । मतवादाभिनिवेश से राष्ट्र की जिज्ञासात्मिका सहज श्रद्धा सर्वथैव अन्तर्म्मुख बन गई । और यों **'प्रचार'** जैसी छोटी सी घटना, किंवा भूल से धर्म्म का आचारात्मक समस्त सौन्दर्य्य ही जनमानस से पराङ्मुख ही बन गया । ऐसी पराङ्मुखता की विद्यमानता में कैसे पुनः भारतराष्ट्र अपने उस मूल सांस्कृतिक-सौन्दर्य्य की ओर आकर्षित हो ?, यह प्रश्न सचमुच आज दुरधिगम्य अनतिप्रश्नात्मक एक असमाधेय प्रश्न ही प्रमाणित हो रहा है । इस विवशता के कारण ही तो अन्ततोगत्त्वा हमें अन्तिम आश्रयभूत उस **'परमात्मा'** को ही माध्यम-बनाना पड़ता है, जिसके अव्यक्त प्रकृतिरूप स्यम्भूब्रह्मा की कालिक-प्रेरणा से ही युग-युग में भारतीय-संस्कृति का आविर्भाव हुआ करता है ÷ ।

७१-युगधर्म्माध्यक्ष प्रजापति की प्रेरणा से ही उपनिबद्ध सर्वनिरपेक्ष प्रस्तुत-सांस्कृतिक-निबन्ध—

निश्चयेन उसी स्वयम्भू प्रजापति की प्रेरणा से तीन सहस्र वर्ष के अनन्तर तीन सहस्र वर्षों के यच्च-यावत् सम्प्रदायवादों, मतवादों, तथा-तत्पोषक सत्तातन्त्रों से, एवं युगधर्म्मानुगत अन्यान्य भी ज्ञात-अज्ञात तन्त्रों से यथाशक्य अपने आप को निरपेक्ष बनाए रखते हुए ही संस्कृति, सभ्यता-शब्दों का चिरपुरातन,

---

* प्रत्याशं प्रचरन्ति धर्म्मकथकाः सन्ध्यापि वन्ध्यायते ।
—स्व० श्रीदुर्गाप्रसादद्विवेदिमहाभागाः

÷ युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥
—पुराण

अतएव चिरनूतन यह चिरन्तन इतिवृत्त '**सांस्कृतिक-निबन्ध**' के रूप में उपनिबद्ध हो रहा है, जिसके प्रचारात्मक पक्ष का इसलिए हमें यत्किञ्चित् भी व्यामोहन नहीं हैं कि, जिन क्षेत्रों, व्यक्तियों के मनोराज्य में जिज्ञासात्मिका-श्रद्धा अभिभूत होगई है, उनकी दृष्टि में तो यह प्रयास 'अरण्यरोदन' से ÷ अधिक, और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रख रहा। हाँ, निबन्ध का आचारात्मक पक्ष उस भारतीय जनतन्त्र के सम्बन्ध में अवश्य ही कुछ अर्थ रखता है, जिस आस्था-श्रद्धाशील जनतन्त्र की जिज्ञासा पारम्परिक, कुलक्रमानुगत सांस्कृतिक-आचारों, सांस्कृतिक-आयोजनों के आंशिक अनुगमन से आजतक येनकेनरूपेण सुरक्षित ही चली आरही है। अतएव तथाविध श्रद्धापरायण जनतन्त्र आज भी प्रतिक्षण आतुर है अपने सांस्कृतिक-आचारों के मूलान्वेषण के लिए। और यह आशा रखना कदापि दुराशा नहीं मानी जा सकती कि, तथाविध अन्वेषकों की तुष्टि के कतिपय सूत्र तो अवश्य ही प्रस्तुत निबन्ध में उन्हें उपलब्ध हो सकेंगे।

७२-आस्तिक-नास्तिक-दार्शनिकों की, तथा प्राच्य संस्कृतज्ञ-विद्वानों की मान्यताओं से असंस्पृष्ट—

त्रिसहस्रवर्षावधि से प्रक्रान्त जगन्मिथ्यात्ववादी **आस्तिक दार्शनिकों से**, एवं शून्यवादी **नास्तिक दार्शनिकों** की अन्तोपक्रमोपसंहारमूला दार्शनिकता से परा:परावत, तत्पदानुवर्त्ती यद्ध्यावत् मतवादात्मक-साम्प्रदायिकवादों से, विगत-कतिपय-शताब्दियों में अपनी मान्यताओं के अनुपात से अभिनव न्यायग्रन्थ-व्याकरणग्रन्थ-काव्य-नाटक-चम्पू-ग्रन्थ-आदि आदि का निर्म्माण कर तद्भार से आपादमस्तक माराक्रान्त बन जाने वाले, अतएव मूलभूत-श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रत्रयी के ज्ञानविज्ञानात्मक, आचारात्मक, आयोजनात्मक-रहस्यसमन्वय से सर्वथैव पराङ्मुख प्रमाणित होजाने वाले, अपने इसी शब्दभारात्मक पाण्डित्य के अतिमान से सर्वथैव दिग्देशकालविमूढ बन जाने वाले, उपदेशक-महामहोपदेशक-षड्शास्त्री-षड्दर्शनाचार्य्य-तर्कवागीश-वैय्याकरणकेसरी-महामहोपाध्याय कविचक्रवर्त्ती-आदि आदि विविध उपाधियों से ग्रहग्रहस्त पण्डितम्मन्य भारतीय **संस्कृतज्ञ विद्वानों** की मान्यताओं से असंस्पृष्ट,

७३-अभिनव-भारतीय विद्वानों की कल्पनाओं से पृथग्भूत--

प्रतीच्य विद्वानों के द्वारा प्रतीच्य-भौतिक-मनःशरीरमात्रानुबन्धी-दृष्टिकोणों के माध्यम से उपनिबद्ध प्रतीच्य भाषामय ग्रन्थों को, उनकी निरूपणीया शैली को, उनकी भौतिक पद्धतियों को, मान्यताओं को, इत्यादिरूपेण अथ से इतिपर्य्यन्त उनको ही सर्वात्मना 'आप्तपुरुष' मानने वाले, एवं मनवाते रहने वाले, तद्ग्रन्थादिमाध्यम से ही भारतीय-जीवनपद्धति, इतिहास, संस्कृति, आचार, आयोजन, सभ्यता, आदि की व्यवस्था में पारङ्गत, पुरातत्त्ववेत्ता-समाजशास्त्रवेत्ता-इतिहासमर्म्मज्ञ-जन्तुशास्त्रतत्त्वज्ञ-भाषाविज्ञानवेत्ता-लोकसंस्कृतिधुरीण-नाट्यकलाविशारद-चित्रकलापारङ्गत-नर्त्तनशास्त्रधुरीण-आदि आदि उपाधियों के अनुग्रह से दिग्देशकाल-धर्म्मों के मर्म्मज्ञ प्रमाणित होते रहने वाले विविध-भाषाभिज्ञ, लोकचतुर **अभिनव-भारतीय विद्वानों** की कल्पनाओं से पृथग्भूत,

---

÷ ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्म्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
—पुराणपुरुषो भगवान् बादरायणः

७४–भक्तों की भावुकता से, तथा वणिक्तन्त्र की लोकनिष्ठा से एकान्ततः विदूर—

नामस्मरणमाध्यम से ही राष्ट्र की उत्तरदायित्वपूर्णा–आचारात्मिका आवश्यकताओं के अपने आप ही पूर्ण होजाने के सुखस्वप्नद्रष्टा, झञ्झातालमृदङ्गवाद्यनिरत, भगवान् के समसम्बन्धी, कीर्त्तनपरायण आज के भावुक भक्तों की भावुकता से *, तथा अपनी भूतव्यवसायमूला, गुप्ततन्त्रानुगता घोरघोरतमा भातिसिद्धा–भयावहा भ्रान्तिपरम्पराओं को ÷ सुरक्षित बनाए रखने के लिए ही भगवान्, धर्म्म, पूजन–पाठ–आदि में व्यासक्त बनें रहनें वाले, अपनी इत्थंभूता भ्रान्तियों को सर्वात्मना सुसमृद्ध बनाने की जघन्या कामना से ही सर्वसंहारक-विश्वयुद्धों के लिए प्रतिक्षण आशा–प्रतीक्षानुगत बने रहने वाले, तथाविध घोर संकटकालों में अपनी लोकचातुरी से प्रभूत–सम्पत्तिशाली बन जाने की लोककलाओं के परपारदर्शी, लोकैषणागर्भिता (नामख्यातिगर्भिता) वित्तैषणा (धनसंग्रहेच्छा) से सर्वात्मना समाप्लुत वर्त्तमान वणिक्तन्त्र की लोक–निष्ठा से एकान्ततः विदूर,–

७५–राष्ट्रीयकरणव्यामुग्ध प्रतीच्य-शिक्षा–दीक्षा-प्रदानातुर, धर्म्मनिरपेक्ष वर्तमान सत्ता-तन्त्र से, तथा तत्सम ज्ञात अज्ञात मतवादादि तन्त्रों से सर्वथैव--असंस्पृष्ट, एवं आस्थाश्रद्धासमन्वित जनतन्त्र-सापेक्ष प्रस्तुत निबन्ध—

सर्वोपरि तत्पदचिह्नानुवर्त्ती, अतएव 'राष्ट्रीयकरण' व्याज से राष्ट्रीय–व्यवसायों के हस्तान्तरण के लिए प्रतिक्षण आतुर (किन्तु तत्सञ्चालन में असमर्थ), राष्ट्रीय तत्त्वानुष्ठानों की शिक्षा–दीक्षा से असंस्पृष्ट, तत्स्थाने च प्रतीच्य-शिक्षा–दीक्षाओं से ही उपलालित, अतएव च तत्पद्धतिमाध्यम से ही शासनतन्त्र प्रचार–प्रसार-के लिए कटिबद्ध, तत्प्रतिबन्धिका भारतीय–संस्कृति–धर्म्म–सभ्यता–आचार–आदर्श–आदि आदि राष्ट्रीय विमूल विभूतियों के प्रति सर्वथैव आकृष्ट, ज्ञानक्रियार्थसमन्विता--सौर--पार्थिव--चान्द्र--भावानुप्राणिता ज्योतिस्त्रयीलक्षणा×–राष्ट्रीया–सांस्कृतिकी प्राच्य–'ब्राह्मीज्योति' के स्थान में प्रतीच्या वारुणी **'नईरोशनी'** के प्रतिष्ठापन के लिए अहोरात्र आपादमस्तक व्यग्र बने रहने वाले, ब्राह्मीज्योति के एकमात्र प्रतिनिधि आस्था–श्रद्धापरायण हिन्दूजनतन्त्र के नामश्रवणमात्र से भी अग्निश्च–वायुश्च बन जाने वाले, **'प्रभुसत्तासमर्थ'**–**'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र'-'धर्म्मनिरपेक्ष'-'गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्र'** इत्यादि उपाधियों से समलङ्कृत, वित्तैषणागर्भिता

---

* **अवहाय निजं धर्म्मं रामकृष्णेतिवादिनः ।**
ते हरेर्द्वेषिणः पापा धर्म्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥

÷ प्रसिद्ध है कि, आज का अर्थसंग्रहकुशल व्यवसायी भगवान् से अपने भ्रम के संरक्षण की ही कामना किया करता है । **'भगवान् ने भरम बना रक्खा है'** यही इसकी भाषा है । इसके लिए सत्तासिद्ध भगवान् 'भ्रम' के निवारक नहीं, अपितु भ्रम के संरक्षक हैं । अपने इस भ्रम की रक्षा के लिए ही यह पण्डितों से व्यवसाय की सन्धाओं (शर्त्तों) के आधार पर पूजन–पाठ कराता रहता है, इत्यालम्पालमेव ।

× **यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।**
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
—**यजुःसंहिता ८।३६।**

लोकैषणामूला 'अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति' के व्यामोहनों से एकान्ततः विमुग्ध इत्थंभूत वर्त्तमान सत्तातन्त्र से, एवमेव अन्यान्य भी ज्ञात-अज्ञात-परःशताधिक तथाविध ही भावुकतापूर्ण मान्यतावादों से अपने आपको निरन्तर तीन सहस्र-वर्षों से यथाशक्य असंस्पृष्ट, तथा निरपेक्ष बनाए रखते हुए जिस भारतीय जनतन्त्र ने जिस भारतीय संस्कृति को, तदाधार पर प्रतिष्ठित जिन सांस्कृतिक-आचारों को, तथा तन्नियन्त्रित जिन पर्वो-त्सवसम्मेलनसमारोहात्मक सांस्कृतिक-आयोजनों को येनकेनरूपेण-गच्छतः स्खलनरूपेणापि सभी उत्पीड़नों को सहते हुए भी आजतक बीजरूपेण सुरक्षित बनाए रक्खा है, आस्थाश्रद्धापरायण, अतएव जिज्ञासु उस **श्रद्धेय जनतन्त्र की सापेक्षता** से ही प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है। और तथोपवर्णित उभयविध **दार्शनिक, संस्कृतज्ञ प्राच्यविद्वान्, अभिनव भारतीय विद्वान्, भावुक भक्त, वणिक्तन्त्र, सत्तातन्त्र,** आदि आदि यच्चयावत् तन्त्रों के समतुलन में एकमात्र तथाविध आस्थाश्रद्धापरायण जिज्ञासु जनतन्त्र को ही आज के इस सांस्कृतिक-आपत्तिकाल में हम एकमात्र अशरण-शरण मान रहें हैं, जिसके माध्यम से ही संस्कृति-धर्म्म-संरक्षक परमात्मा की इच्छा अभिव्यक्त होती रही है आजतक। इसी परमात्मेच्छाभिव्यक्ति के कारण जो जनतन्त्र **'जनार्दन'** उपाधि (**जनताजनार्दन**) से समलङ्कृत होता आरहा है सदा से ही।

७६--तथाविध जनतन्त्रान्वेषण--प्रयास, और भारतराष्ट्र के विविध जनतन्त्र—

कहाँ है वह जनतन्त्र ?, किस उपाय से उसे ढूँढा जाय ?, किस पद्धति से उसे ढूँढा जाय ?, इत्यादि प्रश्नों के चिरकालिक-चिन्तन के आधार पर हमें तो अपनी स्वल्पप्रज्ञा से इन प्रश्नों का यही उत्तर उप-लब्ध हुआ है कि, जिसप्रकार सत्तासिद्ध परमात्मा नाम-रूप-कर्म्मा-नुबन्धिनी भातिसिद्धा दिग्देशकालाभि-व्यक्तियों से अतीत रहता हुआ चर्म्मचक्षुओं से परोक्ष बना रहता है, ठीक उसीप्रकार सत्तासिद्ध परमात्मा के इच्छारूप सांस्कृतिक-आचारायोजनों में श्रद्धापूर्वक समास्थित श्रद्धालु जनतन्त्र भी मानव की दिग्देशकाला-नुबन्धिनी भातिसिद्धा, अतएव काल्पनिकी भूतबुद्धि से, तन्मूलक बुद्धिवादव्यामोहन से सर्वथा परोक्ष ही बना रहता आया है। अतएव बुद्धिवादात्मिका भूतदृष्टि से कदापि तथाविध जनतन्त्र का अन्वेषण सम्भव ही **नहीं** है। बात थोड़ी सूक्ष्म है, अतएव अवधानपूर्वक समझने जैसी है।

७७-विश्व के मानवमात्र की आभ्यन्तरा सांस्कृतिकता, एवं तन्मूला व्यापक मानवता, एवं तदनुप्राणित केन्द्रीय मनु से अभिन्न मानव—

ब्रह्माग्निलक्षण, इन्द्रप्राणात्मक, श्वोवसीयस्-अव्ययमनोमयत्त्वेन शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति, मन्वन्तर-कालप्रवर्त्तक, विश्वसञ्चालक, कालातीत, कालव्याप्त, परमात्मरूप केन्द्रीय मनु * तत्त्व की परिपूर्णा सांस्कृतिकी आत्माभिव्यक्ति से सर्वात्मना परिपूर्ण प्रमाणित होने वाले मानवमात्र अपने इस केन्द्रीय-मनु से **'मानव'** हैं, अर्थात् आत्मबुद्धिनिष्ठ सांस्कृतिक-पुरुष हैं, और यही 'मानव' शब्द का वह चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसका **'मानवस्वरूपमीमांसा'** आदि अन्य निबन्धों में विस्तार से यशोगान हुआ है। अपने इसी सुसूक्ष्म आत्म-भाव से सम्पूर्ण विश्व के मानव **'मानव'** हैं, **आर्य्य** हैं, जिस इस बीजात्मिका मनुनिबन्धना मानवीया आर्य्यता को लक्ष्य बना कर ही भारतराष्ट्र के आर्य्य मानवमहर्षि की ओर से—**कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्'**

*** एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये प्रजापतिम्।**
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम्॥ [मनुः १२।१२३।]।

जैसी महत्त्वपूर्णा उदात्त–घोषणा ÷ हुई है । आत्माभिव्यक्तित्वमूला इस मनुनिबन्धना मानवता से ही मानवमात्र सांस्कृतिक–पुरुष हैं, बीजरूपेण । अतएव सम्पूर्ण विश्व के तथाविध जनतन्त्रमात्र श्रद्धा–आस्था–परायण बनते हुए जिज्ञासा से समन्वित हैं । अतएव प्रत्येक मानव में, मानवमात्र में दिग्देशकालसीमाओं से पृथक् बन कर देखने से हमें उसी 'मानव' के दर्शन का महद्भाग्य प्राप्त हो सकता है, जिस मानव का **'परोक्ष जनतन्त्र'** रूप से पूर्व में यशोगान हुआ है । किन्तु इस महद्भाग्यता के लिए पूर्वोपवर्णित मनःशरीरानुबन्धी–प्राकृतिक–दिग्देशकालात्मक **दार्शनिकादि–सत्तातन्त्रान्त** व्यक्तित्वविमूढ़ वर्गों से हमें अपने आप को सर्वथा निरपेक्ष ही बनाए रखना पड़ेगा । यदि हम इस निरपेक्षता में सफल हो सकते हैं, तो हमें सर्वत्र सभी मानवों में, सभी जनतन्त्रों में तथाविध श्रद्धेय–आराध्य–जनतन्त्र उपलब्ध हो सकते हैं । 'ढूँढने से भी उपलब्ध नहीं हो रहे', यह तो स्वयं हमारा प्रज्ञापराध है, दिग्देश–कालात्मक स्वयं हमारा वह बुद्धिवाद है, जो हमें तथाविध जनतन्त्र के साक्षात्कार से वञ्चित बनाए रखता है, जिस बुद्धिवाद को ही हम हमारा 'व्यक्तित्वविमोहन' कहा करते हैं । यदि परमात्मा सर्वव्यापक है, तो तदभिन्न सहजधर्म्म–संस्कृति का जिज्ञासु सांस्कृतिक–जनतन्त्र भी सर्वव्यापक ही है । यदि दिग्देशकालव्यामोहनात्मक भातिसिद्ध व्यामोहनों से हम स्वयं व्यामुग्ध हैं, तो फिर न तो हमें स्वानुगता मानवीया आत्मसंस्कृति का ही दर्शन हो सकता, एवं न जनतन्त्र के ही सांस्कृतिक आत्मभाव के हम दर्शन कर सकते । यों स्वस्वरूपसे भ्रष्ट बनते हुए हम परस्वरूपदर्शन से भी अपने आप को भ्रष्ट प्रमाणित करते हुए **'इतो भ्रष्टस्ततोऽपि भ्रष्टः'** को ही चरितार्थ कर लेते हैं । और अपनी इस स्वभ्रष्टता से ही हम जनतन्त्र को भी भ्रष्ट बना डालने के लिए कटिबद्ध हो जाया करते हैं, जिस कटिबद्धता का अन्तिम परिणाम वह **'पशुता'** ही माना गया है, जिस पशुता की सीमामें आत्माभिव्यक्तित्व से वञ्चिता लोकबुद्धि, मानसिक काम, तथा शारीरिक अर्थों के अतिरिक्त और कुछ भी तो शेष नहीं रह जाता ।

७८–पशुसमानधर्म्मा प्राकृत भावों की पशुता से ही विश्वमानवता की अन्तर्म्मुखता, एवं तन्मूलक विश्वक्षोभ—

आचारशून्या, मनःशरीरनिबन्धना, आपातरमणीया, लोकप्रिय–घोषणाओं से उद्घोषिता प्रचारात्मिका प्रत्यक्षदृष्टि के द्वारा तो कदापि हम तथाविध जनतन्त्र के हृदय का स्वाप्निक सम्पर्क भी नहीं प्राप्त कर सकते । तदर्थ तो हमें अपने सम्पूर्ण बौद्धिक विजृम्भणों का अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग कर प्रणतभाव से जनतन्त्र की सांस्कृतिक–आचारपद्धतियों की ही शरण में आना पड़ेगा । स्वयं यह आचार ही हमारी भ्रान्तियों का उन्मूलन करदेगा अमुक कालान्तर में अपनी प्रणतता के तारतम्यानुपात से । उसी परोक्ष जनतन्त्र के हृदय–संस्पर्शमात्र के लिए ही प्रस्तुत यह सांस्कृतिक-निबन्ध आज तीन सहस्र वर्षानन्तर जनतन्त्र की दिग्देशकालानुगता राष्ट्रभाषा–हिन्दी में हीं उपनिबद्ध हो रहा है, जो प्रत्यक्षदृष्ट्या जहाँ आज के मनःशरीरप्रधान युगधर्म्म की दृष्टिसे तद्धर्म्मा–क्रान्त सभी मानवों के लिए सर्वथा अनुपयोगी है, वहाँ परोक्षदृष्ट्या आत्मबुद्धिप्रधान बनता हुआ यही निबन्ध दिग्देशकालातीत सनातन–शाश्वत–मानवीय–परोक्षभावानुगत-जनतन्त्र के लिए, उसके प्रत्येक व्यक्ति के

÷ इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम् ।
अपघ्नन्तो अराव्णः । (ऋक्संहिता ९।६३।५।) ।

लिए तो आशीर्वचनका तो अधिकारी बन ही रहा है। उसी अज्ञात, किन्तु सर्वथा ज्ञात जनतन्त्र के चरणों में हीं सब ओर से निरपेक्ष रहता हुआ यह सामयिक-निबन्ध श्रद्धापूर्वक प्रणतभाव से आस्थामय इसी आत्मविश्वास के साथ आज समर्पित हो रहा है कि, वह अवश्य ही अपने सांस्कृतिक-बल से भारतराष्ट्र को भी सांस्कृतिक-निष्ठा प्रदान करने का अनुग्रह करेगा, एवं तन्माध्यम से विश्व के यचयावत् जनतन्त्रों की सांस्कृतिक-निष्ठाओं को भी अभिव्यक्त करेगा, जिस आचारनिष्ठा की अभिव्यक्ति के बिना आज मानव का विराट् स्वरूप पशुसमानधर्म्मा-प्राकृतभावों, कामार्थों पर ही विश्रान्त हो पड़ा है।

७९-भारतराष्ट्र के जनतन्त्रों के प्रति श्रद्धा-समर्पण—

अब इस सम्बन्ध में बुद्धिव्यामोहनात्मक एक प्रश्न और शेष रह जाता है, जिसका भी प्रस्तुत प्रास्ताविक में उसी व्यामोहन के माध्यम से दो शब्दों में स्पष्टीकरण कर ही लेना चाहिए। जिस भारतीय जनतन्त्र की सांस्कृतिक-निष्ठा के माध्यम से मानव की सांस्कृतिक-निष्ठा सम्पूर्ण विश्वमानवों में अभिव्यक्त हो जाया करती है, आज के इस भयावह सांस्कृतिक-संघर्षयुग में भारतराष्ट्र में वैसा जनतन्त्र कौन है, जिस के सबल-स्कन्धों के साथ इस महान् उत्तरदायित्व को प्रतिष्ठित कर दिया जाय ?, किंवा जो स्वयं अपनी हीं निष्ठा से युग युग से इस राष्ट्रीय, किंवा **'महाराष्ट्रीय'** पावन उत्तरदायित्व का वहन करता आ रहा है युगधर्म्मानुगत परःशत उत्पीड़नों को सहता हुआ थी ?। **बङ्गाल, विहार, पञ्जाब, उत्तरप्रान्त, राजस्थान, मध्यप्रान्त, उड़ीसा, आसाम, मद्रास, केरल, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र,** आदि आदि जितनें भी पावन-प्रान्त भारतराष्ट्र के अङ्ग बने हुए हैं, उन सभी प्रान्तों के जनतन्त्र अवश्य ही भारतराष्ट्र की आचारात्मिका-सांस्कृतिक-निष्ठाओं के पारम्परिक-स्रोत से येनकेनरूपेण समाप्लुत हैं। और इस दृष्टि से तो सभी जनतन्त्र भारतराष्ट्र की राष्ट्रीया संस्कृति के माध्यम प्रमाणित हो रहे हैं, होते रहे हैं, एवं भविष्य में भी होते ही रहेंगे।

८० पुष्करक्षेत्रानुगत भगवान् ब्रह्मा से समन्वित राजस्थान की सनातन-संस्कृति के अतीत के परिचयचिह्न—

भारतराष्ट्र के केन्द्रभूत जिस पावनतम राजस्थान की सांस्कृतिक-मृत्तिका (मिट्टी) से हमारे भौतिक-शरीर की अभिव्यक्ति हुई है, उस राजस्थान की सांस्कृतिक-लोकाचार-पद्धतियों की ओर, यहाँ के महासङ्गीतात्मक-पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहलक्षण सांस्कृतिक-आयोजनों की शास्त्रीया आचारपद्धतियों की ओर जब हमारा ध्यान आकर्षित होता है, तो हम स्तब्ध बने रह जाते हैं यह देख-सुन कर कि, संस्कृति के मूलाधारभूत वेदशास्त्र में ज्ञानविज्ञानात्मक जिन तत्त्वों, आचारों का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, राजस्थान के सांस्कृतिक लोकगीतों में, लोकाचारपद्धतियों में उन तत्त्वों का ज्यों त्यों संग्रह हो गया है, जिस इस आश्चर्य्यमय साम्य के लिए तो स्वतन्त्र निबन्ध ही अपेक्षित है *। ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक ही था। क्योंकि भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति के आदिप्रवर्त्तक वेदस्रष्टा भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा ने राजस्थान के केन्द्रस्थान सुप्रसिद्ध **'पुष्करक्षेत्र'** को ही अपनी यजनभूमि बनाया था देवयुग में। संस्कृतिप्रवर्त्तक चतुर्मुख ब्रह्मा की आवास-निवासभूमि

* **'राजस्थान की लोक-सांस्कृतिक-परम्पराएँ'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध में इस साम्य के दिग्दर्शन कराने का स्वल्प-प्रयास हुआ **है**।

परमधन्या पुण्यतमा राजस्थान की भूमि में यदि यहाँ की लोकसंस्कृति शास्त्रीय-संस्कृति से समतुलिता बनी रहे, तो इस में कोई आश्चर्य्य नहीं है । ठीक इसीप्रकार बङ्गाल-पञ्जाब विहार-उत्तरप्रान्तादि की भी सांस्कृतिक-महिमाएँ तत्तत् प्रान्तों के लोकातीत सांस्कृतिक-वैभवों से लोकोत्तरा ही प्रमाणित हो रहीं हैं । और इस दृष्टि से-'**नर्म्मदा के छोटे बड़े कङ्कर, सभी शङ्कर**' इस सूक्तिके अनुसार भारतराष्ट्र के सभी प्रान्त सांस्कृतिक-जीवनधाराओं के समतुलन में एक दूसरे से लोकोत्तर बनते हुए सभी लोकोत्तर हैं, धन्य हैं, पावनतम हैं ।

८१- अतीत के सुसांस्कृतिक भी राजस्थानी ब्रह्मण की आज की आत्यन्तिक असांस्कृतिकता, एवं आज इस मारवाड़ी रँगड़-ब्राह्मण की वणिग्दासतानुगता पाचकाचार्य्योपाधि का शोचनीय इतिवृत्त--

किन्तु ? । सभी प्रान्तों के सुसंस्कृत, सांस्कृतिक जनतन्त्रों से इस किन्तु, परन्तु के लिए क्षमा माँगते हुए अपने बौद्धिक व्यामोहन से आज हमें एक वैसे तथ्य की ओर ही आकर्षित होना पड़ रहा है, जिसके श्रवणमात्र से सर्वप्रथम तो हमारा राजस्थानी जनतन्त्र ही हम पर अग्निश्च-वायुश्च हो पड़ेगा । किन्तु युग-धर्म्म ने आज ऐसी परिस्थिति हमारे सम्मुख ला खड़ी करदी है, जिसके अनुबन्धाकर्षण से किन्तु-परन्तु-मूलक तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए हमें आज विवश ही हो जाना पड़ा है । किन कारणों से, क्यों, कैसे, कब से राजस्थान जैसे सांस्कृतिक प्रान्त का इत्थंभूत सांस्कृतिक-अधःपतन होगया इतर प्रान्तों के समतुलन में ?, इन प्रश्नों के अन्वेषण का अत्र अवसर नहीं है । पतन होगया, आत्यन्तिकरूपेण होगया, यह सुनिश्चित है । सम्भवतः इसी आधार पर यह लोकसूक्ति प्रचलित हो पड़ी होगी विगत कतिपय-शताब्दियों से कि—'**मारवाड़ मूरख भला**' । और इसी सांस्कृतिक-अधःपतन के कारण दक्षिणभारत के गुजरात-महाराष्ट्रादि प्रान्तों में राजस्थानी ब्राह्मण के लिए-'**रंगड़ब्राह्मण**' जैसी सम्मानित ? उपाधि नियत होगई होगी । सांस्कृतिक-स्वाध्याय-परम्पराओं से पराङ्मुख बन जाने वाली राजस्थान की प्रज्ञा अपने अतीत सांस्कृतिक-गौरव को आज सर्वथा ही विस्मृत कर बैठी है । और जिस राष्ट्रीय ब्राह्मणप्रज्ञा पर प्रधानरूप से सांस्कृतिक-निष्ठा का उत्तरदायित्व प्रतिष्ठित हुआ था, राजस्थान की वह ब्राह्मणप्रज्ञा तो आज आत्यन्तिकरूपेणैव अन्तर्म्मुखा ही प्रमाणित हो चुकी है । **वेदानभ्यास, आलस्योपासन, आचारपरित्याग, सर्वोपरि परान्नलोलुपता**, आदि प्रज्ञाविरोधी महान् दोषों की अनुगामिनी यह प्रज्ञा आज 'जीवित-मृत्यु' पद को ही समलङ्कृत कर रही है* । भारतराष्ट्र के किसी भी प्रान्त में आप चले जाइए, सर्वत्र आपको छोटे-बड़े व्यवसायों के रूप में राजस्थानी वणिग्बन्धु उपलब्ध हो ही जायँगे, एवं तत्सहैव राजस्थानी ब्राह्मण महाभाग भी । सर्वत्र इन ब्राह्मण महाभागों का प्रधान व्यवसाय आपको उपलब्ध होगा तद्व्यवसाय-पतियों की सेवा-शुश्रूषा, कुलपुरोहिताई के छल से । एवं दूसरा महान् पुरुषार्थ उपलब्ध होगा '**विशुद्ध-भोजनालय' [ढाबा]**। इत्थंभूत विशुद्धतम ? विशिष्टतम ? आत्मसमर्पणात्मक दास्यकर्म्म से, तथा पाचन-कर्म्माकर्षण से यदि तत्प्रान्तों के प्रज्ञाशीलों के द्वारा इन राजस्थानी भूसुरों को-'रँगड़' उपाधि मिल गई हो, तो इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं उठानी चाहिए किसी भी राजस्थानी ब्राह्मण को । क्योंकि आज यह

*** अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्ज्जनात् ।**
आलस्यात्, अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ [मनुः]

'महाराज' (अर्थात् 'रसोइया') ही तो इसकी प्रमुख उपाधि प्रमाणित हो रही है, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना !!!

८२–राजस्थान के सत्तातन्त्रों की उद्वेगकरी लोकगाथा—

यही दुरवस्था राजस्थान के भुक्त-प्रक्रान्त-सत्तातन्त्रों की रही है। राजाओं के शासनकाल में राजस्थान की भूसुरप्रज्ञा जहाँ राज्याश्रितता का गुणगान करती हुई अपनी सांस्कृतिक-निष्ठा विस्मृत कर चुकी थी, वही भूसुरप्रज्ञा आज के धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र की गुणगाथा में तल्लीन हो रही है, जबकि इसका एकमात्र उत्तर-दायित्त्व था सत्तातन्त्रों, तथा वणिकृतन्त्रों से अपने आपको सर्वथा निरपेक्ष रखते हुए राजस्थान की सांस्कृतिक-चेतना को अक्षुण्ण बनाए रखना। और आज का राजस्थानी सत्तातन्त्र ?। यह प्रश्न तो आज सर्वथैव प्रज्ञा-क्षेत्र का अतिक्रमण कर चुका है। अन्य प्रान्तों के सतातन्त्रों के अमुक व्यक्तिविशेषों के द्वारा जहाँ यदा कदा सांस्कृतिक–परम्पराओं के जागरण के इतिवृत्त सुनने-सुनाने को उपलब्ध हो जाते हैं, वहाँ राजस्थानी सत्तातन्त्र तो अपनी प्राच्यसंस्कृतिनिष्ठा से अपने आपको सर्वथा असङ्ग–निर्लिप्त ही प्रमाणित कर चुका है। राजस्थान–सत्तातन्त्र के अमुक भूतपूर्व मुख्यमन्त्री महोदय का वह उद्बोधनसूत्र हम यावज्जीवन विस्मृत न कर सकेंगे, जिसके द्वारा आपने हमें यह सुझाव दे डालने का निःसीम अनुग्रह कर डाला था कि—**"मारवाड़ में एक 'लँगानाच' नामक प्रसिद्ध नाच परम्परा से चला आरहा है। हमें इसका भी मूल अपनी वेद-परम्परा में ढूँढने का प्रयास करना चाहिए"** इत्यादि इत्यादि, इति नु अब्रह्मण्यमेव।

८३–संस्कृतिस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा के परमसांस्कृतिक भी आज के संस्कृतिशून्य राजस्थान की सांस्कृतिक-हृदयकम्पनमूला दुरवस्था---

विगत ८–१० वर्षों से अपनी मनोऽनुगता भावुकता के आकर्षण से हमारा यह व्यामोहन प्रक्रान्त रहा कि, जिस प्राच्य–सांस्कृतिक–स्वाध्याय के आधार पर अबतक जो कार्य्य हुआ है, वह राजस्थानसत्ता के माध्यम से भारतराष्ट्र की सेवा करता हुआ पश्चिमी विद्वानों का भी ध्यान भारतराष्ट्र की इस मौलिक–निधि की ओर आकर्षित करे। इस व्यामोहन के आकर्षण से ही स्वाध्यायकाल को जलाञ्जलि समर्पित कर राजस्थान-सत्तातन्त्र के समर्थ द्वारों की वर्षों पर्य्यन्त परिक्रमा प्रक्रान्त रही। किन्तु सम्भवतः हम अपनी इस भावुकता के दोष से ही सत्ता की नैष्ठिकी प्रज्ञा को इस लक्ष्य की ओर आजतक आकर्षित न कर सके, जब कि इतर प्रान्तों के अमुक सत्ताधीश स्वतः ही इस कार्य्य के प्रति अपनी अनुग्रहनिष्ठाओं से स्वकर्त्तव्य का परिचय दे रहे हैं। सचमुच राजस्थान के सतातन्त्र, वणिकृतन्त्र, अन्यान्य जनतन्त्र, एवं सर्वोपरि–भूसुरतन्त्र, आदि आदि सभी वर्गों में आज एक ऐसी सांस्कृतिक सुषुप्ति आगई है कि, यदि शीघ्र ही इसका सफल निदान, एवं सफल चिकित्सा न हुई, तो संस्कृतिस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा का यह पावन प्रान्त कालान्तर में सर्वथा ही काल्वालीकृत प्रमाणित हो जायगा, जिस आशङ्का के स्मरणमात्र से भी राजस्थान के अमुक परोक्ष सांस्कृतिक–हृदय आज प्रतिक्षण विकम्पित हैं।

८४–राजस्थान से समतुलितैव अन्यान्य राष्ट्रीय--प्रान्तों की भी सांस्कृतिक दशा, किंवा दुर्दशा––

ऐसी नहीं, तो प्रायः तत्समा ही स्थिति इतर प्रान्तों की है। और इस भयावहा स्थिति का एकमात्र कारण है सत्तासमीक्षता। यही वह 'महाभूल' है, जिसके व्यामोहन से हम स्वयं विगत १५–२० वर्षों से

उत्पीड़ित रहे हैं। एकमात्र **जनार्दन-जगदीश्वर-सापेक्षा,** एवं अधिक से अधिक आत्मदेव-निष्ठ, सत्ताब्रह्मनिष्ठ **'जनताजनार्दन' सापेक्षा** संस्कृति-सांस्कृतिक-आचारायोजन को मतवाद-सत्तातन्त्र-वणिक्-तन्त्रादि पूर्वोपवर्णित दिग्देशकालिक तन्त्रों के प्रति सापेक्ष बनाते रहने की जो भूल आज से तीन सहस्र वर्षों से चली आ रही है, जिस भूलने हीं संस्कृति के सम्प्रदायवादनिरपेक्ष विशुद्ध सांस्कृतिक रूप को इस अवधि में अभिव्यक्त होने हीं नहीं दिया, कालिक-दोषात्मक उसी सङ्गदोष से हमें भी तथाकथिता विविधा सापेक्षताओं के तो वारुणपाश में आबद्ध होते रहना पड़ा, एवं संस्कृतिनिष्ठ-आस्थाश्रद्धाशील परोक्ष जनतन्त्र की सापेक्षता की उपेक्षा होती रही, जिसके जो जो दुष्परिणाम हुआ करते हैं, उन सभी का अवनतशिरस्क बन कर उपभोग करने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं था। और अब यह निवेदन कर देने में कोई भी संकोच नहीं हो रहा है कि, उसी परोक्ष जनतन्त्र के अनुग्रह से, उसके पारम्परिक सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा-मात्र के आराधन से, सर्वोपरि तत्प्रकृतिभूता उद्बोधनप्रदात्री महामाया जगदम्बा के अनुग्रह से **'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'** इस श्रौतसिद्धान्तमूला निरपेक्षता का सर्वात्मना नहीं, तो आंशिक अनुग्रह तो प्राप्त हो ही गया है। एवं इसी ईश्वरीय अनुग्रह से आज उस जनतन्त्र के अन्वेषण की ही कामना जागरूक हो पड़ी है, जिसकी सापेक्षता से ही, सांस्कृतिक-निष्ठा से ही भारतराष्ट्र का मूलभूत सांस्कृतिक-वैभव पुनः भारतराष्ट्र में सर्वनिरपेक्षतापूर्वक आविर्भूत हो सकता है, निश्चयेन होगा ही। और—

८४-संस्कृतिनिष्ठ, अतएव प्राणवान्, अतएव च आज पर्यन्त भी जीवनीय चिह्नों से समन्वित-'महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र', एवं तदांशिक सहयोगी-'बङ्गीय-जनतन्त्र'—

संस्कृतिनिष्ठ, प्राणवान्, जीवित, अज्ञातरूपेणैव पारम्परिक आचारनिष्ठ, सर्वथा परोक्ष वैसा प्रथम जनतन्त्र है भारतीय-यच्चयावत् प्रान्तों के समतुलन में एकमात्र **'महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र',** एवं द्वितीय जनतन्त्र है-**'बङ्गीय-जनतन्त्र'**। जहाँतक सांस्कृतिक-आचारों का सम्बन्ध है, ये दोनों हीं जनतन्त्र समानधर्म्मा हैं। किन्तु निष्ठा-भावुकता की समतुलनदृष्टि से बङ्गीय-जनतन्त्र अमुक अप्रत्याशित उत्पीड़नों से जहाँ सहजरूपेणैव नितान्त भावुक बनता हुआ निष्ठाक्षेत्र में आज शिथिल प्रमाणित हो चुका है, वहाँ महाराष्ट्रीय जनतन्त्र अपने सहजसिद्ध 'संघर्षजीवन' के अनुग्रह से अमुक-सीमापर्य्यन्त आजतक प्राणवान् बना रहता हुआ अपनी सांस्कृतिक-निष्ठा को ही अभिव्यक्त करता आ रहा है अतीत के साङ्क्रामिक युगों की भाँति। **और हमारी आस्था है कि, एक दिन इस महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र के अनुग्रह से ही, सनातन मानव-संस्कृति लक्षणा 'हिन्दूसंस्कृति' के रक्षाबल से सुरक्षित, अतएव महाप्राणवान् छत्रपति शिवाजी महाराज की जन्मभूमि इस पुण्यधाम के अनुग्रह से ही भारतराष्ट्र की राष्ट्रीया संस्कृति का पुनः नवीन साज-सज्जा से आविर्भाव होगा ही। निश्चयेन होगा ही किन्तु?..................।**

८५-सुसांस्कृतिक भी महाराष्ट्रीय जनतन्त्र की प्रान्तीयतामूला अभिनिवेशात्मिका प्रतिक्रिया, एवं उसके दुष्परिणाम—

बडा ही घातक है इस किन्तु, परन्तु, का मलीमस-इतिहास, जिससे अपना आत्मत्राण करता हुआ ही महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र अपनी प्राणवत्ता को सांस्कृतिक-निष्ठा के पुनराविर्भाव में समर्पित कर सकता है। जिन मतवादाभिनिविशोंनें भारतीय-सांस्कृतिक-विराट्-हिन्दू-मानव को सम्प्रदायाविष्ट प्रमाणित करते हुए

दिग्देशकालसीमित अन्यान्य मतवादों की श्रेणि में ला खड़ा किया है, दुर्भाग्यवश वही श्रेणि आज महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र में भी समाविष्ट हो पड़ी है, और अन्य प्रान्तों के जनतन्त्रों की अपेक्षा कहीं अधिक वेग से हो पड़ी है। अतएव **सनातनधर्म्मवाद, आर्य्यसमाजवाद, हिन्दूसभावाद, जनसंघवाद,** आदि आदि अन्यान्य साम्प्रदायिक-वादों की भाँति महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र भी आज एक भयानक **'वाद'** रूप में हीं परिणत होता जा रहा है, जिस प्रान्तीयतारूप घातक 'वाद' के अनुकरणानुग्रह से ही आज अन्य प्रान्तों में भी यह वादाभिनिवेश जागरूक हो पड़ा है, एवं भारतराष्ट्र की राष्ट्रीयता के लिए ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण वादाभिनिवेश, दूसरे शब्दों में प्रान्तीयताभिनिवेश और कुछ भी तो नहीं हो सकता।

८७--प्रान्तीयताभिशापमूलैव श्रीराजगोपालाचार्य्य महाभाग के राष्ट्रनिष्ठा-विरोधी-राष्ट्रभाषाप्रतिद्वन्द्वी विचार, एवं राष्ट्रीय संघठनशक्ति का अभिभव--

राष्ट्रविरोधिनी इसी प्रान्तीयता, तन्मूला वादप्रवृत्ति का ही यह दुष्परिणाम है कि, कलतक के भारतराष्ट्र की राष्ट्रीयता के समर्थ सेनानी महान् सांस्कृतिक वयोवृद्ध **सर्वश्री राजगोपालाचार्य्य** जैसे राष्ट्रनिष्ठ महामानव भी आज के विशुद्धतम प्रान्तवादी बनते हुए हिन्द की उस राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति प्रचण्ड-प्रतिक्रियावादी ही बन बैठे हैं, मानो राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' के उन्मूलन के लिए, एवं तत्स्थान में शब्दवाच्यार्थों से एकान्ततः असंस्पृष्टा, सङ्केतमात्रानुगता लाक्षणिकी अंग्रेजी भाषा को भारतराष्ट्र में साम्राज्य-पद प्रदान कराने के लिए ही आपका भारतराष्ट्र में आविर्भाव हुआ हो। यदि 'हिन्दी' के प्रति आपको ऐसा आवेश था, तो आप तत्-स्थान में अपने प्रान्त की भाषा का प्रसन्नतापूर्वक उद्घोष कर सकते थे, और सम्भवतः भारतराष्ट्र के हृदय का उस दशा में कम्पन भी नहीं होता। किन्तु ऐसे तपस्वी आचार्य्य के तपःपूत सांस्कृतिक मुखपङ्कज से हिन्दी के स्थान में अंग्रेजी का ऊद्घोष करने लग पड़ जाना तो यही प्रमाणित कर रहा है कि, अभी भारत-राष्ट्र के दुर्दिनों का अवसान नहीं हो पाया है। तभी तो आज हम भारतराष्ट्र की संस्कृति के सम्बन्ध में एक-मात्र परमात्मा को ही अशरण-शरण मान रहे हैं। जब ऐसे वयोवृद्धनेता भी राष्ट्रनिष्ठा से क्षणमात्र में पराङ्-मुख हो सकते हैं, तो अन्य उन राष्ट्रीय नेताओं के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है, जो आज भारतराष्ट्र की राष्ट्रीयता का उद्घोष करते हुए भी कल ही अपनी किसी वैय्यक्तिक-मान्यता के वारुणपाश में आबद्ध हो सकते हैं ?। ऐसा कैसे हो पड़ा ?, ऐसा कैसे हो पड़ेगा ?, इत्यादि सभी प्रश्नों का एकमात्र उत्तर वही **'हिन्द-मानव की सहज भावुकता'** है, जिसने निरन्तर तीन सहस्र-वर्षों से इसीप्रकार इसे अपनी अखण्ड-राष्ट्रीयता से उत्तरोत्तर पराङ्मुख ही प्रमाणित किया है। एवं इसी भाबुकता के कारण प्राणवान् भी, सुसांस्कृतिक भी, नैष्ठिक भी महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र भी दुर्भाग्यवश कुछ समय से उसी 'प्रान्तीय-वाद' से अभिनिविष्ट होकर अपने राष्ट्रीय महान् उत्तरदायित्व से पराङ्मुख बनता हुआ मध्ये मध्ये कुछ एक वैसी भावुकताएँ कर पड़ता है, जिससे इसकी सांस्कृतिक-निष्ठा धूमिल बन जाती है, जिससे परित्राण प्राप्त कर लेने का एकमात्र उपाय इसकी वह राष्ट्रीया-सांस्कृतिक-निष्ठा ही है, जिसके महान् साम्राज्य में केवल भारतराष्ट्र के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व की सुख-शान्ति के बीज सुरक्षित हैं।

८८-महाराष्ट्रीय जनतन्त्र के प्रति सम्पूर्ण भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक-आशा-प्रतीक्षाएँ, एवं तत्प्रति प्रणतभाव से राष्ट्रहितानुबन्धेन किञ्चिदिव आवेदन-निवेदन--

और हमारी यह भी आस्था है कि, कुछ एक परिगणित **अमुक** व्यक्तियों को छोड़ कर महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र में अधिक संख्या वैसे प्राणवान् सुसांस्कृतिक **मानवश्रेष्ठों** की ही है, जो अपनी निष्ठा के बल पर

आज के इस सांस्कृतिक–संकट–काल में भी अपनी सांस्कृतिक–निष्ठा के * बल पर सर्वप्रथम अपने प्रान्त को भी स्वस्वरूप से अभिव्यक्त कर सकते हैं, एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण भारतराष्ट्र में भी सांस्कृतिक–ऐक्य स्थापित करने

*–जिस महाराष्ट्रीय–जनतन्त्र की सांस्कृतिक निष्ठा का अत्र प्रासङ्गिक यशोगान हुआ है, उस से महाराष्ट्र की श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रमूला वह राष्ट्रीय–संस्कृति ही अभिप्रेत है, जिस का सदा से ही महाराष्ट्र के विद्वान् निष्ठापूर्वक अनुगमन करते आए हैं। **महाराष्ट्र**, और तदनन्तर बङ्गाल, ये दो ही प्रान्त ऐसे हैं, जिन में संस्कृति के मौलिक–स्वरूप के संरक्षण के लिए समय–समय पर विभिन्न प्रयास होते रहे हैं। दोनों प्रयासों में यह अन्तर अवश्य है कि, बङ्गीय–प्रयासों में जहाँ भारतीय संस्कृतिभक्त स्वनामधन्य प्रतीच्य–विद्वानों की प्रमुखता रही है, वहाँ महाराष्ट्रीय–प्रयासों में यहाँ के विद्वानों की ही प्रतिभा प्रमुख रही है। जिस **'न्यू–एशियाटिक सोसाइटी'** के द्वारा बङ्गप्रान्त में भारतीय असंख्य ग्रन्थों का पुनरुद्धार हुआ है, उस के मूलसंस्थापक एक प्रतीच्य विद्वान् ही थे। जबतक ब्रिटिशसत्ता का प्रभुत्त्व रहा, तबतक उक्त संस्था का कार्य्य युगधर्म्मानुसार येनकेन रूपेण प्रक्रान्त रहा। किन्तु अब कर्णाकर्णिपरम्परया ऐसा सुनने में आरहा है कि, राज्य की ओर से पर्य्याप्त सहायता न मिलने के कारण आजकल उक्त संस्था की व्यवस्था सर्वथा ही शिथिल हो रही है, इति नु महद्दुःखास्पदम्।

उधर महाराष्ट्रने अपने सुसांस्कृतिक–जनतन्त्र के बल पर ही ऐसे अनेक–संस्थानों को जन्म दिया है, जिनके द्वारा इस दिशा में अनेक–महत्त्वपूर्ण कार्य्य सम्पन्न हुए हैं, और आजतक सम्पन्न हो रहे हैं। नीलकण्ठी- टीका से युत पत्रात्मक सम्पूर्ण महाभारत, सायणभाष्यसहिता ऋग्वेदसंहिता (आठ खण्डों में), आदि आदि परःशत मौलिक ग्रन्थों के प्रकाशन का श्रेय महाराष्ट्रीय–विद्वानों को ही है। गणपतकृष्णाजी–मुद्रणयन्त्रालय, निर्णयसागर मुद्रणालय, आदि के द्वारा संस्कृतसाहित्य की जो सेवा हुई है, वह सर्वविश्रुत है। 'पूना' के सुप्रसिद्ध–**'भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट'** के नाम से तो सभी प्रज्ञाशील सुपरिचित होंगे ही, जिस के सुयोग्य मेधावी विद्वानों के द्वारा इस दिशा में बड़ी ही तत्परता से प्रगति प्रक्रान्त है। सुप्रसिद्ध शारदाभक्त, राजस्थान के अतीत–सांस्कृतिक–गौरव का पुनः स्मरण करा देने वाले अमुक–राजस्थानी श्रेष्ठिप्रवर के द्वारा संस्थापित **'श्रीवेङ्कटेश्वर यन्त्रालय'** को भी इस दिशा में विस्मृत नहीं किया जा सकता, जिस इस सांस्कृतिक–गौरव को अभिव्यक्त होने का अवसर महाराष्ट्रप्रान्त (बम्बई में) में ही उपलब्ध हुआ है। 'पूना' का **'आनन्दाश्रम संस्थान'** तो प्रसिद्ध ही है पुराणादि परःशत–ग्रन्थों की अभिव्यक्ति के लिए। छत्रपति महाराज शिवाजी के सुप्रसिद्ध दुर्ग प्रतापगढ के प्रान्त के सन्निकटवर्त्ती, महाबलेश्वर–प्रान्तीय–**'बसई'** नामक ग्राम में आप चलें जायँ। उस छोटे से ग्राम में आज के इस सांस्कृतिक–संकटकाल में भी आप को परःशत वेदपारायणभक्त, वैदिक–कर्म्मकाण्डनिष्णात विद्वान् उपलब्ध हो जायँगे। निदर्शनमात्र है। महाराष्ट्रप्रान्त के कण–कण में आबाल–वृद्ध–वनिता–में आमूर्ख–विद्वज्जन में आप को सहजरूपेणैव एक वैसे परोक्ष–सांस्कृतिक–सहज–जीवन के दर्शन का महद्भाग्य प्राप्त हो जायगा, जो अन्य प्रान्तों में आज सुदुर्लभ बन चुका है। इन्हीं जीवित परिचय–चिन्हों के आधार पर ऐसी आस्था अभिव्यक्त कर देना स्वाभाविक ही है कि, आज के इस सांस्कृतिक–संकटकाल में एकमात्र महाराष्ट्रीय–जनतन्त्र ही भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक–गौरव का संरक्षण करसकता है, करता आया है, कर रहा है, एवं निश्चयेन करता ही रहेगा, इसी मङ्गलकामना के साथ तज्जनतन्त्र के प्रति ही यह श्रद्धाप्रसून एक राजस्थानी, उनके ही शब्दों में एक असांस्कृतिक **"रँगड़ब्राह्मण'** की ओर से ही सादर समर्पित है।

जैसे महान् पुण्य की प्राणप्रतिष्ठा करते हुए इसी राष्ट्रीय–संस्कृति के बल पर सम्पूर्ण विश्व में भी पुनः एक–बार इस आत्मबुद्धिमूला, मानवमात्रोपकारिणी विराट्–संस्कृति का शङ्खनाद प्रतिध्वनित कर सकते हैं। एक–मात्र इसी मङ्गलाशंसा से पूर्वोपर्णित राजस्थान का यह भौतिक शरीर अपनी भूतमयी वैखरी वाणी से बुद्धिव्यामोहनात्मिका इस लोकलिपि के माध्यम से सांस्कृतिक–निबन्ध–द्वारा उसी सांस्कृतिक–महाराष्ट्रीय--जनतन्त्र का आज बड़ी आशा--प्रतीक्षा से इस राष्ट्रीय यज्ञ के '**ब्रह्मा**' बन जाने के लिए अत्यन्त प्रणतभाव से आमन्त्रण कर रहा है, जिस संस्कृतिमूर्त्ति ब्रह्मा के निरीक्षण में प्रक्रान्त महासत्रात्मक--सांस्कृतिक–राष्ट्रीय--यज्ञ निश्चयेन '**अवभृथस्नान**' का अधिकारी बन जाया करता है। और स्वतःसिद्ध इसी अधिकार–समर्पण के लिए—

सांस्कृतिक–निष्ठा से समन्वित भारतीय **सांस्कृतिक-आयोजनों** की रूपरेखा के कतिपय उदाहरणों के आचारात्मक कतिपय–इतिवृत्तों के माध्यम से **संस्कृति**, एवं **सभ्यता**–शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त ही प्रस्तुत उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध के रूप में उपनिबद्ध होरहा है। सांस्कृतिक जनतन्त्र का सत्तातन्त्र के प्रति एकमात्र यही कर्त्तव्य रहना चाहिये कि, वह काल्पनिक-आवेशमूला-आलोचना–प्रत्यालोचनाओं के भावुकतापूर्ण वाग्विजृम्भणों से अपने आपको उन्मुक्त रखता हुआ, साथ ही सत्तातन्त्र के प्रति पूर्ण आस्था रखता हुआ सम्प्रदायवाद–निरपेक्ष उस सांस्कृतिक–दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्त करने का प्रयास करता रहे, जिस प्रयास के गर्भ में ही कालपरिपाकावस्था के समुपस्थित होने पर स्वत: ही सभी निरपेक्ष तत्त्वों को स्वत: ही अवनतशिरस्क बना देने के सात्त्विक बीज प्रतिष्ठित हैं। **क्योंकि स्वस्वरूपबोध ही कल्पित स्वरूप–भ्रान्ति की निवृत्ति का एकमात्र राजपथ माना गया है**। भारतराष्ट्र की ज्ञान–विज्ञान–परिपूर्णा स्वयं **संस्कृति** में ही वैसा बल है, जिसका आंशिक स्वरूप–बोध भी मानव की काल्पनिक–भ्रान्तियों को शरदभ्रवत् विलीन कर देने की क्षमता रखता है। एवमेव इत्थंभूता अश्माखणसमा (पाषाणशिलासमा) संस्कृति के आधार पर व्यवस्थित **सांस्कृतिक–आचारों** का बोध ही पर्य्याप्त है मानव के कल्पित आचारभ्रम की निवृत्ति के लिए। तथैव संस्कृति, तथा सांस्कृतिक–आचारों के आधार पर समायोजित, **सत्यं–शिवं–सुन्दरं**–लक्षण, उत्कृष्टतम मानसिक-शारीरिक-विनोदात्मक, सद्यः फलप्रद भारतीय '**सांस्कृतिक-आयोजनों**' का रूपरेखात्मक इतिवृत्त ही पर्य्याप्त है आज के **मनःशरीरशक्तिक्षयकर काल्पनिक–सांस्कृतिक–आयोजनों** के व्यामोहनों से प्रज्ञाशील मानवों का परित्राण करने के लिए।

इच्छा थी कि, निबन्ध का प्रास्ताविक यहीं उपरत कर दिया जाता। किन्तु '**धर्म्मनिरपेक्ष**' रूपा प्रथमा, तथा '**सांस्कृतिक–आयोजन**'–रूपा द्वितीया, घटनाओं जैसी सामान्य घटनाओं से भारतराष्ट्र के मूलधर्म्म, तथा मौलिक सांस्कृतिक–आयोजनों के सम्बन्ध में सामान्य–प्रजा के मानस–जगत् में जो क्षोभ उत्पन्न होगया है, उसे यदि सांस्कृतिक–जागरण के माध्यम से शीघ्र ही उपशान्त कर देने की चेष्टा न हुई राष्ट्रहितैषी प्रज्ञाशीलों के द्वारा, तो भारत का वर्त्तमानयुग का यह धर्म्मनिरपेक्षात्मक, तथा कल्पित–सांस्कृतिक–आयोजनात्मक मलीमस–इतिवृत्त भविष्य की प्रजा के सांस्कृतिक–अवभृथस्नान में महान् प्रतिबन्धक ही प्रमाणित होजायगा। इसी महती वेदना की प्रेरणा से '**अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः**' के अनुसार अनिच्छन्नपि प्रास्ताविक के सम्बन्ध में और भी कुछ सामयिक निवेदन का अनुगमन कर लिया जाता है।

८६--पदप्रतिष्ठात्मक--व्यक्तित्त्वविमोहन के वारुणपाश से आवद्ध मानव की स्वरूपनिष्ठा का आत्यन्तिक--पतन, एवं तन्मूलक वाग्विजृम्भण—

'पदप्रतिष्ठा' से समन्वित काल्पनिक 'व्यक्तित्त्वप्रतिष्ठा' का व्यामोहन मानव की ईश्वरप्रदत्ता सांस्कृतिक-- ऋजुता को, संस्कृतिमूला सहज–सभ्यता की प्रवणता को उस सीमापर्य्यन्त अभिभूत कर लिया करता है, जिस व्यामोहन–सीमा पर पहुँचने के अनन्तर वह व्यामुग्ध मानव स्वदर्शनमूला स्वस्वरूपनिष्ठा को सर्वथैव विस्मृत कर दिया करता है। स्वस्वरूपविस्मृत ऐसा व्यक्तित्वविमूढ मानव परदर्शनमूला भावुकता को ही अपना मूला–धार समझ बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ कालान्तर में एकान्ततः गतानुगतिक ही बन जाया करता है। गतानुगतिक बन जाना, किंवा अनिच्छन्नपि प्रयासपूर्वक अपने आप को गतानुगतिक बनाए रहना पदप्रतिष्ठा–व्यामुग्ध इस भावुक मानव के लिए इसलिए भी अनिवार्य्य ही बन जाता है कालान्तर में कि, बिना इस परसमर्थनात्मिका–गतानुगतिकता के इसके लिए अपनी पदप्रतिष्ठा का संरक्षण कर लेना असम्भव ही प्रमाणित हो जाता है। यही वह महती निर्बलता है इत्थंभूत व्यक्तित्वविमूढ मानव की, जिसके वारुणपाश में आबद्ध हो जाने के अनन्तर इसे भावुकतापूर्ण उन सभी गतानुगतिक–मान्यताओं, आयोजनाभासों, आन्दोलनों, प्रद--र्शनों, घोषणाओं, आदि आदि का उच्चस्वर से, किंवा मन्दस्वर से, तथा लेखिनी से अनुमोदन–समर्थन ही करते जाना पड़ता है, जिन आयोजनों को सहजसिद्धा आत्मसंवित् के उदय–क्षणों के अवसर पर अपने अन्त-र्जगत् में यह स्वयमपि सर्वथा काल्वालीकृत ही अनुभूत करता रहता है। –'**अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय**'! **बलादिव नियोजितः**' इस प्रकृतिसिद्ध सिद्धान्तानुसार अनिच्छा से भी उस मानव को उन सभी प्रावाहिक झञ्झावतों का स्वागत–समालिङ्गन करते ही रहना पड़ता है, जिन के बिना इसका लोकस्वरूप ही संदिग्ध बना रहता है–इस की दिग्देशकालानुगता भावुकता–पूर्णा इस काल्पनिकी प्रातिमासिकी मान्यता में।

६०–सत्तासापेक्षमूला लोकैषणा के द्वारा सांस्कृतिक–विद्वानों में व्यक्तित्त्वविमोहन का आविर्भाव, एवं तद्द्वारा संस्कृति का अधःपतन—-

अहो! महतीयं विडम्बना लोकस्वरूपव्यामोहनस्य। लोकस्वरूपव्यामोहनमूला पदप्रतिष्ठा से आवि–र्भूत हो पड़ने वाली तथाविधा 'स्वस्वरूपविस्मृति' के जन्मदाता ज्ञात–अज्ञात अनेक कारणों में से सर्वप्रधान कारण माना जायगा 'सत्तासापेक्षता' नामक वह महान् कारण, जिस का आविर्भाव आज से तीन हजार वर्ष पूर्व के उस अन्धयुग में ही हो चुका था, जिस युग में एक व्यक्तिविशेष की सहज–भावुकता के आवेश के कारण आत्मनिष्ठ भी, सुसंस्कृत भी इस भारतराष्ट्र में अनात्मवादमूलक वह शून्यवाद आविर्भूत हो पड़ा था, जिस उस अनात्मीय शून्यवाद से सम्बन्ध रखने वाली परदर्शनमूला दार्शनिक–भावुकता से आजतक भी भारतराष्ट्र अपना परित्राण नहीं कर पाया है। स्वस्वरूप से स्वस्था–सुरक्षिता '**संस्कृति**', एवं तदनुगता 'सभ्यता' का स्वोत्तरदायित्वपर्ण अश्माखणात्मक प्रतिष्टाकेन्द्र अनात्मवाद के कारण ही कालान्तर में सत्तासापेक्ष बन गया, जिस सत्तासापेक्षता ने ही आगे चल कर 'संस्कृति' की आश्रयता का परित्याग कर संस्कृति को आश्रित ही बना डाला। इसी पराश्रयताने, किंवा सत्ताश्रयता (राज्याश्रयता) ने संस्कृति को देश–काल–पात्रादि–अनु–बन्धिनी परिवर्त्तनशीला सत्तानुगता 'सभ्यता' के वारुणपाश में आबद्ध कर दिया, जिस पाशबन्धन के कारण ही 'संस्कृति' के स्वरूपव्याख्याता सत्तासापेक्ष सांस्कृतिक–विद्वानों में सत्तासापेक्षतामूला वह लोकैषणा जागरूक हो पड़ी, जिसके आकर्षण से पदप्रतिष्ठात्मक व्यामोहन सहजरूपेणैव आविर्भूत हो जाया करता है।

९१--त्रिसहस्रवर्षावधिरूप सांस्कृतिक अधःपतनकाल, एवं तन्निमित्तभूत सत्ताश्रित विद्वान्---

सत्तासापेक्षतामूलक लोकैषणात्मक व्यामोहन से व्यामुग्ध बन जाने वाले विद्वान् व्याख्यताओं की दृष्टि में 'संस्कृति' का गौण बन जाना जहाँ स्वाभाविक था, वहाँ सत्तातन्त्र की मान्यताओं का प्रमुख बन जाना भी स्वाभाविक ही था। वैसा ही कुछ घटित–विघटित हुआ विगत तीन सहस्र–वर्षों में, जिसके आधार पर सर्वथैव असंदिग्धरूप से यह स्वीकार कर लेने में किसी भी तटस्थ–निरपेक्ष–प्रज्ञाशील मानव को तो यत्किञ्चित् भी आपत्ति नहीं हो सकती कि, **"तीन सहस्रवर्षों की इस अवधि में संस्कृति, एवं सभ्यता की स्वरूप–व्याख्या के सम्बन्ध में सत्तासापेक्ष विद्वानों की ओर से जो भी प्रयास प्रक्रान्त रहे हैं, तत्त्वतः उन प्रयासों का 'संस्कृति', एवं 'सभ्यताओं' के मौलिक-विशुद्ध स्वरूप से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अपितु तथाविध सम्पूर्ण प्रयास तत्तत् स्व-पर–सत्तातन्त्रों की मान्यताओं के समर्थन–प्रचार के प्रयासमात्र ही हैं। सहजभाषा के अनुसार यह कह देने में भी संकोच नहीं करना चाहिए कि, तीन सहस्रवर्षों में उपनिबद्ध 'संस्कृति' का इतिहास वस्तुतः परिवर्त्तनशील उन सत्ता--सभ्यताओं का ही इतिहास है, जिसका आत्ममूला संस्कृति से, एवं तदनुगता आचारपद्धतिमूला सभ्यता से कोई भी सम्बन्ध नहीं है"।**

९२–अव्ययपुरुषमूला शाश्वत-संस्कृति, एवं अक्षरप्रकृतिमूला सनातन-सभ्यता की अन्तर्मुखता से ही भारतराष्ट्र का पारम्परिक पतन, तथा तन्मूला सर्वतन्त्र-परतन्त्रता–

अव्ययात्मपुरुषमूला संस्कृति, एवं अक्षरप्रकृतिमूला सभ्यता, सर्वथैव तटस्था, एवं निरपेक्षा रह करही स्वस्वरूप-लक्षणों से अभिव्यक्त रहा करती है मानव की सहज-स्वस्था, एवं प्रकृतिस्था जीवनपद्धतियों में। सत्तासापेक्षता के आकर्षण–विकर्षण से जब भी मानव **क्षरविकृतिमूला सत्तासभ्यता** के मापदण्ड से **मूलपुरुष-संस्कृति–एवं मूलप्रकृति–सभ्यता** का मूल्याङ्कन करने लग पड़ता है, तो तत्क्षण ही–**"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः, मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्"** (गीता ७।२५।) इत्यादि के अनुसार अव्यपुरुषात्मा, एवं तदनुगता संस्कृति-सम्यताओं का मौलिक स्वरूप तो होजाता है अन्तर्मुख, एवं विकृतिमूला-सत्तात्मिका भूतसम्यता का योगमायात्मक आवरण बन जाता है प्रधान। इसी आवरणदोष से आत्मविमूढ बन जाने वाले व्याख्याता की दृष्टि में हृदयस्थ आत्मदेव तो बन जाते हैं तटस्थ, निरपेक्ष, एवं लोकस्थ भूततन्त्र बन जाते हैं प्रमुख, जिनकी मान्यताओं, भावुकताओं के संरक्षण में ही वह व्याख्याता अपना प्रज्ञाकौशल परिसमाप्त कर देता है। इसलिए परिसमाप्त कर देता है कि, बहिरङ्गभावापन्न वैकारिक–जगत् ही इसका सर्वस्व स्वरूप बन जाता है, जिसके संरक्षण–परिवर्द्धन के अतिरिक्त इसके प्रज्ञाकोश में कोई भी पुरुषार्थ शेष नहीं रह जाता। एकमात्र इसी प्रवञ्चना के निग्रहात्मक अनुग्रह से भारतीय प्रज्ञा निरन्तर तीन हजार वर्षों से लोकानुगता–भावुकताओं के संरक्षण-परिवर्द्धन में हीं अपना सर्वस्वार्पण करती चली आरही है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप ही भारतराष्ट्र की मौलिक संस्कृति, मौलिक सभ्यता, आचारपद्धति, जीवनपद्धति, आदर्श, धर्म्म, साहित्य, राजनीति, आदि आदि सभी विमल–विभूतियाँ अपनी मौलिकता से सर्वथा पराङ्मुख ही बनतीं चलीं आरहीं हैं। और यही भारतराष्ट्र की सुदीर्घकालीना परतन्त्रता का प्रमुख–कारण है।

६३–जनश्रुतिमूलक 'स्वतन्त्र'–भारत के–'सांस्कृतिक–आयोजनों' के आकर्षण से ही इस कूपमण्डूक व्यक्ति की भारतीय–संस्कृति, तथा भारतीय सभ्यता–शब्दों की ओर जिज्ञासात्मिका सहज प्रवृत्ति—

कर्णाकर्णिपरम्परया–एवं हि श्रूयते कि, भारतराष्ट्र ने अनेक शताब्दियों के अनन्तर 'स्वतन्त्रता' प्राप्त करली है, जिस इस माङ्गलिक–जनश्रुति से प्रत्येक भारतीय को तृप्त नहीं, तो तुष्ट अवश्य ही हो जाना चाहिए। 'स्व' की सुप्रसिद्धा अभिधा से समन्विता 'स्व–तन्त्रता' लक्षणा 'स्वतन्त्रता' के दशवर्षीय भुक्त–प्रक्रान्त इतिहास के आधार पर लिपिबद्ध होपड़ने वाले नवजागरण ने भारतराष्ट्र के 'स्व' स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली संस्कृति, एवं सभ्यता के अनुपात से किस क्षेत्र में किस सीमापर्य्यन्त कितना, और कैसा योगदान किया ?, एवं इसकी भावी योजना–पद्धतियों में इस दृष्टि से भारतराष्ट्र ने कैसी रूपरेखा बनाई ?, इत्यादि प्रश्न हमारे लिए तो इसलिए अनतिप्रश्नात्मक दुरधिगम्य प्रश्न ही प्रमाणित हो रहे हैं कि, हमारा सीमित दृष्टिकोण, आक्रोशभाषा-दृष्ट्या कूपमण्डूकात्मक दृष्टिकोण तो सत्तासापेक्ष इत्थंभूत विजृम्भणों से सदा से असंस्पृष्ट ही बना रहा है। कूपमण्डूक का परिभ्रमणवृत्त यद्यपि कदापि महतोमहीयान् सागर की महिमा का अनुमान भी नहीं लगा सकता। तथापि सागरमहिमा के ही अङ्गभूत कूपजल की अणिमा–महिमा के तारतम्यानुपात से मण्डूक भी सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो प्रभावित हो ही जाता है। एवं अङ्गाङ्गिभावानुबन्धी इसी पारम्परिक–प्रभाव के अनुग्रह से कर्णाकर्णिपरम्परया ही श्रुतोपश्रुत स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के तथाकथित नवजागरणात्मक नवीनेतिवृत्त से सम्बद्धा 'सांस्कृतिक-आयोजनों' की ध्वनि प्रतिध्वनि ने इस कूपमण्डूक को भी निरतिशयरूपेण प्रभावित तो कर ही लिया है। इसी प्रभावाकर्षण ने इसे भी सहसा आज संस्कृति, और तत्सम्बन्धेनैव सभ्यता–शब्दों की ओर बलात् आकर्षित हो जाना पड़ा है।

६४–संस्कृतभाषा के सुसंस्कृत शब्दों की चिरन्तनेतिवृत्तसमन्वयमूला महती सांस्कृतिकता, एवं तन्मूला अनुरूप-वाच्यार्थता—

प्रकृति–प्रत्यय–धातु–उपसर्ग–निपातादि मर्य्यादाओं से अनुप्राणित व्याकरणशास्त्र के महान् व्यवस्थापक भगवान् पतञ्जलि (महाभाष्यकार) ने 'प्रमाणबुद्धि' के सम्बन्ध में 'शब्द' को ही प्रधानता प्रदान की है, जैसाकि उनके–'**शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह–तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्म्ममाह**' (महाभाष्य) इत्यादि वाक्यसन्दर्भ से स्पष्ट है। अन्य भाषाओं से सम्बन्ध रखने वाले अनुकरणात्मक–यदृच्छाशब्दों के सम्बन्ध में कैसी पद–पदार्थ–अभिधा–व्यञ्जनादि व्यवस्थाएँ हैं ?, प्रश्न की आलोचना प्रत्यालोचनाओं से कोई सम्बन्ध न रखते हुए भारतराष्ट्र की सुप्रसिद्धा 'संस्कृतभाषा' के सुसंस्कृत शब्दों के सम्बन्ध में तो यह असंदिग्धरूप से आस्थारूपेण कहा, और माना जा सकता है कि,–"**संस्कृतभाषा का प्रत्येक शब्द अपने अवयवभूत वर्ण–स्वरादि के द्वारा शब्दवाच्य अर्थ का सर्वात्मना स्वयमेव स्पष्टीकरण कर देता है, जिसके लिए अन्य किसी कल्पना–कौशल की कोई भी आवश्यकता नहीं रह जाती। संस्कृत का प्रत्येक शब्द अपना स्वतन्त्र इतिहास रखता है। किंवा स्वतन्त्र ऐतिहासिक–तथ्यों के आधार पर ही सांस्कृतिक–शब्द स्वतः ही आविर्भूत हुए हैं,**" जैसाकि निम्न लिखित सुप्रसिद्ध पद्य से स्पष्ट है—

आविर्भूतप्रकाशानां-अनभिप्लुतचेतसाम् ।
ये भावा वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥

६५-संस्कृति, एवं सभ्यता-शब्दों का वाच्यार्थनिबन्धन-चिरन्तनेतिवृत्तात्मक प्रस्तुत सांस्कृतिक-निबन्ध—

यही वह प्रमुख मापदण्ड है, जिसको आधार बनाए बिना किसी भी तथ्य का वास्तविक समन्वय कदापि सम्भव नहीं है। और इसी शब्दमर्य्यादानुगत मापदण्ड के अनुग्रह से वर्त्तमान स्वतन्त्र-भारतराष्ट्र के लोकप्रचलित अभिनव 'सांस्कृतिक-आयोजनों' से सम्बन्ध रखने वाले 'सांस्कृतिक' शब्द ने तन्मूलभूत '**संस्कृति**' शब्द की ओर बलात् हमारा ध्यान आकर्षित कर दिया। इसी आकर्षण से सहयोगी '**सभ्यता**' शब्द भी स्वतः ही आकर्षित हो पड़ा। और यों एकमात्र वर्तमान भारतराष्ट्र के प्रत्येक छोटे-बड़े आयोजनों में सोत्साह माने-मनचाए जाने वाले सांस्कृतिक-आयोजनों के अकाण्ड-ताण्डवोंनें हीं इन दोनों शब्दों को अनिच्छन्नपि लक्ष्य बनवा ही तो दिया। इसी विवशता ने इन दोनों शब्दों के शब्दार्थमर्य्यादानुगत 'चिरन्तन-इतिवृत्त' की उपासना में हमें प्रवृत्त कर डाला, जिसके परिणामस्वरूप ही-"**संस्कृति, एवं सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिवृत, तथा भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा**" नामक प्रस्तुत सामयिक निबन्ध उपनिबद्ध हो पड़ा है।

६६-संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के वाच्यार्थ-समन्वयमात्र से आजके नृत्य-गीत-वाद्यादि-आयोजनों की 'सांस्कृतिकता' के व्यामोहन की निवृत्ति—

'संस्कृति', तथा सभ्यता-शब्दों के वाच्यार्थ के समन्वय के बिना कदापि इन के मूल स्वरूप का समन्वय सम्भव ही नहीं है। और हम भूल नहीं कर रहे, तो इन दोनों शब्दों के आधार पर अपने प्रज्ञाबल से अपना अपना अभिमत व्यक्त करते रहने वाले प्राच्य, तथा प्रतीच्य विद्वानोंनें शब्दवाच्य अर्थों की उपेक्षा ही की है। इसी उपेक्षा के कारण जड़भूतवादात्मक विजृम्भण, प्राचीन खण्डहरों के ध्वंसावशेष, नृत्य-गीत-वाद्यादि मानसिक कुतूहल, लोकगीत, कविता, विविध कौशलानुगत कलाव्यासङ्ग, आदि आदि सभी मानसिक-शारीरिक-व्यासङ्ग 'संस्कृति' शब्द की अर्थसीमा में संग्रहीत हो पड़े हैं, जबकि इन मानसिक-शारीरिक व्यासङ्गों के साथ 'संस्कृति' शब्द के वाच्यार्थ का यत्किञ्चित् भी तो साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। वाच्यार्थ की उपेक्षा कर देने से ही 'संस्कृति' शब्द के वाच्यार्थलक्षण अर्थसमन्वय से पराङ्मुखा ही प्रमाणित हो रही है तत्सम्बन्ध में आवेशपूर्वक उद्घोष अभिव्यक्त करते रहने वाले वर्त्तमान युग के सांस्कृतिक-विद्वानों की युगधर्म्मानुगता सत्तासापेक्षा प्रज्ञा। यह निर्विवाद है कि, यदि अवधानपूर्वक 'संस्कृति'-'सभ्यता' शब्दों के केवल वाच्यार्थ-लक्षण अक्षरार्थ पर भी दृष्टिनिक्षेप कर लिया जाता, तो इन शब्दों के लाक्षणिक-काल्पनिक-अर्थसमन्वयों के द्वारा हो पड़ने वालीं भ्रान्तियों से सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही परित्राण होजाता सांस्कृतिक-प्रज्ञाओं का। और उस दशामें यों सर्वथा अन्ध-बधिर-भावेन नृत्य-गीतादि बालोपलालनभावादि को कदापि '**सांस्कृतिक-आयोजन**' जैसी पावन अभिधा से तो व्यवहृत नहीं कर दिया जाता।

६७-'सम्-स्-कृति' भावों से निष्पन्न 'संस्कृति' शब्द का दुर्बोध्य चिरन्तन-इतिवृत्त—

अत्यन्त ही सुसूक्ष्म, अतएव दुरधिगम्य है 'संस्कृति' शब्द का चिरन्तन-इतिहास, जो तीन सहस्र वर्षों से प्रक्रान्ता सत्तासापेक्षतामूला मतवादपरम्पराओं के आवरण से उत्तरोत्तर अन्तर्मुख ही बनता चला आरहा है।

'सम' ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध अव्ययेश्वर की महिमामयी कृति के सनातन इतिहास को स्वसीमा में अन्तर्भुक्त रखने वाला 'संस्कृति' शब्द कदापि भूतानुगता लोकमान्यताओं के जड़ अनुबन्धों से गतार्थ नहीं बन सकता। प्रकृतिविशिष्ट पुरुषेश्वर ही 'संस्कृति' शब्द की सर्वस्व स्वरूप-व्याख्या है, जिसके यशोवर्णन के लिए ही प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध है।

अव्ययपुरुषात्मा सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम-प्रपञ्च में 'सम' रूपेण अवस्थित है *। प्रकृतिमूला विभिन्नताओं में, अनेकताओं में समानरूपेण अवस्थित सर्वेश्वर अव्ययब्रह्म के इसी समत्व को सूचित करने के लिए व्याकरणशास्त्र में-'सम्' नामक उपसर्ग का आविर्भाव हुआ है, जिसका-'समित्येकीभावे' रूप से एकत्वमूला अभिन्नता ही अर्थ हुआ है। जो अर्थ 'सम' का है, वही अर्थ 'सम्' का है। इस 'समब्रह्म' की, किंवा 'संब्रह्म' की कृति का ही नाम 'संस्कृति' है। सम्-कृति के मध्य में व्याकरणनियमानुसार 'सुट्' का आगम हो जाता है। और यों 'सम्-स्-कृति' अवयवों से 'संस्कृति' शब्द निष्पन्न हो रहा है, जिस के उपोद्बलक शब्द सांस्कृतिक-संस्कार-आदि रूप से संस्कृतवाङ्मय में सुप्रसिद्ध हैं।

६८-'समब्रह्म' की महिमामयी शाश्वत-सनातन--कृति के वाचक 'संस्कृति' शब्द के चिरन्तन--इतिहास की त्रिसहस्रवर्षानुगता पारम्परिक--अभिभूति —

'सम्' ब्रह्म की महिमामयी उस 'कृति' (कार्य्य-निर्म्माण-रचना) का क्या स्वरूप है ?, सम्पूर्ण श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र एकमात्र इसी प्रश्न का समाधान कर रहे हैं, जिसका सीधासा अर्थ यही होता है कि-श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र का ही नाम 'संस्कृति' शब्द की स्वरूप-व्याख्या है। वह आर्षसाहित्य ही 'संस्कृति' का चिरन्तन इतिहास है, जो आर्षसाहित्य सत्तासापेक्षता के कारण अपनी सांस्कृतिक-सनातन-गरिमा से अन्तर्मुख बनता हुआ सत्ताभक्त व्याख्याताओं के द्वारा जड़भूतसभ्यतामात्र का ही इतिहास प्रमाणित होता चला आरहा है विगत तीन सहस्रवर्षात्मक दासता के युगों से।

६९-ईश्वरात्मकृतिरूपा शाश्वतसंस्कृति का, एवं जीवात्मकृतिरूपा सनातनसभ्यता का सुसूक्ष्म विभेद—

यद्यपि सापेक्ष 'आत्मा' शब्द निरपेक्ष 'अव्ययब्रह्म' नामक 'समब्रह्म' का पर्य्याय नहीं है। तथापि सापेक्ष 'कृतिभाव' के अनुबन्ध से अंशतः अव्ययब्रह्म, और आत्मा का पर्य्यायसम्बन्ध माना जासकता है। एवं

---

* समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। [गीता ९।२९]।
सम पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ [गीता १ ।२८।]
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति, स पश्यति॥ [गीता १३।२७।]।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः॥
निर्दोषं हि 'समं' ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ [गीता ५।१९।]।

इस मान्यता की अपेक्षा से अव्ययब्रह्मात्मक समब्रह्म की कृति को 'आत्मकृति' भी कहा जासकता है, जो आत्मकृति **ईश्वरात्मकृति**, तथा **जीवात्मकृति** भेद से दो भागों में विभक्त मानी गई है। ईश्वरात्मा सर्वत्र सम है, जब कि जीवात्मा योगमायोपाधिकृत भेद से प्रत्येक जीवसंस्था में विभिन्न है। **सर्वत्र समभावापन्न ईश्वरात्मा की सनातनकृति का ही नाम 'संस्कृति' है, एवं अध्यात्मसंस्था में विभक्तरूपेण व्यवस्थित जीवात्मा की परिवर्त्तनशीला कृति का ही नाम सभ्यता है।** और यही संस्कृति, तथा सभ्यता-शब्दों के वाच्यार्थों में महान् विभेद है।

१००--मनःप्राणवाङ्मयी ज्ञानक्रियार्थकृतियों का आत्मकृतित्त्व, एवं तद्रूपा अपरिवर्त्तनीया--मूलसंस्कृति—

क्या स्वरूप है सनातनकृति का ?, एवं क्या स्वरूप है परिवर्त्तनीया कृति का ?, प्रश्नों का समाधान ही संस्कृति-सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन-इतिवृत्त है, जिसके दिग्दर्शनार्थ ही निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है। सामान्यरूपेण (आत्मत्त्वेन) 'आत्मा' का लक्षण हुआ है-**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः'** (बृ० आ० उप०)। आत्मा मनोमय है, अर्थात् ज्ञानमय है। प्राणमय है, अर्थात् क्रियामय है। वाङ्मय है, अर्थात् अर्थमय है। **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**-नाम की तीनों शक्तियों का पुञ्जीभूत तत्त्व ही सृष्टिसाक्षी-कृतिप्रवर्त्तक-सापेक्ष आत्मा की स्वरूप-परिभाषा है। अपनी इन पारिभाषिक मनः-प्राण-वाक्-नाम की ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मयी तीन कलाओं की सापेक्षता से ही आत्मकृति के **मनोमयी ज्ञानकृति, प्राणमयी क्रियाकृति, वाङ्मयी अर्थकृति**, ये तीन कृतियाँ आविर्भूत हो पड़तीं हैं, जिन इन तीनों कृतिभावों को सहजभाषा में हम **'आत्मसृष्टि'** भी कह सकते हैं। इस त्रिविधा आत्मसृष्टि, किंवा आत्मकृति का ही नाम 'समब्रह्म' की कृति है, यही 'संस्कृति' है, जिसके पूर्वोत्तर सापेक्षरूपों से संस्कृति, और सभ्यता नामक दो विवर्त्त निष्पन्न हो जाते हैं।

१०२-सृष्टिकर्त्ता प्रजापति के काम--तप--श्रम से अभिव्यक्ता भाव--गुण--विकार--कृतियाँ, एवं तन्मूलक त्रिविध सृष्टिविवर्त्त—

सृष्टि के सामान्य अनुबन्ध माने गए हैं **काम, तप, और श्रम**। मानसिक अनुबन्ध ही काम, किंवा कामना (इच्छा) है। प्राणानुगत अनुबन्ध ही तप है। एवं वागनुगत अनुबन्ध ही श्रम है। वही आत्म-प्रजापति कृतिभावोन्मुख बनते हुए अपने ज्ञानशक्तिमय मनोरूप से कामयमान हैं, क्रियाशक्तिमय प्राणरूप से तप्यमान हैं, एवं अर्थशक्तिमय वागूरूप से श्रान्त हैं। कामयमान-तप्यमान-श्रान्त मनःप्राणवाङ्मय आत्मदेव ही ज्ञानक्रियार्थभावों से मनोमयी-प्राणमयी-वाङ्मयी-इन तीन विभिन्न कृतियों-सृष्टिधाराओं में (महिमा-रूप से) परिणत हो जाते हैं, हो रहे हैं। **मनोमयी कृति ही भावकृति, किंवा भावसृष्टि है। प्राणमयी कृति ही गुणकृति, किंवा गुणसृष्टि है। एवं वाङ्मयी कृति, ही 'विकारकृति', किंवा विकारसृष्टि है।**

१०३--प्रजापति के भाव--गुण--विकार-लक्षण कृतिभावों का तात्त्विक--समन्वय—

वस्तुस्थिति कुछ ऐसी है कि जिस सापेक्ष आत्मा की कृति का यहाँ प्रसङ्ग चल रहा है, उस का पारिभाषिक स्वरूप है-'प्रजापति', जिस की सीमा में **प्रकृति और पुरुष**, दोनों विवर्त्त समाविष्ट हैं। इन दो विवर्त्तों के

अनुबन्ध से वस्तुगत्या आत्मकृति भी **पुरुषकृति, प्रकृतिकृति** भेद से दो ही प्रमुख विवर्त्तों में विभक्त हो रही है। पुरुष ही अव्ययब्रह्म है, जिस की प्रकृति **पराप्रकृति, अपराप्रकृति**–भेद से दो महिमाभावों में परिणत रहा करती है। पराप्रकृति का नाम ही **'अक्षर'** है, एवं अपराप्रकृति का नाम ही **'क्षर'** है। यों पर–अपर–भेद से एक ही प्रकृति के अक्षर–क्षर–रूप से दो विवर्त्त हो जाते हैं, जिन के समन्वय से आत्मप्रजापति के **अव्यय–अक्षर–क्षर**–ये तीन विवर्त्त अभिव्यक्त हो पड़ते हैं। अव्ययतत्त्व पुरुष है, यही मनोमय विवर्त्त है, जिसे हमने पूर्व में कामयमान कहा है। अक्षर ही पराप्रकृति है, यही प्राणमय विवर्त्त है, जिसे तप्यमान माना गया है। एवं क्षर ही अपराप्रकृति है, यही वाङ्मय विवर्त्त है, जिसे श्रान्त कहा गया है। मनोमय–कामयमान अव्ययपुरुष ही भावकृतिरूपा भावसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है *। प्राणमयी–तप्यमाना अक्षररूपा पराप्रकृति ही गुणकृतिरूपा गुणसृष्टि की प्रवर्त्तिका बनती है। एवं वाङ्मयी–श्रान्ता क्षररूपा अपराप्रकृति ही विकारकृति–रूपा विकारसृष्टि की प्रवर्त्तिका बनती है ÷। इसप्रकार पुरुष–प्रकृतिरूप, मनःप्राणवाङ्मय, काम–तपः–श्रमा–नुबन्धों से समन्वित आत्मप्रजापतिरूप **'समब्रह्म'** की कृति के **भाव-गुण-विकार**-रूप से तीन विवर्त्त होजाते हैं, जिन इन तीनों सृष्टिविवर्त्तों, किंवा कृतिविवर्त्तों का इतिहास ही **'संस्कृति'**, और **'सभ्यता'** शब्दों का चिरन्तन मौलिक इतिहास है, जिस के आधार पर ही भारतीय **'सांस्कृतिक–आयोजन'** प्रतिष्ठित हैं।

१०३–संस्कृति, एवं सभ्यता--शब्दों के लाक्षणिक अर्थों में व्यासक्त वर्त्तमान विद्वानों के मनःशरीरनिबन्धन-सांस्कृतिक–व्यामोहन—

आत्मप्रजापति के मनः–प्राण–वाङ्मय पूर्वोपवर्णित तीनों महिमाविवर्त्तों के आधार पर ही उन पारिभाषिक असंख्य त्रित्वभावों का वितान हो रहा है, जिनका यथाप्रसङ्ग समन्वय किए बिना संस्कृति, एवं सभ्यता–शब्दोंके मौलिक स्वरूपों का कदापि समन्वय सम्भव नहीं है। यही वह पारिभाषिकी–महती समस्या है, जिसे विस्मृत कर देने के कारण ही आज भारतीय विद्वत्प्रज्ञाएँ भी अपनी कल्पना के बल पर ही लाक्षणिक–रूप से ही, प्रतीच्यभावों की गतानुगतिकता के माध्यम से ही संस्कृति–सभ्यताओं की व्याख्याओं में प्रवृत्त होपड़तीं हैं, एवं अपने इन कल्पना–प्रसूनों के माध्यम से ही संस्कृति की मर्य्यादाओं से एकान्ततः विदूर मानसिक–शारीरिक विजृम्भणों को ही सांस्कृतिक–आयोजन जैसी पावन–अभिधा से समन्वित करने लग पड़तीं हैं, इति नु महतीयं विडम्बना संस्कृतिशब्दस्य, सभ्यताशब्दस्य च।

१०४–उक्थ–ब्रह्म–साम--लक्षण प्रजापति के खं-कं-रं-भाव, एवं तन्मूलक भाव–गुण–विकार-विवर्त्त—

उक्थ–ब्रह्म–साम–लक्षण आत्मा, **उक्थ–अर्क–अशिति**-लक्षण आत्मा, **आत्मा–प्राण–पशु**–लक्षण आत्मा, **पशुपति–पाश–पशु**–लक्षण आत्मा, **खंब्रह्म–कंब्रह्म-रंब्रह्म**–लक्षण आत्मा, **आत्मा–**

---

* **महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।**
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ [गीता १०।६।]

÷ **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ [गीता १३।१९]।

देव–भूत–लक्षण आत्मा, आदि आदिरूपेण परःशत त्रित्व विवर्त्तों से समन्वित पुरुषप्रकृति–समन्वित आत्म–ब्रह्मरूप प्रजापति के मूलभूत **अव्यय–अक्षर–क्षर** नामक पूर्वोक्त तीनों महिमाविवर्त्तों के आधार पर अभि–व्यक्त **भावसृष्टि–गुणसृष्टि–विकारसृष्टि**–इन तीन सृष्टियों को आधार बना कर ही संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के चिरन्तन इतिहास का उपबृंहण हुआ है प्रस्तुत निबन्ध में।

१०५-भावकृतिमूला प्राजापत्या संस्कृति, गुणकृतिमूलक प्राजापत्य सांस्कृतिक–आचार, एवं विकारकृतिमूलक प्राजापत्य सांस्कृतिक–आयोजन—

भावसृष्टिनिबन्धन–मनोमय–अव्ययपुरुष ही प्रजापति का **आत्मभाव है**। गुणसृष्टिनिबन्धना–प्राणमयी–अक्षर नाम की पराप्रकृति ही प्रजापति का **देवभाव** है। एवं विकारसृष्टिनिबन्धना–वाङ्मयी–क्षर नाम की अपराप्रकृति ही प्रजापति का **भूतभाव** है। इस प्रकार आत्मा, देवता, भूत–भेद से वही अव्य–याक्षरक्षररूप प्रजापति तीन कृतिधाराओं में परिणत हो रहे हैं। इन तीनों कृतिधाराओं के आधार पर ही **संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, सांस्कृतिक–आयोजन**, ये तीन प्रक्रम व्यवस्थित हुए हैं। **आत्ममूलक अनुशीलन ही संस्कृति है, देवमूलक आचरण ही सांस्कृतिक–आचार है, एवं भूतमूलक अनुसरण-अनुकरण ही सांस्कृतिक–आयोजन हैं।**

१०६-आत्मसंस्कृतिलक्षणा संस्कृति, देवसभ्यतालक्षण सांस्कृतिक–आचार, एवं भूत–सभ्यता–लक्षण-सांस्कृतिक–आयोजन–

अव्ययपुरुष सनातन है, तो तदभिन्ना पराप्रकृति (अक्षर) भी सनातनभावान्विता ही है। अतएव दोनों अनादि मान लिए गए हैं, जैसाकि "**प्रकृतिं (अक्षरं), पुरुषं (अव्ययं) चैव विद्धयनादी उभा**–वपि' इत्यादि स्मार्त्त उपनिषत् (गीता) से प्रमाणित है। तीसरी अपराप्रकृति ही अपने परिवर्त्तनशील–विकारभावानुबन्धी भूतभाव के समन्वय से दिग्देशकालानुबन्धिनी बनती हुई विस्रंसनशीला है। सनातन अव्ययपुरुष, अपरिवर्त्तनीया अक्षरप्रकृति, एवं परिवर्त्तनशीला क्षरप्रकृति, ये तीनों आत्मविवर्त्त ही क्रमशः **आत्मसंस्कृति, देवसभ्यता, भूतसभ्यता** इन तीन प्रक्रमों के मूलाधार बने हुए हैं। आत्मसंस्कृति का अनुशीलन ही हुआ करता है, देवसभ्यता का आचरण से ही सम्बन्ध है, एवं भूतसभ्यता का अनुसरण–अनुकरणात्मक आयोजन ही हुआ करता है, जिस इस पारिभाषिक दृष्टिबिन्दु के आधार पर ही पूर्वोक्त संस्कृति-सांस्कृतिक–आचार–सांस्कृतिक–आयोजन–नामक तीनों विवर्त्त सुप्रतिष्ठित हैं।

१०७–'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'-'देवाननुविधा वै मनुष्याः' मूला सनातन-संस्कृति, एवं सनातन-सभ्यताओं का अनवच्छिन्न--सांस्कृतिक प्रवाह-

"प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या, देवाननुविधा वै मनुष्याः, यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" इत्यादि श्रौत सिद्धान्त यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, विश्वेश्वर के महिमामय कृतिभावों के साक्षात्कारकर्त्ता ऋषि-मानवों नें भारतीय मानव की विकृतिमूला–क्षरप्रकृतिनिबन्धना परिवर्त्तनशीला भूतसभ्यता का प्रकृतिमूला–अक्षरनिबन्धना–अपरिवर्त्तनीया-देवसभ्यता से ही नियन्त्रण किया। सहजभाषानुसार–भारतीय मानव के भौतिक–आयोजनात्मक समस्त सभ्यताविवर्त्त दैविक–प्रकृति को आधार मान कर ही प्रवृत्त हुए। एवं इस

आचारप्रधाना दैविक–प्रकृति का नियन्त्रण अनुशीलनधर्म्म के माध्यम से सनातन अव्ययपुरुष के द्वारा ही व्यवस्थित हुआ, जिस इस पारम्परिक नियन्त्रण का सुपरिणाम यही हुआ कि, दिग्देशकालानुबन्धी सभ्यता–नुगत भौतिक–सभ्यतात्मक परिवर्त्तनों के विद्यमान रहते हुए भी अपने आभ्यन्तररूप से भारतराष्ट्र का अक्षरप्रकृतिनिबन्धन–देवभावानुगत–सनातन–सांस्कृतिक–आचारसूत्र, एवं तत्प्रतिष्ठारूपा अव्ययपुरुषनिबन्धना सनातनसंस्कृति का प्रवाह कदापि सर्वात्मना अवरुद्ध नहीं होसका।

१०८--आत्ममूला संस्कृति, बुद्धिमूलक सांस्कृतिक-आचार, एवं मनःशरीरमूलक सांस्कृतिक--आयोजन---

उक्त विवेचन के आधार पर भारतीय सांस्कृतिक–मानव की जीवनधारा को, किंवा जीवनपद्धति को मानव के **आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर**–नामक सुप्रसिद्ध चारों पर्वों के माध्यम से **आत्मा, बुद्धि, मनः–शरीर**–इन तीन प्रक्रमों के साथ समन्वित कर सकते हैं। आत्मभाव ही मानव की मानवता का एकमात्र वह मापदण्ड है, जिसने इसे चौदह प्रकार के भूतसर्गों में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित कर रक्खा है। जहाँ बुद्धि, मन, शरीर, तीनों प्रकृति के सहजभाव बनते हुए प्राकृतिक पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि सर्गों में समान हैं, वहाँ मानव में आत्मभाव ही वह वैसा वैशिष्ट्य है, जिस वैशिष्ट्य का केन्द्रात्मक–शाश्वतब्रह्मलक्षण–'मनु' तत्त्व से सम्बन्ध है। एवं जिस इस हृद्य आत्ममनु के सम्बन्ध से ही आत्मस्वरूप से अभिव्यक्त मानव 'मानव' अभिधा का अधिकारी बना है। बुद्धिमत्ता, मनस्विता, किंवा दृढगात्रता, तीनों में से एक भी प्राकृतिक भाव मानव की मानवता का स्वरूपव्यवस्थापक नहीं है। क्योंकि–**समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्**। एकमात्र अव्ययपुरुष–निबन्धन आत्मभाव ही मानव का स्वरूप–व्यवस्थापक है। अतएव अन्यान्य कृतियाँ केवल प्रकृतिप्रधाना बनतीं हुई जहाँ केवल **'कृति'** शब्द की अधिकारिणी हैं, वहाँ एकमात्र मानव ही समब्रह्मरूप अव्ययपुरुष की अभिव्यक्तिरूपा कृति बनता हुआ **'संस्कृति'** शब्द का अधिकारी बना हुआ है। अतएव मानवेतर प्राणियों के प्रक्रम जहाँ केवल **कृति, कृत्याचार, कृत्यायोजन** कहलाएँगे, वहाँ मानव के प्रक्रम ही समब्रह्म की अभिव्यक्ति के कारण **संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, सांस्कृतिकायोजन**–कहला रहे हैं।

१०९--अनुशीलनधर्म्मात्मिका संस्कृति, आचरणधर्म्मात्मक सांस्कृतिक–आचार, एवं अनुसरण--अनुकरण--धर्म्मात्मक सांस्कृतिक-आयोजन---

आत्मभावानुगत **अनुशीलनधर्म्म** ही मानव की वह **'संस्कृति'** है, जिसका मानव के तथोक्त चारों पर्वों में से **'आत्मपर्व'** से ही प्रधान सम्बन्ध है। आत्मपर्वानुगता संस्कृति को मूलप्रतिष्ठा बनाए रखने वाला सहज–बुद्धि से अनुगत **आचरणधर्म्म** ही मानव का वह **सांस्कृतिक–आचार** है, जिसका चारों पर्वों में से दूसरे **'बुद्धिपर्व'** से ही प्रधान सम्बन्ध है। शेष रह जाते हैं मन, और शरीर नामक दो पर्व। मानसिक भावों का नाम जहाँ **अनुसरणधर्म्म** है, वहाँ शारीरिक व्यासङ्गों का नाम ही **अनुकरणधर्म्म** है। आत्मसंस्कृतिमूला बौद्धिक सांस्कृतिक–आचारनिष्ठा को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाए रखने वाली आत्मानुगता बुद्धि से अनुप्राणित मानसिक **अनुसरणधर्म्म**, तथा तथाविध ही शारीरिक **अनुकरणधर्म्म** ही मानव के वे **सांस्कृतिक–आयोजन** हैं, जिनका चारों पर्वों में से तृतीय–चतुर्थ **मनःपर्व**, एवं **शरीरपर्व** से ही प्रधान सम्बन्ध है। इन्हीं तीनों प्रक्रमों को क्रमशः **पुरुषसंस्कृति, प्रकृतिसभ्यता, विकृतिसभ्यता**–इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है।

११०--आत्मतत्त्वानुशीलनात्मिका संस्कृति, बौद्धिकतत्त्वाचरणात्मक सांस्कृतिक--आचार, एवं मनः-शरीरानुसरणानुकरणात्मक-भौतिक आचरणात्मक-सांस्कृतिक-आयोजन-

सनातनअव्ययपुरुषात्मसंस्कृति ही **संस्कृति है,** संस्कृति की अङ्गभूता अपरिवर्त्तनीया अक्षरप्रकृति-समन्विता देवसभ्यता ही '**सांस्कृतिक-आचार**' है, एवं स्वस्वरूप से परिवर्त्तनशीला, किन्तु स्वप्रतिष्ठात्मक अक्षर के अनुबन्ध से मर्य्यदारूपेण सनातनरूपेणैव प्रवाहिता भूतसभ्यता ही '**सांस्कृतिक-आयोजन**' है। आत्मानुगत तत्त्वानुशीलन ही '**संस्कृति**' है। आत्मप्रतिष्ठासम्मत बुद्ध्यनुगत तत्त्वाचरण ही '**सांस्कृति-आचार**' है, एवं आत्मबुद्धि से नियन्त्रित मर्य्यादित, अतएव मूलनिष्ठासंरक्षणानुगत सहज-प्राकृतिक-परिवर्त्तनसम्मत मनः-शरीरानुगत-भूतानुसरण--अनुकरणात्मक आयोजन ही '**सांस्कृतिक-आयोजन** है। मानवमात्र में समब्रह्म-रूपेण समानरूपेण व्याप्ता आत्मसंवित् ही 'संस्कृति **है,** जिस से समन्वित मानव ही 'आर्य्य' (श्रेष्ठ मानव-सांस्कृतिक शिष्ट मानव) है, जिस आर्य्यता में मानवमात्र समानरूपेण अधिकृत हैं। और यही मानव-संस्कृति का समदर्शनमूलक-वह 'विश्वसंस्कृति' पक्ष है, जिसे आधार बना कर ही मानवमहर्षि ने-'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' यह सिद्धान्त स्थापित किया है।

१११-आत्मपुरुषानुगता-समदर्शनलक्षणा संस्कृति, एवं आत्मप्रकृत्यनुगता विभिन्नवर्त्तन-लक्षणा--सभ्यता, तथा वर्त्तमायुगानुगता विषमदर्शनलक्षणा-समवर्त्तनभावात्मिका काल्पनिक संस्कृति-सभ्यताओं के द्वारा मानवसमस्याओं का उत्तरोत्तर अभिवर्द्धन-

अव्ययपुरुषात्मा जहाँ मानवमात्र में हृद्यभाव से समान **है,** वहाँ अक्षरक्षर-समन्विता प्रकृति (महत्प्रकृति) भूमाभाव से सर्वथा विभिन्ना है, जिस विभिन्नता के माध्यम से ही राष्ट्रभेद-प्रान्तभेद-देशभेद-समाजभेद-परिवारभेद-व्यक्तिभेद-अवयवभेदादि-रूपेण असंख्य भेदभाव व्यवस्थित हुए हैं, जिन के आधार पर ही प्रकृतिभेदमूलक विषमवर्त्तन व्यवस्थित हुआ है। **अव्ययपुरुषानुगत समदर्शन, एवं प्रकृत्यनुगत विषमवर्त्तन ही प्रकृतिपुरुषविशिष्ट मानव की अभिन्ना-संस्कृति, तथा भिन्ना सभ्यता का मापदण्ड है।** विषमवर्त्तनभावात्मिका प्रकृति के महद्भाव से पराङ्मुख होजाने के कारण हीं संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों के तात्त्विक समन्वय से मानवप्रज्ञा सर्वथा विदूर ही प्रमाणित हो चली है। महतोमहीयान् आश्चर्य्य तो यह देख-सुन कर हो रहा है कि, **समदर्शनमूलक आत्मभाव तो आज बन रहा है विषमदर्शनात्मक, एवं विषम-विभक्त-वर्त्तनमूलक प्रकृतिभाव आज बनाए जारहे हैं समवर्त्तनात्मक।** इसी साङ्कर्य्य ने आज विश्वशान्ति को सर्वथैव अभिभूत कर लिया है। आत्मसंवित्-मूलक-समदर्शन के आधार पर व्यवस्थित प्रकृतिमूलक विषमवर्त्तन ही विश्वशान्ति का एकमात्र वह निदान है, जिसे आत्मसंवित् से वञ्चित आजके बुद्धिवादने, मानसिक भावुकताने, तथा शारीरिक अर्थासक्तिने सर्वथैव विस्मृत करा दिया है। विश्वशान्ति के लिए आज प्रत्येक मावन आतुर है। किन्तु इस आतुरता की पूर्त्ति के लिए जो प्रकार आज माने, और मनवाए जारहे हैं, सर्वथैव प्रकृतिविरुद्ध हैं। अतएव तदनुगता आतुरता उत्तरोत्तर आतुरतावृद्धि का ही कारण प्रमाणित होती जारही है।

११२–स्व संस्कृति--सभ्यतामूलक स्वधर्म्म की स्वरूप-परिभाषा, एवं तत्प्रतिबन्धक भयावह परधर्म्म—

सत्त्व–रज–स्तमो–गुणत्रयी से समन्विता जिस 'महत्प्रकृति' के क्रोड़ में प्राकृतिक विश्व अभिव्यक्त हुआ है, उसके त्रिगुणात्मक द्वन्द्वभावों का मूलोच्छेद कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी प्राकृतिक–समता का नाम तो 'विश्व-प्रलय', किंवा 'विश्वविध्वंस' सी माना गया है। प्रकृति के मूलाधिष्ठाता समब्रह्मात्मक अव्ययपुरुष के द्वारा समदर्शन–माध्यम से द्वन्द्वात्मिका प्रकृति का नियन्त्रणमात्र ही सम्भव है। इस नियन्त्रणसूत्र का ही नाम मानव-संस्कृति, किंवा मानवधर्म्म है, जिसकी परिधि में एक ओर जहाँ समब्रह्मलक्षण समदर्शन है, तो दूसरी ओर महत्प्रकृतिलक्षण विषमवर्त्तन व्यवस्थित हुआ है, जो कि गीताशास्त्र में **'स्वधर्म्म'** नाम से व्यवहृत हुआ है। स्वप्रकृत्यनुगता आचार–आयोजन–निष्ठा जहाँ 'स्वधर्म्म' है, वहाँ स्वप्रकृतिविरुद्ध सभी आचरण–आयोजन भयावह–परधर्म्म–ही बने रहते हैं।

११३–अहङ्कृति--प्रकृति--आकृति–भावापन्ना सत्त्व–रज–स्तमो–गुणान्विता महत्प्रकृति, एवं तन्मूलक प्रकृतिसिद्ध गोत्र-वर्ण–जाति–विवर्त्त—

महत्प्रकृति का सत्त्वगुण प्राकृतिक विश्व के सौरमण्डल को आधार बना कर सूर्य्य के सुप्रसिद्ध **ज्योतिः–गौः–आयुः**–नामक तीनों मनोताओं के द्वारा प्राणियों के **'अहंकृति'** भाव का स्वरूपसमर्पक बना हुआ है। महत्प्रकृति का रजोगुण चान्द्रमण्डल को आधार बना कर चन्द्रमा के सुविख्यात **रेतः–श्रद्धाः–यशः**–नामक तीनों मनोताओं के द्वारा प्राणियों के **'प्रकृति'** भाव का प्रवर्त्तक बन रहा है। एवं महत्–प्रकृति का तमोगुण पार्थिवमण्डल को आधार बना कर भूपिण्ड के प्रसिद्ध **वाक्–गौः–द्यौः**–नामक तीनों मनोताओं के द्वारा प्राणियों की **'आकृति'** का प्रवर्त्तक बन रहा है। इसप्रकार एक ही प्रकृति (महत्प्रकृति) के **सत्त्व–रज–स्तमो**–नामक तीन गुण क्रमशः **सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड**–इन तीन विश्वविवर्त्तों के माध्यम से क्रमशः **अहङ्कृति–प्रकृति–आकृति**–भावों के स्वरूप–समर्पक बन रहे हैं, जिन इन तीनों प्रकृतिभावों से प्राणियों के त्रिपर्वा 'प्राकृत' स्वरूप का आविर्भाव हुआ है। पार्थिव आकृतिभाव ही प्राणियों के **शरीरपर्व** का, चान्द्र प्रकृतिभाव ही **मनःपर्व** का, एवं सौर अहङ्कृतिभाव ही **बुद्धिपर्व** का अनुग्राहक बन रहा है। सहजभाषा में–प्राणियों का प्रत्यक्षदृष्ट-स्पृश्य स्थूलशरीर ही आकृतिभावात्मिका प्रकृति है, तदन्तर्वर्त्ती सूक्ष्म मन ही प्रकृतिभावात्मिका प्रकृति है, एवं तदन्तर्वर्तिनी सुसूक्ष्मा बुद्धि ही अहङ्कृतिभावात्मिका प्रकृति है। इन तीनों प्राकृतिक पर्वों के आधार पर ही प्राणियों के **जाति–वर्ण–गोत्र**–नामक वे सुप्रसिद्ध तीन प्राकृत भाव सुव्यवस्थित हुए हैं इस प्राकृतिक त्रिगुणात्मक विश्व में, जिनके प्रकृतिसिद्ध–ज्ञानविज्ञानात्मक समन्वय से पराङ्मुख बन जाने के कारण ही आज का भावुक–मानव प्रकृतिसिद्ध इन गोत्र-वर्ण-जाति-भावों के समन्वय में सर्वथैव कुण्ठितप्रज्ञ प्रमाणित हो चुका है।

११४–गोत्र–वर्ण–जाति--भावात्मिका प्राकृतिक–व्यवस्थाओं का विश्वव्यापकत्त्व, एवं पदार्थमात्रानुगतत्त्व—

कुलभावानुगता **गोत्रव्यवस्था**, ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र-भावानुगता **वर्णव्यवस्था**, एवं अण्डज-पिण्डज–स्वेदज–उद्भिज्ज–भावानुगता **जातिव्यवस्था** केवल मानव से ही सम्बद्ध नहीं है। अपितु स्थावर–जङ्गमात्मक

प्रपञ्चमात्र में समष्ट्या, व्यष्ट्या उभमथा सर्वत्र महत्प्रकृति के इन तीनों विवर्त्तों का उपभोग हो रहा है, जिस इस रहस्यपूर्ण प्राकृतिक समन्वय को अनेक शताब्दियों से विस्मृत कर बैठने वाले भारतीय मानवने गोत्र–वर्ण-जाति–भावों के सम्बन्ध में वैसी प्रकृतिविरुद्धा कल्पनाओं का सर्जन कर डाला है, जिसके अभिशाप से ही प्रकृतिसिद्धा भी ये गोत्र-वर्ण-जाति–व्यवस्थाएँ आज भारतराष्ट्र की संस्कृति के मूलोच्छेद के लिए ही समाकुल बन रहीं हैं, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

११५--गोत्रप्रकृतिमूला संस्कृति, वर्णप्रकृतिमूलक सांस्कृतिक-आचार, एवं जाति प्रकृ-तिमूलक सांस्कृतिक-आयोजन—

सत्त्वगुणानुबन्धी-सौरप्राणात्मक-अहङ्कृतिभाव से समन्वित गोत्रभाव ही मानवीय धरातलापेक्षया **संस्कृति** का आधार बना हुआ है । रजोगुणानुबन्धी–चान्द्रप्राणात्मक–प्रकृतिभाव से समन्वित वर्णभाव ही '**सांस्कृतिक–आचार**' की प्रतिष्ठा बना हुआ है । एवं तमोगुणानुबन्धी-पार्थिवप्राणात्मक-आकृतिभाव से समन्वित जातिभाव ही '**सांस्कृतिक–आयोजन**' की आधारभूमि बना हुआ है, जिस का फलितार्थ यही निकलता है कि–आकृति-भावापन्न शरीरतन्त्र को माध्यम मान कर समन्वित होने वाले, आत्मसंविल्लक्षणा संस्कृति का संस्पर्श करते रहने वाले आयोजन ही–'**सांस्कृतिक--आयोजन**' हैं । प्रकृतिभावापन्न मनस्तन्त्र को माध्यम मानकर समन्वित होने वाले, आत्मसंविल्लक्षणा संस्कृति को आधार बनाए रखने वाले आचार ही–'**सांस्कृतिक–आचार**' हैं । एवं अहङ्कृतिभावापन्न बुद्धितन्त्र को माध्यम मानकर समन्वित होने वाले, आत्मसंविल्लक्षणा संस्कृति से अभिन्न रहने वाले अनुशीलन हीं–'**संस्कृति**' हैं ।

११६-आत्मनिष्ठात्मिका संस्कृति से पराङ्मुख यच्चयावत् बौद्धिक–मानसिक, तथा शारीरिक आयोजनों की असांस्कृतिकता—

तात्पर्य्य यही है कि, संस्कृति–सांस्कृतिक–आचार, एवं सांस्कृतिक–आयोजन - तीनों प्रक्रमों का संस्कृतित्त्व सर्वथा प्रत्येकदशा में लोकातीत–लोकव्याप्त–द्वन्द्वातीत–द्वन्द्वसमाविष्ट–निर्द्वन्द्व साक्षी संस्कृतिरूप अव्यय-पुरुषात्मा की साक्षात् भावना, किंवा पारम्परिकभावना के आधार पर ही प्रतिष्ठित है । अव्ययात्मब्रह्म की भावना के बिना न तो केवल बुद्धिवादात्मक तत्त्वानुशीलन को संस्कृति ही कहा जा सकता, न आत्मभावशून्या आचारपद्धति को सांस्कृतिक–आचार ही माना जा सकता । एवं न आत्मभावशून्य केवल मनःशरीरानुरञ्जक-पोषक आयोजनों को सांस्कृतिक–आयोजन ही कहा जा सकता । आत्मनिष्ठा ही 'संस्कृति' का मूलाधार है, जिसकी उपेक्षा कर बैठने वाला बड़े से बड़ा भी प्रकृतिवादी–बुद्धिवादी–मनःशरीरवादी–मानव भारतीय-दृष्टिकोण से तो अपने किसी भी बौद्धिक–मानसिक–शारीरिक–लक्ष्य को 'सांस्कृतिक–लक्ष्य' नहीं कह सकता ।

११७-प्रकृतिमूला बाह्य–जीवनपद्धति के साथ 'सभ्यता' शब्द का समन्वय, एवं तदा-धारभूता आत्मसंस्कृति, तथा संस्कृतिमूला इत्थंभूता सभ्यता के द्वारा विश्व-स्वरूपसंरक्षण—

प्रकृतिमूला विभिन्ना बाह्य जीवनपद्धति का ही नाम 'सभ्यता' है, यदि सभ्यता के मूल में संस्कृतिमूलक आत्मसाम्य प्रतिष्ठित है, तो । यदि ऐसा नहीं है, तो केवल अशन–पान–वेशभूषादि के चाकचिक्यमात्र से

समन्विता सभ्यता को सभ्यता भी नहीं कहा जा सकता। इसी आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि, आत्मसाम्यमूला संस्कृति, तथा भूतव्यवहारमूला सभ्यता, दोनों में एकप्रकार का वैसा अङ्गाङ्गिभाव है, जिसे पृथक् कर देने पर न तो संस्कृति संस्कृति ही रहती, न सभ्यता सभ्यता ही कही जासकती। सांस्कृतिक-व्यक्ति को सभ्य होना ही चाहिए, एवं सभ्य मानव को सुसांस्कृतिक होना ही चाहिए। आत्मसाम्यमूला संस्कृति मानव को वैसा आर्य्यत्व प्रदान कर देती है, जिसकी शान्तिपूर्णा वरदा छत्रछाया में प्रकृतिभेदभिन्ना सभी दैशिक सभ्यताएँ स्व-स्व निष्ठा से पुष्पित पल्लवित होतीं हुईं संस्कृतिमूलक आत्मसाम्य के आधार पर विश्व-शान्ति की सन्देशवाहिका बन जातीं हैं। अखण्डा संस्कृति के आधार पर व्यवस्थिता खण्ड-खण्डात्मिका सभ्यताएँ जहाँ अपने दैशिक-कालिक-खण्डभावों से स्व-स्व विभिन्न स्वरूपों के संरक्षण-परिवर्द्धन में समर्थ बनी रहतीं हैं, वहाँ स्वाधारभूता अखण्डा आत्मसाम्यमूला संस्कृति के अनुग्रह से संस्कृतिमूला अखण्ड-मानवता का भी स्वतः ही अनुगमन होता रहता है, जिस इस अनुगति को ही-'**भेदसहिष्णु अभेद**' कहा जाता है। गौरवान्विता ही मानी जायगी आत्मसमदर्शनमूला-प्रकृतिविषमवर्त्तनात्मिका वह भारतीय संस्कृति, और सभ्यता, जिसने विभिन्न सभ्यता-शिक्षणादि-भावों के संरक्षणपूर्वक ही भारतीय सांस्कृतिक उद्बोधनप्रदाता भूदेव को विश्वशान्ति का सन्देशवाहक घोषित किया है, जैसाकि उसकी निम्नलिखिता उदात्तघोषणा से स्पष्ट है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ —मनुः

११८-राजर्षि मनु के उदात्त सांस्कृतिक-उद्घोष का समन्वय, एवं भारतीय संस्कृति की महती उदारता—

सम्पूर्ण विश्व के यच्चयावत् मतवाद जहाँ अपनी अपनी सभ्यताओं के सर्वत्र प्रचार-प्रसार के लिए ही आतुर प्रतीत होते रहे हैं अपनी सभ्यता के अतिरिक्त अन्य सभ्यताओं को हीन उद्घोषित करते हुए, वहाँ एकमात्र भारतीया मानवसंस्कृति ही यह घोषणा कर रही है कि—'**इस देश के आत्मनिष्ठ-आत्मसाम्यानुगत सांस्कृतिक-द्विजातिमानव से सम्पूर्ण पृथिवी के मानव अपनी अपनी शिक्षा-सभ्यताओं में हीं कौशल प्राप्त करें**"। उद्घोष का तात्पर्य्य स्पष्ट है। सभ्यता-शिक्षा-जीवनपद्धति में सभी राष्ट्र स्वतन्त्र हैं। भारतवर्ष की कामना इस दिशा में केवल यही है कि, सब अपनी अपनी प्राकृतिकी विभिन्ना सभ्यताओं के मूल में उस अखण्ड-अद्वय-आत्मभाव को प्रतिष्ठित करलें, जिस प्रतिष्ठाप्राप्ति के अनन्तर आत्म-स्वरूपाभिव्यक्तित्वमूलक आर्य्यत्व स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाता है। यही भारतीय आत्मसंस्कृति का वह महान् सन्देश है, जिसने भारतराष्ट्र को झञ्झावातों, लोकैषणाओं, रागद्वेषादि पाप्माओं, हिंसाक्रूरतादि आसुरभावों से सदा से ही अपने आपको असंस्पृष्ट प्रमाणित किया है। उसी आत्मसंस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले, सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा को विस्मृत न करने वाले सांस्कृतिक-आयोजनों को निमित्त बना कर ही संस्कृति-सभ्यता-शब्देतिहासात्मक यह निबन्ध संस्कृतिनिष्ठों की आत्मसीमा में प्रविष्ट होने जा रहा है।

११९-समब्रह्म की आत्मकृति के अभिव्यञ्जक 'संस्कृति' शब्द की वर्त्तमान 'कल्चर' (culture) शब्द से एकान्ततः असंस्पृष्टता—

चतुष्पर्वा मानव से सम्बन्ध रखने वाले संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों के समन्वय में भारतीय प्राच्य-दृष्टि का, तथा प्रतीच्यदृष्टि का कैसा, क्या भेद है ?, प्रश्न की मीमांसा हमारे लिए इसलिए अनधिकारचर्चा

का विषय है कि, हम प्रतीच्यभाषा (इंग्लिशभाषा) से सर्वथैव असंस्पृष्ट हैं । हाँ, यह अवश्य ही कहा, और माना जा सकता है इस सम्बन्ध में कि, भारतीया सुरभारती संस्कृतभाषा में पठित संस्कृति, और सभ्यता शब्द पूर्वप्रतिपादिता शब्दवाच्यार्थमर्य्यादा से जिस पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, प्रतीच्य-भाषाओं में तत्सम शब्दों की, एवं तदनुरूप वाच्यार्थों की उपलब्धि असम्भव नहीं, तो कठिन तो अवश्य ही होगी । समब्रह्मात्मक अव्ययपुरुषात्मा जैसा अखण्ड आत्मब्रह्म 'संस्कृति' के जिस 'सम्' उपसर्ग से परिग्रहीत है, तथाविध समब्रह्म की भाव-गुण-विकार-नाम की त्रिविधा कृति जिस संस्कृति-शब्द के उत्तरपर्वात्मक 'कृति' शब्द से परिग्रहीता है, इत्थंभूत पुरुष-प्रकृति-विशिष्टभाव का संग्राहक 'संस्कृति' शब्द प्रतीच्यभाषा के 'कल्चर' (culture) शब्द से किस सीमापर्य्यन्त मेल खा सकेगा ?, प्रश्न हमारी स्वल्पप्रज्ञा के लिए तो असमाधेयप्रश्नात्मक अनतिप्रश्न ही बना हुआ है ।

१२०-अक्षरप्रकृतिव्यवस्थापिकात्मिका 'नियति' के अभिव्यञ्जक 'सभ्यता' शब्द की वर्त्तमान-'सिविलाइजेशन' (eivilifation) शब्द से एकान्ततः असंस्पृष्टता, अतएव-संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के कल्चरादि-अर्थसमन्वय की आत्यन्तिक व्यर्थता—

ठीक यही स्थिति 'सभ्यता' शब्द की है । ईश्वरीय कृतिरूप स्थावर-जङ्गमात्मक, आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-भावापन्न, सत्त्वरजस्तमोगुणान्वित भूत-भौतिक प्रपञ्च ही 'सभा' है, एवं ईश्वरीया सनातन-संस्कृति के आचारात्मक-प्राकृतिक-नियमरूप-शारीरिक **अनुकरणधर्म्म**, मानसिक **अनुसरणधर्म्म**, बौद्धिक **आचारधर्म्म**, तथा भूतात्मनिबन्धन **अनुशीलनधर्म्म**, इन चतुर्विध मानवीय धर्म्मों के विधि-विधानों, नियमोपनियमों की समष्टि का ही नाम 'सभ्यता' है, जिसका नियन्त्रणसूत्र उन सामाजिक वृद्धों की सांस्कृतिक-प्रज्ञा से ही सञ्चालित रहता है, जो संस्कृति के माध्यम से ही (आत्मसाम्य के माध्यम से ही) प्राकृतधर्म्म-पूर्वक सभ्यतालक्षण विधि-विधानों को सामाजिक जीवनपद्धति में उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठा से प्रतिष्ठित किए रहते हैं । 'सभ्यता' शब्द की यही सांस्कृतिक परिभाषा हुई है भारतीय दृष्टिकोण से * । 'सभ्यता' शब्द के इस पारिभाषिक समन्वय के समतुलन में प्रतीच्यजगत् के 'सिविलाइजेशन' (civilifation) शब्द का किस सीमापर्य्यन्त समन्वय-सम्भव बन सकेगा ?, प्रश्न भी भारतीय शब्दवाच्यार्थमर्य्यादा से तो अचिन्त्य प्रश्न ही प्रमाणित हो रहा है ।

---

*-न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, वृद्धा न ते येन वदन्ति धर्म्मम् ।
धर्म्मो विद्धस्त्वधर्म्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तति विद्धास्तत्र सभासदः ॥
सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी ॥
यत्र धर्म्मो ह्यधर्म्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ —मनुः ८।१२,१३,१४ ।

१२१–अर्द्धवृगलात्मक मानव के मौलिक–स्वरूप के माध्यम से ही अपेक्षित संस्कृति-सभ्यता–शब्दों के वाच्यार्थ का समन्वय—

वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, जिस संस्कृति, और सभ्यता का 'मानव' के मापदण्ड से समन्वय–अपेक्षित है, जबतक 'मानव' के मौलिक–स्वरूप से परिचय प्राप्त नहीं कर लिया जाता, तबतक वह समन्वय न केवल अपूर्ण ही बना रहता है, अपितु काल्पनिक मानव, किंवा मानवता का व्यामोहन तो मानव को संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के अक्षरार्थसमन्वय से भी सम्बद्ध नहीं होने देता। मानवस्वरूपविश्लेषक भारतीय तत्त्वद्रष्टा आचार्यों (साक्षात्कृतधर्म्मा महर्षियों) नें मानव का स्वरूप–विश्लेषण करते हुए जो मानवीय–मापदण्ड हमारे सम्मुख रक्खा है, जोकि ज्ञानविज्ञानात्मक तात्त्विक मापदण्ड **सन्तवाद–मतवाद-सम्प्रदायवाद-धर्म्मवाद-सत्तावाद-सभ्यतावाद-सामासिक-संस्कृतिवाद**-आदि आदि अनेक वादों के काल्वालीकृत-व्यामोहक-विजृम्भणों से निरन्तर तीन सहस्र–वर्षों से अपनी मौलिकता से सर्वथा अन्तर्मुख ही बनता चला आ रहा है, उस तात्त्विक मापदण्ड के अनुसार मानव का स्वरूप **पुरुष** और **प्रकृति**–भावों के समन्वय से आविर्भूत **'अर्द्धवृगल'** तत्त्व पर ही प्रतिष्ठित है, जिस इस अर्द्धवृगलता के तत्त्वसमन्वय के लिए तो खण्डचतुष्टयात्मक **'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध का–**'मानवस्वरूपमीमांसा'** नामक परिच्छेद ही द्रष्टव्य है।

१२२–संस्कृतिलक्षण मानव की आत्मबुद्धिरूपता का, एवं सभ्यतालक्षण मानव की मनः-शरीररूपता का समन्वय—

अर्द्धवृगलात्मक पौरुषभाव, तथा अर्द्धवृगलात्मक प्राकृतभाव, दोनों समन्वित होकर ही मानवस्वरूप के मापदण्ड बनते हैं, बने हुए हैं। भारतवर्ष की रहस्यपूर्णा अर्द्धनारीश्वरोपासना के इतिवृत्त से सुपरिचित उपासक–मानवश्रेष्ठों को यह विदित ही है कि, उमामहेश्वर की आराधना का उस प्रतिमान से सम्बन्ध है, जिसके अर्द्धभाग में पुरुषात्मक शिव प्रतिष्ठित हैं, एवं अर्द्धभाग में प्रकृतिरूपा शक्ति प्रतिष्ठित है। शिव–शक्ति–समन्वयात्मक पुरुष–प्रकृति का समन्वितरूप ही मानव, तथा मानवी की स्वरूपव्याख्या है। **आत्मभाव ही मानव की 'संस्कृति' है, शरीरभाव ही मानव की सभ्यता है। और यही है एक सामान्य दृष्टिकोण मानव के संस्कृति–सभ्यताभावों का, जिसके आगे चलकर पृथक् पृथक् दो द्वन्द्व बन जाते हैं।**

१२३–मानवीया–संस्कृति, और सभ्यता के दो विभिन्न द्वन्द्वों का समन्वय —

पुरुषात्मक आत्मभाव से सम्बन्ध रखने वाली संस्कृति के पूर्वरूप का नाम है संस्कृति, एवं पुरुषात्मा की साक्षी में (सन्निकट में) प्रतिष्ठित रहने वाली कारणशरीरात्मिका बुद्धि से अनुप्राणिता संस्कृति के उत्तररूप का नाम है सभ्यता। इसप्रकार केवल आत्मसंस्कृति का ही आत्मा, और बुद्धि–पर्व भेद से (संस्कृति के पूर्वोत्तररूपसमन्वय से) संस्कृति–सभ्यता–लक्षण स्वतन्त्र द्वन्द्व व्यवस्थित होजाता है। एवमेव प्रकृत्यात्मक शरीर से सम्बन्ध रखने वाली सभ्यता के पूर्वरूप का नाम है 'संस्कृति', जिसका सूक्ष्मशरीरात्मक मनःपर्व से सम्बन्ध माना गया है, एवं प्रकृत्यात्मक स्थूलशरीरात्मक शरीरपर्व से सम्बन्ध रखने वाली सभ्यता के उत्तररूप का ही नाम है 'सभ्यता'। इसप्रकार केवल प्रकृतिसभ्यता का ही मन, और शरीरपर्व भेद से (सभ्यता के पूर्वोत्तररूपसमन्वय से) संस्कृति–सभ्यता–लक्षण–स्वतन्त्र द्वन्द्व व्यवस्थित हो जाता है। अत्यन्त ही सुसूक्ष्म है

यह द्वन्द्वात्मक समन्वय, जिसके इत्थंभूत मानवस्वरूपानुगत सहभाव के पारिभाषिक स्वरूप को जाने बिना संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के पारिभाषिक वाच्यार्थ का समन्वय कदापि सम्भव नहीं है।

संस्कृतिः १	पुरुषात्मा–संस्कृतेः पूर्वरूपम्——सैव संस्कृतिः बुद्धिः——संस्कृतेरुत्तररूपम्——सैव सभ्यता	प्रथमद्वन्द्वं संस्कृतिलक्षणम्
सभ्यता २	मनः——सभ्यतायाः पूर्वरूपम्–सैव संस्कृतिः शरीरम्—सभ्यतायाः-उत्तररूपम्-सैव सभ्यता	द्वितीयद्वन्द्वं सभ्यतालक्षणम्

१२४–चतुर्विध वर्णमानवों के साथ संस्कृति–सभ्यता के चार विवर्तों का क्रमिक समन्वय––

संस्कृति के पूर्वरूपात्मक 'संस्कृति' भाव से अनुप्राणिता आत्मपर्वानुगता आत्मप्रधाना जीवनपद्धति का ही नाम है–**अनुशीलनधर्म्म**, जिस के अनुगामी को ही '**ब्राह्मणमानव**' कहा गया है। संस्कृति के उत्तर–रूपात्मक 'सभ्यता' भाव से अनुप्राणिता बुद्धिपर्वानुगता बुद्धिप्रधाना जीवनपद्धति का ही नाम है–**आचरण–धर्म्म**, जिस के अनुगामी को ही '**क्षत्रियमानव**' माना गया है। सभ्यता के पूर्वरूपात्मक 'संस्कृति' भाव से अनुप्राणिता मनःपर्वानुगता मनःप्रधाना जीवनपद्धति का ही नाम है–**अनुसरणधर्म्म**, जिस के अनुगामी को ही '**वैश्यमानव**' कहा गया है। एवं सभ्यता के उत्तररूपात्मक 'सभ्यता' भाव से अनुप्राणिता शरीरपर्वानुगता-शरीरप्रधाना जीवनपद्धति का ही नाम है–'**अनुकरणधर्म्म**' जिस के अनुगामी को ही '**शूद्रमानव**' माना गया है। अपने शरीरभाव से प्रत्येक मानव शूद्रमानव है, मनोभाव से वैश्यमानव है, बुद्धिभाव से क्षत्रियमानव है, एवं आत्मभाव से ब्राह्मणमानव है। और यही व्यक्तिमूला वर्णमानवव्यवस्था आगे चलकर सामाजिकी–वर्णव्यवस्था का मूलाधार बन जाती है, जिस इस तथ्य का यथावत् समन्वय न करने के कारण हीं वर्त्तमानयुग की भावुकप्रज्ञाएँ भारतीय वर्णव्यवस्था पर सर्वथा निरर्थक–निस्तत्त्व, एवं आपातरमणीय आक्षेप करतीं रहतीं हैं।

संस्कृतिक-मानवौ	१–आत्मानुगता—संस्कृतिः (संस्कृतिः)–अनुशीलनधर्म्मात्मिका-जीवनपद्धतिः-ब्राह्मणमानवानुगता
	२–बुद्धयनुगता—संस्कृतिः (सभ्यता)–आचरणधर्म्मात्मिका—जीवनपद्धतिः-क्षत्रियमानवानुगता
सभ्यमानवौ	३-मनोऽनुगता—सभ्यता (संस्कृतिः)–अनुसरणधर्म्मात्मिका-जीवनपद्धतिः-वैश्यमानवानुगता
	४–शरीरानुगता—सभ्यता (सभ्यता)–अनुकरणधर्म्मात्मिका–जीवनपद्धतिः–शूद्रमानवानुगता

१२५–संस्कृतिमूर्त्ति ब्रह्म के महिमामय विवर्त्त से अपरिचित आज के प्रकृतिविमूढ मानव की संस्कृति–सभ्यता–शब्दार्थसमन्वयात्मिका लाक्षणिकी महती भ्रान्ति—

'एक वा इदं वि बभूव सर्वम्' इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्रानुसार उक्त चारों हीं विवर्त्त एक ही समब्रह्म–लक्षण पुरुषात्मा के महिमामय विवर्त्त हैं। इसी आत्मब्रह्ममूला समता से प्रकृत्या चारों विभिन्न रहते हुए भी आत्मना निर्विरोध सहसमन्वित हो रहे हैं। और यही आत्मपुरुषमूला संस्कृति, तथा आत्मप्रकृतिमूला सभ्यता का वह समन्वयात्मक दृष्टिकोण है, जिस के इत्थंभूत मानवस्वरूपानुबन्धी विवर्त्त को विस्मृत करदेने के कारण हीं आज मानवप्रज्ञा संस्कृति, एवं सभ्यता–शब्दों की व्यवस्थिता–नियता–स्वरूपनिर्वचनात्मिका परिभाषा करने में हतप्रभ प्रमाणित हो रही है। एवं इसी हतप्रभता के कारण वह अपने–मनोऽनुगत काल्पनिक बुद्धिवाद के आवेश से आविष्ट बनती हुई, अपनी भावुकतामूला–परदर्शनानुगता परप्रत्ययेनयता को ही 'उदारदृष्टि' घोषित करती हुई आत्मबुद्धि–वञ्चित मानसिक–शारीरिक–विजृम्भणों के आधार पर ही संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के इतिहास–पर्य्यालोडन में सन्त्रस्त बनती जारही है, इति नु महद्दुःखास्पदम्।

१२६–अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-मूलक बुद्धिवाद से मानव का आत्मबुद्धिस्वरूप–विमोहन, एवं विमोहनमूलक मनः–शरीर–भावों पर ही प्राकृत मानवस्वरूप की परिसमाप्ति—

ऐसा कुछ आभास हो रहा है कि, अनात्मवादमूलक शून्यवाद के अनुग्रह से अनेक शताब्दियों से मानवप्रज्ञा ने अपने सर्वाधारभूत अव्ययपुरुषात्मभाव को भी विस्मृत कर दिया है, इस आत्मस्वरूपविस्मृति के साथ साथ आत्मानुगता सहजबुद्धि का भी पलायन होगया है, एवं तत्स्थान में **अविद्या–अस्मिता–आसक्ति-अभिनिवेश**–मूलक वह बुद्धिवाद दृढ़मूल बन गया है मानवप्रज्ञा में, जिस बुद्धिवाद के निग्रह से मानवप्रज्ञा अनुशीलन–आचरण–भावों की उपेक्षा कर केवल मनोऽनुगत अनुसरण, तथा शरीरानुगत अनुकरण–भावों में हीं निमज्जित हो जाया करती है। और इस निमज्जन का अन्तिम परिणाम यही होता है कि, आत्मस्वरूप–विमुग्ध–बुद्धिवादाभिनिविष्ट तथाविध प्राकृत मानव अपने मानवीय स्वरूप का पर्य्यवसान केवल **मन**, तथा **शरीर**, इन दोनों मर्त्य–वैकारिक भावों पर ही मान बैठते हैं।

१२७-आत्मबुद्धिनिष्ठ, एवं मनःशरीरभावुकता–संरक्षक भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक निष्ठा का आत्यन्तिक पतन, एवं तन्मुलक नृत्य–गीत–वाद्यादि विजृम्भणात्मक आज के ये विभ्रामक सांस्कृतिक–आयोजन, इति नु अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

अपनी प्रत्येक घोषणा में 'प्रकृति' मात्र की घोषणा करते रहने वाले प्रकृतिप्रेमी आज के मानव की बुद्धि भी मनोभावों में हीं ओतप्रोत है। जिसप्रकार आत्मस्वरूप की सहज अभिव्यक्ति से वञ्चित पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि सम्पूर्ण प्राकृतिक–प्राणियों की भौतिक जीवनपद्धति का एकमात्र मापदण्ड मनःशरीरात्मक कामार्थमात्र हैं, दुर्भाग्यवश आत्मस्वरूपविमुग्ध मानवने अपने स्वरूप की इयत्ता भी आज मनःशरीरानुगता कामार्थपरायणता पर ही विश्रान्त करली है। इसी मनःशरीरवाद ने इस बुद्धिवादी प्राकृत मानव को आज सभी क्षेत्रों में कामार्थवादी ही प्रमाणित कर दिया है। एवं इसी कामार्थासक्ति के आवेशने इसकी संस्कृति,

और सभ्यता को भी आज मनःशरीरभावों पर ही ला खड़ा किया है। अतएव प्राकृत-मानव की दृष्टि में संस्कृति का अर्थ बन गया है मानसिक अनुरञ्जन, अनुरञ्जनके साधनभूत चित्र-संगीत-कला-नाटक-आदि मनोभाव। तथा सभ्यता का अर्थ बन गया है-शारीरिक भोजन-वसनादि का मनोऽनुगत विन्यास। निश्चयेन मनःशरीरानुबन्धी इन्हीं प्राकृत-वैकारिक-भावों के माध्यम से दुर्भाग्यवश आज भारत जैसे आत्मबुद्धिनिष्ठ भी सांस्कृतिक-राष्ट्र में बालचपलता-सुलभ मानसिक-शारीरिक-हासपरिहासों, गीत-नृत्य-वाद्यों,-कविता-नाटक-अभिनयों-आदि आदि को ही 'सांस्कृतिक-आयोजन' की उपाधि प्राप्त हो पड़ी है, इति नु **अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!**

१२८-आत्मबुद्धिवञ्चित, मनःशरीरप्रधान तथाविध लौकिक आयोजनों का मनः-शरीरमात्रपरायण पशुओं के प्राकृत-आयोजनों के साथ सपतुलन, एवं तथाविध आयोजनों से मानवस्वरूप का आत्यन्तिक अभिभव—

मानसिक, एवं शारीरिक, दोनों भाव तभीतक मानव की संस्कृति, एवं सभ्यता की सीमा में अन्तर्मुक्त माने जायँगे, जबतक कि इन दोनों चान्द्र (मन) पार्थिव (शरीर) विवर्त्तों के साथ प्रतिष्ठारूपेण सौरी सहजबुद्धि, एवं लोकातीत आत्मा, ये दोनों पर्व व्यवस्थित रहेंगे। आत्मा की साक्षी में व्यवस्थित, एवं सहज-बुद्धि के नियन्त्रण से नियन्त्रित-मर्य्यादित ममःशरीरभाव ही संस्कृति, तथा सभ्यता-भावों की सीमा के पात्र माने जासकेंगे। आत्म-बुद्धि भावानुगत अनुशीलन-आचरणधर्म्मों की उपेक्षा कर बैठने वाले मनःशरीरमात्र-प्रधान आयोजन तो प्राकृत प्राणियों की भाँति **'पश्वायोजन'** ही कहलाएँगे, जिन से मानव का मनः-शरीरात्मक-भूतभावानुबन्धी पशुभाव ही तात्कालिकरूपेण तुष्ट होता रहता है। समब्रह्मात्मक आत्मभाव, एवं तन्महिमारूप बुद्धिजनक सौर देवभाव, प्रत्येक दशा में दोनों भावों में से किसी न किसी एक भाव की विद्य-मानता में ही भारतीय आयोजनों को सांस्कृतिक-आयोजन, एवं सभ्यतायोजन कहा जासकेगा। इस आत्मभाव, एवं देवभाव की प्राणप्रतिष्ठात्मिका वैज्ञानिक-प्रक्रिया के अनुग्रह से ही तो पाषाण-मृत्-कांस्यादि भूतधातुओं से विनिर्मित नैदानिक प्रतिमाएँ संस्कृति की परिचायिका बन रहीं हैं, जबकि आत्मदेवभाव से पराङ् मुख एक मानव भी केवल मनःशरीरप्रधान बनता हुआ असंस्कृत, एवं असभ्य ही मान लिया गया है भारतीय दृष्टिकोण से। निष्कर्षतः आत्म-देव-भावों को मूलाधार बना कर ही भारतीय संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के शब्दवाच्यर्थमूलक चिरन्तन-आर्ष इतिवृत्त की व्यवस्था हुई है, जिसे हमने मानसिक अनुसरण, तथा शारीरिक अनुकरण-मूला-कामार्थमयी वैश्य-शूद्र-प्रवृत्तियों के अन्धानुकरण से सर्वथा ही विस्मृत कर दिया है।

१२९--मनोनिबन्धन 'कल्चरभाव', तथा शरीरनिबन्धन सिविलाइजेशनभाव, एवं इन प्रतीच्य शब्दों के द्वारा मानव के मनः--शरीरात्मक--पशुभाव का ही आलोडन--विलोडन—

पुनः हम यह स्पष्ट कर ही देना चाहते हैं कि, वर्त्तमान में संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों के माध्यम से प्रतीच्यजगत् के * कल्चर (culture) और सिविलाइजेशन (civilization) शब्दों की पर्य्यायता को आधार

* मानसिक आभ्यन्तर अनुभूति (काल्पनिक कौशल) ही 'कल्चर' शब्द का अर्थ होगा, एवं शारीरिक-विन्यास ही सिविलाइजेशन का निष्कर्ष होगा। तभी तो प्रतीच्यपरिभाषानुसार संस्कृति के सम्बन्ध

मान कर जो धारणाएँ अभिव्यक्त होतीं जारहीं हैं, उन के साथ भारतीय संस्कृति, एवं सभ्यता–शब्दों की मौलिकता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मनःशरीरनिबन्धना सत्तातन्त्रानुगता कालानुबन्धिनीं व्यवस्थाओं के परिवर्त्तनानुपात से परिवर्त्तित होतीं रहने वालीं मनोवृत्तियाँ, तथा शारीरिकभावविन्यास कदापि अङ्गीभूता 'संस्कृति', एवं अङ्गभूता सभ्यता के मापदण्ड नहीं बन सकते। प्रतीच्यजगत् के प्रभुसत्तात्मक सम्पर्कयुग से आरम्भ कर प्रक्रान्त स्वतन्त्रतायुग पर्य्यन्त भारतीय–प्रज्ञाओं के द्वारा भारतीय–संस्कृति, तथा सभ्यता के सम्बन्ध में जो भी विचार अभिव्यक्त हुए हैं, एवं आज भी हो रहे हैं, निश्चयेन इन सब विचारों का आधारबिन्दु मनोनिबन्धन कल्चरभाव, तथा शरीरनिबन्धन सिविलाइजेशनभाव ही है।

१३०–कल्चर, एवं सिविलाइजेशन–शब्दों के पर्य्यायस्थानीय संस्कृति, एवं सभ्यता–शब्दों के भौतिक–विमोहन से व्यामुग्ध भारतीय अभिनव–विद्वानों के द्वारा नितान्त काल्पनिक–'सामासिक–संस्कृति-सभ्यता' का आविष्कार, एवं उसका निःसारत्त्व—

इसी आधार पर तो अभिनव–प्रज्ञाओंनें–**'सामासिक–संस्कृति'** जैसी उस काल्पनिक अभिधा का आविष्कार कर डाला है, जिस सामासिकता का सतातन्त्रानुगता मनःशरीरनिबन्धना तात्कालिकी युग–सभ्यताओं (वैकारिक सभ्यताओं) से तो फिर भी यत्किञ्चित् सम्बन्ध घटित हो सकता है। किन्तु आत्म–बुद्धिमूला 'संस्कृति' के साथ, एवं तदङ्गभूता आचारनिष्ठात्मिका सांस्कृतिक–सभ्यता के साथ तो इस काल्पनिक–'सामासिकता' का कोई भी सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जासकता। आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्वमूला, सहजबुद्धिसम्मता आत्मदेवभावनिबन्धना आभ्यन्तर जीवनपद्धति ही 'संस्कृति' शब्द का आंशिक समन्वय है, एवं इत्थंभूता संस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठिता आत्मबुद्धि के द्वारा नियन्त्रिता मनःशरीरभावात्मिका बाह्यजीवन-पद्धति ही 'सभ्यता' शब्द का आंशिक समन्वय है शब्दार्थमर्य्यादानुबन्ध से। इसी आधार पर यह कहा, और माना जासकता है कि, **जो सांस्कृतिक होगा, अवश्य ही वह सभ्य भी होगा। एवमेव जो सभ्य होगा, अवश्य ही वह सांस्कृतिक भी होगा,** जबकि प्रतीच्यजगत् की सरणि का अन्धानुकरण करने वाले मनः–शरीरवादी अभिनव मानवों की इस सम्बन्ध में ऐसी कुछ मान्यता सुनी गई है कि,–**'असभ्य भी सांस्कृतिक हो सकता है, एवं सभ्य भी असांस्कृतिक होसकता है'**।

१३१–मनोऽनुगता वैय्यक्तिक जीवनपद्धति (पर्सनललाफ Personal Life), एवं शरी–रानुगता सामाजिक–जीवनपद्धति (Social systim of life) का काल्पनिक विज़्-म्भण, एवं दोनों का भयावह पार्थक्य––

उक्त मान्यता में 'सभ्यता' का अर्थ है प्रदर्शनात्मिका आडम्बरपूर्णा बाह्य–जीवनपद्धति, जिसे–'सामा–जिक–शिष्ट–जीवनपद्धति' माना, और मनवाया जारहा है, एवं अधिकांश में जिसका मापदण्ड है प्रतीच्य–

में ऐसी धारणाएँ श्रुतोपश्रुत हैं कि–(१)–**"मानसिक–शारीरिक शक्तियों की विकासावस्था का नाम हीं संस्कृति है"**। (२)–**"मानसिक आचारात्मिका–(कल्पनात्मिका) रुचियों का परिष्कार ही संस्कृति है"**, इत्यादि।

जगत् की शरीरानुगता आहार–विहार-भोजन–शयन–गमन–भाषण–कौशलादि पद्धतियाँ। मानव के वैय्यक्तिक धर्म्मों का कोई सम्बन्ध नहीं है इस बाह्यसभ्यतालक्षण प्रदर्शन में। सभी सामाजिक–सभ्यतानुबन्धों से मानवीय वैय्यक्तिक-भावों को-'**पर्सनललाइफ**' (Personal Life) (वैय्यक्तिक-जीवनपद्धति) कह कर पृथक् मान लिया जाता है। इसी आधार पर अन्य लोकानुबन्धों में भी यह सूक्ति प्रचलित हो पड़ी है कि–'**बद अच्छा, बद–नाम बुरा**',जिस का सीधासा यही अर्थ निकल रहा कि,-"**मानव व्यक्तिगतरूप से भले ही दुर्गुणों का अनुगामी बनता रहे परोक्षरूप से। किन्तु सामाजिक–जीवन में उसे अपनी विशिष्टता का ही प्रदर्शन करते रहना चाहिए**"। कदापि इत्थंभूता प्रदर्शनात्मिका सभ्यता को 'सभ्यता' नहीं कहा जा सकता। नापि ऐसी प्रदर्शनात्मिका सभ्यता से अनुप्राणित मानसिक कौशल–चातुर्य्य को संस्कृति ही माना जासकता। वैय्यक्तिक गुण–दोष ही सामाजिक गुण–दोषों के आधार बना करते हैं। अतएव व्यक्ति, और समाज को पृथक् प्रमाणित करने वाली प्रदर्शनात्मिका संस्कृति, एवं सभ्यता को कदापि संस्कृति–सभ्यता जैसी पावन अभि–धाओं से व्यवहृत नहीं किया जासकता। आत्मस्वरूपपानुशीलन ही मानव की सभ्यता है। एवं शेषभूत मनः–शरीरानुगत कामार्थभाव इन संस्कृति–सभ्यताओं से नियन्त्रित हो कर ही व्यवस्थित बने रहते हैं। और यही चतुष्पर्वा मानव की संस्कृति–सभ्यता का संक्षिप्त स्वरूप–परिचय है, जिसे आधार मान कर ही प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है।

१३२--भारतीय–आस्तिक मानव का त्रिसहस्रवर्षात्मक सांस्कृतिक--पतन, एवं सभ्यता का अभिभव, भारतीय मानव की असांस्कृतिकता, और असभ्यता की अश्रु–पूर्णाकुलेक्षणता—

हमें यह स्पष्ट कर देने में यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव नहीं हो रहा कि, विगत अनेक शत–ब्दियों से भारतीय भावुक मानव, आस्तिक हिन्दूमानव, धर्म्मभीरु हिन्दू मानव की जीवनपद्धति अपनी मौलिक–संस्कृति, तदनुगत मौलिक धर्म्म, एवं मौलिक–सभ्यता–आदि से सर्वथा पराङ्मुख ही प्रमाणित होती आरही है। संस्कृति-सभ्यता की इस पराङ्मुखता ने ही इसे अनेक शताब्दियों से परतन्त्र बनाए रक्खा है, जो आत्मबुद्धिमूला परतन्त्रता दुर्भाग्यवश आज के इस मनःशरीरस्वतन्त्रतामात्रात्मक युग में भी पलायित नहीं हो सकी है। दासतायुगानुगता परसभ्यताओं को ही यह सभ्यता मानता चला आ रहा है, एवं प्रभुसत्ताधीशों की मान्यता के अनुपात से ही यह भावुक हिन्दू मानव 'संस्कृति' की स्वरूप–व्याख्याओं में अधिकाधिक आत्म–विस्मृत बनता जारहा है। मनःशरीरमात्रात्मिका परदर्शनमूला अनुकरणवृत्ति को ही यह आज के स्वतन्त्रता–युग में भी अपना परम–पौरुष उद्घोषित करता जारहा है, जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण भारतीय संस्कृति, तथा सभ्यता–शब्दों के मौलिक इतिवृत्त से यत्किञ्चित् भी सम्पर्क न रखने वाले बालोपलालनात्मक मानसिक–आयोजनात्मक ये आज के सांस्कृतिक-आयोजन ही प्रमाणित हो रहे हैं। इस से अधिक भारतराष्ट्र का और क्या सांस्कृतिक–पतन होगा ?। संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के मौलिक इतिवृत्त से भारतराष्ट्र अपनी इस भावुकता का परित्याग करे, एकमात्र इसी मङ्गलकामना से प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध है।

१३३–अवनतशिरस्कतापूर्वक अपनी असांस्कृतिकता, तथा असभ्यता की स्वीकृतिपूर्वक अशिक्षित, किन्तु परम्परया संस्कृतिनिष्ठ भारतीय आस्तिक–जनतन्त्र के अनुग्रह से धारावाहिकरूपेण अद्यावधि भी प्रक्रान्ता मूलसंस्कृति के द्वारा सम्भावित उद्-बोधन—

ओमित्येत् । स्वीकृत है हमें अपनी असांस्कृतिकता, एवं असभ्यता, जिसके कारण ही हमारा भारत–राष्ट्र व्यष्टि और समष्टिरूप से पददलित होता आरहा है अनेक शताब्दियों से । किन्तु इस पराभवात्मक दुर्वृत्त के साथ साथ इस भारतराष्ट्र में संस्कृति के सनातन–स्रोत के पारम्परिक अनुग्रह से सदा से ही कुछ एक वैसे भी अनुबन्ध धारावाहिकरूपेण अद्यावधि भी प्रक्रान्त ही हैं, जिनके माध्यम से आज भी हम अपने राष्ट्रीय सांस्कृतिक–गौरव को पुनः प्रतिष्ठित कर सकते हैं राष्ट्रमानस में । लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि,"–**समुद्र सूख जाता है । तदपि उस में जानुदघ्न पानी विद्यमान रहता ही है**" । अवश्य ही भारतीय संस्कृति का समुद्र–समतुलित अजस्र प्रवाह विगत तीन सहस्र वर्षों की दासतावधि में अवरूद्धप्राय हो चुका है । तदपि कुछ एक वैसे परोक्ष–सूत्र आजतक ज्योंके त्यों प्रवाहित हैं उस जनजीवन में, जिसने अपने आप को प्रावाहिक-आक्रमणों से प्रयास–पूर्वक अबतक बचाए रक्खा है, एवं जिसके अनुग्रह से ही 'संस्कृति' का सनातनतत्त्व अद्यावधि भी अक्षुण्ण ही बना हुआ है । युगधर्मानुगत–अनुकरणप्रिय सतत्तातन्त्रों को सर्वथा निरपेक्ष मानते हुए, एकमात्र जनजीवन की सनातनभता अक्षुण्णा सांस्कृतिक–निष्ठा को ही केन्द्र बनाते हुए हमें अविलम्ब उस सनातन–सांस्कृतिक–धारा से सम्बन्ध स्थापित कर ही लेना चाहिए, जिसके बिना भारतराष्ट्र की स्वतन्त्रता का संरक्षण कदापि सम्भव नहीं बन सकता । इसी पावन उद्देश्य के आधार पर संस्कृति-सभ्यता–शब्दों के लोकसम्मत–प्रावाहिक–झञ्झावातों–व्याख्याओं से असंस्पृष्ट रहते हुए भी भारतीय दृष्टि–अनुबन्ध से तत्सम्बन्ध में, एवं भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर देने की धृष्टता हो पड़ी है प्रस्तुत निबन्ध के माध्यम से, जिसके सम्बन्ध में अभी और भी कुछ एक प्रासङ्गिक मनोभावों को अभिव्यक्त कर देना प्रासङ्गिक ही बन रहा है । श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् !!

१३४–भारतराष्ट्र के दशवर्षीय–जागरणकाल से अनुप्राणिता सांस्कृकित- झलकियों के निग्रहात्मक अनुग्रह से संस्कृति, सभ्यता-शब्दों के प्रति सहज-आकर्षण का उद्रेक, एवं राष्ट्रीय–समस्याओं के सम्बन्ध में हमारी निरक्षरमूर्द्धन्यता–

भारतराष्ट्र के दशवर्षीय नव–जागरणकाल में 'संस्कृति', और 'सभ्यता' शब्दों के माध्यम से राष्ट्र की जागरूक प्रज्ञाओं के द्वारा अनेक प्रकार की धारणाएँ यदा कदा कर्णाकर्णिपरम्परया सुनने का महद्-भाग्य उपलब्ध हुआ । इसके अतिरिक्त छोटे बड़े सभी प्रकार के राष्ट्रीय–सम्मेलन–समारोहों–प्रदर्शन–उद्घाटनादि अवसरों पर अनिवार्य्यरूपेण समायोजित होते रहने वाले **'सांस्कृतिक –आयोजनों'–'सांस्कृतिक–झलकियों'**–आदि के भी अदृष्ट–अश्रुतपूर्व इतिवृत्तोंने बलात् 'संस्कृति' शब्द की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया । सीमित प्रज्ञा से अनुप्राणिता हमारी साहित्य–साधना ने कदापि 'राष्ट्र', किंवा 'राष्ट्रीय, जैसे महान् क्षेत्र का कभी संस्पर्श भी नहीं किया । नापि राष्ट्रीय–दृष्टि से इन लोकानुकता राजनैतिक–सामाजिक–व्यवस्थाओं के अनुपात से कभी चिन्तन का ही अनुगमन हुआ । गुहानिहितवत्या एकमात्र प्राच्य–वैदिक साहित्य के संस्पर्श–

मात्र का ही प्रयास प्रक्रान्त रहा अपनी साहित्य–साधना में। अतएव तथाविधा राष्ट्रीय–समस्याओं के सम्बन्ध में हमने अद्यावधि अपने आप को निरक्षरमूर्द्धन्य ही अनुभूत किया।

१३५–तथाविधा निरक्षरमूर्द्धन्यता के अनुग्रह से ही सत्तानुगता, लोकानुगता एषणाओं-से आत्मपरित्राण, एवं संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के चिरन्तनेतिवृत्तोपासन में प्रवृत्ति–

और हम समझते हैं– लोकानुगता इस प्रवृत्ति की निरक्षरमूर्द्धन्यता ने हीं उस लौकिक-व्यामोहन से आजतक हमारा परित्राण किया, जिस व्यामोहन से आकर्षित हो कर प्रज्ञाशील भी साहित्यसेवी मूलतः सर्वात्मना निरपेक्षा भी भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति को अनेक प्रकार के व्यामोहन--जालों के संरक्षणमात्र के लिए, विशेषतः अन्तर्राष्ट्रीय--व्यामोहन की रक्षामात्र के लिए सभी अनुबन्धों से अपने आप को सापेक्ष बनाते हुए अपनी युगधर्म्मानुगता कल्पनामात्र से ही सुविभूषित करने लग पड़ते हैं। स्वस्वरूप को सर्वथैव विस्मृत करा देने वाली परदर्शनमूला जिस भावुकता ने भारतराष्ट्र को विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर लक्ष्यविहीन ही बनाया है, दुर्भाग्य से स्वतन्त्रता के इस नवजागरणकाल में भी राष्ट्रप्रज्ञा तथाकथित व्यामोहनों की सर्जिका उस भावुकता से अपना परित्राण नहीं कर सकी है। एवं निश्चयेन उस भावुकतानुबन्ध से ही आज भी भारत--राष्ट्र के सभी आयोजन स्वनिष्ठा की उपेक्षा में ही अपने आपको धन्य--कृतकृत्य अनुभूत कर रहे हैं, इति नु महद् दुःखास्पदम्।

१३६–सत्तानिरपेक्षतानुगता लोकनिरपेक्षता के द्वारा ही संस्कृति के मौलिक स्वरूप का सम्भावित दर्शन—

किसी जन्मान्तरीय अदृष्टवश विगत वर्ष राष्ट्रसत्ता के सान्निध्य में आने का अवसर मिला, एवं 'स्थालीपुलाकन्यायेन' इस सान्निध्य से अनेक तथ्य स्वतः ही प्रस्फुटित हो पड़े, जिनमें से उस तथ्य ने हमें अत्यन्त ही प्रभावित किया, जिसका 'संस्कृति' की '**सत्तानिरपेक्षता**' से सम्बन्ध माना गया है। '**सत्ताश्रय, किंवा राज्याश्रय ही संस्कृति की स्वरूपरक्षा का प्रमुख आधार है**", इस मान्यता के ठीक विपरीत "**सत्ता के आश्रय से निरपेक्ष तटस्थ रह कर ही संस्कृति अपने मौलिक स्वरूप से सुरक्षित रहा करती है**" इस आस्था का प्रथम दर्शन तत् सम्पर्कानुग्रह से प्राप्त हुआ, जिस दृष्टि के बीज-'**तस्माद्-ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्**' (शत० ब्रा०) इस सूत्रगर्भ में सुरक्षित हैं।

१३७-सत्ताश्रयग्रहण से सत्तामान्यताओं का अन्धानुकरण-समर्थन, एवं तद्द्वपरिणाम-स्वरूप सत्ताश्रित-गतानुगतिक-विद्वानों के द्वारा मूलसंस्कृति-सभ्यता की उपेक्षा, तथा सत्तामान्यतानुबन्धी आयोजनों को 'सांस्कृतिक-आयोजन'-उपाधि-प्रदान—

जब जब भावुकतावश इस राष्ट्र की सांस्कृतिक–प्रज्ञाओंनें संस्कृति के संरक्षण–प्रचार–के लिए सत्ता का आश्रय ग्रहण किया, तब तब ही संस्कृति अपनी मौलिकता से अन्तम्मुख बन गई। एवं सत्ता ने अपनी मान्यताओं के अनुपात से ही साहित्य-सेवियों को संस्कृति की स्वरूप–व्याख्या व्यक्त करने के लिए विवश किया। इत्थंभूता दुरभिसंधि निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से भारतराष्ट्र में यथापूर्व चली आरही है,

जिसके दुष्परिणामस्वरूप ही भारतराष्ट्र की मूलभूता सनातनसंस्कृति का विशुद्ध स्वरूप सर्वथैव पराःपरावत ही प्रमाणित हो चुका है। इसी स्थिति का इस लोकभाषा में यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, युगधर्म्म-भेदानुपात से परिवर्त्तनशील सत्तातन्त्रों की मान्यता से अनुप्राणिता 'सभ्यता' ने अपनी छाप लगा कर ही संस्कृति को आश्रय प्रदान किया, जिसका सीधासा अर्थ यही निकलता है कि, सत्ता अपनी मान्यताओं के अनुपात से जिसे सभ्यता मान बैठती है, यदि तद्युग की प्रज्ञाएँ इसी सभ्यता-मान्यता का समर्थन करतीं हैं, तो वैसी आपातरमणीया संस्कृति ही सत्ताश्रय का वरदान प्राप्त कर सकती है। और ऐसी 'सभ्यता' लक्षणा संस्कृति ही सत्ता की भावुकता के कारण 'मूलसंस्कृति' का स्थान ग्रहण कर बैठती है, जिसके प्रत्यक्ष निदर्शन गीत-नृत्य-वाद्यादि से समाकुलित आज के सांस्कृतिक-आयोजन बने हुए हैं, जब कि इन सामयिक आयोजनों के साथ 'संस्कृति' शब्द का यत्किञ्चित् भी तो सामञ्जस्य नहीं है।

१३८-वर्त्तमान भारतराष्ट्र का सत्तातन्त्रानुग्रह से भारतीय-संस्कृति-सभ्यता-स्वरूप-विघातक-परसभ्यताओं के साथ सांस्कृतिक विजृम्भणों से आदान-प्रदान —

विगत तीन सहस्र-वर्षों से भारतीय-संस्कृति परसत्ताओं से ही अभिभूत होती चली आरही है। फलतः इस अवधि के सभी सत्तातन्त्र नाममात्र के लिए 'भारतीय' कहलाते हुए भी तत्त्वतः भारतीय संस्कृति, तथा सभ्यता से अधिकांश में पृथक् ही प्रमाणित होते आए हैं। अतएव इस अवधि से सम्बन्ध रखने वाली संस्कृति का इतिहास तत्त्वतः परसभ्यताओं का ही इतिहास माना जायगा, जैसे कि वर्त्तमान भारतीय सत्तातन्त्र के विधि-विधान भी तत्त्वतः अमेरिका-इंग्लैण्ड की विधानपद्धतियों के ही आंशिक अनुकरण प्रमाणित हो रहे हैं। एवं निश्चयेन इसी अनुकरणवृत्ति के कारण परसभ्यताओं के द्वारा 'सांस्कृतिक-आयोजन' नाम से उपवर्णित नृत्य-गीतादि ही आज भारतीय सत्तातन्त्र के द्वारा भी सांस्कृतिक-आयोजन ही उद्घोषित हैं। यही नहीं, एवंविध नृत्य-गीत वाद्यकुशल कलाकारों के आगमन-प्रत्यागमन को ही आज सहर्ष-सोल्लास सांस्कृतिक-आदान-प्रदान माना, और मनवाया जारहा है, इति नु अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

१३९-परसभ्यताविमोहन से व्यामुग्ध भारतीय विद्वानों के काल्पनिक सांस्कृतिक-अध्याय, एवं त्रिसहस्रवर्षपूर्वानुगता मौलिक संस्कृति की अन्तर्म्मुखता—

जैसा कि, पूर्व में निवेदन किया जा चुका है-मानवीय मन से सम्बन्ध रखने वाली भावनाएँ हीं जहाँ भूतजगत् की दृष्टि में 'संस्कृति' होगी, वहाँ मानवीय शरीरव्यासङ्ग ही सभ्यता कहलाते होंगे। यों मन, और शरीर, इन दोनों प्राकृतिक पर्वों पर ही संस्कृति, और सभ्यता का इतिहास विश्रान्त बन रहा होगा भारतेतर प्रतीच्य देशों की मान्यता में, जबकि आत्मनिष्ठ भारत की दृष्टि से मन, तथा शरीर के व्यापारों के साथ संस्कृति का कदापि साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। संविद्भावानुगत आत्मा, तथा तदनुगता नैष्ठिकी बुद्धि, आभ्यन्तर-सुसूक्ष्म-सनातन इन दोनों मानवीय पर्वों का स्वरूप ही मानव की मूलसंस्कृति है भारतीय दृष्टिकोण से। इत्थंभूता संस्कृति से सुसंस्कृत मानसिक भाव, तथा शारीरिक आचार ही भारतीय सभ्यता की स्वरूप-परिभाषा है। एवं इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति, तथा सभ्यता के साथ वर्त्तमान मान्यतानुबन्धी मनः-शरीरभावानुगत संस्कृति-सभ्यता-शब्दों का कदापि समतुलन नहीं किया जा सकता, जैसा कि अनुकरणप्रियता से आज किया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति, तथा भारतीय सभ्यता के स्वरूपदर्शन के लिए तो भारतीय जनतन्त्र की सत्तानिरपेक्षा स्वतन्त्र प्रज्ञाओं को आज से तीन सहस्त्र–वर्ष पूर्व के बुद्धयुग से भी पुरातन भारत को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। तभी संस्कृति, तथा सभ्यता शब्दों के चिरन्तन इतिहास का समन्वय सम्भव बन सकेगा। ठीक इसके विपरीत यदि विगत–भुक्त–प्रक्रान्त वर्ष–त्रिसहस्रात्मक युगों के अनुपात से ही इन शब्दों के इतिहास समन्वय का प्रयास किया गया, तो वह केवल दासतायुगानुगता परसभ्यताओं का ही सापेक्ष इतिहास होगा, जिसे आधार बनाकर संस्कृति के सम्बन्ध में अनेक अध्याय लिखने का विजृम्भण आज के नूतन भारत में प्रक्रान्त है।

१४०–'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' सूत्राधार पर उपनिबद्ध सांस्कृतिक-निबन्ध—

संस्कृतिस्वरूपसंरक्षक संस्कृतिमूर्त्ति विश्वेश्वर के अनुग्रह से भारतीय मौलिक सस्कृति का अविच्छिन्न सूत्र आज भी भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक–साहित्य (श्रुति–स्मृति–पुराण) में सुरक्षित चला आरहा है, जब कि सत्तासापेक्ष–व्याख्याताओं नें अपनी काल्पनिक–व्याख्याओं के द्वारा इस मूलसूत्र को आवृत कर देने में कम प्रयास नहीं किया है। यद्वा तद्वास्तु–किसी की आलोचना–प्रत्यालोचना में न पड़ते हुए हमें सांस्कृतिक–परिभाषाओं के माध्यम से निरपेक्ष–बुद्धया इस पुनीत राष्ट्रीय-ज्ञानयज्ञ का ऋत्विक्–मात्र बना रहना चाहिए। इसी पावन उद्देश्य से **'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'** (यजुःसंहिता) इस मूलसूत्र को आधार बनाकर प्रस्तुत सामयिक निबन्ध राष्ट्रदेवता के प्रति समर्पित हो रहा है, जिसकी प्रस्तावना के रूप में युगधर्म्मानुसार दो शब्द निवेदन कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

१४१–भारतराष्ट्र के मौलिक-सांस्कृतिक-गौरव के संरक्षण से अनुप्राणित प्रस्तुत 'सांस्कृतिक-निबन्ध'—

लोकैषणाप्रवर्द्धिका सत्ता से सर्वथा निरपेक्षा, तथैव च अर्थलिप्साप्रवर्द्धिका वणिग्वृत्ति से अत्यन्त ही तटस्था इत्थंभूता भारतराष्ट्र की सर्वनिरपेक्षा, किन्तु सबके लिए सापेक्षा, समब्रह्मभावेन 'संस्कृति' नाम से प्रसिद्धा भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति का जो मौलिक–चिरन्तन इतिवृत्त वित्तैषणागर्भिता–लोकैषणा के आकर्षण से आत्मस्वरूपव्यामुग्ध बन जाने वाले सत्तासापेक्ष भारतीय विद्वानों के व्यक्तित्वविमोहनात्मक मतवादाभिनिवेश से विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला आरहा था, उसी मौलिक चिरन्तन–इतिवृत्त का संस्कृति के मूलप्रवर्त्तक समब्रह्मलक्षण सर्वेश्वर अव्ययपुरुषावतार भगवान् **मधुसूदन** की प्रेरणा से तीन सहस्त्रवर्षानन्तर एकमात्र इसी पावन उद्देश्य से सांस्कृतिक–आर्षप्रजा के सम्मुख उपस्थित हो रहा है कि, वह अपनी पारम्परिक–सांस्कृतिक–आचारपद्धतियों के पारम्परिक–अनुगमन में निष्ठापूर्वक सफल बनती हुई भारतराष्ट्र के मौलिक–सांस्कृतिक–गौरव को अक्षुण्ण ही प्रमाणित करती रहेगी।

१४२–शक्तिचतुष्टयी से एकान्तः पराःपरावत वर्त्तमान सत्तातन्त्र, एवं तदनुगत सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र आज का जनतन्त्र—

चिरन्तन इतिवृत्त के साथ साथ ही उन सांस्कृतिक आयोजनों की रूपरेखाओं को भी अवधानपूर्वक अपना लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करेगी आस्थाश्रद्धान्विता वह आस्तिक प्रजा, जो सत्तासापेक्ष–मतवादसापेक्ष–सम्प्रदायसापेक्ष–परदर्शनव्यामुग्ध–भारतीय–भावुक–व्याख्याताओं के व्यामोहन में व्यामुग्ध बनती हुई अपने

उन आयोजनों की गरिमामहिमा को विस्मृत करती जारही है, जिस सांस्कृतिक-गरिमाने ही इसके भारतराष्ट्र को आज से तीन सहस्रवर्षपूर्व पर्य्यन्त जगद्गुरुत्त्व के सिंहासन पर ही समासीन कर रक्खा था। **मूलसंस्कृति**, एवं संस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित **शास्त्रीय सांस्कृतिक-आचार**, तथा **लौकिक सांस्कृतिक-आयोजन**, तीनों ही प्रक्रमों को विस्मृत कर देने के दुष्परिणामस्वरूप ही भारतराष्ट्र-**'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** इत्यादि श्रुतिमूलिका उस शक्तिचतुष्टयी से एकान्ततः ही पराःपरावत बन गया, जिस शक्तिविहीनता में भावुकतानुगत-अन्धानुकरण ही कर्त्तव्यत्त्वेन शेष रह जाया करता है, जिसका कि प्रत्यक्ष प्रमाण आज का अभिधाकुशल-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारत, उसका प्रभुसत्तासमर्थ सत्तातन्त्र, एवं तदनुगत निरतिशयरूपेण स्वतन्त्र बना हुआ जनतन्त्र प्रमाणित हो रहा है।

१४३–शारीरिक जीवनपद्धतिव्यवस्था, मानसिक चिन्तनप्रणाली, एवं बौद्धिक विचार-विमर्श में असमर्थ वर्त्तमान जनतन्त्र का आत्यन्तिक व्यक्तित्वविमोहन, तथा तन्मूलक जनतन्त्र के वैय्यक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक,और राष्ट्रीय स्वरूपों का आत्यन्तिक अभिभव—

शारीरिक जीवनपद्धति, मानसिक चिन्तन-प्रणाली, एवं बौद्धिक विचारविमर्श, आदि सभी क्षेत्रों में आज एकमात्र लोकैषणात्मक वैसा व्यक्तित्वविमोहन ही प्रधान बन गया है, जिसके कारण राष्ट्र का वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक, तथा राष्ट्रीय जीवन सभी ओर से उस सीमापर्य्यन्त परमुखापेक्षी ही बनता जा रहा है, अथवा तो बन चुका है, मानो इसके अपने अतीत राष्ट्रीय प्रज्ञाकोश में कर्त्तव्यनिष्ठा के नाते कभी कुछ रहा ही न हो। ऐसा क्यों ?, क्यों हम, और हमारा राष्ट्र सभी दिशाओं में अपने आपको शून्यं शून्यं अनुभूत करते हुए परानुकरणरूप अन्तर्राष्ट्रीय-व्यामोहन को ही अपनी और अपने राष्ट्र की प्रामाणिकता का एकमात्र प्रमाणपत्र मानने मनवाने की महती भ्रान्ति करते जारहे हैं ?, और दुर्भाग्यवश ऐसा करते हुए अपने आपको गौरवान्वित मानते-मनवाते हुए उन अनुकरणभावों को उस सीमापर्य्यन्त आज हम राष्ट्र के अन्तःकरण में अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से दृढमूल बना डालने के लिए क्यों आतुर होते जारहे हैं ?, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर इस भारतराष्ट्र का तो-'स्व (**अपना**)' नाम का कोई भी तो स्वरूप शेष नहीं रह जायगा।

१४४–शून्यवादप्रतिच्छायात्मक दार्शनिक जगन्मिथ्यात्त्ववाद से भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक-संघठन का मूलोच्छेद—

स्पष्ट है कि, उक्त सभी प्रश्नों का समाधान सत्तानिरपेक्ष-'संस्कृति' शब्द के चिरन्तर-इतिवृत्त में ही अन्तर्निगूढ है। जिस अशुभमुहूर्त्त में भारतराष्ट्र में अनात्मवादात्मक-शून्यवाद भावुकतावश जागरूक हो पड़ा आज से तीन हजार वर्ष पूर्व, तभी से भारतीय मूलसंस्कृति सत्तासम्मानलोलुप भावुक विद्वानों के द्वारा सत्तासापेक्ष बना दी गई। अतएव सत्ताने जैसे चाहा, तत्सापेक्ष विद्वानोंनें संस्कृति की वैसी ही व्याख्याएँ आविष्कृत कर डालीं। इसी प्रारम्भिक पतन ने आगे चलकर उसी दर्शनवादात्मक मतवाद को जन्म दे डाला, जिसने नैगमिक-आचारमूला संस्कृति की उपेक्षा कर जगान्मिथ्यात्त्वमूलक काल्पनिक वेदान्तवाद को ही राष्ट्र का महान् पौरुष घोषित कर दिया। शून्यवादप्रतिच्छायात्मक इसी वादने आगे चलकर संस्कृति को अनेक विभिन्न मतवादों-सम्प्रदायवादों में परिणत कर सांस्कृतिक-संघठन का सर्वथा मूलोच्छेद ही कर डाला।

१४५–स्वानुगता दार्शनिक--भावुकता से ही भारतराष्ट्र का त्रिसहस्रवर्षात्मक पारतन्त्र्य—

अभिनवस्वतन्त्रतावादी कहते हैं, ब्रिटिशसत्ताने भारतराष्ट्र को परतन्त्र बनाया, जबकि तथ्य वास्तव में कुछ ऐसा है कि, विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतराष्ट्र अपनी सांस्कृतिक निष्ठा से वञ्चित होता हुआ अपने ही दोष से परतन्त्र था, और है आज भी उसी दोष से सभी क्षेत्रों में परतन्त्र परानुकरण–प्रिय, एवं स्वनिष्ठा से सर्वथा ही पराङ्मुख। शक-हूण-सिकन्दर-मुगल आदि आदि सभी ने तो यहाँ की भावुकता से लाभ उठाया है विगत शताब्दियों में। सांस्कृतिक–निष्ठाकेन्द्र से विचलित यह निष्ठाशून्य, परभावुकताकुशल उत्तरदायित्वशून्य, जीवनीय संघर्ष से शून्य शून्यवादी अनात्मवादी–जगत्मिथ्यात्ववादी भारतराष्ट्र स्वयं अपने ही दोष से जब अपने आप में ही आपादमस्तक–आलोमभ्यः–आनखाग्रेभ्यः-परतन्त्र बनता चला आरहा है तीन सहस्र वर्षों से, तो ऐसी दशा में ब्रिटिशसत्ता को उपालम्भ देकर अपनी वर्त्तमाना भावुकता को आवृत करते रहने के प्रयास का कोई भी तो मूल्याङ्कन सम्भव नहीं है किसी भी तो दृष्टिकोण से।

१४६–भारतीय मानव की चतुर्विधा मौलिक शक्तियाँ, एवं परतन्त्रता के अनुबन्ध से चारों ही शक्तियों की अन्तर्म्मुखता—

संस्कृति ही राष्ट्र की वह मूलप्राणप्रतिष्ठा है, जिसके सम्प्रदायवाद–मतवाद–सर्वोपरि सत्तावादादि की निरपेक्षता से ही राष्ट्र उन चतुर्विध शक्तियों के समसमन्वयात्मक महान् बल से समन्वित रहा करता है, जिस समन्वय के अनुग्रह से राष्ट्र व्यक्तित्वविमोहन से पृथक् रहता हुआ 'राष्ट्र' को ही अपना मूलकेन्द्र मान लेता है। और इस केन्द्रप्रतिष्ठा के अवलम्बन के अनन्तर विश्व की कोई भी शक्ति इस की ओर भ्रूविक्षेप का भी साहस नहीं कर सकती। **आत्ममूला ज्ञानशक्ति**, बुद्धिमूला **पौरुषशक्ति**, मनोमूला (कामगर्भिता) **अर्थशक्ति**, एवं शरीरामूला (अर्थगर्भिता) **कामशक्ति**, इन चारों शक्तियों से समन्वित राष्ट्र ही सर्वाङ्गीण–सशक्त राष्ट्र माना गया है ! क्योंकि राष्ट्र न तो किसी भूखण्ड–विशेष का ही नाम है, न किसी पदप्रतिष्ठा–धनप्रतिष्ठा–प्रमाणपत्रप्रतिष्ठा का ही नाम राष्ट्र है। अपितु उस '**मानवसम्पत्ति**' का ही नाम राष्ट्र है। जिसका स्वरूप आत्म-बुद्धि–मनः–शरीर, इन चार पर्वों से समन्वित हुआ है, जिस इस भारतीय संस्कृतिमूलक 'मानव' के चतुष्पर्वा मौलिक स्वरूप से ही भारतीय मानव वञ्चित होता आरहा है विगत अनेक शताब्दियों से।

१४६–शक्तिचतुष्टयी से समन्वित मानव का स्वरूप–परिचय, एवं मानव का 'राजते' लक्षण 'राष्ट्रत्व'—

विश्वेश्वर का सुप्रसिद्ध भूपिण्ड पर्व मानव के शरीर का निर्म्माण करता है, चान्द्रतत्त्व से मानव के मन का, एवं सुप्रसिद्ध सूर्य्य से मानव की बुद्धि का स्वरूप निष्पन्न होता है। पृथिवी–चन्द्रमा–सूर्य्यरूप-प्राकृतिक-त्रैलोक्य जिस लोकातीत, अतएव इन्द्रियातीत तुरीय–व्यापक आत्मतत्त्व पर, पुरुषतत्त्व पर प्रतिष्ठित है, वही मानव का तुरीयपर्व 'आत्मा' है। आत्मभाव से यही मानव पुरुष है। एवं बुद्धि–मनः–शरीर–त्रयी से यही मानव प्रकृति है। प्रकृति–पुरुष के इस दाम्पत्यरूप समन्वित भाव का ही नाम 'मानव' है। जिस मानव में मानव के ये प्रकृति–पुरुषरूप चारों पर्व निर्विरोध समन्वित रहते हैं, वही मानव अपने स्वरूप से प्रकाशित रहता है। यही इस का 'राजते' भाव है। ऐसे समसमन्वित, 'राजते' लक्षण मानवश्रेष्ठों की समष्टि का ही

नाम–'राष्ट्र' है, और यही 'राष्ट्र' शब्द की सांस्कृतिक–स्वरूप–व्याख्या है, जिसे आज के पदप्रतिष्ठाव्यामुग्ध अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिकामुक–परदर्शनकुशल–आत्मपुरुषवञ्चित–केवल प्रकृतिपाशबद्ध–प्राकृत–मानवोंनें विस्मृत कर प्रकृति की आठवीं सोपानपरम्परा में उत्पन्न जड़–भूत–समष्टि का ही नाम 'राष्ट्र' मान लिया है, एवं इस जड़भूतव्यासङ्ग को ही जो राष्ट्रीय प्रगति कहते जारहे हैं, इस के अधिक इस राष्ट्रमानव-भारतीय, सांस्कृतिक-मानव का और क्या राष्ट्रीय पतन होगा ?

१४८–'राष्ट्र' शब्द की स्वरूपव्याख्यारूप चतुष्पर्वा मानव, एवं इसके–'राष्ट्रीय–जीवन', तथा 'राष्ट्रीय' मृत्युभावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

चतुष्पर्वा मानव स्वयं ही 'राष्ट्र' की स्वरूपव्याख्या है। इसके मौलिक–सांस्कृतिक–स्वरूप की व्याख्या की सीमा में ही राष्ट्रव्याख्या निहित है। मानव का चारों पर्वों में से जो भी पर्व भावुकतावश समत्वयोगात्मक–बुद्धियोगात्मक–पारिभाषिक 'योग' से वञ्चित हो जाता है, राष्ट्र का वही अंश अशक्त बन जाता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए–राष्ट्रीय–मानवोंनें 'शरीर' का ही नाम 'मानव' मान–लिया, और मन–बुद्धि–आत्मा, तीनों हीं पर्वों की इसने उपेक्षा करदी, तो परिणाम यह होगा कि, ऐसे शरीरमात्रप्रधान मानवों की समष्टि–रूप राष्ट्र भी केवल शरीर ही शरीर रह जायगा। उस दशा में मानसिक चिन्तन, बौद्धिक विचारविमर्श, एवं सर्वोपरि आत्मसंविन्, तीनों हीं धर्म्म पराङ्मुख हो जायँगे। ऐसा शरीरात्मक जड़मानव राष्ट्र को केवल जड़भूत–योजनाओं के वैसे वारुण–भौतिक-पाश में ही आबद्ध कर देगा, जिस चेतनाशून्य जड़बन्धन को ही संस्कृति की परिभाषा में–'जीवितमृत्यु' कहा गया है।

१४९–कमलाविलासमदोन्मत्त भारतीय सामन्तों के सांस्कृतिक आयोजन, एवं तदनुग्रहेणैव तत्पराभव, और आज पुनः उन्हीं आयोजनों का दुःखपूर्ण पुनरावर्त्तन—

मान लीजिए–शरीर के साथ साथ मानवने अनुग्रह कर मन को भी अपना लिया। किस मन को !, बुद्धियुक्त मन को नहीं, अपितु शरीरयुक्त मन को, अर्थात् अर्थयुक्त काम को। शरीरानुगता इस मनोऽनु–गति से होगा क्या ?, उत्तर स्पष्ट है। अर्थासक्त मन धृतिविगलित बनता हुआ अमर्य्यादितरूप से उन मानसिक–व्यासङ्गों में हीं प्रवृत्त हो जायगा, जिन्हें आज की भाषा में–'सांस्कृतिक–आयोजन' कहा, और बलपूर्वक कह-लवाया जा रहा है। अर्थात् अर्थासक्त काममय मन से अनुप्राणित गीत–वाद्य–नर्त्तन–नाटक–आदि आदि मानसिक–उत्तालतरङ्गायित उन भावुकताओं के प्रवाह में ही राष्ट्र प्रवाहित हो जायगा, जहाँ धृतिगुण का, तन्मूला बुद्धिनिष्ठा का प्रवेश भी निषिद्ध बन जाया करता है। 'मन से नाचना-गाना-बजाना, एवं शरीर से खाना–पीना', इस वाक्य में हीं राष्ट्र की ? स्वरूप–व्याख्या सर्वात्मना समाविष्ट हो जागयी, जिस व्याख्या के निःसीम अनुग्रह से ही कमलाविलासमदोन्मत्त भारतीय सत्ताधीश निकटपूर्व में ही पदप्रतिष्ठा से इसी राष्ट्र के जनतन्त्र के द्वारा पदच्युत कर दिए गए हैं।

१५०–'बुद्धि' में आसक्त 'बुद्धिवादी' मानव की 'बुद्धिमानी' का अन्ततोगत्वा 'मन–मानी' पर विश्राम, और बुद्धिवादात्मक मनोराज्य के निग्रह से मानव की स्व–निष्ठा का आत्यन्तिक पतन—

और आगे चलिए। मानव ने अपनी मानवता पर अनुग्रह कर अपने तीसरे बुद्धिपर्व को भी अपना लिया। एवं इस बुद्धिसम्पर्क से मानव विचारविमर्शपथ का भी अनुगामी बन गया। ऐसा मानव ही 'बुद्धि–

वादी' मानव कहलाया, जिसे हम मनःशरीरपरायण प्राकृत मानव की अपेक्षा भी कहीं अधिक मात्रा में स्वरूपविमुग्ध कहेंगे। क्यों ?। इसलिए कि 'बुद्धिवादी' बनना एकपक्ष है, और 'बुद्धिमानी' करना अन्यपक्ष है, एवं इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा पक्ष वह है, जिसे लोकभाषा में '**मनमानी**' बात कहा गया है। सर्वाधारभूत आत्मब्रह्म के अनुरूप अनुग्रह से पराङ्मुखा बुद्धि, दूसरे शब्दों में मानव की मानवता के एक–मात्र अनुबन्ध आत्मभाव से पृथक् हो जाने वाली बुद्धि में उसप्रकार के चार महाभयानक दोष उत्पन्न हो जाया करते हैं, जिन्हें **अविद्या–अस्मिता–आसक्ति–अभिनिवेश**--नामों से व्यवहृत किया गया है शास्त्रीय–परिभाषा में।

१५१–मानव की 'सहजबुद्धि' रूपा 'विद्याबुद्धि' का स्वरूप–परिचय—

सत्त्वगुणभाव को अभिव्यक्त करने वाली ज्ञानसहकृता विज्ञानविद्या ही विद्या है, जिसके निगमागम–पुराणादि शब्दात्मक विवर्त्त माने गए हैं, जिस विद्या के गर्भ में अभ्युदयरूप लोकवैभव, तथा निःश्रेयसरूप आत्मभाव, दोनों प्रतिष्ठित हैं। इसविद्या से विपरीत रजोगुण–तमोगुण–भाव के प्रवर्द्धक सभी ज्ञान--विज्ञानभाव आत्मा के नित्य ज्ञान–विज्ञान–भावों के प्रतिबन्धक बनते हुए--'अविद्या' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। आत्म–विद्या से असंस्पृष्टा ऐसी भूतविद्या ही 'अविद्या' कहलाई है, जिसे 'अज्ञान' भी माना है शास्त्र ने, जिसका अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। अपितु आत्मविद्यारूप ज्ञानविज्ञान का आवरण करने के कारण ही आत्मविद्या–वञ्चिता लोकविद्या ही अज्ञान कहलाई है, जो कि आत्मप्रवञ्चना से बुद्धि को मोहकलिल से युक्त कर देती है, जैसा कि–'**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः**, इत्यादि गीतावचन से स्पष्ट है।

१५२–अविद्याग्रहग्रस्ता बुद्धि की 'बुद्धिवाद' में परिणति, एवं इत्थंभूत 'बुद्धिवाद' के द्वारा मानव का आत्मस्वरूप–विमोहन—

बड़ा ही भयानक है यह अविद्यादोष, जो असत् को सत्, एवं सत् को असत् प्रमाणित करता रहता है। आत्मस्वरूपविघातक सभी तमोभाव इस अविद्या के अनुग्रह से प्रिय लगने लगते हैं, एवं आत्मस्वरूपसंरक्षक सभी सत्त्वभाव इसके कारण अप्रिय बन जाते हैं। श्रेयोभाव त्याज्य बन जाते हैं, प्रेयोभाव संग्राह्य बन जाते हैं। इस अविद्यादोष से ही बुद्धि में वह '**बुद्धिवाद**' उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण बुद्धिवादी अविद्याग्रह–ग्रस्त मानव अपने समतुलन में किसी को कुछ भी नहीं मानता, समझता। आपादमस्तक अविद्यात्मक इस बुद्धि–वाद में ग्रस्त मानव अपने आप को ही धीर–प्रज्ञाशील--सारासारविवेकशील–निर्णायक–आदि आदि सम्पूर्ण बुद्धिगुणों का निधान मान बैठता है अपने मनोराज्य में। आत्मयोग से, आत्मविद्या से वञ्चिता बुद्धि इस प्रकार अविद्यासंस्कार (आत्मविद्याशून्य भूतज्ञानसंस्काररूप अविद्यासंस्कार) के प्रभाव में आकर मनोवश–वर्त्तिनी ही बन जाया करती है। अतएव मन को जैसा जो कुछ पूत-प्रिय-रुचिकर लगता रहता है, मनोवश-वर्त्तिनी बुद्धि अपने अविद्यासंस्कारात्मक बुद्धिवाद से उसी को अच्छा–उपयोगी–कहने, मानने लग पड़ती है। यों अविद्याग्रस्त बुद्धिवाद से युक्त बुद्धिवादी ही '**मनमानी**' करने लग पड़ता है।

५३–अविद्यात्मक 'बुद्धिवाद' का मन्यतानुबन्धी मलीमस इतिहास—

यह सर्वथा संस्मरणीय है कि, आत्मानुगत सत्त्वगुण का समन्वय करने वाली विद्या सम्पूर्ण विश्व में एकमात्र भारतीय वह 'निगमागमविद्या' ही है, जिसने लोकातीत आत्मतत्त्व के आधार पर ही मानवीय चारों

पर्वं व्यवस्थित रूप से समसमन्वित किए हैं । अन्य किसी शिक्षा-भूतविद्या में आत्मप्रकृतिमूलक त्रैगुण्य की कोई भी व्याख्या नहीं हुई है, फिर तद्विवेकपूर्वक आत्मानुगत-सत्त्वभाव की तो कथा ही विदूर है । अतएव कहा, और माना जायगा कि, आत्मविद्यामूला भारतीय शिक्षा-संस्कृति से विरुद्धा केवल भूतमूला परशिक्षा से समन्विता बुद्धि ही भारतीय मानव को अविद्याग्रहग्रस्त बनाती हुई इसे उस दम्भपूर्ण बुद्धिवाद में प्रवृत्त कर दिया करती है, जिस बुद्धिवाद में आकर बुद्धिवादी मानव अपनी मानसिक-मान्यताओं के आधार पर इसे जैसा अच्छा लगता है, किंवा जिसे यह अच्छा मान बैठता है, उसी अनुपात से यह शास्त्रव्याख्या में भी प्रवृत्त होने का दुस्साहस करने लग पड़ता है । और इसप्रकार बुद्धिवादात्मक यह महान् व्यक्तित्वविमोहन इस बुद्धिवादी को इसके मनोऽनुगत अविद्याभाव से इसे अविद्याग्रहग्रस्त ही बना देता है, जिसे ही यह बुद्धिमानी-धीरता-योग्यता-मानता हुआ स्वसमानधर्म्मा इतर सहयोगियों को भी ऐसा ही मानने के लिए विवश करता रहता है । यों मानो एक अन्धा अन्य अन्धों को मार्ग-दिखलाने का अभिनय करता हुआ इतस्ततः-निर्लक्ष्य-निरुद्देश्य ही अपने कल्पनाजगत् में आप भी ठोकरें खाता रहता है, तथा अपने अन्धानुकरणप्रिय सहयोगियों को भी लक्ष्य-भ्रष्ट करता रहता है । अविद्याभाव के इसी सर्वविनाशक इतिहास को लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ (कठोपनिषत्)

१५४–अविद्यादोषानुग्रह से ही मानव की बुद्धि में 'अस्मितादोष' का आविर्भाव, तद्-द्वारा 'आसक्ति' का जन्म, एवं तद्द्वारा सर्वविनाशक अभिनिवेश की प्रसूति—

तथाविध अविद्यादोष ही मानव की बुद्धि में वह भयानक दूसरा दोष उत्पन्न कर देता है, जिसे-'अस्मिता' कहा गया है । आत्मैश्वर्य्य से वञ्चिता बुद्धि मानसिक-सीमित भाव में आबद्ध होती हुई अपने विकासरूप सहज आत्मैश्वर्य्य से वञ्चित रह जाती है । सब कुछ है, किन्तु मान रहे हैं अपने आप को सर्वशून्य । इसी हीनता का 'अस्मिता' है । संकुचित हृदय-संकुचित विचार-सकुञ्चित दलवाद-सकुञ्चित मतवाद-सकुञ्चित अर्थवाद-सर्वत्र दीन हीनभावना-सर्वत्र-निराशानिमग्नता-आदि आदि सब दोष इस अस्मिता के ही अनुग्रहप्रसून हैं, जो अस्मितादोष ही कालान्तर में अपने अभिन्न सखा 'आसक्तिदोष' का आमन्त्रण करने लग पड़ता है । भूत-विषयों-भूतमदों-भूतपदप्रतिष्ठाओं को इस भय से समालिङ्गित कर लेना कि-अमुक भूत-अमुक पदप्रतिष्ठा यदि चली गई, तो हम क्या करेंगे, क्या व्यक्तित्व रह जायगा हमारा, यही आसक्तिदोष है । जो मानव परसापेक्षता से जिस मान्यता के द्वारा जिस तन्त्र से अपने भौतिक-बाह्य व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित मान लेता है, वह उसी व्यक्तित्व में सर्वात्मना आसक्त हो जाता है । यह आसक्ति ही इस बुद्धिवादी अविद्या-अस्मिता-ग्रहग्रस्त मानव को कालान्तर में लक्ष्मीभूत मान्यताओं-अविद्यात्मिका विद्याओं-पदप्रतिष्ठाव्यामोहनों में सर्वात्मना उस सीमापर्य्यन्त आसक्त कर देती है कि, आसक्ति का यह अन्तिम रूप ही कालान्तर में सर्वान्त में घोरघोरतम उस बुद्धिदोषरूप में परिणत हो जाता है, जिस दोषबिन्दु का सम्मान्य अतिथि बन जाने वाला मानव कदापि मानवता-मानवधर्म्म-मानवसंस्कृति-धर्म्म-आदि सत्त्वविभूतियों के संस्मरण का भी पात्र नहीं रह जाता ।

१५५ बुद्धिस्वरूपप्रतिबन्धक चारों दोषों में अन्तिम–'अभिनिवेश' नामक दोष की महाभयानकता, एवं अभिनिवेश की स्वरूप-परिभाषा—

चारों बुद्धिदोषों में यह सर्वान्त का सर्वरूप अन्तिम दोष ही '**अभिनिवेश**' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, जिसका अर्थ है-'**दुराग्रह**'। तन्मूलक कल्पित-**सत्याग्रह, अहिंसाग्रह, मानवताग्रह, वर्गभेदमूलोच्छेदाग्रह**-आदि आदि कल्पनाप्रसूत सभी दुराग्रह इसी अभिनिवेश की सीमा में अन्तर्भुक्त हैं, जिसे मानव इसलिए नहीं छोड़ना चाहता कि, इसके सम्पूर्ण भूतजीवन का सम्पूर्ण इतिहास इस आग्रह की कृपा से ही प्रतिष्ठित रहता है। यदि अभिनिवेशात्मक इस आग्रह को यह छोड़ देता है, तो इसे उस आसक्ति का परित्याग भी कर देना पड़ता है, जिसकी कृपा से यह अपने कल्पित–व्यक्तित्व में आसक्त हो रहा है। आसक्ति के परित्याग के लिए अस्मिता से परित्राण करना अनिवार्य्य बन जाता है। तदर्थ उस अविद्यासंस्कार को भुला देना आवश्यक बन जाता है, जिस संस्कारने ही इसे लोकानुबन्धी व्यक्तित्व प्रदान कर रक्खा है। यों सभी कुछ तो छोड़ देना पड़ता है दुराग्रह के परित्याग के साथ साथ ही इस अभिनिविष्ट को। छोड़ देना एक पक्ष है, छोड़ नहीं सकता, यह अन्य पक्ष है। जहाँतक इसकी लोकदृष्टि अनुधावन करती है, वहाँतक तो इस छोड़ देने को यह अपने व्यक्तित्व का सर्वनाश ही मान बैठता है, जबकि वस्तुत: यह इसका व्यक्तित्व है ही नहीं मानवता के मापदण्ड से। आत्म-स्वरूपाभिव्यक्तित्व ही मानव का वह व्यक्तित्व है, जिसके समतुलन में भूतानुगत व्यक्तित्व का कोई भी तो स्वरूप शेष नहीं रह जाता। किन्तु आत्मयोग से वञ्चिता बुद्धि मानव को इसके बुद्धिवादानुग्रह से आत्मव्यक्तित्व का संस्पर्श भी नहीं करने देती। अतएव इसे उस वास्तविक व्यक्तित्व का बोध ही नहीं हो पाता। अतएव इस कल्पित व्यक्तित्व को ही अपना वास्तविक व्यक्तित्व मानने में आविष्ट बना रह जाता है यह बुद्धिवादी मनमानी करने वाला मानव। '**समझते हैं, किन्तु मानते नहीं**', यही दुराग्रहरूप अभिनिवेश की स्वरूप–परिभाषा मानी गई है।

१५६- सहजसत्त्वनिष्ठ मानव में क्षणिक सत्त्वोदय, किन्तु अभिनिवेशवश सत्त्व की पुनः अन्तर्म्मुखता—

मानव अन्ततोगत्वा मानव है। मानवजीवन में ऐसे भी पवित्र क्षण यदा–कदा अवश्य ही आते रहते हैं, जिनमें स्वयं इसके आत्मदेवता ही इसकी बुद्धि–मन के सम्मुख इसका वास्तविक नग्न स्वरूपचित्रण कर दिया करते हैं। एवं अवश्य ही मानव उन सौभाग्यक्षणों में क्षणमात्र के लिए उद्बोधन भी प्राप्त करलेता है। और उस क्षणिक-सात्त्विक वातावरण में अपने दम्भपूर्ण–व्यक्तित्व के प्रति इसे घृणा भी होने गलती है। किन्तु क्षणानन्तर ही पुन: चिर–अभ्यस्त वही व्यक्तित्वविमोहन इसे पुन: आक्रान्त कर लेता है, और पुन: यह '**पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेताल:**' न्यायपथानुगामी बन जाता है। अवश्य ही अस्मदादि अभिनिविष्टों को इस श्रेणिपथानुगामित्त्वेन विचिकित्स्य माना जा सकता है, माना है–शास्त्र ने, यदि वे इस क्षणिक–सात्त्विक–उद्बोधन को कार्यरूप में परिणत कर लें, तो। क्या तात्पर्य्य !।

१५७–धर्म्माचारविहीनता से अनुप्राणित असदाचारप्रवृत्तिमूलक सर्वस्वविनाशक अभि-निवेश—

तात्पर्य्य स्पष्ट है। क्या भारतराष्ट्र में प्रज्ञाशील सत्त्वबुद्धिपरायण मानवों की, तत्रापि संस्कृति के, एवं निग-मागमपुराणस्मृतिशास्त्र के परपारदर्शी विद्वानों की कमी रही है ?। कदापि नहीं। यहाँ की आत्मदर्शनमूला

बुद्धिमत्ता के प्रभाव से तो भारत का बच्चा बच्चा भी आत्मा की अमरता के ही गीत गाता फिरता है गली गली में। विद्वानोंनें वैसे बड़े बड़े पोथे लिख डाले हैं, जिनमें आत्मा-परमात्मा-संस्कृति-धर्म्म-परलोक-स्वर्ग-नरक-आदि सभी की आडम्बरपूर्णा व्याख्याएँ हुईं हैं, जिस आडम्बरपूर्णता का अर्थ है–'**आचारविहीनता**'। संस्कृति का आचारपक्ष तथाकथित दार्शनिक विजृम्भणों से ही तो पराः-परावत बन गया है इस राष्ट्र से। अतएव केवल समझलेने से ही तो सबकुछ नहीं हो जाता। समझते हुए भी मानव ने छोड़ा क्यों नहीं अभिनिवेश ?, प्रश्न का समाधान यहीं, इसी आचारबुद्धि में निहित है।

१५८–अविद्या–अस्मिता–आसक्ति–गर्भित अभिनिवेशमूलक व्यक्तित्वविमोहन, एवं तत्संरक्षण में अभिनिविष्ट विमूढ मानवों के आचारविहीन असदाचरण—

और आचारपद्धति का दुराग्रहमूला उन मान्यताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो मान्यताएँ आचाररूप से आज प्रचलित हो पड़ीं हैं। अविद्या–अस्मिता–गर्भित अभिनिवेशमूलक व्यक्तित्वविमोहन से अनुप्राणित व्यक्तित्व, काल्पनिक व्यक्तित्वसंरक्षक–काल्पनिक सत्य–अहिंसा–मानवता–मानवधर्म्म–वर्गभेदोच्छेद–आदि आदि का नाम कदापि आचारपद्धति नहीं है, जिस इत्थंभूत काल्पनिक आचारपद्धति का, आश्रम-जीवनपद्धतिविरुद्ध–दाम्पत्यविरोधी कल्पित वैराग्य का, आत्म–देवोपासनाशून्य मतवादात्मक धर्म्माभास का, मोहप्रवर्त्तक अज्ञानात्मक ज्ञान का, व्यक्तित्वदम्भलक्षणा अस्मिता के प्रवर्त्तक काल्पनिक ऐश्वर्य्य का (भौतिक जड़ता का), आदि आदि का निगमागमादि भारतीय शास्त्र में तो कहीं नामोल्लेख भी नहीं हुआ है आचाररूपेण। ये सब काल्पनिक वैराग्य, ये सब काल्पनिक मतवादात्मक धर्म्म तो उस त्रिसहस्रवर्षात्मक अन्धयुग के ही व्यक्तित्वविमोहक–विजृम्भण हैं, जिन्हें सत्तासापेक्षतामूलक स्वस्वरूपविमोहनने ही जन्म देडाला है। अतएव जैसे तत्त्ववाद काल्पनिक बनता चला आरहा है उस कालावधि में, तथैव आचारवाद भी काल्पनिक ही बनता आरहा है, जिस इस काल्पनिक आचारविजृम्भण का सांस्कृतिक–आचार, सांस्कृतिक–आयोजन से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है।

१५९–सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग, राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग–गर्भित आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोगात्मक समन्वयोग से ही मानवस्वरूप की अभिव्यक्ति, एवं तद्द्वारा ही मानवता का संरक्षण—

बुद्धिगत अविद्यादोष की निवृत्ति के लिए निगमागमस्वाध्यायनिष्ठा के द्वारा **ज्ञान**संस्कार का अनुगमन करना पड़ेगा, अस्मितादोष ऐश्वर्य्य से पलायित होगा, रागद्वेषात्मिका आसक्ति निष्कामकर्म्मयोगात्मक वैराग्य से हटेगा, एवं दुराग्रहरूप अभिनिवेश धर्म्माचरण से ही निवृत्त होगा, जिन इन चारों आचारपद्धतियों का निरूपण तो हुआ है विध-निषेधात्मक स्मार्त्त-'**धर्म्मशास्त्र**' में, मौलिक रहस्य प्रतिपादित हुआ है '**वेदशास्त्र**' में, एवं लोकानुगत कौशल प्रतिपादित हुआ है सुप्रसिद्ध उस '**गीताशास्त्र**' में, जिसे तत्त्वनिष्ठ–आचारनिष्ठ विद्वानों नें '**बुद्धियोगशास्त्र**' ही कहा है, जिसमें **सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग, राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग, राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग**, तथा **आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग**, भेद से उन चतुर्विध बुद्धियोगों के कौशल का ही निरूपण हुआ है, जिन के द्वारा मानव की बुद्धि के अविद्या–अस्मिता–आसक्ति-अभिनिवेश नामक चारों ही दोष निवृत्त हो जाते हैं। इस आचरणपद्धति के अनुगमन से ही मानव

बुद्धिवाद के पङ्क से निकल सकता है, जिस पङ्क से मानव समझता हुआ भी इसलिए नहीं निकल रहा कि, इसका आज न तो सांस्कृतिक-आचार से ही कोई सम्बन्ध रहा है, न इसके सांस्कृतिक-आयोजन ही स्वस्वरूप से व्यवस्थित हैं।

१६०-अभिनिवेशाविष्ट भारतीय मानव के द्वारा ही भारतीय सांस्कृतिक माङ्गलिक-आचारों की उपेक्षा-अवहेलना-तिरस्कार, तथा भारतराष्ट्र का सांस्कृतिक-अधःपतन, एवं तत्समर्थक सत्तातन्त्र—

निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से चली आने वाली आत्म-बुद्धिदासता ने भारतराष्ट्र के मन, तथा शरीर-पर्वों को उस सीमापर्य्यन्त अविद्या-अस्मिता-आसक्ति-अभिनिवेश-नामक महा पाप्माओं से समाप्लुत कर लिया है कि, आज यह पश्यन् अपि न पश्यति, शृण्वन्-अपि न शृणोति, विजानन्-अपि न विजानाति। चारों बुद्धिदोष आज 'अभिनिवेश' को ही केन्द्र बना बैठे हैं, जिस अभिनिवेशमूलक दुराग्रह के कारण आज भारतीय मानव स्वयं ही अपनी मूलसंस्कृति का अन्यतम विरोधी बनता जारहा है, जो निश्चयेम भारतराष्ट्र के लिए अत्यन्त ही **'अमङ्गलसूचना'** है। जिस अमुक दलविशेष के करमकलों नें भारतीय जनतन्त्र के अनुग्रह से 'राष्ट्रसत्ता' को समलङ्कृत किया है, वह दलविशेष तो भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण अवनति का एकमात्र कारण भारतीय-संस्कृति, भारतीय-धर्म्म, तन्मूलक आचार, आदि को ही मानने मनवाने में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के समर्पण में व्यग्र बनता जारहा है।

१६१-बुद्धिवादी अभिनव-विद्वानों के द्वारा सत्तातन्त्र के तथाकथित समर्थन की पुष्टि, एवं संस्कृतिरक्षक विद्वद्वर्ग का ही संस्कृतिभक्षणप्रयास—

दुर्भाग्यवश भारतराष्ट्र के वर्त्तमान कतिपय बुद्धिवादी विद्वानों का भी उन्मुक्त सहयोग प्राप्त है तथाविध समर्पणकर्म्म में सत्तातन्त्र को, जिन बुद्धिवादी-व्यक्तिप्रतिष्ठाकामुक-वित्तैषणागर्भिता-लोकैषणा के अनुगामी सांस्कृतिक? विद्वानों? का विगत तीन सहस्र वर्षों से यही लोकव्यवसाय (पेशा) बनता चला आरहा है कि, जो जो सत्तातन्त्र सिंहासनारूढ होते जायँ, सिंहासनारूढ जो जो सत्ताधीश सत्तामदान्ध बन कर जिन जिन मान्यताओं को मनोऽनुगता मानते जायँ, उन उन सत्तामान्यताओं को अपनी बुद्धिवादात्मिका काल्पनिक व्याख्याओं के द्वारा शास्त्रसिद्ध प्रमाणित करते जाना, एवं पुरस्कार में पण्डितराज, महामहोपाध्याय, पुरातत्त्ववेत्ता, आदि उपाधियों, पुरस्कारों से सम्मानित होते हुए अपने सर्वथा काल्पनिक गाम्भीर्य्य-मितभाषिता-सामयिकवेशभूषानुगति-आदि आदि बाह्य-आकर्षक-प्रदर्शन-माध्यमों से राष्ट्रीय-जनतन्त्र की सनातन-श्रद्धा,-सनातन परम्पराओं में शैथिल्य उत्पन्न करने के जघन्यतम प्रयत्नों में तल्लीन बने रहना।

१६२-सत्ताश्रयता के लिए लालायित भावुक विद्वानों के द्वारा ही निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से भारतीय मूलसंस्कृति का स्वरूपाभिभव, एवं उसके भीषण-परिणाम—

जिन भारतीय विद्वानों नें अतीत युगों में मिलिन्द-अशोकादि बुद्धराजाओं के शून्य-क्षणिक-वादात्मक अनात्मवादों का यशोगान किया उसी शास्त्रप्रामाण्य के माध्यम से, जिन विद्वानों नें गुप्तसाम्राज्यकाल में

कमलाविलासमदोन्मत्त भारतीय राजाओं की शृङ्गाररसपरायणा लोलुपताओं, विलासलीलाओं के अनुरञ्जन के लिए तद्रसप्रधान साहित्य-सङ्गीत-कला-भावों का सर्जन करते हुए अपने इस कामुकतापूर्ण साहित्यिक रस को सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्परात्मा के आनन्दरसप्राप्ति का अन्यतम साधन प्रमाणित कर डाला, और भी आगे चल कर जिन विद्वानों नें सत्ताशैथिल्य से समुद्भूत विविध मतवादों–सम्प्रदायवादों के प्रति आत्म–समर्पण करते हुए निगमागमशास्त्र को मतवादसमर्थन में प्रधानता प्रदान कर डाली, आगे चलकर जिस मुगलसाम्राज्यकाल में जिन इन्हीं भारतीय विद्वानों नें–'**दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा**' के सांस्कृतिक ! निनाद से भारतवसुन्धरा के वक्षस्थल को विदीर्ण करते रहने में यत्किञ्चित् भी लज्जा का अनुभव नहीं किया, और जिन इन्हीं वेद–पुराण–स्मृतिभक्त–भारतीय विद्वानों नें ब्रिटिशसत्ताकाल में सर्वश्री-विक्टोरिया, सप्तमएड–वर्ड–पञ्चमजार्ज आदि की स्वास्थ्यकामना के लिए अपने देवमन्दिरों में नवीन काव्यों का निर्म्माण कर उन से विभिन्न उपाधि-सम्मान प्राप्त करते रहना विस्मृत नहीं किया, और जिन भारतीय वीतराग-सन्यासी बाबाओं नें ब्रिटिश-सत्ता के अवसानकालात्मक युद्ध–अवसर पर ब्रिटिशसत्ता के प्रतिद्वन्द्वी **श्रीतोजो–हिटलर** आदि के सर्वनाश के लिए ब्रिटिशराजधानी देहली में यज्ञानुष्ठान कर अपनी राजभक्ति के आटोपपूर्ण–प्रदर्शन में हीं भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति–निष्ठा की भी मानो अन्तिम बार आहुति ही दे डाली, वे ही भारतीय विद्वान् उसी शास्त्र के बल पर आज **गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्र** का जोड़-तोड़ बैठाने में हीं अपनी सांस्कृतिक-प्रज्ञानज्योति को उत्पीड़ित करते जा रहे हैं वर्त्तमान सत्तातन्त्र की कृपाभिक्षा–प्राप्ति के लिए ही, इति नु महतीयं खल्वनर्थपरम्परा भारतीय–विद्वत्प्रज्ञायाः ।

१६३–'संस्कृति' शब्दार्थ से भी असंस्पृष्ट आज के 'सांस्कृतिक–आयोजन'—

यों, और वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा की पूर्त्ति के लिए, किंवा लोकैषणागर्भिता वित्तैषणा की पूर्त्ति के लिए निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से राष्ट्रीय–विद्वत्प्रज्ञा सत्तासापेक्षता के माध्यम से ही संस्कृति की व्याख्या में प्रवृत्त रही, जिस इस सत्तासापेक्षतामूला प्रवृत्तिका, किंवा घोरघोरतमा दुष्प्रवृत्ति का ही यह भीषण परिणाम हुआ कि, संस्कृति का अपना कोई भी मौलिक स्वरूप व्यक्त होने हीं नहीं पाया इस सुदीर्घकाल में । अपितु संस्कृति के नाम से विद्वानों नें, और–गतानुगतिकन्यायेन अन्य सभी वर्गोंनें अपनी अपनी व्यक्ति–पद–प्रतिष्ठाओं के संरक्षणानुरूप ही बुद्धिवादात्मिका–मनोऽनुगता–मान्यताओं को ही '**संस्कृति**'–'**सांस्कृतिक आचार**'–'**सांस्कृतिक–आयोजन**' आदि नामों से व्यवहृत करना आरम्भ कर दिया, जबकि इन मानसिक मान्यताओं के साथ, शारीरिक उत्पथाचरणों के साथ 'संस्कृति' शब्द का अक्षरार्थ भी सो समन्वित नहीं हो रहा ।

१६४–संस्कृति–संस्कृत–संस्कार–सांस्कृतिक–आदि रहस्यपूर्ण शब्दों के चिरन्तन वाच्यार्थ से असंस्पृष्ट काल्पनिक आयोजनों के काल्पनिक विजृम्भण—

संस्कृति–संस्कृत–संस्कार-सांस्कृतिक–आदि शब्दों के अक्षरार्थ से भी पराङ्मुख सर्वथा प्राकृत–भाव, असंस्कृतभाव भी इस व्यक्तित्वविमोहन के अनुग्रह से आज '**संस्कृति**'–'**सुसंस्कृत**'–'**सांस्कृतिक**' नामों से व्यवहृत होने लग पड़े । किसी ने मानस अट्टाट्टहास कर दिया, किसी ने आँ–आँ-आँ-करना आरम्भ कर दिया, कोई विचित्र परिधान धारण कर थिरकने लग पड़ा, और यों जिस जिसने अपने मानसिक-शारीरिक भाव-चेष्टाओं के माध्यम से जब भी, जहाँ भी, जो भी, जैसा भी, प्रदर्शन करना आरम्भ कर दिया, वही भारतीय

'संस्कृति' बन बैठी, इन आयोजनोंनें हीं **'सांस्कृतिक--आयोजन'** का नाम धारण कर लिया, ऐसी संस्कृति के आयोजन, एवं तत्र आचाररूपेण समाविष्ट महापुरुष ही **सुसंस्कृत-सांस्कृतिक-मानव** कहलाने लग पड़े, इनकी विचित्रा वेशभूषा ही **सांस्कृतिक वेशभूषा** बन बैठी, इनकी विचित्र मुखाकृतियाँ हीं **सांस्कृतिक छबियाँ** प्रमाणित हो पड़ीं, इनके विचित्र रेखाङ्कन ही **सांस्कृतिक-कला** का नाम धारण कर बैठे। यों इनका **गमन-हसन-रुदन-शयन-विकम्पन-प्रश्वसन-लेखन-भाषण-भोजन-उद्‌घाटन-विचरण**-आदि आदि सभी मानसिक शारीरिक-विजृम्भण **'सांस्कृतिक--आयोजनों'** की सीमा में समाविष्ट हो गया, और यही भारतीय-संस्कृति का वह अश्रुपूर्णाकुलेक्षण इतिवृत्त बन गया, जिसके स्मरणमात्र से भी जो भारतीय संस्कृति विकम्पित हो पड़ती थी पुरायुगों में। उसी भारतीय संस्कृति को उसी की सन्तति के अनुग्रह से आज अपना वह सर्वथा रूपान्तर भी देखने सुनने का दुर्भाग्य उपलब्ध हो रहा है उस युग में...............?।

१६५--स्वतन्त्र--भारतराष्ट्र से अपेक्षित भारतीय-संस्कृति के पुनरुद्धार के स्थान में पूर्वापेक्षया भी भारतीय संस्कृति का अधिक पददलन, और सांस्कृतिक-भारत-राष्ट्र का महान् दुर्भाग्य—

किस युग में ?। जिस वर्त्तमान स्वतन्त्रयुग की भारतीय संस्कृति अनेक शताब्दियों से इस आशा से प्रतीक्षा करती आ रही थी कि, "जब यहाँ का राष्ट्र स्वतन्त्र हो जायगा, तो अवश्य ही यह अपनी सत्तासापेक्षा-दासता से उन्मुक्त होकर मतवाद-सम्प्रदायवाद-निरपेक्ष अपने सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र मौलिक स्वरूप से संस्कृति को व्यक्त होने का अवसर मिलेगा"। निश्चयेन महद्‌भाग्य से तीन सहस्र वर्षों की आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक, तथा शारीरिक दासता के अनन्तर भारतराष्ट्र परसत्ताओं के वारुणपाश से निकल कर स्वतन्त्र बना है, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र बना है। किन्तु इसकी संस्कृति का वह आशा-प्रतीक्षामय स्वप्न तो इस स्वतन्त्र राष्ट्र में भी सफल न हो सका। यही नहीं, इस युग में तो पूर्व के दासतायुगों की अपेक्षा भी इसे अधिकरूपेण अवमानित-तिरस्कृत-पददलित ही होना पड़ रहा है काल्पनिक सांस्कृतिक-आयोजनों के व्यामोहनों से। जिस मूलसंस्कृति के आशाप्रतीक्षामय स्वप्न की साकारता से भारतराष्ट्र अपना अतीत गौरव प्राप्त कर सकता था स्वतन्त्रता के इस भुक्त-स्वल्प काल में, उसी इस स्वल्प-स्वतन्त्रकाल में भारतराष्ट्र ने अपनी मूलसंस्कृति की उपेक्षा कर तत्स्थान में संस्कृतिविरोधी तत्त्वों का अपने व्यक्तिप्रतिष्ठात्मक व्यामोहनों से अन्धानुकरण कर भारतराष्ट्र को सांस्कृतिक दृष्टिकोण से तो पुनः कई शताब्दियों के लिए पीछे ही ढकेल दिया है आत्मबुद्धिनिष्ठा से वञ्चित गतानुगतिक भौतिक-आयोजनों की कल्पना-विभोरता से, इससे बड़ा दुर्भाग्य इस संस्कृतिका, एवं सांस्कृतिक-भारतराष्ट्र का और क्या होगा ?।

१६६-दुर्भाग्योपशम का एकमात्र उपाय 'संस्कृति' शब्द के चिरन्तनेनिवृत्त का सर्वतो-भावेन आराधन-

जैसा कि, निवेदन किया गया है-राष्ट्र किसी भूखण्ड का नाम नहीं है। अपितु चतुष्पर्वा सांस्कृतिक 'मानव' का नाम ही 'राष्ट्र' है, जिसके **आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर** नामक ये चारों मानवीय पर्व निर्विरोध सुसन्वित रहते हैं। चारों में आत्मभाव ही वह **'समब्रह्म'** है, जिसका-**'निर्दोषं हि समब्रह्म'** इत्यदि वाक्य से संङ्केत हुआ

है। समब्रह्म का एकत्वनिबन्धन साम्य ही **'सम्'** उपसर्ग से प्रतिध्वनित है। इस 'सम्' की कृति ही सुडागमत्त्वेन 'संस्कृति' है, तन्मूलक बुद्धि--मनः--शरीर--पर्व हीं सांस्कृतिक पर्व माने गए हैं। संस्कृतिरूप (समब्रह्म-आत्मब्रह्म) से वञ्चित बौद्धिक--मानसिक--शारीरिक--कोई भी व्यासङ्ग 'सांस्कृतिक' तो कदापि नहीं कहला सकता, जिस इस रहस्यपूर्ण तथ्य के लिए तो निबन्धानुगत 'संस्कृति' शब्द के चिरन्तन इतिवृत्त को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

१६७–'मानवस्वरूपबोध' से वञ्चित मानव का प्रज्ञास्खलन, एवं तन्निरोध के लिए अपेक्षित मानवस्वरूप का समन्वय––

वस्तुस्थिति तो यथार्थ में कुछ ऐसी प्रतीत हो रही है कि, जबतक भारतराष्ट्र मानव के इस संस्कृति-सिद्ध चतुष्पर्वा सांस्कृतिक-स्वरूप से अवगत नहीं हो जायगा, तबतक इसे **'स्वरूपबोध'** ही न होगा। एवं जबतक स्वरूपबोध न होगा, तबतक मानव के स्वरूप का विश्लेषण करने वाली भारतीय–निगमागमसंस्कृति, तदुपबृंहणरूपा-श्रौती-स्मार्त्ती-पौराणिकी-संस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक उस मौलिक-विशुद्ध-सर्वनिरपेक्ष स्वरूप की ओर इसका ध्यान ही नहीं जायगा, जो मौलिक संस्कृति, किंवा मौलिक संस्कृति का ज्ञानविज्ञानात्मक जो विशुद्ध मानवीयरूप सत्तासापेक्षता, एवं तदनुबन्धिनीं अन्यान्य परःशत अपेक्षाओं के कारण तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला रहा है। वही वेद है, वही **आगम** है, वही **गीता** है, वही **पुराण** है, वे ही **सूर्य्य-चन्द्रमा** हैं, वे ही **गगन-पवन** हैं, वही **माता धरित्री** है, वही **ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्मादि** अन्तःसंज्ञ-वर्ग है, और वही है चिरन्तन–चिरपुरातन–चिरनूतन **शाश्वत मानव**। फिर ऐसी वह ऐसी कौनसी त्रुटि-न्यूनता होती चली आ रही है निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से इस सांस्कृतिक–भारतराष्ट्र में, जिस के कारण सब कुछ **'वही'** रहते हुए भी यहाँ का मानव अपने **आत्मतन्त्र** से **अशान्त**, **बुद्धितन्त्र** से **विभ्रान्त**, **मनस्तन्त्र** से **क्लान्त**, एवं **शरीरतन्त्र** से **श्रान्त** ही बनता जारहा है उत्तरोत्तर ?, प्रश्न का समाधान **'वही'** माना जायगा, जिस–**'वही'** का–'स एवायम्' रूपा प्रत्यभिज्ञा से ही सम्बन्ध माना गया है।

१६८–मानव के स्वरूप-व्यवस्थापक पुरुष, और प्रकृति–विवर्त्त––

बात थोड़ी समझने जैसी है। मानव का आत्मभाव **'पुरुष'**, एवं सूर्य्य–चन्द्र-पृथिवी–मूलक बुद्धि-मन-शरीरतन्त्र मानव का **'प्रकृति'** भाव है, जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। पुरुष ही मानव का 'मानव' पर्व है, प्रकृति ही मानव की **मानव–प्रकृति** है। यों एक ही मानव पुरुष प्रकृति–भेद से **'मानव-पुरुष–मानवप्रकृति–रूपेण** दो स्वरूपों से समन्वित हो रहा है। मानवपुरुष जहाँ शाश्वत–सनातन, और **'वही'** अनाद्यनन्त है, वहाँ मानवप्रकृति सदैव परिवर्त्तनशीला है। इस परिवर्त्तन को नियन्त्रित करते हुए अग्रगामी बनने वाला मानव ही **'मानवपुरुष'** है। यही वह **'वही'** मानव है, जो प्रकृति के बदलते रहने पर भी अपने आत्मभाव से कभी नहीं बदलता।

१६९–मानवमात्र के लिए अभिन्न मानवपुरुष, एवं प्रत्येक पुरुषमानव में विभिन्ना मानव-प्रकृति––

अभिन्न है **'मानवपुरुष'** मानवमात्र में, जबकि **'मानवप्रकृति** सोपाधिक विभिन्न शरीरों में विभिन्ना हैं। अतएव **'आत्मधर्म्म'** जहाँ **मानवमात्र** का एक होगा, वहाँ **'प्रकृतिधर्म्म'** मानवमात्र के विभिन्न ही होंगे।

इन अभिन्न-भिन्नों का सह-समन्वय ही संस्कृति का वह महान् कौशल माना जायगा, जिस का-'**समदर्शनत्वे सति विषमवर्त्तनत्वम्**' सूत्र से ही स्पष्टीकरण हुआ है। '**दृष्टि सर्वत्र समान, किन्तु व्यवहार सर्वत्र पृथक् पृथक्**' का अर्थ होगा, '**आत्मस्वरूपानुगत प्रकृतिस्वरूपसंरक्षण**'। इसी सूत्र से यहाँ की संस्कृति किंवा धर्म्म सनातनसंस्कृति, **सनातनधर्म्म** नाम से उद्घोषित है। यही इसका '**वही**' भाव है, जो आत्म-विस्मृति से, साथ ही विभिन्ना भी प्रकृति की काल्पनिक अभिन्नता के व्यामोहन से सर्वथैव अन्तर्मुख बन गया है।

१७०-मानवीय अभिन्न पुरुषभाव, एवं विविन्न प्रकृतिभाव के विवेक से पराङ्मुख प्रकृतिविमूढ मानव इतो भ्रष्टः, ततोऽपि भ्रष्टः---

बुद्धिवादी मानवने आत्मब्रह्म के स्थान में जिस दिन से कल्पित बौद्धवाद, किंवा बुद्धिवादरूप शून्य-वाद को प्रतिष्ठित कर दिया, उस दिन से '**वह**' रूप आत्मब्रह्म मानवस्वरूप से अन्तर्हित होगया, और रह गया यह केवल प्रकृतिरूप, प्रकृतिभावानुगत-प्राकृतमानव। उत्तरोत्तर मानव इस प्राकृतिक व्यामोहन में ज्यों ज्यों अधिकाधिक आसक्त-व्यासक्त होता होगया, दूसरे शब्दों में यह अपनी, परिवार की, समाज की, राष्ट्र की, किंवा विश्व की समस्याओं का निराकरण प्रकृति के माध्यम से ही करने का प्रयास करता गया, निष्कर्षतः जबसे इसने 'आत्मपुरुष' को विस्मृत कर प्रकृति से ही प्रकृति को तुष्ट-तृप्त-शान्त करने का प्रयास आरम्भ कर दिया, तभी से उत्तरोत्तर रुष्टा-संक्षुब्धा प्रकृति इसके आत्मस्वरूप का नियन्त्रण ही करती गई। परिणामस्व-रूप अन्ततोगत्वा न यह '**वही**' (पुरुष) ही रहा, न '**यही**' (प्रकृति) ही रहा। '**वही**' आत्मपुरुष, और '**यही**' प्रकृति'। किन्तु '**वही**' की विस्मृति से न वह '**वह**' रहा, न यह-'यह' रही। यही भारतराष्ट्र के प्राकृत व्यामोहन का दुःखपूर्ण वह इतिवृत्त है, जिस आत्मशून्य इस प्राकृतिक इतिवृत्त नें ही सबकुछ 'वही' रहते हुए भी इस भारतीय मानव को आज '**इतो भ्रष्टः (प्रकृतिस्वरूपतो भ्रष्टः')**, एवं '**ततोऽपि भ्रष्टः (पुरुषस्व-रूपतोऽपि भ्रष्टः') ही** प्रमाणित कर रक्खा है।

१७१-नवग्रहग्राहों से मानव का पारम्परिक विमोहन, एवं आत्मबुद्धिविमूढ नितान्त भावुक भारतीय हिन्दू-मानव का आतायीवर्ग के द्वारा सर्वस्वापहरण—

विगत कालावधि में जो भी **सत्ताधीश, विद्वान्, सम्प्रदायाचार्य्य, मतवादप्रवर्त्तक, दार्शनिक**, धार्म्मिक, **भक्त, सुधारक, राजनैतिक**-इस राष्ट्रमानव के उद्बोधन के लिए पधारते रहे, सबनें इसकी आत्मपौरुषनिष्ठा को तो उत्तरोत्तर किया अभिभूत, एवं इस की भावुकता को उत्तरोत्तर किया समुत्तेजित। और यों सबने इस की भावुकता से लाभ ही उठाया, जबकि इस भावुकता को ही यह भावुकतावश **त्याग-तपस्या-बलिदान-सत्य-अहिंसा-मानवता-समानता**-मानता रहा। मानता नहीं रहा, अपितु उन उद्बोधक-महाग्रहग्राहों नें ही इसकी भावुकतापूर्णा-निष्ठाशून्या-पिब्दमाना काल्वाजीकृता-प्रज्ञा में दृढ़संस्काररूप से त्याग-तपस्यादि शब्दों को खचित कर दिया, जिन शब्दों के व्याज से ही उद्बोधक ग्रहग्राह अपना स्वार्थसाधन कर सकते थे। इसे पाठ पढ़ा दिया परमार्थ का, एवं स्वयं करते रहे वे स्वार्थसाधन। और यों यह भावुक भारतीय मानव, विशेषतः आस्तिक भारतीय मानव, तत्रापि भारतीय **आस्तिक हिन्दू मानव** इन नवग्रहग्राहों से ग्रहग्रस्त ही बना रहता हुआ अपनी पर-दर्शनमूला इसी सर्वविनाशिका भावुकता के कारण अपना **आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक-शारीरिक**-सभी ऐश्व-र्य्य लुटाता रहा, और लुटेरे लूटते रहे इसे **त्यागी-तपस्वी-दानी-परमार्थी** कहते हुए। और यह भावुक इन

काल्पनिक–उपाधि--सम्मानों से ही आगे जाकर तो इस सीमापर्य्यन्त नितान्त ही भावुक बन गया, जिसने इसको 'प्राजापत्य दाम्पत्य' से पृथक् कर उस कल्पित **वयस्क–संख्यास** पर ही ला छोड़ा, जिसमें उपलब्धा शून्यता ने ही इसका संवरण कर लिया सर्वात्मना अन्ततोत्त्वा, जिस इस 'भावुकता' के जघन्य-इतिवृत्त के नग्नस्वरूप-विस्फोटन के लिए ही हमें त्रिसहस्रपृष्ठात्मक-खण्डचतुष्टयानुगत-**'भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता'** निबन्ध प्रस्तुत कर देना पड़ा है राष्ट्रदेवता के पावन चरणों में* ।

१७२ निबन्ध के नामकरण के सम्बन्ध में—

आत्मपुरुष ही **'अव्ययब्रह्म'** है, यही **'समब्रह्म'** है, तन्मूला आत्म–बुद्धि–मनः-शरीर-संस्कृति ही 'संस्कृति' शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त है, जिस इत्थंभूत चिरन्तन इतिवृत्त के समन्वय के लिए राष्ट्रीय मानव को तीन सहस्र वर्षों की यच्चयावत् अपेक्षाओं, सापेक्षाताओं, लोकव्यामोहनों, पदप्रतिष्ठात्मक व्यामोहनों, व्यक्तित्वविमोहनों, परदर्शनमूला भावुकताओं, वित्तैषणाओं, सर्वोपरि लोकैषणाओं, वैय्यक्तिक स्वार्थसाधक भावुकतासंरक्षणपथों, आदि आदि समस्त प्राकृतिक अनुबन्धों से निरपेक्ष ही बनना पड़ेगा। तभी संस्कृति के मौलिक चिरन्तन इतिवृत्त का स्वरूपबोध प्राप्त हो सकेगा। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत निबन्ध के दो पृथक्-पृथक्–प्रकरणों में से प्रथम प्रकरण का **'सत्तानिरपेक्ष–संस्कृति–शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त'** यही नाम अनुरूप मान लिया गया है, जिसमें संस्कृति, एवं तदनुगता **'सभ्यता'** शब्दों के ही विविध स्वरूप व्यक्त करने की चेष्टा हुई है।

१७३–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र आज के भारत में सांस्कृतिक-आयोजनों का प्रचण्ड प्रवाह, एवं भारतीय सांस्कृतिक–पतन की झलकियाँ, इति 'कालाय तस्मै नमः'—

दूसरे प्रकरण में-**"'सांस्कृतिक–आयोजन' की रूपरेखा'** अभिव्यक्त हुई है, जिसके सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतराष्ट्र में आज सांस्कृतिक–आयोजनों की बाढ़ सी आई हुई है। भारतराष्ट्र की **राजधानी देहली** तो आज इन आयोजनों की केन्द्रस्थली ही प्रमाणित हो रही है समागत सम्मान्य अतिथियों के स्वागत समारोह में अनुदिन प्रक्रान्त रहने वाले **सांस्कृतिक–आयोजनों** से। **'भावुकतासंरक्षण'** की अन्तिम सीमाविन्दु से हमनें बड़े धैर्य्य से इन आयोजनों की **'सांस्कृतिकता'** के समन्वय की चेष्टा की। किन्तु प्रयास करने पर भी हमारी वेदाभ्यासजड़मति इन लोकायोजनों में भारतीय-संस्कृति की तो प्रतिच्छाया भी उपलब्ध न कर सकी। अपितु ठीक इसके विपरीत **राजधानी** में, तथा तत्कृपावशवर्त्ती प्रान्तसत्तातन्त्रीय नगरों में, एवं तदनुपात से गतानुगतिकन्याय से ही नगरे नगरे ग्रामे ग्रामे गृहे गृहे सवत्रैव समायोजित होए ड़नें वाले इन आयोजनों में भारतीय संस्कृति का तो उपहास ही उपलब्ध हुआ कर्णाकर्णिपरम्परया इनके वृत्तश्रवणानुग्रह से। इन आयोजनों में, आज की उल्लासपूर्णभाषा में **'सांस्कृतिक–झल्कियों'** में भारतीय–राष्ट्रमानव की आत्मबुद्धिप्रतिष्ठा से वञ्चित उस मानसिक विनोद की ही हमें **'झलकी'** प्रतीत हुई, जिसकी झलक के गर्भ में हीं मानो सांस्कृतिक–राष्ट्रचेतना–राष्ट्रजागरण धू धू करके जल रहा है। क्या यही स्वरूप है भारतीय संस्कृति का ?, जिसका कभी तो **'कत्थककली डाँस'** से प्रदर्शन हो रहा है, तो कभी **'रैबारियों के ऊँट'** प्रदर्शित किए जा रहे हैं, तो कभी **'तेरहताली नाच'** का आयोजन हो रहा है, तो कभी **'मणिपुर-नृत्य'** से मन

*-चार खण्डों में से अभी ६०० पृष्ठात्मक प्रथमखण्ड की प्रकाशित हो पाया है।

आकर्षित किया जा रहा है, तो कभी ढोल-ढमाकों-झञ्झा-ताल-मृदङ्गों की ध्वनि के आह्लाद से संस्कृति के शवशरीर का विमर्द्दन किया जा रहा है, और सर्वोपरि राष्ट्र के सभी प्रज्ञाशील, बड़े बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक, शिक्षक, विद्यार्थी, आबालवृद्ध–नरनारी–सभी मानो इन्हीं सांस्कृतिक–आयोजनों को स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के एकमात्र **'स्वतन्त्र-प्रतीक'** मानने–मनवाने के लिए आतुर हो रहे हैं। कालाय तस्मै नमः।

१७४–धर्म्म-संस्कृति-आदर्श-आदि नामच्छलों के व्याज से प्रक्रान्त भारतीय साम्प्रदायिक-आचारों की असांस्कृतिकता, एवं तद्द्वारा राष्ट्र के सांस्कृतिक स्वरूप का विमोहन--

क्या भारतीय सस्कृति नृत्य–गीत–वाद्य–समन्वित सङ्गीत का विरोध करती है ?, कदापि नहीं। सर्वत्र आत्मब्रह्मरूप सत्ताब्रह्म का, उसके अस्तित्त्व का उपासक सांस्कृतिक–क्षेत्र किसी भी प्राकृतिक आयोजन का विरोध करे, यह सम्भव ही नहीं है। प्रश्न है केवल 'संस्कृति' शब्दार्थ का, जिसके बिना सभी आयोजन स्वतः ही असांस्कृतिक बन जाया करते हैं। और इसी दृष्टि से आत्मब्रह्ममूला देवसंस्कृति से पराङ्मुख सभी आयोजन 'संस्कृति' की परिभाषा से असांस्कृतिक ही प्रमाणित हो जाते हैं। सहजभाषा में–आत्मबुद्धिसम्मत धर्म्म से पृथग्भूत, किंवा निरपेक्ष किसी भी आयोजन को, आचार को सांस्कृतिक नहीं कहा जा सकता, फिर भले ही वह आयोजन, किंवा आचार शास्त्रीय ही क्यों न हो। इसीलिए तो संस्कृति–धर्म्म–आदर्श–आदि आदि के नाममाध्यम से प्रक्रात रहने वाले वे समस्त भारतीय–आचार–आयोजन भी तो तीन सहस्र वर्षों से असांस्कृतिक ही प्रमाणित होते हुए, मूलसंस्कृति से सर्वथैव विपरीत दिशा का अनुगमन करते हुए धर्म्म के स्थान में अधर्म्म का, किंवा धर्म्मव्याज से अधर्म्म का, बाह्याचार–प्रतीक–माध्यम से अपने अनाचारों का ही पोषण करते आ रहे हैं। इसीलिए तो परःशत–सहस्र धार्म्मिक ग्रन्थों, धार्मिक पीठों–मठों–आचार्य्यों–धर्म्म-सभाओं-महामहोपदेशकों-शास्त्रार्थमहारथियों के विद्यमान रहते हुए भी भारतीय संस्कृति-धर्म्म-आदर्श-उत्तरोत्तर उपहासास्पद ही बनते आ रहे हैं, जिस इस नग्नसत्य को भावुकता–संरक्षण के माध्यम से अब और अधिक प्रोत्साहन प्रदान करना भारतराष्ट्र को सर्वथा सभी दिशाओं से निष्प्राण ही बना देना है। इन अकाण्डताण्डवों का एकमात्र कारण वह व्यक्तित्त्वविमोहन ही है, जिसने प्रायः सभी को स्वस्वरूपदर्शन से वञ्चित कर दिया है।

१७५–संस्कृति–सभ्यता–आदर्श–धर्म्म–मानवता–आदि सांस्कृतिक विभूतियों के नामच्छलों से स्वार्थियों के आपणव्यवसाय, एवं तद्द्वारा भारतराष्ट्र का आत्यन्तिक–पतन —

सभी वर्ग–चाहे वह धार्म्मिक हो, सामाजिक हो, सुधारक हो, अथवा तो राजनैतिक, अपने अपने व्यक्तिपदप्रतिष्ठा के अनुरूप पहिले अपनी मान्यताएँ निश्चित कर लेते हैं, अनन्तर इन कल्पित मान्यताओं के रङ्ग से रञ्जितमना बन कर ही ये वर्ग संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आदर्श–आदि की व्याख्याओं में प्रवृत्त होते हैं–स्व स्व मान्यताओं के समर्थनमात्र के लिए शब्दानुकरणमाध्यम से जोड़ तोड़ बैठाते हुए ही। इसप्रकार संस्कृति, एवं धर्म्म भी उसीप्रकार आपणव्यवसाय ही बन गए हैं, जैसे कि एक आपणव्यवसायी (दुकानदार) अपनी गलित-स्वलित वस्तु को भी वर्णनातिशय से महत्त्व प्रदान कर इससे अर्थलाभ में सफलता प्राप्त कर लेता है। यों सर्वत्र **'कारणता'**–**'उपयोगिता'** की प्रधानता प्रदान करते रहने वाले इत्थंभूत वर्गों के निग्रहात्मक

मान्यतानुग्रहों से ही 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षड़ङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' जैसा महत्त्वपूर्ण उद्बोधनसूत्र अपनी निष्कारणता से पराङ्मुख बनता हुआ अभ्युदय-निःश्रेयस् के स्थान में आज प्रत्यवायजनित सर्वनाश का ही कारण प्रमाणित हो गया है।

आज संस्कृति के लिए संस्कृति का स्वाध्याय अवरुद्ध है, धर्म्म के लिए धर्म्म का आचरण अभिभूत है। अपितु संस्कृति-धर्म्म के नामच्छल-माध्यम से हम अपना वैय्यक्तिक स्वार्थ, लोकैषणा कैसे, किस सीमापर्य्यन्त सार्थक कर सकते हैं, यही एक मात्र चिन्ता है, जिस इस दुश्चिन्ता से चिन्तित इन कारणतावादियों नें सांस्कृतिक–सन्देश–आदर्श–साहित्य–आदि को भी अपने व्यवसाय का ही माध्यम बना रक्खा है कई शताब्दियों से। और इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण कर देने में भी हमें कोई संकोच नहीं हो रहा कि–संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आदर्श–सत्य–अहिंसा–आदि आदि आकर्षक नामों के माध्यम से जैसा छल हमनें किया है, वैसा विश्व में अन्य किसी ने भी अपनी मान्यताओं के साथ आज तक नहीं किया होगा। न मानना एक पक्ष है, मानने का दम्भ कर छल करना अन्य अक्ष है। एवं दोनों में न मानना ही अधिक उत्तम पक्ष है मानने का नाम लेकर उससे छल करने के समतुलन में। वैसा ही कुछ घटित–विघटित हो रहा है भारतीय संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आदि के साथ विगत अनेक शताब्दियों से।

१७६–स्वार्थलिप्सागर्भिता कल्पित 'मानवता' के छलमाध्यम से 'विश्वबन्धुत्त्व' नामक महान् छल का आविर्भाव, एवं तद्व्यामोहनानुग्रह से भारतराष्ट्र के मौलिक-स्वरूप का आत्यन्तिक अभिभव—

इसी छलप्रपञ्च ने उस काल्पनिक 'विश्वबन्धुत्त्व' जैसे आकर्षण को जन्म दे डाला है, जिस के विशाल प्राङ्गण में सभी प्रकार के छल-प्रपञ्च सुगमता से सम्पन्न होजाया करते हैं। **'मानवमात्र एक हैं, अतएव सब की मान्यताएँ हीं हमारी मान्यताएँ हैं'** इस उद्घोष के गर्भ में मानव के व्यक्तिमूलक जघन्य स्वार्थ ही उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित होते जारहे हैं **'प्रकृतिसाम्य'** जैसी असम्भव–कल्पना के माध्यम से। **'सब एक ही संस्कृति की विभिन्न शाखा–प्रशाखाएँ हैं'** जैसे विश्वबन्धुत्त्वमूलक भावुकतापूर्ण सूत्र के माध्यम से हम सभी क्षेत्रों से अपने आप को पराङ्मुख ही करते जारहे हैं। राजस्थानप्रान्त में एक लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि—**'जण जण को मन राखताँ स, कोई बेसाँ रहगी बाँझ'**। **कोई हमसे अप्रसन्न न रहे, सब हमें उदार कहें, भला कहें, अच्छा कहें,** इस परदर्शकता ने ही हमारे राष्ट्र की सांस्कृतिक–निष्ठा को उस सीमापर्य्यन्त अभिभूत कर दिया है कि, आज हमारे राष्ट्रीयकोष में–**'हमारा अपना स्वरूप'** जैसी कोई भी तो निधि प्रत्यक्ष में तो शेष नहीं रह गई है।

१७७–लोकमान्यतानुगत, नितान्त भावुकतापूर्ण 'अच्छा', और 'बुरा' शब्द, एवं इन भावुकतापूर्ण शब्दों से भावुक–भारतीय--मानव की प्रवञ्चना—

'अच्छा' लगना एक पक्ष है, **'वास्तविक हित'**अन्य पक्ष है। किसी के 'अच्छा' कहने से हम अच्छे नहीं बन जाते, तो किसी के 'बुरा' कहने से हम बुरे नहीं बन जाते। हमें स्वयं अपनी मूलनिष्ठा के आधार पर ही, **'पुण्य–पाप'** के समतुलन से ही लक्ष्यनिर्द्धारण करना पड़ेगा किसी के भी अच्छे–बुरे–प्रमाणपत्र–निन्दापत्र की कोई भी अपेक्षा न रखते हुए। हमारी संस्कृति स्वयं अपने आप में सर्वाङ्गीणा है, जिसे किसी के भी प्रमाण-

पत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। जिन की मान्यता, जिन का व्यक्तित्त्व परप्रमाणों की कृपा पर ही अवलम्बित है, वे पुण्य-पाप के स्थान में 'अच्छा-बुरा' के माध्यम से भले ही अपनी मूलनिष्ठाओं का विसर्जन करते रहें, कोई हानि नहीं है इससे मूलसंस्कृति की। हानि उन्हीं की है, जो इसके नाम से अपने आपकी प्रतारणा करते हुए भावुक-जनों को भी प्रतारित करते हुए पूर्वोक्त-'**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**' सूक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करते जारहे हैं अपने व्यक्तित्त्वविमोहन से।

१७८-संस्कृति के लिए संस्कृति, एवं धर्म्म के लिए धर्म्म-लक्षणा संस्कृति-धर्म्म-निष्ठा से ही भारतराष्ट्र का सम्भावित अभ्युदय-निःश्रेयस्—

भारतीय आस्तिक मानव को तो अविलम्ब अपनी मूलसंस्कृति के सर्वनिरपेक्ष उस तथ्य की शरण में आ ही जाना चाहिए, जिस की अभया-वरदा-छत्रच्छाया में किसी भी प्रकार के व्यक्तित्त्वविमोहन का प्रवेश सम्भव ही नहीं है। **संस्कृति के लिए संस्कृति, धर्म्म के लिए धर्म्म** ही इस की मूलनिष्ठा बन जानी चाहिए, फिर इस निष्ठा से कोई प्रसन्न हो, अथवा तो अप्रसन्न। इसी उद्बोधन-माध्यम से, भारतीय-राष्ट्र-मानव को सत्तानिरपेक्षा संस्कृति के चिरन्तन इतिवृत्त के माध्यम से अपने उन **सांस्कृतिक--आयोजनों** को ही उपास्य बना लेना है, जिन के बिना भारतराष्ट्र आज सर्वथा ही दिग्भ्रान्त बन गया है अपने संस्कृतिशून्य कल्पित-आयोजन-प्रदर्शनों के विजृम्भणों के द्वारा।

१७९-मानवसंस्कृति के सांस्कृतिक विभिन्न नाम—

भारतीय सांस्कृतिक 'मानव' ही 'भारतराष्ट्र' है, जिस पुरुष-प्रकृतिरूप राष्ट्रमानव, किंवा मानवराष्ट्र के प्राङ्गण में आत्म-देव-संस्कृतिमूला एक ही संस्कृति मानवीय चार पर्वों के अनुबन्ध से क्रमशः **आत्मसंस्कृति, बुद्धिसंस्कृति, मनःसंस्कृति, शरीरसंस्कृति,** इन नामों से प्रसिद्ध है, जो चारों हीं आत्ममूला बनतीं हुईं परस्पर निर्विरोध समन्वित हैं, एवं इसी संस्कृतिचतुष्टयी से समन्विता संस्कृति का नाम **है-**आत्मनिष्ठ भारतीय परिपूर्ण मानव की '**मानवसंस्कृति**'। आत्मपुरुष, एवं आत्मप्रकृति के भेद से इसी मानवसंस्कृति के आगे चल कर दो महिमाविवर्त्त हो जाते हैं, जो इन्हीं नामों से व्यवहृत होंगे। **आत्मपुरुषसंस्कृति, आत्मप्रकृति-संस्कृति,** इन दोनों के शास्त्रीय नाम हैं-**पुरुषार्थ,** और **क्रत्वर्थ** (प्रकृत्यर्थ)। जिन सांस्कृतिक भावों से मानव का आत्मपुरुष अनुप्राणित है, उसे '**पुरुषार्थसंस्कृति**' कहा जायगा, एवं जिन सांस्कृतिक भावों से मानवकी आत्मप्रकृति अनुप्राणित है, उन्हें क्रत्वर्थसंस्कृतिलक्षणा '**प्रकृत्यर्थसंस्कृति**' माना जायगा, और इन दोनों महिमाविवर्त्तों के सम्बन्ध में भी कुछ जान लेना आवश्यक होगा।

१८०-पुरुषार्थसंस्कृति के सुप्रसिद्ध महिमाविवर्त्त—

आत्मपुरुषानुगता पुरुषार्थसंस्कृति का ही नाम है '**सांस्कृतिक-आचार**', जिस का एक वाक्य में अर्थ है-"**सोलह प्रकार के स्मार्त्त संस्कारों, तथा ३२ प्रकारके श्रौतसंस्कारों से (इन ४८ संस्कारों से) समन्वित "द्विजातिमानव की निगमानुगता शास्त्रीय संस्कृति**" यही **मोक्षसंस्कृति, धर्म्मसंस्कृति, कामसंस्कृति, अर्थसंस्कृति**-नाम से व्यवहृत हुई है, जिन इन चारों संस्कृतियों को आस्तिकप्रजा '**चतुर्विध पुरुषार्थ**' नाम से सुनती आरही है। धर्म्मार्थकाममोक्ष, किंवा मानवीय चारों पर्वों के क्रमानुपात से **आत्मानुगत मोक्ष, बुद्ध्यनुगत धर्म्म, मनोऽनुगत काम, शरीरानुगत अर्थ,** नामक चारों सुप्रसिद्ध पुरुषार्थ ही पुरुषार्थसंस्कृति, किंवा पुरुषसंस्कृति है। इनमें मानव के आत्मा, और बुद्धि नामक दो पर्व तो प्रधान बने रहते हैं, एवं मन तथा शरीरपर्व गौण बने रहते हैं। और यही है भारतीय '**सांस्कृतिक--आचार**'।

१८१–प्रकृत्यर्थसंस्कृति के आयोजनात्मक-महिमाविवर्त्त----

दूसरी प्रकृत्यर्थसंस्कृति है। प्रकृत्या ही प्रकृतिप्रधान स्त्री–बालवृन्द–आदि मनःशरीरप्रधान लोक–सामान्य जन तथोपवर्णित सांस्कृतिक-आचार की उत्तरदायित्वपूर्णा-प्रचण्डसंघर्षानुगता अध्यवसायनिष्ठा में क्योंकि असमर्थ हैं। अतएव इन के पारम्परिक अभ्युदय–निःश्रेयस् के लिए जो बाह्याचारप्रधान–मानसिकभावुकता–सरक्षक लोकाचार व्यवस्थित हुए हैं, उसी लोकाचारसमष्टि का नाम है–'**प्रकृत्यर्थ–संस्कृति**', जिस में आत्मबुद्धिविवर्त्त गौण बने रहते हैं, एवं मनःशरीरपर्व प्रधान बने रहते हैं। पुरुषार्थसंस्कृतिवत् यह प्रकृत्यर्थ–संस्कृति भी चार ही भागों में विभक्त है, जिन चारों संस्कृतियों की समष्टि का ही नाम है–'**सांकृतिक–आयोजन**'।

१८२–सांस्कृतिक–आचार, तथा 'सांस्कृतिक-आयोजनों' से सुसंस्कृत मानव की -'सांस्कृतिक मानवता', एवं निरपेक्षा 'संस्कृति' का उपासक मानवश्रेष्ठ—

सांस्कृतिक–आचार, एवं **सांस्कृतिक आयोजन**, दोनों के समन्वितरूप का ही नाम है सुसंस्कृत–सांस्कृतिक मानव, ऐसे मानवों की समष्टिरूप राष्ट्र का ही नाम है-'**भारतराष्ट्र**', जो इन उभयविध वैदिक-लौकिक संस्कृतियों से पराङ्मुख बन कर अग्निदेव भारत के नाम से समन्वित 'भारतराष्ट्र' तो कदापि नहीं कहला सकता। चतुर्विध पुरुषार्थ, एवं चतुर्विध प्रकृत्यर्थ, दोनों में से चतुर्विध प्रकृत्यर्थ ही, तद्रूप सांस्कृतिक-आयोजन ही प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य विषय है। दोनों को लक्ष्यारूढ बना कर ही नैबन्धिक विषयों पर दृष्टिनिक्षेप का अनुग्रह करना चाहिए निरपेक्षा संस्कृति के उपासक सांस्कृतिक–मानवश्रेष्ठों को।

१८३–सुसंकृस्त मानव के व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–रूप चार महिमाविवर्त्त, एवं तालिकारूपेण उनका समन्वय----

सांस्कृतिक मानव चतुष्पर्वा है, तो इसके सभी महिमात्मक विवर्त्त चतुष्पर्वा ही होने चाहिएँ। इसी आधार पर महर्षि **शाङ्खायन** ने '**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**' यह अनुगम सिद्धान्त स्थापित किया है, जिसका प्रकृत में मानवानुबन्धी चारों पर्वों के माध्यम से ही समन्वय अपेक्षित है। **आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर**–समन्वयात्मक चतुष्पर्वा मानव आकाशमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति का अर्द्धाण्डकटाहात्मक अर्द्धवृगल (विदल) रूप ही माना गया है, जिसका कि अर्द्धाकाश मानवी से परिपूर्ण बनता है, जैसाकि पाठक सांस्कृतिक–आयोजन–प्रकरणों में देखेंगे। यही दाम्पत्यभाव व्यक्तिमानव को '**परिवारमानव**' स्वरूप में परिणत कर देता है। परिवार-मानवता ही आगे चलकर इसे–'**समाजमानव**' बना देती है। एवं यह समाजमानवता ही इसे '**राष्ट्रमानव**' अभिधा में परिणत कर देती है, जिस इस चतुर्द्धा विभक्ता महिमा से (विकास से नहीं) एक ही मानव **व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र**–इन चार महिमाभावों में परिणत हो जाता है, जो चारों हीं महिमाविवर्त्त स्वतन्त्र–स्वतन्त्र इकाई (व्यक्तित्व) ही माने गए हैं। अतएव चारों हीं विवर्त्तों में आत्मादि चारों मानवीय पर्व समानरूपेण समन्वित होरहे हैं, जिनके इतिहास का नाम ही 'संस्कृति' शब्द का वह चिरन्तनेतिवृत्त है, जिसका निबन्ध के एतन्नामक ही प्रथम प्रकरण में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। प्रस्तावनात्मक इस आवेदन में केवल तालिकामात्र ही उद्धृत कर दी जाती है उन चतुष्पर्वा चारों मानवविवर्त्तों की, जिनके आधार पर ही निबन्ध के दूसरे प्रकरण में–'**सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा**' का संस्पर्शमात्र हुआ है।

चतुष्टयं वा इदं सर्वम्	चतुष्टयं वा इदं सर्वम्	चतुष्टयं वा इदं सर्वम्	चतुष्टयं वा इदं सर्वम्	
व्यक्तिमानवः (१)	स एव परिवारमानवः (२)	स एव समाजमानवः (३)	स एव राष्ट्रमानवः (४)	
१—आत्मा	१—कुलवृद्धः–(आत्मा)	१—ब्राह्मणः–(आत्मा)	१—नीतितन्त्रम्–(आत्मा)	—एकमिति विद्यात्
२—बुद्धिः	२—समर्थयुवा–(बुद्धिः)	२—क्षत्रियः (बुद्धिः)	२—राजतन्त्रम्–(बुद्धिः)	—एकमिति विद्यात्
३—मनः	३—नारीवर्गः–(मनः)	३—वैश्यः–(मनः)	३—गणतन्त्रम्–(मनः)	—एकमिति विद्यात्
४—शरीरम्	४—बालवर्गः–(शरीरम्)	४—शूद्रः–(शरीरम्)	४—प्रजातन्त्रम्–(शरीरम्)	—एकमिति विद्यात्
चतुष्पर्वा मानवो व्यक्तिः	चतुष्पर्वा मानवः परिवारः	चतुष्पर्वा मानवः समाजः	चतुष्पर्वा मानवः राष्ट्रम्	
चतुष्टयं वा इदं सर्वम्				

"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्"
—ऋक्संहिता

प्रकारान्तरेणेदमप्यवधेयम्—

१—य एव आत्मा,	स एव कुलवृद्धः,	स एव ब्राह्मणः,	तदेव नीतितन्त्रम्
२—यैव बुद्धिः,	स एव युवापुरुषः,	स एव क्षत्रियः,	तदेव राजतन्त्रम्
३—यदेव मनः,	सैव नारी	स एव वैश्यः,	तदेव गणतन्त्रम्
४—यदेव शरीरं,	स एव बालकः,	स एव शूद्रः,	तदेव प्रजातन्त्रम्

१८४-भारतीय 'सांस्कृतिक-आयोजनों' का संक्षिप्त इतिवृत्त—

मानवीय आत्मा, पारिवारिक वृद्ध, सामाजिक ब्राह्मण, और राष्ट्रीय नीतितन्त्र से अनुप्राणित आयोजन ही प्रथमायोजन है। मानवीया बुद्धि, पारिवारिक युवापुत्र, सामाजिक क्षत्रिय, और राष्ट्रीय राजतन्त्र से अनुप्राणित आयोजन ही द्वितीयायोजन है। मानवीय मन, पारिवारिक नारीवर्ग, सामाजिक वैश्य, और राष्ट्रीयगणतन्त्र से अनुप्राणित आयोजन ही तृतीयायोजन है। एवं माननीय शरीर, पारिवारिक बालवर्ग, सामाजिक शूद्र, तथा राष्ट्रीय प्रजातन्त्र, इन चारों से अनुप्राणित आयोजन ही चतुर्था-योजन है, एवं यही चतुर्विध-प्रकृत्यर्थरूप-प्रकृतिसंस्कृतिरूप प्राकृत-सांस्कृतिक-आयोजनों का संक्षिप्त, किन्तु सम्पूर्ण इतिवृत्त है।

१८५—भारतीय मानव के राष्ट्रीय--सामाजिक--पारिवारिक, एवं वैयक्तिक--चतुर्विध सांस्कृतिक-आयोजनों की संक्षिप्ता परिभाषा—

आत्मा-कुलवृद्ध-ब्राह्मण, तथा नीतितन्त्र-प्रधान सांस्कृतिक आयोजन ही **'राष्ट्रीय-सांस्कृतिक आयोजनों'** की स्वरूपव्याख्या है। बुद्धि-युवापुत्र-क्षत्रिय, तथा राजतन्त्र-प्रधान आयोजन ही **'सामाजिक-सांस्कृतिक-आयोजनों'** की स्वरूप-व्याख्या है। मन-नारी-वैश्य, तथा गणतन्त्र-प्रधान आयोजन ही **'पारिवारिक-सांस्कृतिक-आयोजनों'** की स्वरूप-व्याख्या है। एवं शरीर-बालवृन्द-शूद्र, तथा प्रजातन्त्र-प्रधान आयोजन ही **'वैय्यक्तिक-सांस्कृतिक-आयोजनों'** की रूपरेखा है। चारों हीं आयोजन चतुष्पर्वात्मक बने हुए हैं। अतएव चारों ही आयोजनों में गौण-प्रधान-रूपेण आत्मादि चारों हीं पर्वों का स्वरूपसंरक्षण-समाविष्ट है, जब कि चारों क्रमशः प्रधानरूपेण हैं आत्मा-बुद्धि आदि प्रधान ही, जिस प्रधानता का तात्पर्य्य यही है कि राष्ट्रीय आयोजनों में **'आत्मपर्व'** प्रधान हैं, सामाजिक आयोजनों में **'बुद्धिपर्व'** प्रधान है, पारिवारिक

आयोजनों में '**मनःपर्व**' प्रधान है, एवं वैयक्तिक. आयोजनों में 'शारीरपर्व' प्रधान है। ब्राह्मण–क्षत्रिय आदि चारों वर्णमानवों में (सामाजिक मानवों में) यद्यपि आत्मा–बुद्धयादि चारों ही पर्व–गौण प्रधानरूपेण समाविष्ट हैं। तथापि चारों में चारों पर्व क्रमानुपात से गौण–प्रधान बने हुए हैं, जिसका अर्थ है–ब्राह्मणमानव आत्मपर्वप्रधान है, क्षत्रियमानव बुद्धिपर्वप्रधान है, वैश्यमानव मनःपर्वप्रधान है, एवं शूद्रमानव शरीरपर्वप्रधान है, जिस इस स्थिति का लोकभाषा में निम्नलिखितरूप से अभिनय किया जा सकता है कि—

जो मानव अपने शारीरिक व्यामोहन के अतिरिक्त परिवार–समाज–राष्ट्र आदि की कोई चिन्ता नहीं करता, वैसा व्यक्तिवादी मानव ही '**शूद्रमानव**' है। जो मानव अपने साथ साथ अधिक से अधिक अपने परिवार में भी आसक्त–व्यासक्त बना रहता है, अतएव अपने इस मानसिक आसञ्जन से जो समाज, तथा राष्ट्र के हितों की कल्पना भी नहीं कर सकता, वही '**वैश्यमानव**' है। जो मानव अपने परिवार की चिन्ता के साथ साथ अपने प्रान्तीय समाज की चिन्ता का भी पथिक बना रहता है बुद्धिभावमाध्यम से, किन्तु राष्ट्रहित जिसकी दृष्टि में गौण ही बना रहता है, वही '**क्षत्रियमानव**' है। एवं जो मानव स्व परिवार–समाज के उत्तरदायित्व को सुरक्षित रखता हुआ सम्पूर्ण राष्ट्र की चिन्ता करता हुआ विश्वबन्धुत्त्व के प्रति आत्मसमर्पण किए रहता है सभी प्राकृतिक व्यामोहनों–लोकैषणाओं से अपने आपको असंस्पृष्ट रखता हुआ आत्मनिष्ठा-नुग्रह से, वही '**ब्राह्मणमानव**' है।

इसी दृष्टि से आत्म–प्रधान राष्ट्रीय आयोजनों को **ब्राह्मणायोजन**, बुद्धिप्रधान सामाजिक आयोजनों को **क्षत्रियायोजन**, मनःप्रधान पारिवारिक आयोजनों को **वैश्यायोजन**, एवं शरीरप्रधान वैय्यक्तिक आयोजनों को शूद्रायोजन के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। एवं चारों हीं आयोजन प्रकृतिसंस्कृतिमूलक बने रहते हुए आत्मसंस्कृति के द्वारा परस्पर निर्विरोध समन्वित रहते हुए सर्वाङ्गीण '**सांस्कृतिक–आयोजन**' हीं प्रमाणित हो रहे हैं।

१८६–राष्ट्रीय–पर्व सामाजिक–उत्सव, पारिवारिक–सम्मेलन, एवं वैय्यक्तिक–समारोह, नामक चतुर्विध सांस्कृतिक–आयोजनों का नामस्मरण–पमन्वय—

ब्राह्मणानुगत राष्ट्रीय आयोजन हीं–'**पर्व**' नाम से, क्षत्रियानुगत सामाजिक आयोजन हीं '**उत्सव**' नाम से, वैश्यानुगत पारिवारिक–आयोजन हीं–'**सम्मेलन**' नाम से, तथा शूद्रानुगत वैय्यक्तिक आयोजन हीं–'**समारोह**' नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र को लक्ष्य बनाकर सम्पूर्ण राष्ट्र के द्वारा समायोजित आयोजन हीं '**पर्व**' नामक राष्ट्रीय–आयोजन हैं। तत्तत्समाजविशेषों को लक्ष्य बना कर समाजविशेषों के द्वारा आयोजित आयोजन हीं–'**उत्सव**' नामक सामाजिक आयोजन हैं। तत्तत् परिवारों की मान्यताओं को आधार बना कर प्रवृत्त होने वाले आयोजन हीं '**सम्मेलन**' नामक पारिवारिक आयोजन हैं। एवं व्यक्तिविशेष को माध्यम बना कर, उसके निमित्त से व्यक्तिविशेषों के द्वारा समायोजित आयोजन हीं '**समारोह**' नामक वैय्यक्तिक आयोजन हैं, जो आयोजन (प्रत्येक आयोजन, अर्थात् चारों हीं आयोजन) आत्मबुद्धिमनःशरीर नामक चारों मान–वीय मूलपर्वों के अनिवार्य्यसमन्वय से चार चार तो प्रमुख विवर्त्तभावों में, एवं प्रकृति के असंख्य विस्तारों के अनुपात से आगे चलकर असंख्य ही विभागों में परिणत हो रहे हैं, जिस इस असंख्यता के अनुग्रह से ही भारतीय लोकजीवन अथ से इतिपर्य्यन्त सांस्कृतिक–आयोजनों–पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहों से सदा ही माङ्गलिक बना रहता है, बना रहता था आज से तीन सहस्रवर्ष पूर्व के उस सांस्कृतिक-युग में, जिसमें राष्ट्र की आत्म–संस्कृति, तथा प्रकृतिसंस्कृति, दोनों समसमन्वितरूप से जागरूक थीं।

१८७–पर्वोत्सवयुग्म, एवं सम्मेलनसमारोहयुग्म–भेद से दोनों युग्मों का तारतम्य-समन्वय—

आत्मप्रधान 'पर्व', बुद्धिप्रधान 'उत्सव', मनःप्रधान '**सम्मेलन**', तथा शरीरप्रधान '**समारोह**', इन चारों को परिवारदृष्ट्या क्रमशः कुलवृद्धप्रधान 'पर्व', युवापुत्रप्रधान 'उत्सव', नारीवर्गप्रधान 'सम्मेलन', तथा बालवर्गप्रधान 'समारोह' कहा जायगा। एवं समाजदृष्ट्या इन्हीं चारों को क्रमशः ब्राह्मणप्रधान 'पर्व', क्षत्रियप्रधान उत्सव, वैश्यप्रधान 'सम्मेलन', तथा शूद्रप्रधान समारोह कहा जायगा। तथैव राष्ट्रदृष्ट्या चारों को क्रमशः नीतितन्त्रप्रधान पर्व, राजतन्त्रप्रधान उत्सव, गणतन्त्रप्रधान सम्मेलन, तथा प्रजातन्त्रप्रधान–समारोह कहा जायगा। क्योंकि मानव के आत्मबुद्धिरूप दोनों पर्व एकजातीय हैं, एवं मनःशरीरपर्व समान जातीय हैं। अतएव आत्मबुद्ध्या वही मान पुरुष है, मनःशरीरेण च वही मानव प्रकृति है। अतएव च आत्मबुद्धि–प्रधान पर्व, और उत्सव, दोनों आयोजन लोकव्यवहार में भी '**पर्वोत्सव**' इस सम्मिलित नाम से प्रसिद्ध होगए हैं। एवं मनः-शरीर–प्रधान सम्मेलन, और समारोह नामक आयोजन-'**सम्मेलनसमारोह**' इस नाम से प्रसिद्ध होगए हैं।

१८८–आत्मप्रधान राष्ट्रीयपर्व की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय—

जैसाकि निवेदन किया गया है, चारों हीं महिमाविवर्त्त एक ही व्यक्तिमानव के आत्मादि चारों आध्यात्मिक पर्वों के महिमारूप विवर्त्त हैं। अतएव पर्वादि चारों हीं आयोजन (प्रत्येक आयोजन) आत्मादि चार पर्वों के अनुबन्ध से चार मुख्य अवान्तर विवर्त्तों में परिणत हो रहे हैं। उदाहरण के लिए आत्मप्रधान–'पर्व' नामक सांस्कृतिक–आयोजन को ही लीजिए, जिसे हमनें राष्ट्रीय आयोजन कहा है। 'पर्व' नामक यच्च–यावत् आयोजनों में बाह्य आचारों के साथ साथ अमुक अंश में क्योंकि ब्राह्मणानुगत–शास्त्रीय आचार का भी प्रतिष्ठारूपेण समावेश रहता है। अतएव 'पर्व' आयोजनों को इस अंश की दृष्टि से तो कहा जायगा ब्राह्मण–प्रधान ही आयोजन। किन्तु मानवीय चार पर्वों के कारण क्योंकि 'पर्व' आयोजन के भी **आत्मायोजन–बुद्ध्यायोजन–मन–आयोजन–शरीरायोजन**–रूपेण चार विवर्त्त बन जाते हैं। चारों उसी परिभाषा के अनुपात से क्योंकि ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्रानुगत हैं। अतएव इन चारों राष्ट्रीय–आयोजनों को इन नामों से समन्वित मान लिया गया है लोकाचार में। ब्राह्मणप्रधान राष्ट्रीयपर्व–आत्मप्रधान बनता हुआ–'**रक्षाबन्धन–पर्व**' नाम से प्रसिद्ध है। क्षत्रियप्रधान राष्ट्रीयपर्व बुद्धिप्रधान बनता हुआ–'**विजयदशमीपर्व**' है। वैश्यप्रधान राष्ट्रीयपर्व मनःप्रधान बनता हुआ–'**दीपावलीपर्व**' है। एवं शूद्रप्रधान राष्ट्रीयपर्व शरीरप्रधान बनता हुआ–'**होलापर्व**' है। चारों हीं अपने अङ्गभावों से चारों मानवीय पर्वों के भी स्वरूपसंग्राहक बने हुए हैं। अतएव चारों हीं वर्ण चारों पर्वों में (प्रत्येक में) निर्विरोध समन्वित हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र की सुप्रसिद्धा आत्मानुगता **ज्ञानशक्ति**, बुद्ध्यनुगता **पौरुषशक्ति**, मनोऽनुगता **कामगर्भिता अर्थशक्ति**, शरीरानुगता **अर्थगर्भिता काम–शक्ति**, इन चारों राष्ट्रीय-शक्तियों के संग्राहक बनते हुए '**पर्व**' सम्पूर्ण राष्ट्रीयप्रजा के द्वारा (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र–सभी के द्वारा) क्रमशः ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–भावप्राधान्य से क्योंकि व्यवस्थित हैं। अतएव अवश्य हीं इन्हें '**राष्ट्रीय–आयोजन**' मान लिया गया है, जिन इन चारों राष्ट्रीय आयोजनात्मक 'पर्व' नामक आयोजनों को ब्राह्मणानुगत आत्मभाव से जहाँ '**पर्व**' कहा जायगा, वहाँ क्षत्रियानुगत बुद्धिभाव से इन्हीं पर्वों को '**उत्सव**' नाम से भी व्यवहृत किया जासकेगा, तो वैश्यानुगत मनोभावानुबन्ध से इन्हीं पर्वों को '**सम्मेलन**' भी कहा जा सकेगा, तो शूद्रानुगत शरीरानुबन्ध से इन्हीं पर्वों को–'**समारोह**' भी माना जा सकेगा। इसीलिए

स्व-स्वरूपों से पृथक् भी पर्व-उत्सवादि शब्द इसी पारस्परिक समन्वय से लोकव्यवहार में परस्पर एक दूसरे के पर्य्याय भी बन गए हैं, जिस इस पर्य्यायसम्बन्ध का अत्यन्त ही अवधानपूर्वक, पर्वोत्सवादि शब्दों की आत्मबुद्धयनुगता सुसूक्ष्मा व्यञ्जना को लक्ष्य बना कर ही समन्वय करना चाहिए।

१८९-बुद्धिप्रधान-'सामाजिक-उत्सव' की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय-

यही अवस्था 'उत्सव' नामक क्षत्रियानुगत आयोजन की है, जिसे सामाजिक-आयोजन बतलाया गया है। पर्वायोजनवत् इसके भी चार ही प्रधान विवर्त्त होने चाहिए, जो क्रमशः **नवरात्रमहोत्सव, शरत्-पूर्णिमामहोत्सव, गोपाष्टमीमहोत्सव, शीतलाष्टमीमहोत्सव**-इन नामों से लोकव्यवहार में प्रसिद्ध हैं। ये चारों उत्सव सामाजिक हैं। एवं चारों क्रमशः ब्रा० क्ष० वै० शूद्रानुगत बनते हुए आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीरानुगत भी बने हुए हैं, जबकि बुद्धिप्राधान्य से चारों हैं क्षत्रियभावप्रधान हीं।

१९०-मनःप्रधान-'पारिवारिक-सम्मेलन' की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय-

यही स्थिति **'सम्मेलन'** नामक वैश्यानुगत उस आयोजन की है, जो लोकभाषा में **'त्यौंहार'** नाम से प्रसिद्ध है, जिस त्यौंहार शब्द का स्वरूपनिर्म्माण **'तिथि-वार'** के सम्मेलन से ही हुआ है। यही-**'मेला'** नाम से भी प्रसिद्ध है। 'सम्मेलन' नामक तृतीय आयोजन प्रधानरूपेण पारिवारिक आयोजन **है**। अतएव देश-काल-पात्र-कुलाचार-आदि भेद से विभिन्न स्वरूप हो जाते हैं इनके, जिनमें से प्रकृत में राजस्थान-प्रान्तानुगत, तत्रापि विशेषतः निगमनिष्ठ स्व० **श्रीजयसिंहनृपतिवर** की शास्त्रीयनिष्ठा के कारण विगत दोसौ वर्षों से परम्परया अपने सभी आचार-आयोजनों में सांस्कृतिक ही प्रमाणित होते रहने वाले, वर्त्तमान राजस्थान की राजधानी बन जाने का गौरव प्राप्त करने वाले जयपत्तन (जयपुर) से अनुप्राणित सम्मेलनों के ही चार विवर्त्तों का समन्वय सामयिक होगा, जिन चारों को जयपुर के नागरिक **चतड़ाचोथकामेला, गण-गोर का मेला, तीज का मेला, नागपाँच का मेला,** नाम से व्यवहृत करते रहते हैं, जिन्हें शास्त्रीयभाषा में क्रमशः **गणपतिचतुर्थीसम्मेलन, गणपतिगौरीसम्मेलन, साम्बसदाशिवपार्वतीसम्मेलन, नाग-पञ्चमीसम्मेलन,** इन नामों से व्यवहृत किया जायगा, किया गया है शास्त्रों में।

१९१-शरीरप्रधान-'वैय्यक्तिक-समारोह' की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय-

चौथा वैय्यक्तिकभाव-प्रधान 'समारोह' नामक चतुर्थ सांस्कृतिक आयोजन भी उसी अनुपात से चार ही प्रधान विवर्त्तों में विभक्त माना जासकता है, जिसके सम्मेलनवत् देशभेद से विभिन्न प्रकार के विभिन्न विवर्त्त बन गए हैं। **यज्ञोपवीत-विवाहादि स्मार्त्त समारोह, श्रीरामनवमी-कृष्णजन्माष्टमी-सूर्य्यसप्तमी आदि लोकसमारोह, पुरुषोत्तममासानुगत पुराणकथाश्रवणसमारोह, रथयात्रादि (परिक्रमा *) समारोह** भेद से समारोह का भी चतुर्द्धा वर्गीकरण किया जासकता है। इसप्रकार अपने अवान्तर विभूतिभावों से असंख्य-संख्याओं में विभक्त भारतीय **पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोह**-नामक **राष्ट्रीय-सामाजिक-पारिवारिक,** एवं **वैय्यक्तिक** सांस्कृतिक-आयोजन मानवीय पर्वचतुष्टयी के द्वारा चार-चार प्रधान विवर्त्तों में विभक्त हो रहे हैं, जिन्हें तालिकारूपेण लक्ष्यारूढ बना कर ही प्रस्तुत निबन्ध पर दृष्टिपातानुग्रह करना चाहिए।

* जयपुर की भाषा में **'परकम्मा'** के समारोह, जो भाद्रपद में मनाए जाते हैं।

आयो-जनानि	शास्त्रीय–अभिधा ४	जयपुरीय नाम (प्रान्तीय) ४	आयोजनानुगताः–अङ्गभावाः १६		अङ्गानुगताः–अङ्गीभावाः ४	भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजन–चतुष्टयी
पर्वायोजनानि ४	१–रक्षाबन्धनपर्व	(राखी)	१–ब्राह्मणानुगत–पर्वात्मकपर्व	१	पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मिकापर्वप्रधाना पर्वचतुष्टयी ४	१] (१)
	२–विजयदशमीपर्व	(दसरावा)	२–क्षत्रियानुगत-उत्सवात्मकपर्व	२		"**पर्व**" नामकं राष्ट्रीयं–
	३–दीपावलीपर्व	(दीवाली)	३–वैश्यानुगत–सम्मेलनात्मकपर्व	३		सांस्कृतिक–आयोजनम्
	४–होलिकापर्व	(होली)	४–शूद्रानुगत–समारोहात्मकपर्व	४		ब्राह्मणप्राधान्येन–आत्मप्रधानम्
उत्सवायोजनानि ४	१–नवरात्रोत्सव	(न्योरता)	५–ब्राह्मणानुगत–पर्वात्मक उत्सव	१	पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मिकाउत्सवप्रधाना उत्सवचतुष्टयी ४	२] (२)
	२–शरत्पूर्णिमोत्सव	(सरत्पून्यूँ)	६–क्षत्रियानुगत–उत्सवात्मक उत्सव	२		"**उत्सव**" नामकं–सामाजिकं–
	३–गोपाष्टमी–उत्सव	(गोप आठँ)	७–वैश्यानुगत–सम्मेलनात्मक उत्सव	३		सांस्कृतिक-आयोजनम्
	४–शीतलाष्टमी–उत्सव	(सीलआठँ)	८–शूद्रानुगत–समारोहात्मक–उत्सव	४		क्षत्रियप्राधान्येन–बुद्धिप्रधानम्
सम्मेलनायोजनानि ४	१–गणपतिचतुर्थीसम्मेलन	(चतड़ाचोथ)	९–ब्राह्मणानुगत–पर्वात्मकसम्मेलन	१	पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मिकासम्मेलनप्रधाना सम्मे॰ नचतुष्टयी ४	१] (३)
	२–गणपतिगौरीसम्मेलन	(गणगोर)	१०–क्षत्रियानुगत–उत्सवात्मकसम्मेलन	२		"**सम्मेलन**" नामकं-पारिवारिकं
	३–साम्बसदाशिवपार्वतीसम्मेलन	(तीज)	११–वैश्यानुगत–सम्मेलनात्मकसम्मेलन	३		सांस्कृतिक–आयोजनम्
	४–नागपञ्चमीसम्मेलन	(नागपाँच)	१२–शूद्रानुगत–समारोहात्मकसम्मेलन	४		वैश्यप्राधान्येन–मनःप्रधानम्
४ समारोहायोजनानि	१–यज्ञोपवीतादिसमारोह	(जनेऊ–व्याव आदि)	१३–ब्राह्मणानुगत–पर्वात्मकसमारोह	१	पूर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मिका समारोहप्रधाना समारोहचतुष्टयी ४	२] (४)
	२–श्रीरामकृष्णादिजयन्तीसमारोह	(रामनोमी-जनम आठँ)	१४–क्षत्रियानुगत–उत्सवात्मकसमारोह	२		"**समारोह**" नामकं वैय्यक्तिकं–
	३–पुराणकथाश्रवणादिसमारोह	(कथा भागोत)	१५–वैश्यानुगत–सम्मेलनात्मकसमारोह	३		सांस्कृतिक–आयोजनम्
	४–रथयात्रा–परिक्रमादि–समारोह	(देवताँ की परकम्मा)	१६–शूद्रानुगत–समारोहात्मकसमारोह	४		शूद्रप्राधान्येन–शरीरप्रधानम्

१—आत्मानुगतो मानवः—राष्ट्रीयमानवः——'ब्राह्मण' नाम्ना प्रसिद्धः ।

२—बुद्ध्यनुगतो मानवः—सामाजिकमानवः—'क्षत्रिय' नाम्ना प्रसिद्धः ।

३—मनोऽनुगतो मानवः—पारिवारिकमानवः—'वैश्य' नाम्ना प्रसिद्धः ।

४—शरीरानुगतो मानवः—वैय्यक्तिकमानवः—'शूद्र' नाम्ना प्रसिद्धः ।

—*—

१—ब्राह्मणमानवानुगतं——राष्ट्रीयसांस्कृतिक—आयोजनमेव——'पर्व' ।

२—क्षत्रियमानवानुगतं——सामाजिकसांस्कृतिक-आयोजनमेव—'उत्सवः' ।

३—वैश्यमानवानुगतं——पारिवारिकसांस्कृतिक-आयोजनमेव—'सम्मेलनम्' ।

४—शूद्रमानवानुगतं——वैय्यक्तिकसांस्कृतिक-आयोजनमेव—'समारोहः' ।

—*—

१६२–सांस्कृतिक-आयोजनों के मूलाधिष्ठाता 'संस्कृतिमूर्ति' 'समब्रह्म' की प्राजापत्या सोलह कलाओं का स्वरूपदिग्दर्शन—

'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगमवचन की व्याख्या मानी गई है 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' । **"जहाँ चार है, वहाँ अवश्य ही सोलह हैं"** यही दोनों अनुगम-वचनों का सूक्ष्म समन्वय है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा **चतुष्पाद्ब्रह्म**, तथा **षोडशकलप्रजापति** बने हुए हैं, जिन दोनों हीं इन प्राजापत्य विवर्त्तों का प्रस्तुत निबन्ध में अनेक बार स्मरण कर लिया गया है । अर्द्धमात्रिक, किंवा अमात्रिक–**परात्पर**, मायापरिग्रहयुक्त **मायी अव्ययपुरुष**, गुणपरिग्रहयुक्त **सगुण (पराप्रकृतिरूप) अक्षरपुरुष**, एवं विकारपरिग्रहयुक्त **सविकार (अपराप्रकृतिरूप) क्षरपुरुष**, इन चार पादों की समष्टि का नाम ही चतुष्पाद्ब्रह्म **है**, जिसके आधार पर ही **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** यह निगम व्यवस्थित हुआ **है** । माया–कला–गुण–विकारादि परिग्रहों से असंस्पृष्ट, अतएत अमायी–निष्कल–निर्गुण–निर्विकार–आदि नामों से उपगीयमान प्रथमचरण–स्थानीय अमात्रिक तुरीय परात्पररूप अखण्ड धरातल पर प्रतिष्ठित मायी अव्ययपुरुष के **आनन्द–विज्ञानः–मनः–प्राण–वाक्**–नामक पाँच कलाविवर्त्त हैं । तदभिन्न, तत्पराप्रकृतिरूप सगुण अक्षरपुरुष के **ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम** नमक पाँच कलाविवर्त्त हैं, एवं अव्ययपुरुषकी ही अपराप्रकृतिरूप सविकार **क्षरपुरुष** के **प्राणः–आपः–वाक्–अन्नादः–अन्नम्** रूप पाँच कलाविवर्त्त हैं । इसप्रकार द्वितीय–तृतीय–चतुर्थ–चरण–स्थानीय अव्यय–अक्षर–क्षर–पुरुष भावों की १५ कलाएँ होजातीं है, जिनका पूरक सोलहवाँ परात्परब्रह्म बना हुआ है, **और** यों परात्पर-अव्यय–अक्षर–क्षर-रूपेण चतुष्टयभावापन्न चतुष्पाद्ब्रह्म ही अपने इन १६ कलाविवर्त्तों से **'षोडशकल'** प्रमाणित हो रहा है, जो कि–इसका **'षोडशी'** नामक प्राजापत्य स्वरूप माना गया है । ये ही सनातन–सांस्कृतिक प्रजा

के सोलहकलापरिपूर्ण भगवान् हैं, जिनके सोलह कलापरिपूर्ण ही सगुण अवतार भगवान् **वासुदेव श्रीकृष्ण** से भारत की सांस्कृतिक-धरित्री धन्य बनी है । इसी आधार पर-**'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'** अनुगम प्रक्रान्त बना है, जिसका मूलमन्त्र है —

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥

यजुःसंहिता ८।३६।

१६३--षोडशकल ईश्वरप्रजापति के नेदिष्ठरूप मानवस्वरूप की सोलह(१६) कलाओं का स्वरूपदिग्दर्शन—

'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' के अनुसार 'मानव' नामक पुरुष चतुष्पाद्ब्रह्मलक्षण षोडशीप्रजापति का नेदिष्ठ (सन्निकटतम) स्वरूप माना गया है । अतएव उसमें जैसे चार पाद, तथा १६ कलाएँ हैं, तथैव-'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' के अनुसार तदंशभूत मानव में भी वे ही चार पाद हैं, एवं वे ही सोलह कलाएँ हैं, जिनका समन्वय ज्ञानविज्ञानप्रधान-सांस्कृतिक-निगमागमपुराणादि शास्त्र के स्वाध्याय पर ही अवलम्बित है । प्रसङ्गसमन्वयदृष्टि से प्रकृत में केवल यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीररूपेण मानव चतुष्पात् है, तो प्रत्येक के अवान्तर चार-चार-प्राकृत-विवर्त्तों से मानव षोडशकल भी बन रहा है, जैसाकि तालिका से स्पष्ट है । **सोऽयं-चतुष्पात्-षोडशकलो--मानवः (प्रजापतेर्नेदिष्ठम्)।**

निम्नलिखित श्रौतवचन **अंशी षोडशकल-प्रजापति** के, तथा **अंशरूप षोडशकल-मानव** के इस कलात्मक स्वरूप की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

१-षोडशकलः सोम्य ! पुरुषः (छान्दो० उप० ६।७।१।) ।

२-स एष सम्वत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः (बृहदा० उप० १।५।१४।) ।

३-इहैवान्तःशरीरे सोम्य ! स पुरुषः, यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति
(प्रश्नोपनिषत् ६।२।) ।

४-गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा, देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।७।

१ — १—अव्यक्तगर्भित—महानात्मा
२—महद्गर्भित—विज्ञानात्मा
३—विज्ञानगर्भित—प्रज्ञानात्मा
४—प्रज्ञानगर्भित—प्राणात्मा
} आत्मकलाभावाः ४—आत्मा

२ — १—ज्ञानबुद्धिः
२—ऐश्वर्य्यबुद्धिः
३—वैराग्यबुद्धिः
४—धर्म्मबुद्धिः
} बुद्धिकलाभावाः ४—बुद्धिः

३ — १—चिन्मनः
२—सत्त्वमनः
३—सर्वेन्द्रियमनः
४—इन्द्रियमनः
} मनःकलाभावाः ४—मनः

४ — १—सत्त्वशरीरम्
२—कारणशरीरम्
३—सूक्ष्मशरीरम्
४—स्थूलशरीरम्
} शरीरकलाभावाः ४—शरीरम्

१९४–ईश्वरीय–षोडश–कलाओं के प्रतिरूपशिल्यात्मक षोडशकल–मानव के–पर्वोत्सव–सम्मेलनसमारोह–नामक चतुर्विध सांस्कृतिक–आयोजनों के अवान्तर सोलह महिमाविवर्त्त—

मानव की आयु का एक एक वर्ष एक एक कला का अभिव्यञ्जक है। एवं इसी आधार पर **'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्'** व्यवहार स्थापित हुआ है। भगवान् का षोडशोपचारसमन्वित पूजन, सौम्य पितरों से सम्बद्ध षोडश श्राद्ध, सौम्या नारी से अनुप्राणित षोडश श्रृङ्गार, आदि आदि रूपेण असंख्य विवर्त्त हैं इस **षोडशीशक्ति** के, जिसे दशमहाविद्याप्रकरण में **'महाविद्या'** माना गया है, जिसका विजयदशमी-प्रकरण के तन्नामक परिच्छेद में यशोवर्णन हुआ है। षोडशीमहाविद्यारूपा महाशक्ति से समन्वित षोडशी–प्रजापति ही भारतीय सांस्कृतिक–आचार की प्रतिष्ठा है, एवं ये ही प्रजापति भारतीय सांस्कृतिक उन आयोजनों की मूलप्रतिष्ठा हैं, जो चतुष्पाद्भाव से जहाँ आरम्भ में **पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह–**भेद से चार महिमाभावों में विभक्त हैं, वहाँ ये ही आगे चल कर प्राजापत्य–षोडशभावानुबन्ध से १६ विवर्त्तों में परिणत होगए हैं। एवं षोडशकल प्रजापति के–**'असंख्याताः सहस्राणि'** मूलक असंख्य प्राकृतिक–महिमाविवर्त्तों के आधार पर ये सोलह आयोजन असंख्य–सांस्कृतिक–आयोजनों में परिणत हो रहे हैं, जिस उस अनन्त की इस अनन्ता सांस्कृतिक-आयोजन-विभूति के संस्मरणमात्र से भी हम रोमहर्ष का ही अनुभव कर रहे हैं तद्द्वारा आयोजनाधारभूत षोडशी विश्वेश्वरप्रजापति का संस्मरणात्मक आराधन करते हुए। यही तो कारण है कि, भारत-वर्ष की आत्मदेवपरायणा–सांस्कृतिक–प्रजा का तो कोई भी लोकायोजन, लोकपर्व, लोकोत्सव, लोक-सम्मेलन, एवं लोकसमारोह किसी न किसी आत्म-देव-भाव को आधार बनाए बिना उपक्रान्त–प्रकान्त, तथा समायोजित हो ही नहीं सकता। सर्वव्यापक–एकत्वानुबन्धी यह आत्मदेवभाव ही तो राष्ट्रीय प्रजा की समन्विता–संघशक्ति का एकमात्र अनन्य–राजपथ है, जिस इस सांस्कृतिक–धार्मिक-पथ के आधार पर ही, तदनुगत सांस्कृतिक-पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहों की पारम्परिक श्रृङ्खला के आधार पर ही भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति तीन सहस्र वर्षों से निरन्तर प्रचण्ड संघर्ष सहती हुई भी आज के भारतीय संस्कृति, भारतीय–सनातन–सांस्कृतिक–धर्म को सर्वथा निरपेक्ष मानने मनवाने वाले भयावह सत्तायुग में भी येनकेनरूपेण अपने सनातनमूल से अक्षुण्ण ही बनी हुई है, अक्षुण्ण ही बनी रहेगी आकल्पान्त ही नहीं, अपितु–**शाश्वतीभ्यः समाभ्यः, सदा सदा के लिए**। प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से इस मूलसंस्कृति पर प्रचण्ड आक्रमण करने वाले प्रकृतिवादी यों हीं प्राकृतिक–व्यामोहनों से व्यामुग्ध बनते रहे हैं, बन रहे हैं, बनते ही रहेंगे। और प्रकृति से प्रकृति के नियमन–व्यवस्थापन के लिए आतुर वे सभी प्रकृतिवादी अनात्मवादी एकत्वमूला आत्मदेवसंस्कृति के आधार से वञ्चित रहते हुए श्रुति के–**'जायस्व-म्रियस्व'** रूप प्राकृतिक प्रवाह में यों हीं प्रवाहित होते ही रहेंगे। एवं सनातन–आर्ष–सांस्कृतिक प्रजा प्रकृतिवादियों के द्वारा पुरस्कार में प्राप्त सम्पूर्ण मानसिक–शारीरिक–(प्राकृतिक) उत्पीड़नों को हर्षोल्लासपूर्वक सहती हुई अपने तथाकथित सांस्कृतिक–आयोजनों को मनाती ही रहेगी, निश्चयेन मनाती ही रहेगी, जिस इस श्रद्धा-आस्थापरायणा जनता के पावन चरणों में ही निबन्धात्मक यह श्रद्धाप्रसून प्रणतभाव से समर्पित कराते हुए यह उत्पीड़ित भारतीय ब्राह्मण अपने प्राकृत–जीवन को सफल ही अनुभूत कर रहा है।

१६५–प्रस्तुत सामयिक-निबन्ध की सांस्कृतिक-प्रेरणा के सम्बन्ध में—

प्रस्तुत–सामयिक–निबन्धन की सांस्कृतिक–प्रेरणा के सम्बन्ध में भी प्रास्ताविक में किञ्चिदिव निवेदन करदेना इसलिए अनिवार्य्य होगा कि, निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से चली आने वाली आत्मबुद्धिदासता के निग्रहसे हमें भी उस वारुणपाश में आबद्ध हो ही जाना पड़ा, जिसका 'सापेक्षता' से सम्बन्ध माना गया है। जहाँतक परसत्ता का (ब्रिटिशसत्ता का) सम्बन्ध था, वहाँतक तो हमने अपने आपको सदा ही जागरूक बनाए रक्खा, एवं तद्युग में उपनिबद्ध प्रायः सभी भाष्यों–निबन्धों में यत्रतत्र सर्वत्रैव ब्रिटिशसत्ता के उन सर्वस्वघातक वारुण–पाशबन्धनों की कटु, किन्तु शिष्ट आलोचना ही प्रकान्त रही, और साथ ही राष्ट्र के स्वातन्त्र्य की कामना भी उसी अनुपात से जागरूक रही *।

---

* हम यह नहीं चाहते कि, परमार्थाकर्षण से हम ऐहलौकिक स्वार्थ का परित्याग कर बैठें । + + + उत्तम भोजन, सुन्दर वेशभूषा, प्रजासमृद्धि, समृद्ध वैभव, राजसत्ता, साम्राज्यसुखोपभोग, ग्राम-नगर–राष्ट्र–शिल्प-कला-वाणिज्य-आदि आदि सभी कुछ हमें चाहिए । पहिले ऐहलोकिकसुख-सम्पत्ति, तदनन्तर पारलौकिक पुरुषार्थ । पहिले यहाँ समृद्धि, तदनन्तर वहाँ आनन्द । हम आनन्द के उपासक हैं । फिर हम यहाँ भी दुःखी क्यों रहें ? । आनन्द हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, साम्राज्यसुख हमारी बपौती है, **स्वतन्त्रता हमारा आराध्य मन्त्र है** । हमारी आत्मभावना से अनुचित लाभ उठाते हुए यदि कोई नरराक्षस **हमारी स्वतन्त्रता पर**, हमारे साम्राज्य पर, हमारे ऐहलौकिक सुखों पर, हमारी शान्ति में, हमारी उपासना में, हमारी ज्ञानचर्चा में, हमारे वाणिज्य में, हमारे कलाकौशल में, हमारी सभ्यता में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करेगा, तो हम थोड़ी देर के लिए **ज्ञान–उपासना–सबकुछ छोड़ देंगे । उस समय सब से पहिला, एवं मुख्य कर्त्तव्य हमारा वही होगा, जोकि कर्त्तव्य राज्यवैभव के स्वाधिकार से वञ्चित अर्जुन के सम्मुख भगवान् के द्वारा आया था, एवं जिस कर्तव्य के बलपर ही योगी अर्जुन ने पुनः अपना राज्यवैभव प्राप्त किया था । उस समय हमें हमारी 'युद्धाय कृतनिश्चयः' इस शास्त्राज्ञा से कोई भी न डिगा सकेगा । + + + । क्योंकि हम जानते हैं कि, परतन्त्र राष्ट्र का कोई धर्म्म नहीं, कोई शास्त्र नहीं । क्षणभर भी तो उसे सुख नहीं । गुलाम का क्या धर्म्म ?, क्या शास्त्र ?, क्या सभ्यता ?, क्या आवश्यकताएँ ? । यदि नाममात्र के लिए कुछ हो भी, तो इन से हम लाभ क्या उठा सकते हैं ? । स्वतन्त्र–परतन्त्र शब्दों की यही स्वरूपमीमांसा शास्त्रकारों नें हमारे सम्मुख रक्खी है । देखिए ! भगवान् मनु इस सम्बन्ध में क्या कह रहे हैं—**

यद्यत् परवशं कर्म्म तत्तद्यत्नेन वर्ज्जयेत् ॥
यद्यदात्मवशं तु स्यात्–तत्तत् सेवेत यत्नतः ॥१॥
सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥२॥ —मनुः ४।१५८,१५६, ।

गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–बहिरङ्गपरीक्षात्मक–प्रथमखण्ड **'आत्मनिवेदन'** प्रकरण पृष्ठ सं० १८,१६, ।
प्रकाशनतिथि—२०।६।३६ ई.

१६६–लोकैषणाचार्य्य सत्तातन्त्र, एवं वित्तैषणाचार्य्य वणिक्तन्त्र की सापेक्षता से सम्बन्ध रखने वाली महती भ्रान्ति, एवं तन्निराकरणानुग्रह से ही प्रस्तुत सांस्कृतिक-निबन्ध का आविर्भाव—

किन्तु साथ ही यह भी भ्राति प्रक्रान्त रही कि, "भारतीय सामन्तनृपतिगण, एवं धर्म्मशील वणिग्बन्धु अवश्यमेव भारतीय संस्कृति के रक्षण में योगदान कर सकते हैं" । इसी आकर्षण से यह परीक्षण सर्वप्रथम वणिक्तन्त्र से ही उपक्रान्त बना अनुमानतः आज से २० वर्ष पूर्व । जिस सीमापर्य्यन्त हमने वणिग्बन्धुओं की भावुकता का लोकानुरञ्जन-माध्यम से संरक्षण किया, अवश्यमेव तत्सीमापर्य्यन्त भावुकतापूर्ण अनुग्रह भी उपलब्ध हुआ, जो वस्तुगत्या संस्कृति के नैष्ठिक-पक्ष के लिए अन्ततोगत्त्वा घातक ही प्रमाणित होता गया । संस्कृति की आराधना से वर्षों वञ्चित होते रहना पड़ा मध्ये–मध्ये इसी एषणा के व्यामोहन से । अतएव सहसा प्रान्तीय राज्यतन्त्र की ओर ध्यान आकर्षित होपड़ा हमारा, जबकि सन् ३२ में शतपथब्राह्मणभाष्य के मासिकपत्ररूप से प्रकाशन के लिए जयपुरीय सत्तातन्त्र ने निरन्तर इसी आशङ्का से प्रकाशन की आज्ञा ही न दी कि, हम कहीं ब्रिटिशसत्ता का विरोध न कर डालें इस भाष्य से । तब कहीं यह उद्बोधन प्राप्त हुआ कि, जबतक भारतराष्ट्र स्वतन्त्र नहीं होजायगा, तबतक संस्कृति को सत्ता का निर्व्याज संरक्षण प्राप्त हो ही नहीं सकेगा । अतएव राष्ट्र–स्वातन्त्र्य की मङ्गलकामना को दृढ़मूला बनाकर तद्युगीय सामन्ततन्त्रों से तो बन जाना पड़ा हमें सर्वथा तटस्थ, एवं केवल एक वैसे मानवनश्रेष्ठ को ही अपने प्राकृत–जीवन का आधार बनाते हुए गच्छतः स्खलनरूपसे स्वाध्याय में हीं प्रवृत्त हो जाना पड़ा, जिस मानवश्रेष्ठ के मानवोचित सहयोग से ही हम अबतक अपनी सांस्कृतिक–उपासना में, अपनी स्वाध्याय–एषणा को प्रक्रान्त रखने में समर्थ हो सके हैं ।

१६७–राष्ट्रीय–स्वातन्त्र्य से विभोर बन जाने वाले मनस्तन्त्र की सहज भावुकता, एवं भावुकता के समुत्तेजक सत्तातन्त्र–के अङ्गभूत एक मित्र की प्रेरणा से सत्ता–श्रयता की कामना का आविर्भाव—

महत्सौभाग्य से भारतराष्ट्रने ऐच्छिक स्वतन्त्रता प्राप्त की, और हमारा मनस्तन्त्र भारतीय संस्कृति की स्वातन्त्र्य–कामना से विभोर हो पड़ा इस राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य से । एवं प्रसुप्ता सत्तासापेक्षता पुनः जागरूक हो

---

* सन् ४२ में सर्वप्रथम उस मानवश्रेष्ठ से सान्निध्य प्राप्त हुआ, जिस की मानवता से तत्सम्पर्क में आने वाले सभी अभिभूत हैं । सुप्रसिद्ध व्यवसायनिष्ठ, साथ ही शिक्षाकार्य्यों में अपने आप को मुक्तहस्त प्रमाणित करने वाले स्व० श्रेष्ठिप्रवर **श्रीगोविन्दरामजी सेकसरिया महाभाग** के एकमात्र मातृपितृभक्त सुपुत्र श्रेष्ठिप्रवर मानवश्रेष्ठ **श्रीकुड़ीलालजी महाभाग** ही हमें अपने जीवन में एकमात्र वैसे भारतीय 'मानव' उपलब्ध हुए, जो जन्मतः भलन्दनवंशपरम्परा को समलङ्कृत करते हुए भी उस सांस्कृतिक–ज्ञाननिष्ठा से अभिभूत हैं, जिस से आज का ब्राह्मणवर्ग भी वञ्चित हो रहा है । अबतक गच्छतः स्खलनरूप से हमें अपने सांस्कृतिक–लक्ष्य में जो भी आंशिक सफलता मिली है, उस का प्रधान श्रेय इसी निर्व्याज–सहयोगी सौम्य मानवश्रेष्ठ को है, जिसके लिए भारतीय–संस्कृति के अधिदेवता अव्ययेश्वर इस मानवश्रेष्ठ की सांस्कृतिक–निष्ठा को उत्तरोत्तर दृढ़मूल ही बनाते रहेंगे ।

ही तो पड़ी, जिस की एषणा के प्रधान निमित्त बने राजस्थान के सत्तातन्त्र के प्रचारविभाग के ही लोकचतुर एक ब्राह्मणबन्धु महोदय । आपने पूर्ण सहयोग दिया इस सत्तैषणा के प्रति होने वाले अनुधावन में । और यह अनुधावन सन् ५३ से आरम्भ होकर सन् ५५ पर्य्यन्त इतस्ततः दन्द्रम्यमाणा वृत्ति से निरन्तर ही प्रक्रान्त बना रहा, जिस प्रक्रान्तिकाल में राजस्थान के मन्त्रिमण्डल का तो परिवर्त्तन होगया, किन्तु सत्ता का हृदय परिवर्त्तन न कर सके हम । एवं जनतन्त्र के ये सभी लोकप्रिय नेता संस्कृति के साथ गजनिमीलिका ही करते रहे सम्भवतः उस केन्द्रीयसत्ता के भय से ही, जिस के 'धर्म्मनिरपेक्ष' सिद्धान्त से कोई भी प्रान्तीय सत्ता '**धर्म्म**' नाम से अनुप्राणित किसी भी उद्देश्य में सहयोग प्रदान नहीं कर सकती । प्रान्तीयसत्ता की इसी आशङ्का के निवारण के लिए विगत दिसम्बर मास में सहसा वैसा प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा, जिसका एक विशेष घटना से सम्बन्ध है ।

१६८–एक अन्य सांस्कृतिक-सुहृत् के निग्रहात्मक अनुग्रह से केन्द्रसत्ता का संस्पर्श, तदनुगत महान् उद्बोधन, एवं तदनुगग्रह से ही सांस्कृतिक-निबन्ध का आविर्भाव–

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता सुहृद्वर डॉ० **वासुदेवशरण अग्रवाल** महोदय की प्रेरणा से राष्ट्रीय सत्तातन्त्र के सर्वोच्चपद पर समासीन महामहिम राष्ट्रपतिमहाभाग **श्रीराजेन्द्रप्रसादजी** की ओर से विगत दिसम्बरमास (सन् ५६) में भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करने का आमन्त्रण उपलब्ध हुआ, जो 'यथाज्ञापयति देवः' रूपेण उसी सत्तासापेक्षता के कारण अनुगमनीय बना । उसका क्या परिणाम हुआ, किंवा होगा ?, केन्द्रीयसत्ता क्या अनुग्रह करेगी ?, एवं हमारी प्रान्तीयसत्ता का सांस्कृतिक दृष्टिकोण कब उदीयमान होगा ?, इत्यादि सभी प्रश्न इस नवीन अनुभव से अब हमारे लिए अचिन्त्यब्रह्मवत् सर्वथा अचिन्त्य ही बन गए हैं, जिस इस आकस्मिकी अचिन्त्यता का भी आकस्मिक सांस्कृतिक–अनुग्रह से ही सम्बन्ध माना जायगा ।

निरन्तर १०-१५ वर्षों से प्रक्रान्त रहने वाले सत्तातन्त्रानुधावन, तथा वणिक्तन्त्रानुधावन से भी जब जागरण के लिए कोई निष्ठासूत्र उपलब्ध न हुआ, तो अन्ततोगत्वा तटस्थता ही ग्रहण करली गई इन सम्पूर्ण एषणाओं से, जिनके अप्रत्याशित शारीरिक–मानसिक–संघर्षों नें प्रकृतितन्त्र को सर्वथा ही जर्ज्जरित कर डाला । लिपिबद्ध साहित्य की भावी व्यवस्था के व्यामोहन से ही सन् ५४ के अन्त में सन् ३२ के सुहृद्वर डॉ० वासुदेवशरण का आमन्त्रण हुआ । आपने आकर कर हमें निश्चिन्तता का आश्वासन–प्रदान किया, एवं बाह्यकार्य्यभार से उन्मुक्त करने के लिए आपने—'**वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान**' नामक नवीन संस्थान को जन्म दिया, जिसकी प्रारम्भिक अर्थव्यवस्था उन्हीं मानवश्रेष्ठ **श्रीकुड़ीलालजी** की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध नैष्ठिक श्रेष्ठिप्रवर **श्रीमहावीरप्रसादजी** मुरारका, तथा प्रतिभासम्पन्न तरुणयुवा श्रेष्ठिप्रवर **श्रीजगदीशप्रसादजी** सेकसरिया के सहयोग से सम्पन्न हुई, तदर्थ हमें डॉ० महाभाग के साथ अनिच्छन्नपि बम्बईयात्रा करनी पड़ी । और यों आपके मन्त्रित्त्व में तत्त्वशोधसंस्थान का प्रकाशन कार्य्य प्रक्रान्त हुआ । निरन्तर डेढ बर्ष पर्य्यन्त प्रकाशन कार्य्य प्रक्रान्त रहा, जिसके सुपरिणाम स्वरूप, किंवा दुष्परिणामस्वरूप अनुमानतः ढाई सहस्र पृष्ठात्मक साहित्य प्रकाशित हुआ, जो प्रकाशनतिथि से आरम्भ कर अद्यावधि भी यथास्थान ही सुरक्षित है । सुपरिणाम इसलिए कहा जायगा कि, इतने पृष्ठ प्रकाशित हो गए, अर्थात् छप गए । दुष्परिणाम हम इसलिए मान रहे हैं इस प्रकाशन को कि, जिस स्वाध्यायनिष्ठा की कामना से हमने इस नवीन '**अभ्व**' का समर्थन कर

डाला था, इसने तो हमारा स्वाध्याय सर्वथा ही अवरुद्ध कर दिया। अहोरात्र प्रूफसंशोधन, छपे फार्म्मों को यथासमय पूरे व्यय–विवरण के साथ प्रमाणन के लिए डॉ० महोदय की सेवा में प्रेषित करते जाना, उनके द्वारा प्राप्त चेकों से अर्थव्यवस्था कर प्रेसकर्म्मचारियों का परितोष करते रहना, पुस्तकों का बाइंडिंग–कागज–क्रय–व्यवस्था–आदि आदि महाभूतव्यासङ्गों नें तो हमें आत्यन्तिकरुपेणैव जर्ज्जरित ही कर डाला। और इस प्रकार के (एक प्रकार के) विशुद्ध–जड़–व्यवसाय ने हमें शून्यं शून्यं ही प्रमाणित कर दिया। अवश्य ही डॉ० महोदय भी चिन्ता ही व्यक्त करते गए पत्रों के द्वारा हमारे इस संकट के प्रति। सम्भवतः इस चिन्ता से हमें उन्मुक्त करने लिए ही आपने राष्ट्रप्रतिभवन में तथाकथित आयोजन भी व्यवस्थित किया। पुनः अन्तिम बार डॉ० साहिब के आदेश से एकमास अहोरात्र जागरण कर टेपरेकार्डो से वहाँ के पञ्चदिवसीय वक्तव्यों की प्रतिलिपि की गई, प्रकाशित भी करना पड़ा इन्हें, जो प्रकाशित होकर पूर्ववत् सुरक्षित स्थान में ही सुसज्जित हो गए हैं, मानो प्रकाशित ग्रन्थ स्वतः ही प्रचारपथानुगामी बन जायँगे।

संस्थान से आशा यह की गई थी कि, वह हमें उन्मुक्त कर देगा इन लोकप्रचार–व्यासङ्गों से, जिससे अपने जर्ज्जरित शरीर से शेष वर्षों में स्वाध्यायपथ की ही उपासना प्रक्रान्त रक्खी जा सके। किन्तु परिणाम ठीक विपरीत हुआ। यही नहीं, मूलसंस्कृति की मूलनिष्ठाओं के आराधन में भी हमें आशङ्का हो पड़ी इस नवीन अम्ब के वातावरण में, जिसके ज्ञात–अज्ञात कारणों का विस्फोटन न करना ही 'श्रेयः पन्था' मान लिया है उस आकस्मिक ईश्वरानुग्रह के बल पर, जिसके द्वारा अब हमें किसी के प्रति भी कोई भी आक्रोश नहीं है। क्योंकि अबतक घटित–विघटित–संकटपरम्पराओं का एकमात्र उत्तरदायित्व हमारे प्रज्ञा–पराध से ही अनुप्राणित है।

१६६–सत्तातन्त्र, एवं वणिक्तन्त्र की निरपेक्षता से ही भारतीय संस्कृति का स्वरूप–संरक्षण—

सत्तासापेक्षतामूला लोकैषणाने ही हमें स्वाध्यायनिष्ठा से विगत वर्षों में वञ्चित किया है, अब इस भ्रान्ति में अणुमात्र भी सन्देह नहीं रह गया है। हम अपनी इस दुरवस्था का कारण तब समझ पाए, जबकि सुप्रसिद्ध मैत्रावरुणब्राह्मण का यह उद्बोधन सूत्र एक सर्वथा नवीनरूप से ही सहसा प्रस्फुटित हो पड़ा कि—**"तत्–तत्–अवक्लृप्तमेव, यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्"** (शतपथब्राह्मण)। जिस इस वाक्य पर स्वाध्यायकाल में विदित नहीं, कितनी बार दृष्टि गई होगी। किन्तु आजतक इसके **'अराजन्य'** का रहस्य समझ में ही नहीं आया था। रहस्य अब समझ में आ गया, यह कहना तो आज भी अपना व्यक्तित्त्वविमोहन की व्यक्त करना है, जबकि रहस्यबोध के लिए तो एषणापरम्पराओं नें हमारी–प्रज्ञा का सर्वथा अपहरण ही कर लिया है। हाँ यह आभास अवश्य हो पड़ा है कि, **'अराजन्य'** आदेश के सर्वथा विपरीत गमन करने वाली हमारी राजन्या–आसक्ति (सत्तासापेक्षता) ने ही सांस्कृतिक–चिन्तन से हमें मध्ये मध्ये पराङ्मुख किया है। संस्कृति के उपासक ब्राह्मण जिस दिन से सत्तासापेक्ष बन गए हैं, उसी दिन से तो संस्कृति का मौलिकस्वरूप सत्तानुरञ्जनैषणा से अन्तर्म्मुख ही बन गया है, जिसके त्रिसहस्रवार्षिक मलीमस इतिहास का प्रस्तावनारम्भमें ही दिग्दर्शन कराया जाचुका है। **'संस्कृति का संरक्षण'** अन्य पक्ष है, एवं **"सुरक्षिता संस्कृति के आधार पर—सुरक्षित सांस्कृतिक आचार, तथा सांस्कृतिक आयोजनों का सर्वसामान्य प्रजा के द्वारा यथान्वय–**

स्थितरूप से पालन करते रहना" विभिन्न पक्ष है। व्यवस्था के संरक्षणमात्र में हीं सत्तातन्त्र उत्तरदायी है, न कि संस्कृति के स्वरूप संरक्षण में। जब सत्तातन्त्र संस्कृति के स्वरूपसंरक्षण के उत्तरदायित्व से समन्वित कर दिया जाता है, तो 'संस्कृति' शब्द की वही दुर्दशा हो जाती है, जो आज के-'सांस्कृतिक-आयोजनों' से प्रत्यक्ष है। संस्कृति का स्वरूप-संरक्षण तो एकमात्र उस राष्ट्रीय ब्राह्मण की निष्ठानुगता स्वाध्यायनिष्ठा पर ही अवलम्बित है, जो सत्ता से ही नहीं, अपितु लोकैषणा-वित्तैषणात्मक सभी क्षेत्रों से अपने आपको सर्वथा ही निरपेक्ष ही बनाए रहता है। सम्भवतः ही नहीं, अपितु निश्चयेन इसी दृष्टि से मानवधर्म्मव्यवस्थापक राजर्षि मनु ने ब्राह्मण को सदा ही लोक-सम्मानों से बचते रहने का, तथा अपमान की ओर आकर्षित बने रहने का ही उद्बोधन प्रदान किया है। मनु कहते हैं कि—(सापेक्षतामूलक) सम्मान से तो ब्राह्मण को विष की भाँति अपना परित्राण करते रहना चाहिए, एवं लोकैषणाभञ्जक अपमान की अमृतवत् कामना करते रहना चाहिए *। किसी ब्राह्मण को कुछ सन्देह रह न जाय इस निरपेक्षतापथ में, अतएव अन्तन्तोगत्वा बिस्पष्ट शब्दों में राजर्षि को यही कह देना पड़ता है कि-"ब्राह्मण को उन सम्पूर्ण पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-प्रलोभनों का, वित्त-सम्मानादि अर्थपरम्पराओं का सर्वथा ही परित्याग ही कर देना चाहिए, जिन सुख-सुविधाओं के कारण इस की स्वाध्यायनिष्ठा में विघ्न उपस्थित हो जाने की आशङ्का हो। उस दशा में तो इसे आपद्धर्म्मधिया अन्य ही कुछ करके अपना अध्ययनाध्यापनकर्म्म सुरक्षित रखना चाहिए। क्योंकि यही इस के जीवन की कृतकृत्यता मानी गई है। देखिए !

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ —मनुः ४।१७।

२००–सत्तानिरपेक्षता के सम्बन्ध में ऋषिप्रज्ञा के द्वारा संस्कृति के उपासक के लिए महान् उद्बोधनसूत्र—

तदित्थं-एकमात्र संस्कृतिदेवता के ही निःसीम अनुग्रह से हमें आज वह उद्बोधनसूत्र उपलब्ध हो गया है, जिसके गर्भ में ही 'संस्कृति' का स्वरूप-संरक्षण निहित है, और वह है-तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः,' जिसका अक्षरार्थ है-'तत्-तत्-सो यही, निश्चयेन यही ठीक है (अवक्लृप्त है) कि, ब्राह्मण अराजन्य (सत्तानिरपेक्ष) ही रहे"। यदि अयाचितरूपेण-राजन्यसत्ता स्वयं अपने हित के लिए संस्कृति की शरण में आना चाहे, तो ब्राह्मण को सर्वथा तटस्थस्वरूप से संस्कृतिसूत्र से सत्तातन्त्र को अवगतमात्र करा देना चाहिए, जिस संस्कृतिसापेक्षता में ही राजन्यसत्ता की समृद्धि का बीज सुरक्षित है। यदि अपने भूतव्यामोहन में आकर राजन्यसत्ता अपने आपको अब्राह्मण बना लेती है, तो इससे न तो ब्राह्मण का ही कोई अहित होता, न संस्कृति का ही कोई अनिष्ट होता। अपितु राजन्यसत्ता अवश्य ही इसप्रकार संस्कृतिसन्देशवाहक ब्राह्मण से निरपेक्ष बनकर, ब्राह्मण की संस्कृति, तदभिन्न धर्म्म से निरपेक्ष बनकर सभी प्रकार की लोकसमृद्धियों से

---

*–सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेत्–अवमानस्य सर्वदा ॥ —मनुः २।१६२

वञ्चित हो जाती है स्वयं भी, एवं वञ्चित कर देती है शासित राष्ट्रप्रजा को भी। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए इस श्रुति को। एवं स्वयं अपनी सांस्कृतिक–प्रज्ञा के बलपर ही **सत्तासापेक्षतामूला धर्म्मनिरपेक्षता** से होने वाले **सर्वनाश**, तथा सत्तानिरपेक्षमूला **धर्म्मसापेक्षता** से होने वाली **सर्वसमृद्धि** का समतुलन कीजिए!

"तत्-अवक्लृप्तमेव-यत्-ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्। यद्यु राजानं लभेत-समृद्धं तत्-(राज्ञः)। एतद्ध त्वेव-अनवक्लृप्तं-यत् क्षत्रियः (शासकः) अब्राह्मणः (ब्राह्मणनिरपेक्षः-संस्कृतिनिरपेक्षः-धर्म्मनिरपेक्षः) भवति। यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुते-अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण,-न हैवास्मै तत् (सत्तातन्त्राय) समृध्यते। तस्मादु क्षत्रियेण (सत्तातन्त्रेण) कर्म्म-करिष्यमाणेन-उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः। सं हैवास्मै तद्ब्रह्म-प्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते"।

—शत० ४।१।४।६*

२०१–उद्बोधनसूत्र के आधार पर ही उपनिबद्ध सत्तानिरपेक्ष प्रस्तुत सांस्कृतिक–निबन्ध–

यही वह उद्बोधनसूत्र है, जिसके अनुग्रह से सत्ताव्यामोहन से हम अपना परित्राण करने के प्रयत्न में जागरूकता अनुभूत कर रहे हैं, जिसकी सफलता का उत्तरदायित्व तो उस इष्टदेवानुग्रह पर ही अवलम्बित है, जिसने सदा से ही ऐसे अनेक लोकैषणात्मक–वित्तैषणात्मक–व्यामोहनों से हमारा परित्राण किया है। उसी इष्टदेव की प्रेरणा से एकमात्र सांस्कृतिक–जनतन्त्र के आभ्यन्तर सांस्कृतिक–स्रोत की अपेक्षा करते हुए ही प्रस्तुत निबन्ध लिपिबद्ध हुआ है, जिसका एकमात्र उद्देश्य है भारतराष्ट्र की लोकैषणा–वित्तैषणा से असंसृष्टा आस्था–श्रद्धाशीला जनता के हृदयसमुद्र में परम्परा से प्रवाहित सांस्कृतिक–प्रवाह का आश्रय लेते हुए भारतराष्ट्र की **सनातनसंस्कृति**, **सनातनसांस्कृतिक–आचार**, एवं तन्मूलक **सांस्कृतिक–आयोजनों** के द्वारा राष्ट्रीय अभ्युदय–निःश्रेयस् की अजस्रोपासना।

२०२–'राजा कालस्य कारणम्' मूला सत्ताश्रयता की कामना से समाप्लुत युगधर्म्म-ज्ञाता ये विद्वान्––

निबन्ध के नामकरण में समाविष्ट–**'सत्तानिरपेक्ष–संस्कृति** शब्द, एवं **सत्तासापेक्ष सभ्यता** शब्द का **चिरन्तन इतिवृत्त**' इस पूर्वभाग के **'सत्तानिरपेक्ष** अंश से सम्भव है वर्त्तमानयुग के सांस्कृतिक–विद्वान् मनस्तुष्टि का अनुभव न कर सकें, जो–**'राजा कालस्य कारणम्'** इस महाभारतीय ऐतिह्य वचन को अग्रणी बनाते हुए सदा से ही सत्तातन्त्र की आश्रयता के लिए लालायित बनें रहते हैं। वचन अवश्य महाभारत का है, अतएव सर्वथा प्रामाणिक भी। इस में भी कोई सन्देह नहीं कि, जिस युग में जैसा सत्तातन्त्र रहता है, उस युग में तत्सत्तातन्त्र की युगधर्म्मानुगता तन्मान्यताएँ हीं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से तद्युगीय जनतन्त्र के द्वारा अनिवार्य्यरूपेण अनुगमनीया बनीं रहतीं हैं, अथवा तो सत्तातन्त्र के द्वारा विवशतापूर्वक अनुगमनीया बना दीं जातीं हैं दृढतम विधि–विधानों के द्वारा। अतएव युगधर्म्मानुगत काल के प्रति अवश्य

*–संस्कृति शब्द के चिरन्तन इतिवृत्त में इस वचन की विस्तार से मीमांसा हुई है निबन्ध के प्रथमप्रकरण में।

ही तत्तकालीन शासनतन्त्र को प्रमुख कारणता स्वतः ही उपलब्ध हो जाती है। इस में भी कोई सन्देह नहीं कि, युगधर्म्मानुगत बाह्य-भौतिक-लाभ-परम्पराओं की सफलताओं के लिए युगधर्म्मानुगत जनमानस के लिए तद्युगीय जनतन्त्र का समाश्रयग्रहण सर्वथा ही युगधर्म्मसम्मत, अतएव अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक ही बना रहता है। इति नु सर्वमेव सुस्थम्। किन्तु ? .... ।

२०३-'राजा कालस्य कारणम्' मूला बाह्य जीवनपद्धति, एवं सत्तातन्त्र का लौकिक-भौतिक-उत्तरदायित्त्व

किंन्तु जिस युगधर्म्मात्मक काल के अनुबन्ध से शासनतन्त्र को महात्मा भीष्म ने 'कारणता' प्रदान करते हुए-'राजा कालस्य कारणम्' यह नैतिक सिद्धान्त स्थापित किया है, उस का स्पष्ट ही 'युगधर्म्म' से ही सम्बन्ध है, जिस युगधर्म्म का ही रूपान्तर माना गया है-'सभ्यता'। प्रकृति-पुरुष-समन्वयात्मिका मानव की जीवनपद्धति प्रकृत्यैव सर्वथा दो विभिन्न धाराओं में विभक्त मानी गई है, जिसे समझने के लिए अभी हम-'आभ्यन्तर जीवनपद्धति'-'बाह्य जीवनपद्धति' नाम से व्यवहृत कर लेते हैं। आत्मपुरुषप्रधान अपने आत्मबुद्धिस्वरूप से मानव जहाँ आभ्यन्तर जीवनपद्धति का अनुवर्त्मा है, वहाँ आत्मप्रकृतिप्रधान अपने मनः-शरीरस्वरूप से वही मानव बाह्य जीवनपद्धति का अनुगामी बना रहता है। आभ्यन्तरपद्धति का नाम है संस्कृति, एवं बाह्यपद्धति का नाम है सभ्यता, एवं यही दोनों में वह महान् अन्तर है, जिसे अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ बनाते हुए ही हमें 'राजा कालस्य कारणम्' का समन्वय करना चाहिए।

२०४-'महात्मा'-'दुरात्मा'--शब्दों का अर्थसमन्वय, एवं 'संस्कृति'-सभ्यता' भावों का अन्तः-बाह्य-वृत्तियों से समतुलनात्मक-समन्वय—

जैसी आभ्यन्तरजीवनपद्धति, तदनुरूपा ही बाह्यजीवनपद्धति, यही वास्तविक जीवनपद्धति है। 'बाहिर-भीतर-सब ओर समान प्रवाह' ही 'महात्मा' की स्वरूप परिभाषा है, एवं 'भीतर कुछ ओर, बाहिर कुछ ओर' ही 'दुरात्मा' की स्वरूपपरिभाषा है, जिसका लोकभाषा में यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, 'जिनके संकल्प, कर्म्म, वाणी, तीनों समानपथानुगामी हैं, वे ही 'महात्मा' हैं, एवं जो सोचते कुछ ओर हैं, करते कुछ अन्यथा ही हैं, एवं कहते कुछ विचित्र ही हैं, वे ही 'दुरात्मा' हैं*। इस मान्यता के अनुबन्ध से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, आत्मबुद्धिनिबन्धना आभ्यन्तरजीवनपद्धतिलक्षणा 'संस्कृति', तथा मनःशरीरनिबन्धना बाह्यजीवनपद्धतिलक्षणा 'सभ्यता', दोनों का समानपथानुगामित्व ही होना चाहिए। संस्कृति के अनुरूप ही सभ्यता होनी चाहिए। सहजभाषानुसार-संस्कृति के ही लोक-बाह्यरूप को 'सभ्यता' कहना चाहिए, एवं सभ्यता के ही सूक्ष्म-आभ्यन्तररूप को 'संस्कृति' कहना चाहिए।

---

* मनस्येकं वचस्येकं कर्म्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यत्-वचस्यन्यत्-कर्म्मण्यन्यत्-दुरात्मनाम् ॥

२०५-संस्कृतिरूपा आभ्यन्तरजीवनपद्धति के आधार पर प्रतिष्ठिता सभ्यतारूपा बाह्य-जीवनव्यवस्था का नियामक सत्तातन्त्र, एवं इसकी अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षिता संस्कृतिसापेक्षता, तथा स्वयं संस्कृति की सत्तानिरपेक्षता---

और इसी समसमन्वयात्मक अनुरूप पक्ष को वास्तविक पथ माना जाना चाहिए, माना गया है यही पथ वास्तविक पथ उस अवस्था में, जब कि आत्मबुद्धिमूला राष्ट्रीय-संस्कृति का उपासक ब्राह्मण लोकव्यासङ्गों से अपने आपको सर्वथा निरपेक्ष रखता हुआ 'संस्कृति' का 'संस्कृति' के रूप से ही चिन्तन मनन करता हुआ उसके सांस्कृतिक उद्बोधनसूत्रों से राष्ट्रीय सत्तातन्त्र को जागरूक बनाए रखता है। एवं जब कि मनःशरीर-मूला राष्ट्रीय सभ्यता का संरक्षक शासनतन्त्र लोकवित्तैषणासङ्गों से अपने आपको सर्वथा निरपेक्ष रखता हुआ, किन्तु सभ्यता की मूलाधारभूता राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति सर्वात्मना सापेक्ष बना रहता हुआ तदाधारेणैव लोक-सभ्यता के नियमन-व्यवस्थापन में जागरूक बना रहता है। यों संस्कृतिसंदेशवाहक प्रज्ञावर्ग के प्रज्ञासूत्रों को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाता हुआ शासनतन्त्र लोकसभ्यता का आभ्यन्तरसंस्कृति के साथ समन्वय स्थापित रखता हुआ सचमुच संस्कृति, तथा सभ्यता, दोनों के उत्तरदायित्व से अपने आपको समन्वित कर लेता है। यह तभी सम्भव है, जब कि राष्ट्र की मूलसंस्कृति से अनुप्राणिता सांस्कृतिक-सभ्यता के अनुरूप ही शासनतन्त्र राष्ट्र को उपलब्ध होता रहे।

२०६-राष्ट्रीय मूलसंस्कृति से निरपेक्ष, किंवा संस्कृति के विरोधी शासनतन्त्र की नियामक व्यवस्थाओं में जनतन्त्र की अनुशासनहीनता, एवं तद्दुष्परिणाम-स्वरूप राष्ट्र में विप्लवयुग का आविर्भाव—

यदि दुर्भाग्यवश शासनतन्त्र तद्राष्ट्र की मूलसंस्कृति का विरोधी है, तो उस दुरवस्था में संस्कृति, तथा सभ्यता का सहज सम्बन्ध उच्छिन्न हो जाता है। एवं ऐसे परशासनतन्त्रों से राष्ट्र की मूलसंस्कृति तो बन जाती है अन्तर्मुख, एवं तत्स्थान में प्रभाव होजाता है बाह्य सभ्यता का। और यों राष्ट्र अपनी मूलसंस्कृति की अन्तर्मुखता के साथ साथ तदनुरूपा सांस्कृतिक-सभ्यता से भी पराङ्मुख हो जाता है। ऐसे परसत्तात्मक भीषण अवसरों में राष्ट्र-का क्या कर्त्तव्य है ?, यही वह महती समस्या है, जिसने विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतराष्ट्र को धारावाहिकरूपेण उत्पीड़ित कर रक्खा है। भारतराष्ट्र की संस्कृति, एवं तदनुरूपा सभ्यता, दोनों हीं उत्पीड़ित हीं बनती आरही हैं तथोक्ता अवधि में। अतएव इस कालावधि को अवश्य ही भारतराष्ट्र के लिए 'आपद्धर्म्मयुग' ही माना जा सकता है।

२०७-सांस्कृतिक-उत्पीड़नात्मक आपद्धर्म्मयुग, एवं आपद्धर्म्मयुगों में संस्कृतिनिष्ठ प्रज्ञाशीलों के लिए अनुष्ठेय कर्त्तव्यकर्म्म की रूपरेखा--

क्या कर्त्तव्य शेष रह जाता है आपद्धर्म्मयुगों में ?, इसी प्रश्न-समाधान के सम्बन्ध में प्रकृतिरहस्य-वेत्ता महात्मा भीष्मने-'**राजा कालस्य कारणम्**' कहा है, जिसका अर्थ है--'**अयं तु युगधर्म्मो हि, दीयते कस्य दूषणम्**'। शासनतन्त्रानुगत युगधर्म्म के प्रभाव से जब राष्ट्र के मन, और शरीर परसत्ताओं की सभ्यता के अनुकरण में समाविष्ट हो जाते हैं, तो स्वतः ही इस की अपनी सांस्कृतिक-सभ्यता भी संस्कृति की अन्तर्म्मुखता

के साथ अन्तर्मुख ही बन जाती है। और शासनदोष (परसत्तादोषजनिता परतन्त्रता) से उत्पन्न इस विवशता से राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता, दोनों हीं अभिभूत होजाते हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रप्रजा क्या करे ?, इसी प्रश्न के समाधान के लिए शास्त्रने–'आपद्धर्म्म' व्यवस्थित किया है। यह बहुत सम्भव है, अधिकतमरूपेण सम्भव है, किंवा एकप्रकार से निश्चित ही है कि, संस्कृतिविरूद्धा सत्ता कदापि राष्ट्रप्रजा की बाह्यजीवनपद्धति–रूपा सांस्कृतिक– सभ्यता को पुष्पित पल्लवित नहीं होने दे सकती। अतएव दृढतम विधि–विधानों के द्वारा वह राष्ट्र प्रजा को स्वसभ्यता के मनवाने के लिए विवश कर देती है। इत्थंभूत अभिभवयुगों में राष्ट्रप्रजा का एकमात्र यही कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि, जिस सांस्कृतिक ह्रास से इसे परसत्ता के वारुणपाश में आबद्ध हो जाना पड़ता है, उस मूलसंस्कृति की रक्षा में ही यह परोक्षरूपेण अपने आप को समर्पित करदे सत्तातन्त्र के प्रति अपने आप को सर्वथा निरपेक्ष ही प्रमाणित करते हुए। सत्तातन्त्र के उपलालनात्मक भोग्य के लिए आपद्धर्म्मधिया थोड़ी देर के लिए राष्ट्रप्रजा अपनी सभ्यता को विस्मृत कर (अनिच्छन्नेव– विवशतावशादेव) अपने मन: शरीर सत्ता के प्रति समर्पित करदे जड़यन्त्रवत्। नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।

२०८–सत्तामदान्ध नहुषादि सत्ताधीशों के उत्पीड़नयुग, एवं धर्म्मविप्लवात्मक तद्युगों में आस्था-श्रध्दा-शीला भारतीय प्रजा के द्वारा संस्कृत्यनुशीलन-माध्यम से ही सांस्कृतिक-निष्ठा का संरक्षण---

सत्तामदान्ध नहुष यदि सप्तर्षिप्रवरों से शिबिका (पालकी) उठवा लेता है, सप्तर्षि यदि आपद्धर्म्म समझ कर नहुष के वाहन बन जाते हैं, तो राष्ट्रप्रजा को भी मानसिक–शारीरिक–उत्पीड़नों का स्वागत करते हुए परसत्ता की सभ्यताओं का अनुरक्षण करते ही रहना चाहिए, किन्तु अन्तर्जगत् में आत्मबुद्धिभावेन 'संस्कृति' का चिन्तन–मनन–परोक्ष आचरण–आयोजन–करते हुए ही। ऐसा ही किया है इस राष्ट्र–की आस्था–श्रद्धा–परायणा–सांस्कृतिकी उस परमधन्या–मान्या–श्रद्धेया–आर्षप्रजा ने, जो विगत तीन सहस्र वर्षों से अपने मनःशरीरात्मक बाह्यतन्त्रों को आततायीवर्गों के द्वारा निरन्तर उत्पीड़ित–शोषित–भर्त्सित–अवमानित–कराते हुए भी अपनी आभ्यन्तर–सांस्कृतिकनिष्ठा को स्खलित–आचारपद्धतियों के द्वारा, अव्यवस्थित सांस्कृतिक–आयोजनों के द्वारा, पर्वोत्सवपरम्पराओं के द्वारा, महासङ्गीसात्मक–पावन–लोकगीतों के द्वारा, एवं अन्यान्य भी ज्ञात–अज्ञात परःशत प्रकार-माध्यमों के द्वारा गच्छतः स्खलनरूप से अद्यावधि आत्मबुद्धिमूला संस्कृति के बीज सुरक्षित ही रखती आ रही है।

२०९--'राजा कालस्य कारणम्' का अवनतशिरस्करूपेण अभिनन्दन करने वाली भी भारतीय प्रजा के द्वारा सत्तामदान्धयुगों में अनुशीलनधर्म्म के माध्यम से ही राष्ट्रीय-संस्कृति का संरक्षण—

'राजा कालस्य कारणम्' के आगे अवनतशिरस्क बनती रहने वाली भी यह राष्ट्रप्रजा, सत्ता के नाम–श्रवण से भी विकम्पित हो पड़ जाने वाली यह मनःशरीरभावुक–जनता देखने सुनने–व्यवहार आदि में बाह्यरूप से सभी ओर से बदलती रही उन सत्तायुगों में, जिस बदलाव के कारण इसकी वेशभूषा बदलती रही, भाषा–लिपियाँ बदलतीं रहीं, खान–पान–रहन–सहन के अभ्यास बदलते रहे। और यों देखने–सुनने–कहने–

मानने-मनवाने के लिए सभी कुछ आमूल-चूड़ बदलता ही गया सत्तापरिवर्त्तनानुपात से इस राष्ट्रीयप्रजाका। किन्तु न बदलने वाली आत्ममूला संस्कृति को आजतक कोई भी आततायी प्रचण्ड प्रयास करता हुआ भी न बदल सका। कभी भी किसी भी युग में राष्ट्र अपनी मूलसंकृति, तद्रूप मूलशास्त्र, तत्प्रतिपादित धर्म्म, एवं तदनुप्राणित धार्म्मिक विधि-विधानों को एकहेलया सर्वात्मना विस्मृत न कर सका। अपितु घोरघोरतम आपत्कालों में इतस्ततः लुक-छिप कर, लोकतन्त्र के सभी अनुरञ्जनों से अपने आपको सर्वथा पृथक् कर राष्ट्र का वह पीड़ित भूदेव अपने इस सांस्कृतिक शब्दकोश को अपने मानस पटल पर खचित करते हुए इसे बचाता रहा, जिस की कृपा से ही आजतक सांस्कृतिक–परम्पराएँ राष्ट्र प्रजा को उपलब्ध हो रहीं हैं।

२१०–संस्कृतिस्वरूपान्वेषणपरायण राष्ट्रीय भूदेव का निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से मत-वादाभिनिविष्टों, तथा-सत्तातन्त्रों के द्वारा उत्पीड़न, एवं सत्ताभक्त--युग--धर्म्ममर्म्मज्ञ--बुद्धिवादी विद्वानों के द्वारा व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक व्यक्तित्त्व स्थापन के लिए विभिन्नकौशल--व्यासङ्गों का अनुगमन–

इसकी इसी सांस्कृतिक–निष्ठा को देख सुन कर विगत तीन सहस्र वर्षों में कीटाणु–न्यायेन समय समय पर आविर्भूत–तिरोभूत होते रहने वाले सभी सत्तातन्त्रोंनें, तदनुगामी तत्सापेक्ष सभी मतवादों–सम्प्रदायवादों–सन्तवादोंनें इस राष्ट्रीय ब्राह्मण की भर्त्सना–अपमान–तिरस्कार करते रहने में भी कोई न्यूनता नहीं की। किंतु ? का उत्तर तो सत्तासापेक्षवादी उन विद्वानों से ही पूँछना चाहिए, जो **'राजा कालस्य कारणम्'** रूप वाकछल के माध्यम से इच्छापूर्वक अपने मनःशरीरात्मक बाह्य-रूप को भी सत्ता के प्रति समर्पित किए हुए हैं, एवं अपनी इन मानसिक लोकैषणाओं, तथा शारीरिक वित्तैषणाओं की लिप्सा–लालसा–पूर्ति की दुराशा से ही आत्मबुद्धिरूप आभ्यन्तरस्वरूप को भी सर्वात्मना उसी सत्ताव्यामोहन से व्यामुग्ध प्रमाणित कर चुके हैं। सर्वस्व-समर्पक ऐसे युगधर्म्मवादी–बुद्धिवादी–श्रद्धाआस्थाशून्य विद्वानों के अनुग्रह से ही तो आज के सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र भारत में भूमिनिमज्जित उन शवशरीरों के पुरुनद्धार का प्रयास प्रक्रान्त हो पड़ा है, जो शवशरीर सत्तातन्त्र के उपलालन-साधन बने हुए हैं अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति–रूप आत्मविमोहन की कृपा से ऐसे ही विद्वानों का युग–धर्म्मानुगत वैसा मानो महान् कौशल ही है कि, एक ओर मान्यतानुगता–भावुकता प्रधाना, किन्तु श्रद्धाशील प्रजा के व्यामोहन के लिए ये ही सांस्कृतिक विद्वान् तुलसीकृत **रामायण-सूर-कबीर-रैदास-सुन्दरदास-दादू-मीरा**–आदि के गुणगान से पुलकितगात्रता का अभिनय करते रहते हैं, तो दूसरी ओर ये ही निगमभक्त वेद–भक्ता प्रजा को व्यामोहन में डालने के लिए **वेदशास्त्र** का भी घन्टाकोष करना विस्मृत नहीं करते। तो अन्यत्र ये ही महानुभाव सत्तानुरञ्जनमात्र के लिए **जातककथाओं** के आ ाप-**संलापों,–रेडियों भाषणों** से अपने आप को सर्वोदार-सर्वप्रिय-लोकसत्ताप्रिय उद्घोषित करते रहते हैं। किसी भी लोकक्षेत्र पर दृष्टि डालने का अनुग्रह कर लीजिए। सर्वत्र, सभी उन क्षेत्रों में आप सर्वप्रिय, अतएव **'महान्-सांस्कृकि-**रूपेण उप–गीयमान इन विद्वानों का कहीं **सम्मति–दानरूप** से, कही **सदस्यता** के रूप से, कहीं **लेख** के रूप से, कहीं **भाषण** के रूप से, तो कहीं अन्यान्य अज्ञात विविधरूपों से साक्षात्कार कर हीं लेंगे, जिन क्षेत्रों के द्वारा कि इन विद्वानों को अपने व्यक्तित्वविमोहन का संरक्षक सुवास अंशत: भी प्रतीत हो जाता है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, राष्ट्रीय संस्कृति–साहित्य-धर्म्म का जैसा अहित आक्रान्ता सत्तातन्त्रों से भी नहीं हुआ था, वैसा इन सत्तासापेक्ष विद्वानों के द्वारा ही होता रहा है। अस्मदादि साधारण जनमानस इन्हीं को प्रमाण मानते

आरहे हैं । और ये संस्कृतिरक्षक ही अपने व्यक्तित्वविमोहन के कारण सत्तादि सापेक्ष बनते हुए युगधर्म्मानुगता-सत्तासभ्यतानुगता उन मान्यताओं को ही 'संस्कृति' नाम से हमारे सम्मुख रखते रहते हैं, जिन मान्यताओं का 'संस्कृति' शब्द के अक्षरार्थमात्र से भी तो सम्पर्क नहीं है ।

२११-लोकव्यामुग्ध विद्वानों की कृपा से ही भारतीय--मूलसंस्कृति, सनातन--सभ्यता--आदर्श-शाश्वतधर्म्म--आचार-आदि विमल-विभूतियों का उत्तरोतर अभिभव, इत्यालप्यालमेव—

यही वह सर्वस्वघातक दृष्टिबिन्दु है, जिसने भारतीय संस्कृति-साहित्य-धर्म्म के ज्ञानविज्ञानात्मक-मतवाद-निरपेक्ष-सर्वोपकारक-सांस्कृतिक स्वरूप को अन्यथा ही प्रमाणित कर दिया है । असंस्कृति संस्कृतिरूप में, भ्रष्टसाहित्य प्रामाणिक साहित्य के रूप में, मतवाद धर्म्मरूप में क्यों परिणत होगया ?, प्रश्न का यही उत्तर है । सम्भवतः ही क्यों, निश्चय ही सापेक्षतावादी-बुद्धिवादी-व्यक्तित्वविमूढ-ऐसे सांस्कृतिक ? विद्वानों ? की कृपा से ही दुर्भाग्यवश भारत जैसे सांस्कृतिक-धार्म्मिक-राष्ट्र में भी उसके अपने हीं धार्म्मिक-सांस्कृतिक-सत्तातन्त्र के द्वारा ही आज 'धर्म्मनिरपेक्षता' जैसा शब्द विनिःसृत हो पड़ा है, **जिस विनिःसृति के तामसिक आवरण से वर्त्तमान मन्वन्तरकालानुगत पौने दो अर्ब वर्षात्मक भारतीय सांस्कृति-धार्म्मिक धवलाकाश ही आत्यन्तिकरूप से मलीमस बन गया है,** किंवा राष्ट्र की धर्म्मनिरपेक्षता ने बलपूर्वक बना दिया है, जिस इस आत्मसंवित्-शून्या, अतएव बुद्धिनिष्ठाशून्या, अतएव च केवल मनःशरीरानुप्राणिता भावुकतापङ्कनिमग्ना 'मलीमसता' से अधिक दुर्भाग्यपूर्णा घटना, किंवा घोरातिघोरा भयावहा राष्ट्रस्वरूपविनाशिका दुर्घटना और कुछ भी तो नहीं हो सकती । **'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः'** के अनुसार जब इस संस्कृति का रक्षकवर्ग ही अमुक व्यक्तित्वविमोहनों के वारुणपाशपरम्पराओं में आबद्ध होता हुआ भक्षक बन जाय, तो तथाविधा दुर्घटना के लिए किसे दोषी माना जाय ?, इति नु **आलप्यालमेवैतेन पापकथाप्रसङ्गेन, यतो हि पापानां कथापि खलु अश्रेयसे-अमङ्गलाय-पर्य्याप्तैव भवति** * ।

२१२-प्रकृतिविशिष्ट पुरुष के द्वारा लोकातीता शाश्वत--संस्कृति का, एवं पुरुषविशिष्टा प्रकृति के द्वारा लोकात्मक सांस्कृतिक-आचार-आयोजनों का पारम्परिक संरक्षण-

भारतीय-मौलिक संस्कृति, तत्स्वरूपोपबृंहक निगमागमपुराणादि मौलिक साहित्य, तत्र प्रतिपादित सांस्कृतिक आचाररूप शास्त्रीय धर्म्म, तथा सांस्कृतिक-आयोजनरूप-लौकिकधर्म्म, तत्सम्मत आदर्श, आदि आदि इन विमल-राष्ट्रविभूतियों का रक्षक-कौन ?, प्रश्न का सामाधान तो वेदशास्त्रसिद्ध उस **'अवतार-विज्ञान'** पर ही अवलम्बित है, जिसका समन्वय अव्ययेश्वरात्मा से सर्वथा ही पराङ्मुखा-जड़भूतानुगता-लौकिक बुद्धि कदापि नहीं कर सकती । लोकत्रयाधिष्ठाता-षोडशकल-**'षोडशीप्रजापति'** नाम से उपवर्णित अव्ययेश्वर भगवान् की निःश्वासरूपा-अपौरुषेया-अनादिनिधना-सनातनसंस्कृति का लोकातीत स्वरूप जहाँ

***-आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत् स दारानपाहरत् ।**
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ॥ —महाभारते

स्वयं लोकातीत ÷ अव्ययपुरुष से सुरक्षित है, वहाँ उस लोकातीता संस्कृति के लोकानुप्रविष्ट—लोकात्मक- आचार-आयोजनात्मक—प्राकृतिक—लौकिक स्वरूप का संरक्षण तद्रूपा पुरुषसहचारिणी उस महामाया प्रकृति पर ही अवलम्बित है, जो अपने सनातन—पुरुष भाव को विस्मृत कर बैठने वाले अपने औरस पुत्र—प्राकृत मानवों की—'**अपराधपरम्परावृतं नहि माता समुपेक्षते सुतम्**' न्याय से उस सीमापर्य्यन्त उपेक्षा ही करती रहती है, जिस सीमापर्य्यन्त प्राकृत बन जाने वाले भी मानव के हृदयस्थ मनुदेवता में अंशतः भी अव्यपुरुषभावत्त्वेन जागरुकता विद्यमान रहती है। यों पुरुष के आंशिक अनुग्रह से ही प्रकृति का यह आंशिक अनुग्रह मध्ये मध्ये निग्रहद्वारा उद्बोधन प्रदान करता हुआ यथाकथञ्चित् प्रक्रान्त रहता है। यदि इस आंशिक-अनुग्रह से उद्बोधन प्राप्त करता हुआ मानव अपने बुद्धिवादात्मक प्राकृतिक विमोहन का परित्याग कर देता है, तो श्रेयःपन्था। यदि दुर्भाग्यवश इन उद्बोधनक्षणों को अपने प्रभूतबुद्धिव्यामोहन से यह 'भ्रान्ति' ही मान बैठता है, फलस्वरूप अन्तरात्मा की इस सहज अनुग्रहध्वनि की यह उपेक्षा ही कर देता है, तो उस स्थित में प्रकृति भी इसे अपने अञ्चल में एक विशेष प्रकार से ही निमज्जित कर लेती है, जिसप्रकार का निरूपण आगमशास्त्रों में प्रचण्डचण्डिका—मूर्त्ति महाकाली के यशोगानावसरों पर विस्तार से हुआ है, एवं जिनके सम्बन्ध में प्रकृत्यभिन्न पुरुषेश्वर को भी अन्ततोगत्त्वा यही व्यक्त कर देना पड़ा है कि—

> **ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मानवाः ।**
> **सर्वज्ञानविमूढाँस्तान् विद्धि नष्टाचेतसः ।।** (गीता) ।

२१३—'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' मूलक प्रकृतिसिद्ध नियन्त्रण, और प्रतिक्रिया का उन्मूलन—

हाँ, तो स्पष्ट है कि संस्कृति का अलौकिक स्वरूप प्रकृतिगर्भित अव्ययेश्वर से सुरक्षित है तो, संस्कृति का लौकिक स्वरूप पुरुषगर्भिता प्रकृतिदेवी के द्वारा सुरक्षित है—'**प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति**' *। अवश्यमेव मानव का हृयस्थ अव्ययेश्वर × मानव की पुरुषार्थरूपा अलौकिक संस्कृति का, तथा मानवीय—बुद्धिमनःशरीरानुगता मानव की प्रकृति कर्त्तव्यर्थरूपा लौकिकसंस्कृति का यथानियम संरक्षण करते ही रहते हैं। और इस दृष्टि से प्रकृति-पुरुषान्विता लौकिक—अलौकिक—संस्कृति स्वयं प्रकृतिपुरुषसमन्वित प्रजापति के द्वारा स्वतः ही सुरक्षित है। अतएव सांस्कृतिक-संरक्षण का एकमात्र उत्तरदायित्त्व तन्मूर्त्ति स्वयं प्रजापति पर ही अवलम्बित है। यही तो भारतीय संस्कृति का वह लोकोत्तर पक्ष है, जिस के कारण यह-'**सनातनसंस्कृति**' कहलाई है। इसकी सनातनता का इससे अधिक और क्या प्रमाण होगा कि, इसे निर्म्मूल करने के लिए जो जो आततायी इस पर आक्रमण करते रहे, वे स्वयं ही विनष्ट होते गए इसके साथ प्रतिद्वन्द्विता करते हुए।

÷—यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः(गीता)

***—यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।**
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।। —गीता १८।५६।

×—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। (गीता)

२१४-चिदात्माव्ययपुरुष के चित्कणरूप महदक्षरब्रह्म के मानुषावतारद्वारा (अलौकिक-मानवद्वारा) ही प्रकृतिवादियों का युगे युगे नियन्त्रण, एवं संस्कृति-धर्म्म का संरक्षण—

अवश्य ही ऐसे भी अवसर आए हैं कि, विशुद्ध प्रकृतिवादी, अनात्मवादी, अतएव शून्यवादी आततायीवर्ग के वैकारिक-विजृम्भणों के कारण संस्कृति का स्वरूप अन्तर्म्मुख बन गया है उन समयविशेषों में। सर्वत्र इसी भारतराष्ट्र में शून्यवादात्मक अनीश्वरवाद, तन्मूलक प्राकृत-जड़वाद पुष्पित-पल्लवित से प्रतीत हो पड़े हैं वैसे उन भीषण अवसरों-युगों में, जिनमें कि मानवप्रकृति सर्वथा ही असमर्थ हो जाती है तथाविध विजृम्भणों के निरोध में तो प्रकृति के इस आत्यन्तिक विकम्पन से तदभिन्न चिदात्मा का **'चित्कण'** रूप अक्षरभाग निश्चयेन किसी न किसी सगुणरूप में * आविर्भूत हो ही पड़ता है, जो कि यही ईश्वरांश सांस्कृतिक-सङ्केतभाषा में-**'अवतार'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसे केवल बुद्धिवादी जहाँ 'मानव' ही मानते रहने की भ्रान्ति करते रहते हैं दुर्य्योधनादिवत्, वहाँ आत्म-देवनिष्ठ-सांस्कृतिक मानवों के लिए तो जगदीश्वर का यह सगुणावतार आराध्य ही बना रहता है-भीष्म-विदुर-युधिष्ठिरादिवत्। इसप्रकार षोडशीप्रजापति विश्वेश्वर के आधिदैविक स्वरूप के द्वारा, एवं अलौकिक-मानवात्मक-आध्यात्मिक-सगुणस्वरूप के द्वारा ही संस्कृति, तद्-भिन्न साहित्य, तदभिन्न धर्म्म आदि सर्वात्मना जब सुरक्षित हैं, तो इनकी रक्षा के सम्बन्ध में **'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः'** जैसी भावुकतापूर्ण आशङ्का का कोई भी तो स्थान शेष नहीं रह जाता।

२१५-विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति—

उपर्युक्त तथ्य के समन्वय से जब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि-**"संस्कृति स्वयं तद्रूप ईश्वरप्रजापति के द्वारा ही सुरक्षित है। अतएव अव्ययरूपा इस सनातन संस्कृति के नाश की कल्पना करने वाले स्वयं ही नष्ट हो जाया करते हैं, होते रहे हैं अतीतयुगों में, होते ही रहेंगे भविष्य में भी"**, तो-ऐसी अवस्था में पूर्वोपात्त-**"संस्कृति का रक्षकवर्ग ही जब भक्षक बन गया, तो किसे दोष दिया जाय"** इस भावुकतापूर्ण उद्गार का क्या अर्थ शेष रह जाता है ?, यही वह प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसके समाधानगर्भ में हीं भारतीय मानव की त्रिसहस्रवर्षात्मिका आत्मबुद्धिदासता का मलीमस इतिवृत्त सुरक्षित होता चला रहा है। तद्दिग्दर्शन के लिए ही हमने इस अप्रिय प्रश्न का अनुगमन कर लिया है।

---

* यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता)

२१६–धर्म्म, एवं मतवादों के विभिन्न स्वरूप, एवं वर्त्तमान भारत में मतवादों के माध्यम से ही शाश्वतधर्म्म के साथ व्याजधर्म्माचरण, तथा तद्दुष्परिणामस्वरूप ही धार्म्मिक श्रद्धा का उत्तरोत्तर स्खलन—

अपौरुषेया–नित्या–संस्कृति के आधिदैविक–सृष्टिकर्म्मात्मक स्वरूप का नाम हीं आधिदैविक–अपौरुषेयतत्त्वात्मक वेदशास्त्र है, जिसके आधार पर ही भारतीय ऋषिप्रज्ञा के द्वारा निर्भ्रान्त–स्वतःप्रमाणभूत, अतएव अपौरुषेय ही शब्दात्मक वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है, जिस इस शब्दात्मक शास्त्र के लिए ही महर्षि कणाद ने–'**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**' (वैशेषिकदर्शन) कहा है। संस्कृति के सुसूक्ष्म,–अतएव इन्द्रियातीत नियम–विधि–विधानों–ज्ञानविज्ञात्मक रहस्यों का प्रतिपादन करने वाला निगमात्मक **वेदशास्त्र**, तत्प्रामाण्यानुगत निगमात्–आगत–मर्य्यादा से ही '**आगम**' नाम से प्रसिद्ध शास्त्र, तत्स्वरूपोबृंहक **पुराणशास्त्र**, एवं विधि–विधानों का संकलितरूपात्मक मनुयाज्ञवल्क्यवसिष्ठविष्णवादि **स्मृतिशास्त्र** ही वह सांस्कृतिक–शास्त्र है, जिसमें समग्रब्रह्मरूप सांस्कृतिकभावापन्न आत्मप्रजापति के प्राकृत–सांस्कृतिक–महिमाविवर्त्तों का विस्तार से यशोगान हुआ है। अतएव इस ऋषिदृष्ट–ऋषिकृत–शास्त्र को अवश्य ही '**संस्कृतिशास्त्र**' कहा जासकता है, एवं तत्प्रतिपादित आचारायोजनधर्म्म को–'**सांस्कृतिकधर्म्म**' कहा जा सकता है। उस सनातन से यह शास्त्रधर्म्म अभिन्न है, अतएव इसे भी '**सनातनशास्त्र**' तथा '**सनातनधर्म्म**' कहा गया है, जिसका किसी भी मानव की मान्यतानुगता कल्पना से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मान्यतानुगत–मतवाद जहाँ युग युग में सत्ता–परिवर्त्तनों के साथ साथ बदलते रहते हैं, वहाँ आस्थानुगत शास्त्र, तथा धर्म्म कदापि नहीं बदला करता। यही **धर्म्म**, और **मत**, में वह महान् अन्तर है, जिसके समन्वय से वञ्चित भारतीय विद्वानों नें अपनी मान्यताओं के समावेश से सनातनशास्त्र,–सनातनधर्म्म को भी अन्यान्य मतवादों, सम्प्रदायवादों की ही श्रेणि में ला खड़ा किया है। बिना किसी संकोच के इस नग्नसत्य को स्वीकार कर लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि, **"विगत तीन सहस्र–वर्षों की अवधि में भुक्त प्रक्रान्त शास्त्र–[शास्त्रव्याख्या]–धर्म्म [धर्म्मव्याख्या] वस्तुगत्या न तो शास्त्रव्याख्या ही है, न धर्म्मव्याख्या ही है। अपितु यह तो मान्यतानुगत मत–वादमात्र है, जिसका ज्ञानविज्ञानात्मिका सनातननिष्ठा से कोई सम्बन्ध नहीं है"**। सर्वसाधारण में प्रसिद्ध आज का–**हिन्दूधर्म्म–सनातनधर्म्म** अपनी मान्यताओं–काल्पनिक व्याख्याओं के कारण सचमुच **हिन्दूमतवाद–सनातनमतवाद**–रूप में ही परिणत हो रहा है। प्रकृतिसिद्ध–पुरुषानुप्राणित आचारधर्म्म मतवादात्मक–सम्प्रदायवादों से सर्वथा ही अन्तर्म्मुख बन गया है। शास्त्रनिष्ठा के स्थान में स्वार्थलिप्सु पर–वञ्चक–आपणव्यवसायियों के सिद्धि–चमत्कार–भगद्विग्रहसाक्षात्कार–आदि आदि परःशत प्रलोभनों से आज इनके वञ्चकतापूर्ण काल्पनिक–ध्यान–भजन–कीर्त्तनादि ही 'धर्म्म' बन बैठे हैं, जो काल्पनिक पथ 'धर्म्म' शब्द के संस्मरण का भी अधिकार नहीं रख रहे। मतवादात्मक ऐसे धर्म्मने हीं तो भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक–ऐश्वर्य्य को, मङ्गलमयी आचारपद्धतियों को, स्वस्तिप्रवर्त्तक सांस्कृतिक–आयोजनों को उस सीमापर्य्यन्त अन्तर्म्मुख प्रमाणित कर दिया है कि, धर्म्म के प्रति आस्था–श्रद्धा–रखने वाले प्रज्ञाशील मानव भी 'धर्म्म' शब्द से निर–पेक्ष ही बनते जारहे हैं इन अमानवीय, किंवा दानवीय मलीमस धार्मिक–आडम्बरों की कथा सुन सुन कर।

२१७–धर्म्मव्याजात्मक धर्म्मों–मतवादों की विभीषिकाओं से ही भारतराष्ट्र में धर्म्मनिरपेक्षता का आविर्भाव—

यह सर्वात्मना विश्वसनीय है कि, यदि भारतराष्ट्र की संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आदर्श–अपने स्वस्वरूप से जागरूक बने रहते, तो कदापि यह राष्ट्र परतन्त्र होता ही नहीं। त्रिसहस्रवर्षानुगता परतन्त्रता ही यह प्रमाणित कर रही है कि, अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधक * सांस्कृतिक–धर्म्म से सर्वथा विपरीत, धर्म्मच्छलमाध्यम से स्वार्थसंसाधक मतवादों का ही प्राधान्य प्रक्रान्त रहा है भारतराष्ट्र में। इस 'धर्म्म' शब्दविमोहन से ही यहाँ की सांस्कृतिक प्रजा का विमोहन प्रक्रान्त रहा है। इसी विमोहन से राष्ट्रप्रजा-राष्ट्रीय-सांस्कृतिक–संघठन से पराङ्मुख होकर उन उन विभिन्न मतवादों में विभक्त होकर सर्वथा ही अशक्त बनती गई है। यों राष्ट्रप्रजा की चिरन्तना-पारम्परिकी-धार्म्मिक–श्रद्धा से अनुचित लाभ उठाने वाले तथाविध मतवादाभिनिविष्ट–लोकचतुरों–कुनैष्ठिकों नें 'धर्म्म' के नाम से ही राष्ट्रप्रजा को उस सीमापर्य्यन्त दिग्भ्रान्त बना दिया है कि, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँच जाने वाली जो राष्ट्रप्रजा आज से १५–२० वर्ष पूर्वपर्य्यन्त 'धर्म्म' नाम के सामने अवनतशिरस्क बन जाया करती थी, वही आज के धर्म्मनिरपेक्ष वातावरण में 'धर्म्म' के प्रति, एवं तन्मूलक साहित्य के प्रति सर्वथा तटस्थ निरपेक्ष ही प्रमाणित हो चली है।

२१८–प्रज्ञातन्त्र, और सत्तातन्त्र के विभिन्न व्यवस्थित–मर्य्यादित–कर्त्तव्यकर्म्म, एवं तद्द्वारा ही राष्ट्र की संस्कृति, तथा सभ्यता का स्वरूपसंरक्षण–अभिवर्द्धन—

संस्कृति का, एवं तदभिन्न साहित्यका आचारात्मक-आयोजनात्मक-(व्यावहारिक) लोकपक्ष ही संस्कृत्यादिका वह ऐहिक स्वरूप है, जिसके संरक्षण का प्रधान उत्तरदायित्त्व उस 'ब्राह्मणवर्ग' से अनुप्राणित कर दिया था ऋषिप्रज्ञा ने, जिसका एकमात्र कर्त्तव्य था—"सम्पूर्ण एषणाओं से अपने आपको सर्वथा पृथक् रखते हुए, किसी भी व्यक्तित्त्वविमोहन–पदप्रतिष्ठा–सम्मान–उपाधि–ख्याति–आदि विमोहन से कोई सम्पर्क न रखते हुए गुहानिहित-रूपेण संस्कृति की आराधना करते हुए ज्ञानविज्ञानतत्त्वों के द्वारा उसके व्यावहारिक स्वरूप को राष्ट्रप्रजा के सम्मुख उपस्थित करते जाना"। एवं सत्तातन्त्र का एकमात्र उत्तरदायित्त्व था–"इस उपस्थिति में विघ्न उपस्थित करने की इच्छामात्र रखने वाले भी आततायीवर्गों का मूलोत्पाटन करते जाना"। इसप्रकार ब्रह्ममित्र, तथा क्षत्रवरुण के सामञ्जस्यरूप इस मैत्रावरुणग्रह के द्वारा ही, सहजभाषा में संस्कृतिरक्षक ब्राह्मणवर्ग, तथा संस्कृतिप्रचारव्यवस्थासरक्षक सत्तातन्त्र के समन्वय–सहयोग के द्वारा ही राष्ट्रप्रजा स्व स्व कर्त्तव्याचारनिष्ठाओं में जागरूक बनती हुई अभ्युदय–निःश्रेयस् का संग्रह करती रहती थी।

२१९–व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक 'अधिकार' शब्द, तथा व्यक्तित्त्वसंरक्षक 'उत्तरदायित्त्व' शब्द, एवं दोनों के समतुलन–माध्यम से वस्तुस्वरूप–निष्कर्षानुगमन—

यद्यपि सामान्य दृष्टि से ब्रह्ममित्र, तथा क्षत्रवरुण, दोनों को ही दोषी माना जा सकता है, माना गया है सांस्कृतिक–अभिभव के लिए। तथापि प्रधानता उस ब्राह्मणवर्ग ही मानी जायगी, जिसकी सापेक्षता ने ही सत्तातन्त्र को सर्वप्रथम दिग्भ्रान्त बना देने का महत्पुण्यार्ज्जन ! कर डाला। निश्चयेन एकमात्र

---

*- यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः–स धर्म्मः (वैशेषिकदर्शन–कणादसूत्र)।

भारतीय ब्राह्मण की कारणतामूला शास्त्रवादिताने हीं संस्कृति के आचारात्मक मौलिक-स्वरूप को सर्वप्रथम अभिभूत किया है। यों यह रक्षक ही भक्षक बन गया है भारतीय संस्कृति का। सांस्कृतिक 'उत्तरदायित्त्व' अन्य पक्ष है, एवं सांस्कृतिक-'अधिकार' विभिन्न पक्ष है। 'निष्कारणता' जहाँ उत्तरदायित्त्व को जन्म देती है, वहाँ 'कारणता' अधिकार को जन्म दे डालती है। मनःशरीरानुगत प्राकृतिक विवर्त्त जहाँ अमुक सीमापर्य्यन्त 'अधिकार' क्षेत्र की वस्तु है, वहाँ आत्मबुद्ध्यनुगत पुरुषविवर्त्त सर्वात्मना 'उत्तरदायित्त्व' क्षेत्र से अनुप्राणित है। सहजभाषानुसार-आत्मसंविदनुगता अबुद्धिवादात्मिका बुद्धिनिष्ठा का ही नाम जहाँ 'उत्तरदायित्त्व' है, वहाँ मनोऽनुगता शारीरिक भावानुबन्धिनी मानसिक भावुकता का ही नाम 'अधिकार' है। उत्तरदायित्त्व जहाँ निष्कारण 'कर्त्तव्यनिष्ठा' का संरक्षक है, वहाँ अधिकार सकारण 'कर्त्तव्यमोह' का प्रवर्त्तक माना गया है। कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठात्मक उत्तरदायित्त्व में जहाँ प्रतिदानकामना का प्रवेश भी निषिद्ध है, वहाँ कर्त्तव्य मोहात्मक अधिकार में पदे पदे प्रतिक्षण प्रतिदानकामना जागरूक बनी रहती है। उत्तरदायित्त्व जहाँ मानव को अनन्यनिष्ठा से कर्त्तव्यनिष्ठा में आरूढ रखता है, वहाँ अधिकारव्यामोहन मानव को अन्यान्य व्यासङ्गानुगता भावुकताओं की ओर आकर्षित करता हुआ इसे कर्त्तव्यच्युत बनाता रहता है। उत्तरदायित्त्व में न उद्घोष है, न प्रचार है, न यशःकामुकता। अपितु-सर्वथा मूकभाव से स्वकर्त्तव्यकर्म्म की अनुगति है, जबकि अधिकार-क्षेत्र में पदे पदे प्रचण्ड उद्घोष है, प्रचारव्यामोहन है, यशःकामनानुगति है, अतएव च कर्त्तव्य-कर्म्मविस्मृति है।

२२०-आत्मबुद्धिक्षेत्रानुगत उत्तरदायित्त्व, एवं मनःशरीरक्षेत्रानुगत अधिकारत्त्व, तथा उत्तरदायित्त्व से नियन्त्रित अधिकार का भी उत्तरदायित्त्व पर ही विश्राम, एवं तन्मूला कर्त्तव्यनिष्ठा—

अवश्य ही मानसिक-शारीरिक-भावों में 'अधिकार' भी अपेक्षित है, किन्तु आत्मिक-बौद्धिक-उत्तरदायित्त्व के नियन्त्रण के द्वारा ही। उत्तरदायित्त्व से नियन्त्रित अधिकार भी उत्तरदायित्त्व की सीमा में हीं अन्तर्भूत हो जाता है। अतएव ऐसा प्राकृतिक अधिकार अधिकारव्यामोहक कदापि नहीं बन सकता। कर्त्तव्यनिष्ठात्मक उत्तरदायित्त्व के नियन्त्रण से पृथक् हो जाने वाला कर्त्तव्यशून्य 'अधिकार' ही मानव के व्यक्तित्त्व विमोहन को जन्म दे डालता है। और इसी विमोहनावस्था में आकर मानव अपने मानसिक-शारीरिक-भौतिक-पद को, लोकसम्मान को ही अपना 'व्यक्तित्त्व' मान बैठता है। इसी व्यक्तित्त्वभ्रान्ति में इस भ्रान्ति के जनक 'पदाधिकार' को ही यह अपने मानवीय जीवन की चरम सफलता मान बैठता है, जो कि वस्तुतः इसकी अन्तिम निष्फलता ही माना गया है। आत्मबुद्ध्यनुगत उत्तरदायित्त्व से पराङ्मुख, एवं मनःशरीरानुगत अधिकारव्यामोहन से समन्वित इसी सर्वविनाशक अधिकारशब्द ने सर्वप्रथम संस्कृति के लोकपक्षसंरक्षक ब्राह्मण को ही पदप्रतिष्ठा की ओर आकर्षित किया।

२२१-कारणतावादात्मिका 'उपयोगिता' के महान् व्यामोहन से ही राष्ट्र की 'ब्राह्मण-प्रज्ञा' का पतन, एवं तद्ध्परिणामस्वरूप ही सांस्कृतिक-निष्ठा का क्रमिक-ह्रास, तथा राष्ट्रीय ब्राह्मण से प्रणतिपुरस्सर किञ्चिदिव आवेदन—

यही अधिकारव्यामोहन सर्वप्रथम 'ब्राह्मण' शब्द को 'ब्राह्मणवाद' रूप में परिणत कर देने जैसे जघन्यतम कर्म्म का प्रथम प्रवर्त्तक बना मनःशरीरानुबन्धिनी 'कारणता' के आकर्षण से। इसी ने—'निष्का-

रणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' सूत्र की उपेक्षा की सबसे पहिले, इसी ने 'सम्मानान्नित्यमुद्विजेत' के साथ गजनिमीलिका करते हुए अपने आपको सर्वश्रेष्ठ–सम्मानित–पूज्य–महाराज–जैसी उपाधियों से सम्मानित होना आरम्भ कर दिया। और यों इन **लोकसम्मान-एषणा-लिप्सा-लालसा-गृध्नुता-पिशुनता**-आदि आदि आधिकारिक व्यामोहनों में आसक्त-व्यासक्तमना इस राष्ट्रीय ब्राह्मण ने अपने आपको '**राष्ट्रभूमा**' रूप महान् उत्तरदादित्व से पराङ्मुख कर व्यक्तिमात्र में हीं सीमित कर लिया। एवं निःसन्देह कारणतान्वेषणपरायण, अतएव बहिर्मुख,–अतएव मनःशरीरानुगत,–अतएव आत्मबुद्धिनिष्ठावञ्चित,–अतएव उत्तरदायित्वशून्य, अतएवच अधिकारव्यामोहननिरत इस भूदेव की सत्तासापेक्षतामूला इसी एषणा ने आत्मबुद्ध्यनुगता संस्कृति के मौलिक स्वरूप को तो बना दिया अन्तर्म्मुख, एवं मनःशरीरानुगता मतवादपरम्परा को ही बना दिया उपास्य। यों स्पष्ट ही एकमात्र ब्राह्मणने हीं अपने उत्तरदायित्वपूर्ण रक्षाधर्म्म से पराङ्मुख होकर स्वयं ने हीं संस्कृति के लोकानुगत सांस्कृतिक आचारपक्ष का भक्षण ही कर लिया अपनी एषणा–लिप्सा की तृप्ति–तुष्टि के लिए। इसी दृष्टि से हमें–'**कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः**' कहना पड़ा है, जिस कथन के प्रायश्चित्त का उत्तरदायित्व भी सम्पूर्ण भारतराष्ट्र में एकमात्र ब्राह्मणवर्ग से ही अनुप्राणित माना जयगा। एवं इसी अनुप्राणनधर्म्माकर्षण से भारतवर्ष के अभिनव-उद्बोधनप्रदाता अमुक महानुभाव की '**ब्राह्मण सावधान !**' इस आक्रोशपूर्णा भी वैखरी वाणी का अभिनन्दन ही करेगा एतद्देशीय राष्ट्रीय–ब्राह्मण। सचमुच ब्राह्मण की प्रारम्भिक असावधानीने हीं राष्ट्रीय-संस्कृति-साहित्य-धर्म्म के सम्प्रदायवादनिरपेक्ष मौलिक स्वरूप को अभिभूत किया है, तो निश्चयेन एकमात्र इसी की सावधानी के अनुग्रह से ही पुनः संस्कृति का वास्तविक स्वरूप राष्ट्र में जागरूक होगा, अवश्यमेव जागरूक होगा, इसी मङ्गलकामना को शीघ्र से शीघ्र आचाररूप में परिणत करने के लिए ही अनन्य श्रद्धेय राष्ट्र के उन भूदेवों के प्रातःस्मरणीय चरणयुगलों में हीं यह निबन्धप्रसून अनन्य श्रद्धा से समर्पित होने जारहा है, जिन के जागरण से ही, जिन की सत्तादिनिरपेक्षा सांस्कृतिकी–स्वाध्यायनिष्ठा से ही भारतराष्ट्र का भविष्य समुज्ज्वल बन सकेगा, अवश्यमेव बनेगा ही।

२२२–'आपत्तिकाले मर्य्यादा नास्ति' न्यायानुबन्ध से 'राजा कालस्य कारणम्' के गर्भ में सुरक्षित इतिवृत्त का स्वरूपदिग्दर्शनोपक्रम—

आज के राष्ट्रीय ब्राह्मण का तथाविध महान् उत्तरदायित्व सुनने सुनाने में जितना हीं अधिक प्रिय है, आचारदृष्ट्या वह उतना ही अधिक–दुरूह भी बन रहा है–पूर्वोक्त–'**राजा कालस्य कारणम्**' इस वाक्यानुग्रह से, जिस वाक्य के गर्भ में भी एक वैसा इतिवृत्त अनेक शताब्दियों से सुरक्षित होता चला आरहा है, जिस के विश्लेषण में तो यद्यपि सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मण को तटस्थ ही बना रहना चाहिए था। तथापि राष्ट्र के प्रक्रान्त महान् आपद्धर्म्म के आकर्षण से–'**आपत्तिकाले मर्य्यादा नास्ति**' के अनुबन्ध से उस इतिवृत्त के दिग्दर्शन का लोभ भी द्विजातिभावादुपपन्नचापल इस ब्राह्मण से संवृत नहीं हो पा रहा है। श्रूयताम्। श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् !

२२३–राष्ट्रीय ब्राह्मण के 'व्यक्तिब्राह्मण' बन जाने से राष्ट्रीय सत्तातन्त्र का पतन, एवं सम्मान--सत्ता--सम्पत्ति--सेवा--रूप पुरस्कारों का आत्यन्तिक--दुरुपयोग—

उत्तरदायित्वपूर्ण सांस्कृतिक–निष्ठा–पथ से पराङ्मुख '**राष्ट्रीय ब्राह्मण**' ब्राह्मणवादात्मक साम्प्रदायिक–मतवादों का सर्ज्जक बनाता हुआ जब '**व्यक्तिब्राह्मण**' बन गया, तो–'**महाजनो येन गतः स पन्था**'

सूक्ति को चरितार्थ करता हुआ राष्ट्र का 'राष्ट्रीय सत्तातन्त्र' भी अपनी मनोनिबन्धना मान्यताओं के आवेश से आकर्षितमना बनता हुआ 'व्यक्तिसत्तातन्त्र' रूप में परिणत होगया। सीधी साधी सहजभाषा में—ब्राह्मण की 'संस्कृति' जहाँ राष्ट्र की उपेक्षा कर इस के व्यक्तिपदप्रतिष्ठासंरक्षणकर्म्म में सीमित होगई, तथैव सत्तातन्त्र की 'सत्ताशक्ति' भी राष्ट्र की उपेक्षा कर इस के पदप्रतिष्ठासंरक्षणकर्म्म में हीं सर्वात्मना समर्पित होने लग पड़ी। सम्मान–सत्ता–सम्पत्ति–सेवा–रूप चतुर्विध राष्ट्रीय पुरस्कार व्यक्तितन्त्रों में सीमित होगए। संस्कृति–प्रतिष्ठा से वञ्चित राष्ट्र के सभी वर्ग इन राष्ट्रीय पुरस्कारों को अपना वैय्यक्तिक दायाद (बपौती) मानने–मनवाने का ही भ्रम कर बैठे।

२२४–राष्ट्रीया–ज्ञानशक्ति, पौरुषशक्ति, अर्थशक्ति, प्रवर्ग्यशक्ति–चतुष्टयी का वैय्यक्तिक-संरक्षणों में उपयोग, एवं राष्ट्र की अशक्तता—

राष्ट्रीया ज्ञानशक्ति, पौरुषशक्ति, अर्थशक्ति, प्रवर्ग्यशक्ति, चारों हीं शक्तियाँ वैय्यक्तिक तन्त्रों के रक्षण में प्रवृत्त होतीं हुईं राष्ट्र को भी अरक्षित बना बैठीं, एवं तल्लिप्सु व्यक्ति–वर्गों को भी अरक्षित कर बैठी। 'राष्ट्र' रूप भूमाभाव की उपेक्षा के दुष्परिणामस्वरूप ही ज्ञानवर्ग के साथ साथ ही राष्ट्र का शासकवर्ग भी वैय्यक्तिक–मानसिक काम, एवं शारीरिक भोगों को ही सत्ताबल का एकमात्र सुफल ? मानता हुआ राष्ट्रव्यवस्था-संरक्षण के स्थान में राष्ट्रव्यवस्था-भक्षक ही बन बैठा।

२२५–संस्कृतिभक्षक ब्राह्मण, आचारव्यवस्थाभक्षक सत्तातन्त्र, सर्वस्वभक्षक वणिक्तन्त्र, तथा शर्म्म–वर्म्म–गुप्त–भावों की अभिभूति, एवं 'गुप्ततन्त्र' का महान् विजय—

संस्कृति को यदि ब्राह्मण ने खाया, तो सांस्कृतिक–आचार–व्यवस्थाओं को सत्तातन्त्र ने खाडाला। जब दोनों रक्षक यों भक्षक बन गए, तो सम्पत्तिशाली तीसरा वर्ग कैसे तटस्थ रह सकता था। इस 'गुप्त' की (सुरक्षित की) गुप्तता (सुरक्षा) का उत्तरदायित्त्व राष्ट्र के चर्म्मस्थानीय जिस शर्म्मन् ब्राह्मण पर, तथा राष्ट्रके वर्म्म (कवच) स्थानीय वर्म्मन् क्षात्रसत्तातन्त्र पर अवलम्बित था, इन दोनों चर्म्म, और वर्म्म (चमड़े और कवच) रक्षकों से जैसे शरीररूप-समाज सुगुप्त सुरक्षित रहा करता है, तथैव चर्म्मन् (शर्म्मन्) वर्म्मन्रूप ज्ञान–पौरुषबल के प्रतीकभूत ब्राह्मण, एवं सत्तातन्त्र से समाजशरीररूप अर्थसम्पत्तिसञ्चयकर्त्ता वैश्य–महाभाग सुगुप्त बना रहता हुआ–'अपनी' 'गुप्त' अभिधा को सुरक्षित किए हुए था, फलस्वरूप इस की सञ्चित सम्पत्ति का राष्ट्रहित में हीं उपयोग होता रहता था, दोनों रक्षकों के भक्षक बन जाने से जब दोनों हीं निस्तेज बन गए, तो इस लोकनिष्ठ ने भी युगधर्म्म का ही अनुगमन आरम्भ कर दिया, और बड़े ही कौशल से कर दिया।

२२६–बहती गङ्गा में हाथ मात्र धोने का पुण्यार्ज्जन करते रहने वाले लोकनिष्ठ-भलन्दनवंशज के राष्ट्र के प्रति महतोमहीयान् आर्थिक–विजृम्भणों का अनर्था-त्मक विस्तार—

बहती गङ्गा में जिस कौशल से इसने हाथ धोए विगत तीन सहस्र वर्षों में, और आज भी जिस कौशल से यही सत्तातन्त्र की प्राणप्रतिष्ठा बना हुआ है, इसके इस महान् कौशल से कौन प्रभावित न होगा ?।

नमो नमस्तस्मै भलन्दनवंशजाय ! लोकनिष्ठाय !! लोकनिष्ठ जो भलन्दनवंशावतंस आज राष्ट्रीय योजनाओं का समर्थक बनता हुआ अपने आप को अन्यतम–राष्ट्रभक्त प्रमाणित कर रहा है, जो सुनैष्ठिक युगधर्म्म–रहस्यवेत्ता सत्तातन्त्र की मान्यताओं को अपनी सांस्कृतिक प्रतिभा के बल कर सर्वात्मना सत्ता के अनुग्रह का भी दायादभोक्ता बना हुआ है, जो धर्म्मशील मन्दिर–धर्म्मशाला–वापी–कूप–तड़ागादि के निर्म्माण–कौशल से सामान्यप्रजा की धर्म्मभावुकता का भी सगुणस्तम्भ प्रमाणित हो रहा है, जो सम्पन्न महाभाग अपने सञ्चित अर्थ की मुक्तहस्तता का परिचय प्रदान करता हुआ गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्र के निर्वाचनावसरों पर अपनी राष्ट्रानुरक्ति से अमुक योग्य व्यक्तियों को पदासीन बना देने में भी प्रमुख अभिनेता प्रमाणित होता रहता है, किंबहुना राष्ट्रीय–सामाजिक–धार्म्मिक-नैतिक-व्यावहारिक-लौकिक-अलौकिक-यच्चयावत् क्षेत्रों में आज जो व्यापक ब्रह्मवत् अभिव्याप्त है, उसे आज का कौन भारतीय नमन करते रहना अपना महान् उत्तरदायित्त्व न मानेगा ?। सुवर्णमणिविद्रुमविभूषिता इस की तुला से आज सम्पूर्ण राष्ट्र सोल्लास उस सीमापर्य्यन्त तुलित हो पड़ा है, जिस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर सम्पूर्ण राष्ट्रशक्तियों का एकमात्र मापदण्ड–'अर्थ' ही बन जाया करता है, जिस इत्थंभूत अर्थप्राधान्यवाद को ही राष्ट्रीया ऋषिप्रज्ञा ने अनर्थपरम्पराओं का जनक माना है, इति नु अब्रह्मण्यमेव ।

२२७–नीति–राज्य-गण-प्रजा-भेदेन-चतुर्विध-सत्तातन्त्रों की युगधर्म्मानुगता मान्यताओं के समर्थन-माध्यम से सर्वस्वविघातक-'राजा कौन बने ?' सूत्र का मलीमस इतिहास-

प्रकृतमनुसरामः । भारतराष्ट्र में कौनसी शासनपद्धति सर्वात्मना सुसमन्वित बन सकती है ?, प्रश्न आज अचिन्त्य प्रमाणित हो चुका है । * "**आत्मानुगत नीतितन्त्रात्मक, बुद्ध्यनुगत राजतन्त्रात्मक, मनोऽनुगत गणतन्त्रात्मक, एवं शरीरानुगत प्रजातन्त्रात्मक**" चारों में से कोई सा भी शासनतन्त्र हो, युगधर्म्मानुसार सभी हमारे लिए प्रणम्य हैं, यदि इनके मूल में राष्ट्रीय संस्कृति प्रतिष्ठित है, तो । पारमेष्ठ्य बृहस्पति से अनुप्राणित नीतितन्त्रात्मक शासन, सौर इन्द्र से अनुप्राणित राजतन्त्रात्मक शासन, चान्द्रवृत्र से अनुप्राणित गणतन्त्रात्मक शासन, तथा पार्थिव पूषा से अनुप्राणित प्रजातन्त्रात्मक शासन, चारों हीं शासनतन्त्र आत्मसंस्कृतिमूलक एकत्त्व से पराङ्मुख बनते हुए, सांस्कृतिक प्रतिष्ठा से असंस्पृष्ट बनते हुए राष्ट्रविघटन के कारण प्रमाणित हो जाने से कुशासन ही माने गए हैं, जिन संस्कृतिप्रतिष्ठावञ्चित चारों हीं शासनतन्त्रों में अखण्डा राष्ट्रीय भावना के सर्वथा विरुद्ध व्यक्तिपद–प्रतिष्ठा ही प्रधान बन जाया करती हैं, निश्चयेन बन जाया करती है । और इसी व्यक्तित्त्वविमोहन के कारण भारतराष्ट्र के लिए अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण उस घातक सूत्र का जन्म हो पड़ा है, जिसकी कृपा से विगत शताब्दियों का राजतन्त्रात्मक शासनतन्त्र राष्ट्ररक्षण के स्थान में राष्ट्रपारतन्त्र्य का ही कारण प्रमाणित होता रहा है । घातकसूत्र के विशदरूप में न जाकर अभी तत्सम्बन्ध में केवल इसके–'**राजा कौन बने ?**' वाक्य पर ही सूत्र का विश्राम मान लिया जाता है ।

*-देखिए–"**सांस्कृतिक जागरण के लिए आमन्त्रण,**" नामक स्वतन्त्र निबन्ध

२२८-सत्तानिरपेक्ष राष्ट्रीय-ब्राह्मणों की, तथा संस्कृतिसापेक्ष राष्ट्रीय क्षत्रियों की उत्तरदायित्वपूर्णा कर्त्तव्यनिष्ठा से ही अद्यावधि पर्य्यन्त भारतीय सभ्यता का पारम्परिक संरक्षण—

जिसप्रकार समस्त लोकव्यासङ्गों-पदप्रतिष्ठासम्मानादि व्यामोहनों से सर्वथा ही आत्मपरित्राण करते रहने वाले तद्युगीय सत्तातन्त्रों से आत्यन्तिकरूपेणैव निरपेक्ष बनते रहने वाले कतिपय ब्राह्मणश्रेष्ठोंनें राष्ट्रीय-संस्कृति की मूलनिधि शब्दशास्त्र को आततायीवर्गों के आक्रमण से बचाते हुए उसे अपनी प्रज्ञा में स्थिर कर अपने नैष्ठिक उत्तरदायित्व को अद्यावधि सुरक्षित रक्खा है, तथैव विगत युगों में हीं तथाविध ब्राह्मणों के पदचिह्नों का ही अनुसरण करने वाले ज्ञात-अज्ञातनामा भारतीय कतिपय शासकों-नृपतियों-सामन्तक्षत्रियोंनें भी मानसिक-शारीरिक-काम-भोग-लालसाओं से सर्वथा ही असंस्पृष्ट रहते हुए राष्ट्र की मूलसंस्कृति-साहित्य-धर्म्म से अनुप्राणिता आचारव्यवस्थाओं के पारम्परिक-संरक्षण में हीं अपना उत्सर्ग कर दिया है, जिन इत्थंभूत मित्रब्रह्मों, तथा वरुणक्षत्रों के उत्तरदायित्वानुग्रह से ही भारतराष्ट्र आजपर्य्यन्त अपनी सांस्कृतिक-धार्म्मिक-गरिमा के मूलबीज अपने क्रोड़ में सुरक्षित किए हुए है। अपने दावानलसम प्रचण्ड आक्रमणों से अन्यान्य साम्राज्यों को स्मृतिगर्भ में विलीन करने वाले हूण-शक-सिकन्दर-पठान-मुगलादि के आक्रमणों के सम्मुख अपने वक्षस्थलों को उन्नत कर जूझ पड़ने वाले उन क्षत्रियवीरों के अवरोधात्मक दुर्ग ने ही भारतराष्ट्र को अन्य देशों की भाँति स्मृतिगर्भ में विलीन न होने दिया, इस ऐतिहासिक पावन तथ्य के साथ तो सम्भवतः वे भी गजनिमीलिका नहीं कर सकते, जो अपने पदप्रतिष्ठात्मक व्यामोहनदम्भ में आकर 'क्षत्रिय' नामश्रवणमात्र से ही अपनी मुखाकृतियों को विकृत कर लिया कर लेते है उनके लोकोत्तर पौरुष के प्रति अपनी हीन-ग्रन्थियों का प्रदर्शन करने के लिए ही।

२२९-सत्तासापेक्ष व्यक्तिब्राह्मणों की, तथा संस्कृति-धर्म्म-निरपेक्ष निरंकुश सत्तातन्त्रों की अधिकारलिप्सा से ही त्रिसहस्रवर्षावधि में संस्कृति, एवं सभ्यता की अन्तर्मुखता—

स्पष्ट ही **गुहानिहित** सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मणों के, तथा **सौर्य्यमारुतिक** क्षत्रियकुलकमलदिवाकर सत्तामदा-संस्पृष्ट शासक-क्षत्रियों के तथाकथित महान् उत्तरदायित्व से ही राष्ट्र की मूलनिधियों के मूलबीज तो यद्यपि सुरक्षित बने रहे विगत तीन सहस्र वर्षों की संघर्षात्मिका युगस्थितियों में भी। इन मूलबीजों को राष्ट्रीय-दृष्ट्या अङ्कुरित होने का अवसर भी यदा कदा मिलता रहा घुणाक्षरन्यायेन, तथापि इसे पुष्पित-पल्लवित होने का अवसर तो नहीं ही मिल सका विगत ब्रिटिशसत्तायुगपर्य्यन्त। कारण स्पष्ट है। सत्तासापेक्ष ब्राह्मणों के द्वारा होते रहने वाले वाग्विजृम्भणों से जहाँ संस्कृति राष्ट्रीय जीवन में प्रतिष्ठित नहीं होसकी, वहाँ संस्कृतिमूलक आचारव्यवस्थाओं के संरक्षक लोकसत्तापदलोलुप-**'राजापदविमुग्ध'** भारतीय शासकों के पारस्परिक संघर्ष से सांस्कृतिक-आचार भी व्यवस्थित न हो सका राष्ट्रीय जीवन में, जिन इन एषणाओं का प्रचण्डरूप से जागरण हो पड़ा उस ब्रिटिशसत्तायुग में, जिसने इसी महान् पुण्योद्देश्य से? भारतीय-संस्कृति-शिक्षा-भाषा-इतिहास-लिपि-आदर्श-वेशभूषा-आदि आदि सभी भारतीय विभूतियों को अपने काल्पनिक इतिहासों से विकृत कर के ही राष्ट्र के सम्मुख रख दिया था। भारत के राष्ट्रीय सांस्कृतिक-साहित्यिक-धार्मिक-राजनैतिक-

सामाजिक–गौरव को सर्वथा ही विस्मृत करा देने वाली उन चाणाक्षचतुर शासकों की शिक्षा–दीक्षा का क्या परिणाम हुआ ?, प्रश्न का उत्तर हम उन आज के राष्ट्रप्रेमियों की प्रज्ञा के लिए ही सुरक्षित कर देते हैं, जो कहते हैं अपने आपको सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, किन्तु हैं आलोमभ्यः–आनखाग्रेभ्यः–आपादमस्तक प्रतीच्य राष्ट्रों के अक्षर अक्षर का अनुकरण ही करने वाले ।

२३०–'राजा' पद के लिए आतुर भारतीय सत्तार्थाशों के गृहकलह से ही भारतराष्ट्र का पारतन्त्र्य—

ऐसा क्यों ?, उत्तर वही–'**राजा कौन बने ?**' वाक्य, जिस 'राजपद' व्यामोहन ने अतीत युगों में भारतीय प्रान्ताधीशों को एकसूत्र में आबद्ध होने ही नहीं दिया । सब में–'**हम राजा मानें जायँ, हमें सर्वोच्च पद प्रतिष्ठा मिले**' इस पदव्यामोहन से परस्पर में हीं सुन्दोपसुन्दन्याय से शक्तिपात होता रहा । फलस्वरूप राष्ट्र कभी एकरूप से सुसंघठित हो ही नहीं सका, तत्–दुष्परिणामस्वरूप ही राष्ट्रीय संस्कृति का सुस्थिरता–पूर्वक–राष्ट्रीय–दृष्टि से चिन्तन–मनन हो ही नहीं सका । अतएव राष्ट्र को सांस्कृतिक ऐक्यसूत्र उपलब्ध हो ही न सका । अतएव च ये राजालोग राष्ट्रहित को जलाञ्जलि समर्पित कर–"**हम राजा-हम बड़े-हमारी बात बड़ी–हम आन बान शान पर मर मिटेंगे**' इत्यादि भावनापूर्णा भावुकता के आवेश में आकर परस्पर में ही कटते–मरते रहे । और इनके उन विनाशताण्डवयुगों में हीं राष्ट्र का अरक्षित वैभव आततायी–वर्गों के द्वारा लूटा, और लुटवाया जाता रहा ।

२३१–साम्राज्यलिप्सु ब्रिटिशतन्त्र के सधन्यवाद गमन के साथ साथ ही तत्पदानुवर्त्ती पदलोलुप 'राजाओं' का भी बिलयन, एवं तत्स्थान में–'गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्रात्मक'–सत्तातन्त्र का आविर्भाव, इति नु महत्सौभाग्यम्—

जिस ब्रिटिशसत्तातन्त्र के निःसीम अनुग्रह से भारतीय शासकों का पदप्रतिष्ठात्मक तथाविध व्यामोहन निःसीम बन गया था, सौभाग्य से वह परसत्तातन्त्र भी सधन्यवाद स्व वारुणदेश में परावर्त्तित होगया, जिस उस प्रतीच्य शासकतन्त्र के भक्तिबल से अपने आपको अजेय मान बैठने वाले, अपने इसी भक्तिमार्ग को सर्वोच्च प्रमाणित करने के लिए अपने प्रान्तीय प्रजावर्गों को निरतिशयरूपेण उत्पीड़ित करते रहने में हीं अपने काल्पनिक '**राजा**' पद का संरक्षण मानते मनवाते रहने वाले सामन्त शासक भी अपने वरप्रदाता ब्रिटिशराज्य के परावर्त्तित होते ही महद्भाग्य से वाङ्मात्र से तो स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के प्रति अपना विश्वास ही व्यक्त करने लग पड़े, जबकि अभीतक भी मनसा और कर्म्मणा वे कोई वैसा दृढतम प्रमाण नहीं दे सके हैं भारतराष्ट्र को, जिसके बल पर उन्हें राष्ट्रप्रजा अपने हृदयासनों पर प्रतिष्ठित करले । तदित्थं–ब्रिटिशसत्ता गई, राजा गए, और तत्स्थान में गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्रात्मक सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र–भावानुप्राणित सुशासनयुग का उपक्रम हुआ, इति नु महत्सौभाग्यं भारतराष्ट्रस्य ।

२३२–तथाविध 'स्व' सत्तातन्त्र का मूकभाव से सुस्वागत करने वाली भारतराष्ट्र की राष्ट्रीय–प्रजा—

मानव की सहज स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाला परशासनतन्त्र (ब्रिटिशतन्त्र **अंग्रेज**–), एवं तद्भक्ति–पथानुगामी सामन्ततन्त्र (**राजागण**), दोनों चले गए, तथा प्रजा आगई तत्स्थान में गणरूप

(समूहरूप) से । अतएव भारतीय वर्त्तमान शासनतन्त्र 'गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र' नाम से प्रसिद्ध हो पड़ा । एवं परसत्तातन्त्र से, तथा तद्भक्त स्वसामन्ततन्त्र से उत्पीड़िता भारतीय प्रजा ने उत्पीड़नजनिता प्रतिक्रिया के अनुग्रह से ही एकेश्वरमूलक राजतन्त्र जैसे शासनतन्त्र को भी उपेक्षित मान कर प्रकृतिनानात्वमूलक इस गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्र के प्रति भी अपनी मान्यताएँ समर्पित कर दीं मूकभाव से, इति नु सुस्वागतमेव राष्ट्रप्रजायाः ।

२३३–सत्तातन्त्रभक्ता भारतीय प्रजा की आशा–परम्पराएँ, एवं सत्तातन्त्र के द्वारा आशापरम्पराओं पर निर्म्मम तुषार–वर्षण—

सत्ताभक्ता प्रजा के इस सर्वस्व समर्पण का आकर्षणकेन्द्र था एकमात्र यही कि, इसे इस अपने ही **'लोकराज'** से अवश्यमेव वैसी सुख-सुविधाएँ मिलेंगीं, जो सुख-सुविधाएँ अतीत के सामन्तयुगीय राजतन्त्रोंनें बलपूर्वक अपहृत करलीं थीं । जहाँतक मानव के वाक्तन्त्र का सम्बन्ध है, उस सीमापर्य्यन्त तो निःसन्देह वर्तमान प्रजातन्त्रशासन ने भी–**'वचने का दरिद्रता'** को अक्षरशः चरितार्थ करते हुए अपने लोकप्रसिद्ध ही क्यों, विश्वप्रसिद्ध **'सार्वजनिक–सम्पर्ककार्य्यालयों'** (वस्तुतः सत्तातन्त्रीय–जनविशेषों की लोकख्याति के सम्पर्कमात्र से ही सम्बन्ध रखने वाले कार्य्यालयों, पब्लिसीटी डिपार्टमेन्टों (Publicity) के द्वारा प्रतिक्षण विलक्षणरूपेण प्रकाशित होते रहने वाले अश्रुतपूर्व–अदृष्टपूर्व–महतोमहीयान्–गणनाङ्कों से समन्वित प्रचारपत्रों के द्वारा राष्ट्रप्रजा का आज सर्वात्मना विमोहन ही कर रक्खा है। अतएव दिग्भ्रान्ता इव उन्मुग्धा विमुग्धा बन जाने वाली राष्ट्रप्रजा अद्यावधि भी यह निर्णय ही नहीं कर पाई है कि, इसके व्यायहारिक–जीवन में परसत्तायुगीय तन्त्रों के समतुलन में किस अंश में कैसा सुधार, कैसी प्रगति हो गई है ?, किंवा सम्भावित है ? । क्योंकि जहाँतक फलांश का सम्बन्ध है, वहाँतक तो राष्ट्रप्रजा प्रत्यक्ष में अपना कोई भी व्यावहारिक उत्कर्ष प्रयास करने पर भी उपलब्ध नहीं कर रही । अपितु परसत्तायुगों से भी कहीं अधिकाधिक समस्याओं, जीवनीय जटिलताओं की ही इसे अनुगामिनी बनना पड़ रहा है। शताब्दियों से अपना **सांस्कृतिक–धार्म्मिक**, तथा **आर्थिक** शोषण कराती रहने वाली प्रजा ने यह आशा की थी कि, इस अभिनव–स्वतन्त्रतायुग में इसके तीनों ही शोषण अवरुद्ध होंगे । किन्तु हो रहा है ठीक इसके विपरीत । मानसिक–शारीरिक–भाव–विजृम्भणों को ही–'सांस्कृतिक' उपाधि से समन्वित करते रहने वाले वर्त्तमान युग के **'सांस्कृतिक–आयोजनों'** नें जहाँ भारतराष्ट्र की मौलिक संस्कृति का अभिभव कर दिया है, शासननीति की धर्म्मनिरपेक्ष–घोषणा ने जहाँ राष्ट्रप्रजा के धार्म्मिक जागरण पर तुषारपात कर दिया है, वहाँ योजनाओं के माध्यम से अनुदिन नवीन नवीन रूपेण समुद्भूता करपरम्पराओं (टैक्सों) नें इसके कङ्कालशरीरों का अधिकाधिक शोषण ही आरम्भ कर दिया है । और दुःख यह है कि, यह सब जानबूझ कर नहीं हो रहा । अपितु ये तो उस प्रतीच्य आदर्श के परिणाम हैं, जिन्हें मूल मान कर ही हमारा शासन आज अपने आपको व्यवस्थित मान बैठा है । भारतीय–संस्कृति–हृदय–आत्मा-सब कुछ उपेक्षणीय बना हुआ है आज इस शासनतन्त्र के प्राङ्गण में । स्वयं शासक भी दुःखी हैं इस अशान्त वातावरण को देख–सुनकर । किन्तु इनका व्यक्तित्व–विमोहानात्मक मोह इन समस्याओं का भारतीय दृष्टिकोण से विचार करने के लिए इन्हें प्रवृत्त ही नहीं होने देता ।

२३४–प्रातीच्य भूताडम्बरों के चाकचिक्य से हमारी तिमिरान्धता, एवं प्रतीच्य–भूतविज्ञान के साथ भारतीय–विज्ञान के समतुलन की जघन्या सर्वनाशकारिणी प्रवृत्ति, तथा तत्प्रवृत्ति से भारतीय संस्कृति का आत्यन्तिक–अभिभव—

अतीत शताब्दियों के सम्प्रदायवाद–मतवादाभिनिविष्ट मान्यतावादी सत्तासापेक्ष विद्वानों की साम्प्रदायिक व्याख्याओं से एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आचारपद्धति आदि ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा राष्ट्र–विभूतियों का स्वरूप अन्तर्म्मुख बन गया, वहाँ दूसरी ओर प्रतीच्यजगत् के आत्मप्रतिष्ठाशून्य–जड़भूतविज्ञान के चाकचिक्य से तिमिरान्ध बन जाने वाली हमारी दृष्टि ने अपनी राष्ट्रविभूतियों की ओर दृक्पात करना भी उचित न समझा। यों इन दो महाभयावह कारणों से भारतीय वे आधुनिक-प्रज्ञाशील-जिनके द्वारा राष्ट्र के बाह्य कर्म्मों का सञ्चालन हो रहा है–तो सर्वथैव निरपेक्ष बन गए अपने राष्ट्र की संस्कृति–साहित्यादि से। यही निरपेक्षता आगे चल कर चिर अभ्यास के कारण उस सीमापर्य्यन्त तथाकथित प्रज्ञाशीलों का मानो स्वरूप ही बन गई, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर मानवीय प्रज्ञा स्वस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर परस्वरूप को ही अपना स्वरूप मानने मनवाने की भ्रान्ति कर बैठती है। और निश्चयेन आज भारतीय प्रज्ञा की कुछ ऐसी ही दुर्दशा हो गई है। इसी परव्यामोहन के आकर्षण से भारतराष्ट्र के वर्तमान वेदव्याख्याता-शास्त्र–व्याख्याता भी अपने निबन्धों–लेखों–भाषणों में यही प्रयास करते प्रतीत हो रहे हैं कि—"**उनके शास्त्र में भी सब सिद्धान्त उसी प्रकार वैज्ञानिक हैं, जैसे कि–प्रतीच्य जगत् के सिद्धान्त वैज्ञानिक हैं**"। उनके भूतविज्ञान के समतुलन के लिए आतुर हमारे ये भारतीय बन्धु ऐसा करते हुए तो अत्यन्त ही अनर्थ का सर्ज्जन करते जा रहे हैं, जब कि भारतीय ज्ञान–विज्ञान परिभाषाओं का प्रतीच्य भूतविज्ञानवाद से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। मानते हैं-एवंविध प्रयासों के मूल में विद्वानों की श्रद्धा भारतीय शास्त्र से ही समन्वित है किन्तु इस श्रद्धा के संरक्षण का उपाय यह कदापि नहीं है कि, हम शब्दानुकरणमाध्यम से काल्पनिक–जोड़ तोड़ बैठा कर इस प्रयास में लग पड़ें कि, "**हमारे शास्त्र में भी वे सब विज्ञान विराजमान हैं, जिनकी प्रतीच्य जगत् आराधना कर रहा है**।" एकान्तत: घोरघोरतम अहित ही हुआ है इसप्रकार के व्यामोहनों से वेदशास्त्र का। अतएव अविलम्ब हमें इस व्यामोहन का परित्याग कर ही देना चाहिए। एवं स्वयं अपनी शास्त्रीय परिभाषाओं के माध्यम से ही, अपनी सनातन–परम्पराओं के आधार पर ही हमें अपने संस्कृति-साहित्य-धर्म्म आदि का स्वरूपसमन्वय करना है, जिसके समतुलन में आज के जड़भूतविज्ञान का यत्किञ्चित् भी तो महत्व नहीं है। '**नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**'–'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' मूलक **ज्ञान–विज्ञान** शब्द स्वयं अपने रूप में ही परिपूर्ण है, जिन इन दो वाक्यों में ही भारतीय नित्यविज्ञान–ज्ञान–तत्त्वों के चिरन्तन इतिहास का बीज सुरक्षित है। अत्यन्त पारिभाषिक '**ऋषि**' तत्त्व ही भारतीय नित्य ज्ञान-विज्ञान की मूलप्रतिष्ठा है, जिस–'**प्राणा वा ऋषय:**' मूलक '**ऋषि**' शब्द की व्याप्ति का आज के भूतविज्ञानवादी के साथ समन्वय करने के लिए आतुर हो पड़ना भी उसी प्रकार निरर्थक है, जैसे कि भारतीय विज्ञानशब्दों के साथ प्रतीच्य वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ समन्वय करने के लिए आतुर हो पड़ना सर्वथैव शून्य व्यामोहनमात्र ही है।

इस अप्रासङ्गिक भी विज्ञानसंस्मरण का इसलिए हमें अनुगमन करना पड़ा कि, वर्त्तमानयुग में भारतीयता–भारतीय संस्कृति–मानवता–सत्य–अहिंसा–आदि आदि भारतीय सांस्कृतिक–शब्दों के साथ सभी राष्ट्रप्रेमियों का विशेष स्नेह होता जा रहा है, जिसका शब्ददृष्ट्या जहाँ हार्दिक स्वागत किया जायगा, वहाँ

अर्थदृष्टया हमें इस कटुसत्य का भी आश्रय ले ही लेना पड़ेगा कि, कि इन आकर्षक शब्दों की व्याख्या में सर्वत्र व्यक्तित्वविमोहनमूलिका परदर्शनभावान्विता उस भावुकता का ही साम्राज्य है, जिसका भारतीय सांस्कृतिक–निष्ठा से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। ऐसा क्यों ?। इसलिए कि, तद्दीक्षा-शिक्षा-भाषा-लिपि-वेशभूषा–अशनपानपद्धति–आदि आदि के चिरकालिक अभ्यास के कारण हमारा व्यक्तित्व तन्मय ही बन गया है। ऐसी भावना, किंवा दुर्भावना हमारे मानसपटल पर खचित हो गई है, किंवा साम्राज्यलिप्सु उन चाणाक्ष-चतुरों के द्वारा बलपूर्वक खचित कर दी गई है कि,–"**भारतीय अपने प्रारम्भिकरूप से असंस्कृत थे, विज्ञानवञ्चित थे, ग्राम्यपद्धति के अनुगामी ग्रामीणमात्र थे। इनका वर्त्तमान सुसंस्कृत–सुसभ्य–सुशिक्षित–सुविकसित–वैज्ञानिक जीवन, ये सब विकासभाव एकमात्र हमारे (प्रतीच्यों के) सुसम्पर्क के ही सुपरिणाम हैं**"।

२३५–परप्रदत्त पुरस्कारों से पुरस्कृता उच्छिष्टभोगकुशला भारतीयप्रज्ञा की त्रिसहस्रवर्षात्मिका भावुकता, एवं तदनुग्रह से ही भारतीय-सांस्कृतिक-वैभव की अन्तर्मुखता-

परप्रदत्त इन्हीं पुरस्कारों से पुरस्कृता भारतीय–प्रज्ञा सचमुच में अतीत से सर्वथा ही पराङ्मुख प्रमाणित हो गई है विगत तीन सहस्र वर्षों से प्रक्रान्ता परदर्शनमूला भावुकता के नैरन्तर्य्य से। अतएव आज के इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वातावरण में भी यह स्वच्छन्दतापूर्वक अपने रूप से किसी भी समस्या पर चिन्तन–मनन के लिए प्रवृत्त होना ही नहीं चाहती। इसे सर्वतोऽधिक भय यही है कि–"**कहीं ऐसी प्रवृत्ति से आज के वैज्ञानिक ? राष्ट्र ? हमें असभ्य–सकुञ्चितहृदय–रूढ़िवादी–विज्ञानशून्य तो नहीं मान बैठेंगे। क्योंकि उनके समतुलन में इस प्राच्य भारतराष्ट्र को संस्कृति–साहित्य धर्म्म–राजनीति–समाज-संघटन आदि आदि सभी कुछ तो विज्ञानशून्य ही है। सर्वथा विज्ञानशून्य अतीत के उन खण्डहरों के व्यामोहन में पड़कर कदापि हम आज की विकासवादात्मिका प्रगति में अपने भारतराष्ट्र को अपमानित नहीं होने देना चाहते। अतएव हमें आज के वैज्ञानिकयुग में विज्ञानपद्धतियों के आधार पर ही (स्पष्टशब्दों में उनके आदर्शों के आधार पर ही) अपने राष्ट्र को प्रगतिशील प्रमाणित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीया ख्याति के महान्सम्मान से अविलम्ब समन्वित कर देना है अपने इस भारतराष्ट्र को**"।

२३६–परप्रमाणपत्रों के लिए प्रतिक्षण समातुर स्वनिष्ठावञ्चित आज का भारतराष्ट्र—

यही वह काल्पनिक व्यामोहन, किंवा व्यक्तित्वविमोहन है, जो दुर्भाग्यवश न तो हमारे सम्मान्य उच्चस्तरीय प्रज्ञाशील शासकों को ही स्वदर्शन में प्रवृत्त होने देरहा, एवं न सत्तासापेक्ष भारतीय विद्वानों को ही स्वदृष्टि से स्वाध्यायनिष्ठा में प्रवृत्त होने देता। दोनों हीं अपने अपने व्यक्तिपदप्रतिष्ठात्मक व्यामोहनों में उस सीमापर्य्यन्त आज आसक्त-व्यासक्त हो गए हैं कि, जिन आस्थाओं, आचारपद्धतियों के साथ इन्हें आज के प्रतीच्य जगत् की मान्यताओं से कुछ भी विरोध प्रतीत होने लगता है, वे सभी भारतीय निष्ठापथ इन्हें अपने लिए अपमानजनक प्रतीत होनें लगते हैं। वे जिसे संस्कृति कहें, वही इनके लिए संस्कृति है। वे जिसे प्रगति मानें, वही इनके लिए प्रगति है। सर्वत्र सभी क्षेत्रों में उनकी ओर से प्रमाणपत्र मिलते रहना अनिवार्य्य है, जिस प्रमाणपत्र की सुप्रसिद्धा अभिधा है–'**अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान नहीं, तो ख्याति अवश्य ही**'।

२३७–निष्ठाशून्या भावुकतापूर्णा उदारता के द्वारा भारतराष्ट्र का स्वानुगत महान् विमोहन—

राजस्थान में एक लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि–**'घर का पूत कँवारा डोले, पाड़ोसी का फेरा'**। तात्पर्य्य यही है कि, हम अपनी, अपने परिवार की, अपने समाज की, और अपने राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण समस्याओं के साथ तो गजनीमिलका करते रहें, एवं अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिव्यामोहन में आसक्त होकर स्वस्वरूप से विस्मृत बने रहें, कदापि इसप्रकार के विमोहन से राष्ट्र का मौलिक हित साधन स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। विगत तीन सहस्रवर्षों में और हुआ ही क्या है ?। किसी ने हमें परोपकारी कह कर हमारा शोषण किया है, किसी ने त्यागी–तपस्वी की उपाधि के व्यामोहन में डालकर हमें सन्यास में दीक्षित कर लिया है, किसी ने हमें अतिथि-परायण बतला कर आतिथ्य में हीं हमारा सर्वस्व भक्षण कर लिया है, तो किसी ने हमें विश्वबन्धुत्त्व जैसे काल्पनिक–व्यामोहनों में आसक्त बनाकर **'मैत्री'** के व्याज से हमारे शोषण के राजपथों का निर्म्माण कर लिया है। हम अपनी इस नितान्त भावुकतापूर्णा उदारता के व्यामोहन में उस सीमापर्य्यन्त आसक्त–व्यासक्त बनते ही चले आ रहे हैं विगत अनेक शताब्दियों से, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर हमारा अपना कुछ भी तो शेष नहीं रह जाया करता।

२३८–'राजा प्रजानुरञ्जनात्' लक्षण रामराज्य से सर्वथा विपरीत शासक, और शासित में महान् विच्छेद, एवं भारतराष्ट्र की संकुलितावस्था—

निवेदन किया जा रहा था कि, पदप्रतिष्ठात्मक–वैय्यक्तिक–व्यामोहन से सम्बन्ध रखने वाले–**'राजा कौन बने ?'**, इस सर्वस्व घातक-राष्ट्रविरोधी सूत्र ने हीं सामन्तीय-शासनयुगों में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य का अपहरण कराया था, इस ऐतिहाहिक तथ्य को कभी विस्मृत नहीं किया जासकता। इसी संघर्ष ने **शासित, और शासक** के मध्य में वह विच्छेद उत्पन्न करा दिया था, जिसके कारण ही-**'राजा प्रजानुरञ्जनात्'** इस आस्था के सम्मान में भावुक सन्तों की–**'कोउ हो नृप–हमें का हानि'** जैसी भावुकतापूर्णा सूक्ति ? लोकप्रिय बन गई थी। शासक राजा जिन युगों में अन्तरिक्षलोक में विचरण करते हुए भूतल पर दृष्टिपात करने में भी अपनी स्वरूपहानि समझने लग पड़े थे, उन युगों की भूतलनिमज्जिता प्रजा राजा की ओर यदि तथासूक्ति का अनुगमन करने लग पड़ी थी, तो इस में प्रजा का कोई भी अपराध नहीं था। संघर्षात्मक उन युगों में प्रजा का एकमात्र यही कर्त्तव्य शेष रह गया था कि, उत्तम–मध्यम–अधम-अधमाधम–जो भी शासक जिस भी यन्त्र से शासनतन्त्र पर समारूढ़ हो जाय, उसका नामश्रवण कर लेना, और उसके द्वारा प्राप्त होतीं रहनें वालीं सङ्कटपरम्पराओं को राजभक्ति का पुरस्कार मानते हुए उसका शिरसा वहन करते जाना। और अपनी इस मलीमसा जघन्या भावुकता को ही-**'राजा कालस्य कारणम्'** के द्वारा सन्तोष प्रदान कराते रहना। एवं आत्यन्तिक उत्पीड़नावसरों पर दीर्घनिःश्वासपूर्वक–**'अयं तु युगधर्म्मो हि दीयते–कस्य दूषणम्'** वाक्य के प्रति आत्मसमर्पण करते रहना।

२३९–प्रतिज्ञात–'राजा कौन बने ?' सूत्र का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

पूर्वनिर्दिष्ट **उत्तरदायित्त्व**, तथा **अधिकार** शब्द इसी प्रसङ्ग की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। **'राष्ट्र के लिए राजा'** यह वाक्य जहाँ उत्तरदायित्त्व का समर्थन कर रहा है, वहाँ **'राजा के लिए**

राष्ट्र' यह वाक्य अधिकार का समर्थक बन रहा है। पूर्ववाक्य में राजा को अणुमात्र भी व्यक्तित्वविमोहन नहीं है, अपितु उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व राष्ट्र में ही अर्पित है। अतएव इस उत्तरदायित्वपूर्ण पक्ष में-**'राजा कौन बने?'** जैसी लोकैषणा का समावेश सम्भव ही नहीं है। ठीक इसके विपरीत उत्तरवाक्य में राजा सर्वात्मना अपने व्यक्तित्व से विमोहित होता हुआ राष्ट्र के स्थान में अपने व्यक्तित्व को ही प्रतिष्ठित कर लेता है। एवं इस अधिकारव्यामोहनमूला लोकैषणा से ही **'राजा कौन बने'**?, भावना का उदय हो पड़ता है। एक ही राजा, और दो विभिन्न दृष्टिकोण, ऐसा क्यों ?, का उत्तर एक ही मानव के **सांस्कृतिक-प्राकृतिक** रूप दो विभिन्न स्वरूप बने हुए हैं। **आत्मना**, और **बुद्ध्या** वही मानव सांस्कृतिक मानव है, एवं **मनसा**, और **शरीरेण** वही मानव प्राकृतिक मानव है। आत्मबुद्धिनिष्ठ मानव के लिए राष्ट्र ही सर्वस्व है, एवं मनःशरीरभावुक मानव के लिए स्वयं इसका प्राकृत स्वरूप ही सर्वस्व है। स्पष्ट ही आत्मबुद्धिसम्मता मोक्ष, एवं धर्म्मनिष्ठा-जहाँ मानव को कर्त्तव्यकर्म्मानुगतिलक्षण महान् उत्तरदायित्व से समन्वित रखती है, वहाँ मनःशरीरसमन्विता कामार्थभावुकता मानव को कर्त्तव्य-पराङ्मुख बनाती हुई अधिकारव्यामोहन में ही आसक्त किए रहती है, और यही आसक्ति, यही पदप्रतिष्ठाव्यामोहनात्मक-मनःशरीरप्रधान-व्यक्तित्वविमोहन वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के माध्यम से-**'राजा कौन बने ?'** इस अधिकार-संघर्ष का जन्मदाता बन जाता है, जिस विमोहन से ही भारतराष्ट्र ने विगत युगों में राजाओं के रहते हुए भी अराजकता से सम्बन्ध रखनें वालीं कष्टपरम्पराओं का स्वागत करतें रहने में हीं अपनी 'प्रजा' अभिधा के दुःखपूर्ण भार का वहन प्रकान्त रक्खा है।

२४०-प्रकृतिव्यामोहनात्मक-'सत्तासम्मान' शब्द का आविर्भाव, एवं तन्माध्यम से सत्ताधीशों की अधिकारमदान्धता, और उसके भीषण परिणाम—

यहीं भारतीय दृष्टिकोण से कुछ विशेषरूप से हमें समझ लेना होगा। जिनकी विज्ञानदृष्टि ? में मानव **'प्रकृति'** से अधिक, कुछ भी नहीं है, सहजभाषानुसार-मनोवशवर्त्तिनी प्राकृत बुद्धि, एवं मन, तथा शरीर के अतिरिक्त मानव की और कोई स्वरूपव्याख्या नहीं है, उनके सम्बन्ध में उत्तरदायित्व, तथा अधिकार, दोनों एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। अधिकार ही उनके लिए उत्तरदायित्व है, फिर इनके संरक्षण के लिए मानव-मात्र का निर्म्मम हनन ही भले ही क्यों न अनुगमनीय बन जाय। इस प्राकृतिक अधिकारसंरक्षण का नाम हीं उनकी भाषा में **'सत्तासम्मान'** है, जो वस्तुतः व्यक्ति का पदप्रतिष्ठात्मक व्यामोहनमात्र ही है, जिसे 'सत्तासम्मान' छल से अधिकारारूढ प्राकृत मानव सम्भव-असम्भव-सभी उपायों से सुरक्षित रखते रहने में प्रयत्नशील ही बना रहता है, जबतक कि प्रकृति स्वयं क्षुब्ध होकर इसे सर्वात्मना शिक्षा प्रदान नहीं करदेती। मनःशरीरानुगता कामभोगैषणाएँ हीं (खाना-पीना मौज उड़ाना हीं) अधिकारव्यामुग्ध-कर्त्तव्यविमुख-प्राकृत मानव का एकमात्र चिरन्तन इतिवृत्त रहा है सदा से ही। कदापि ऐसे मानव के लिए राष्ट्र की कथा तो दूर रही, समाज-परिवार भी कुछ भी नहीं है। केवल व्यक्तित्वविमूढ-अधिकारमदान्ध ऐसे प्राकृत मानव का आत्मानुगत सत्त्वबुद्धितन्त्र से कोई भी सम्बन्ध नहीं माना भारतीया ऋषिप्रज्ञा ने। अतएव तत्पक्ष सर्वथा ही त्याज्य है प्रस्तुत मीमांसा-प्रसङ्ग में।

२४१-भारतीय शासक की सांस्कृतिक-स्वरूप-व्याख्या—

आत्मबुद्धिनिष्ठापूर्वक मनःशरीरभावों का नियन्त्रण करते हुए अपने प्राकृत जीवन को व्यवस्थित बनाए रखना, तथा आत्मबुद्धिरूप उत्तरदायित्व से राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के प्रति आत्मसमर्पण किए रहना हीं भारतीय

'शासक' की सांस्कृतिकी वह स्वरूपव्याख्या है, जिसका शक्तिपरीक्षणात्मिका–योग्यता के मापदण्ड से ही सम्बन्ध है। शक्तिपरीक्षणानुगता आत्मानुगता बुद्धिनिष्ठा ही वह मापदण्ड है, जिसे आधार बनाने वाला आत्मसंवित्परायण–बुद्धिनिष्ठ सांस्कृतिक–मानवश्रेष्ठ ही **'शासन'** जैसे महत्त्वपूर्ण महान् उत्तरदायित्वपूर्ण पद का अधिकारलिप्सा से पृथक् रहता हुआ निर्वाह कर सकता है। **(नान्यः पन्था विद्यते अयनाय)**

२४२–जनतन्त्रवादी शासक की प्रसिद्धा स्वरूपव्याख्या, एवं–'राजा कौन बने ?' के स्थान में 'मन्त्री कौन बने ?' वाक्य का राज्यारोहण—

वयस्कमताधिकार–व्यामोहन के आधार पर प्रतिष्ठित गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्रात्मक शासन की योग्यता का मापदण्ड है आज **'अमुक वर्षों की आयु'**। इस आयुःसूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी योग्यता–शक्ति–पौरुष–मेधा–स्मृति–आदि आदि की कोई भी आवश्यकता नहीं समझी गई है उस सत्तातन्त्रीय आज के प्रजातन्त्र–शासन में, जिसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में इस शासन–पद्धति के आविष्कर्त्ता प्रतीच्य विद्वानों के उद्‌गारों का उन्हीं के शब्दों में अन्य निबन्ध में स्पष्टीकरण कर दिया गया है महता समारम्भेण,–जिस प्रसङ्ग का सर्वश्री पेरेटो के वाक्य का यह हिन्दी रूपान्तर अवधेय है कि—**"जनता की मौलिक भावनाओं के उन्मूलन के निष्फल प्रयत्न में ही ये जनतन्त्रवादी शासक अपनी समस्त शासनशक्तियों का उपयोग करते रहते हैं—अपने उपास्यदेव जनतन्त्र के हित के नाम पर ही"**। नीतितन्त्राधार पर प्रतिष्ठित, एकेश्वरमूलक राजतन्त्र से अनुप्राणित गणतन्त्रीय शासन कोई नवीन आविष्कार नहीं है। भारतराष्ट्र की पञ्चायत–व्यवस्था इसी गणतन्त्र का अङ्गात्मक स्वरूप है। क्या भारतीय गणतन्त्र का मूलाधार केवल वयस्क–मताधिकार ही है ?। कदापि नहीं। अपितु महाभारतयुगीय तत्तद्विशेषप्रान्तों में प्रचलित गणतन्त्रात्मक शासन के सदस्यों की जिस योग्यता का तत्र विस्तार से विश्लेषण हुआ है, उस योग्यता का तो संस्पर्श भी नहीं है आज के इस प्रतीच्य गणतन्त्रानुकरण में। शक्ति, योग्यता–पौरुषादि विभूतियों को जलाञ्जलि समर्पित करने में सिद्धहस्त बने हुए आज के शासनतन्त्र में दुर्भाग्यवश पुनः वही सूत्र रूपान्तर से उसी अधिकारलिप्सा के माध्यम से जागरूक हो पड़ा है, जिसका–**'राजा कौन बने ?'** वाक्यसूत्र आज **'मन्त्री कौन बने ?'** इस रूपान्तर का अनुगामी बन गया है।

२४३–वर्त्तमान–प्रान्तीय–सत्तातन्त्रों में मन्त्रित्त्व–पद के लिए प्रचण्ड–संघर्ष, एवं प्राप्त मन्त्रित्त्व के संरक्षण–प्रयास में ही सत्ताशक्तियों का सर्वस्वार्पण--

'मन्त्री' पद के लिए प्रचण्ड संघर्ष, मन्त्री बन जाने के अनन्तर इस आधिकारिक–पद के संरक्षण के लिए ही सम्पूर्ण शासनशक्तियों का समर्पण, तच्चिन्तन के लिए ही प्रतिदिन अपने सहयोगी मन्त्रियों के साथ 'केबिनेटमीटिङ्ग (cabinet meeting) नामों से परामर्श-प्रक्रान्ति, सदा ही पदप्रतिष्ठाविच्युति की भयाशङ्का से नवीन नवीन तन्त्रों–घोषणाओं का अनुसरण, आदि आदि विजृम्भणों के नग्नस्वरूप से अब और अधिक समय पर्य्यन्त वह वर्गविशेष भारतराष्ट्र की चिरन्तना राष्ट्रीय–प्रज्ञा की आँखों में धूल नहीं झोंक सकता, धूलिप्रक्षेप के द्वारा जिसने 'राष्ट्र' के नाम से, मानवता–मानव धर्म्म–सत्य–अहिंसा–त्याग–तपस्या-बलिदान–आदि आकर्षक शाब्दिक–व्यामोहनजालों से राष्ट्र की भावुक जनता को सर्वथैव स्वरूपविमुग्ध बना लिया है।

२४४--'राष्ट्र', एवं--'राष्ट्रीय--धर्म्म' की स्वरूपव्याख्या का दिग्दर्शन—

रूप्यकचतुर्थांशमात्र-प्रदान-माध्यम से*अमुक सूची में नाम अङ्कित करा देने का ही नाम **'राष्ट्रीयता'** कदापि नहीं है । अतएव तदङ्कनश्रेणिसमुदायविशेष का ही नाम कदापि **'राष्ट्रीयमानव'** नहीं है । अपितु वह प्रत्येक भारतीय मानव राष्ट्रीय–मानव है अपने राष्ट्रीय–उत्तरदायित्त्व से, जिसने सदा से ही इसी राष्ट्र की संस्कृति को राष्ट्रीय-संस्कृति माना है, तन्मूलक–अनुकरण–अनुसरण–आचरण-अनुशीलनात्मक–प्राकृतिक-विधिविधानात्मक–सनातन नियमरूप आचारधर्म्म को ही **'राष्ट्रीयधर्म्म'** माना है, एवं तदनुप्राणित **'पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोह'** नामक माङ्गलिक–स्वस्तिप्रवर्त्तक–आयोजनों को ही **'सांस्कृतिक-आयोजन'** कहा है, कह रहा है, एवं कहता रहेगा– **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः** । शासनतन्त्र को आत्मीयानुबन्ध से यही निवेदन कर देना पर्याप्त समझेगा तथाविध राष्ट्रीयमानव कि, उसे अविलम्ब भारतराष्ट्र की हृत्प्रतिष्ठा की शरण में आ जाना चाहिए, जिस केन्द्रप्रतिष्ठा के बिना राष्ट्र कदापि 'राष्ट्र' रूप से सुरक्षित नहीं रह सकता । सत्तासापेक्ष विद्वानों के व्याख्यादोष से, एवं शासनतन्त्रों की मदान्धता से अवश्य ही राष्ट्र का बाह्य–कलेवर अन्यथा प्रतीत होने लग गया है । एतावता ही राष्ट्र की सुगुप्ता मौलिक विभूतियों की उपेक्षा कर बैठना कदापि राष्ट्रमानव के लिए तो श्रेयःपन्था नहीं माना जा सकता । भारतराष्ट्र के हृदय में आज भी वही सांस्कृतिक बीज ज्यों का त्यों सुरक्षित है, जिसके पुष्पित पल्लवित हुए बिना भारतराष्ट्र का राष्ट्रत्त्व तो कदापि अन्वर्थ नहीं बन सकता ।

२४५–'निरपेक्षतामूलक–स्वस्वरूपदर्शन' के माध्यम से ही संस्कृति के साथ मानव का अन्तर्य्यामसम्बन्ध, एवं तदनुग्रह से ही राष्ट्रस्वरूप-संरक्षण—

'निरपेक्षतामूलक स्वस्वरूपदर्शन' ही एकमात्र वह राजपथ है, जिसकी शरण में आकर ही हम अपने राष्ट्र की संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों के अनुगामी बनते हुए राष्ट्र को पुनः जगद्गुरुत्त्व के सिंहासन पर समारूढ कर सकते हैं, निश्चयेन कर सकते हैं, करेंगे ही । शासनतन्त्र को अविलम्ब जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यामोहनों से अपने आप को सर्वथा निरपेक्ष बना लेना चाहिए, वहाँ भारतीय सांस्कृतिक विद्वानों को तत्क्षण ही अपने आप को सभीप्रकार के सत्तानिबन्धन प्रलोभनों से निरपेक्ष बना ही लेना चाहिए । इस 'निरपेक्षता' के गर्भ में हीं 'संस्कृति' का वास्तविक इतिवृत्त विनद्ध (सुरक्षित) है । सर्वनाशकारिणी सापेक्षता के महामोहगर्त्त से निकलने का एकमात्र साधन है उत्तरदायित्त्वपूर्ण-निश्चित–कर्त्तव्यनिष्ठा का अनन्यनिष्ठा से अनुगमन । उत्तरदायित्त्वपूर्णा–काम–तपः–सन्तपन–श्रम–परिश्रम–मूला उस कर्त्तव्यनिष्ठा में हीं वैसा बल है, जो मानव का अधिकारव्यामोहनमूला उस सापेक्षता से सन्त्राण कर लेता है, जो सापेक्षता कर्त्तव्यविमुख–मनःशरीरमात्रपरायण–कामभोगलिप्सु–सालस–मन्दप्रज्ञ–प्राकृत मानव को अपने वारुणपाश से आबद्ध कर लिया करती है ।

२४६–'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्, तत्तदेव-अवक्लृप्तम्' इत्यादि श्रौतवचन का तात्त्विक-समन्वय, एवं निबन्ध की अभिधा का संस्मरण—

तथाकथिता सापेक्षताने ही क्योंकि भारतीय विद्वानों को व्यक्तित्त्वविमोहन में आसक्त किया है । इसी व्यक्तित्त्वविमोहन से, तदनुप्राणित लोक–सम्मानव्यामोहन से ही भारतीय विद्वानोंनें क्योंकि संस्कृति–

* चार आना देकर कॉंग्रेस के मेम्बर बनजाने मात्र से ।

साहित्य–धर्म्म आदि की मौलिकताओं को आवृत कर इन के नामच्छलमाध्यम से युग–धर्म्मों से अनुप्राणिता मनःशरीरनिबन्धना संस्कृतिविरुद्धा परसभ्यताओं को ही प्रोत्साहित किया है, इसी व्यामोहनाकर्षण से क्योंकि भारतीय-प्रजा शताब्दियों से उद्भ्रान्ता–दिग्भ्रान्ता–प्रमाणित होती आरही है अपने सांस्कृतिक–निर्णीत–नैष्ठक–स्वरूप के सम्बन्ध में। अतएव इन्हीं सब घातक कारणों के मलीमस इतिहास के अनुबन्ध से हमने 'सभ्यता' का उत्तरदायित्त्व जहाँ सत्ता को समर्पित कर दिया है, वहाँ 'संस्कृति के उत्तरदायित्त्व से स्वयं अपनी ओर से ही सत्ता को पृथक् मान लिया है, जोकि मान्यता पूर्वप्रदर्शित–'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्-तत्–तदेव–अवक्लृप्तम्' इत्यादि श्रौत उद्घोष से आस्थारूप में हीं परिणत हो रही है। शासन कहता है– 'हम धर्म्मनिरपेक्ष हैं', तो सांस्कृतिक वेदमहर्षि कहते हैं–'संस्कृति, तत्प्रतिपादक साहित्य, एवं तदनुप्राणित धर्म्म सत्तानिरपेक्ष हैं'। शासनतन्त्र को यदि अपना अभ्युदय-निःश्रेयस्–अपेक्षित है, तो यह स्वयं प्रणतभाव से श्रद्धा–आस्थापूर्वक उसीप्रकार संस्कृति–साहित्य–धर्म्म का आमन्त्रण करे, जैसे कि–प्राकृतिक भौतिक साम्राज्य के सञ्चालक शासक वरुणक्षत्र अपने सत्तातन्त्र के अभ्युदय–निःश्रेयस् के लिए ब्रह्ममित्र का प्रणतभाव से आमन्त्रण कर इस मैत्रावरुणग्रह के द्वारा विश्वकर्म्मसमृद्धि के भोक्ता बन जाते हैं (देखिए–शत० ४।१।४।६।)। अन्यथा स्वयं संस्कृति-साहित्य-धर्म्म को स्वस्वरूपरक्षा के लिए किसी भी भौतिक सत्तातन्त्र के आश्रयग्रहण की कोई भी आवश्यकता न आज है, न पहिले कभी रही है, जिस इस सत्तानिरपेक्षता के प्रकृतिसिद्ध सांस्कृतिक–सुसूक्ष्म–मर्म्म को विस्मृत कर देने के कारण ही संस्कृति–धर्म्म–रक्षा के लिए आतुर बने रहने वाले भारतीय–विद्वानोंनें संस्कृति–धर्म्म की स्वाध्याय–आचार–निष्ठाओं से अपने आप को उन्मुख कर उस सत्तासापेक्षता का ही अनुधावन कर लिया है, जिससे कि संस्कृति-धर्म्म के मौलिक स्वरूप उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुख ही प्रमाणित होते गए हैं। इन्हीं ऐतिहासिक–तथ्यपूर्ण–घटनाओं, किंवा दुर्घटनाओं को लक्ष्य बनाते हुए हमने संस्कृति को सब ओर से निरपेक्ष ही अनुभूत करते हुए 'संस्कृति के लिए ही संस्कृति का स्वरूपचिन्तन' माध्यम से प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध किया है। अतएव इस का नामकरण हुआ है– "सत्तानिरपेक्ष संस्कृति शब्द, तथा सत्तासापेक्ष सभ्यता शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा"।

२४७- सांस्कृतिक–निबन्ध के माध्यम से उद्घोषित–'श्वेतक्रान्ति' मूलक महान् उद्घोष–

प्रस्तुत सम्पूर्ण निबन्ध के द्वारा सांस्कृतिक विद्वानों के सम्मुख, समस्त सांस्कृतिक राष्ट्रप्रजा के सम्मुख उस के लिए सर्वथा नवीन भी प्रतीत, किन्तु अतिपुरातन उस महान् उद्घोष को ही प्रणतभाव से हम समर्पित कर देना चाहते हैं, श्वेतक्रान्तिमूलक जिस महान् उद्घोष के गर्भ में हीं भारतराष्ट्र की संस्कृति–साहित्य, एवं धर्म्म के संरक्षणबीज सुनिहित हैं, सुरक्षित हैं। और वह उद्घोष है—

"भारतीय संस्कृति, तत्प्रतिपादक निगमागमपुराणशास्त्र, एवं तदनुप्राणित आचार-आयोजनात्मक सांस्कृतिक धर्म्म किसी भी सत्तातन्त्र की कभी भी कोई भी अपेक्षा नहीं रखता स्वस्वरूप-संरक्षण के लिए। क्योंकि यह स्वयं अपने आप में हीं सुरक्षित है। अतएव भारतीय धर्म्म सत्तानिरपेक्ष है, भारतीय संस्कृति शासननिरपेक्षा है, भारतीय साहित्य स्वतःप्रमाणशास्त्र बनता हुआ परतःप्रमाणनिरपेक्ष है।"

जिस सत्तातन्त्र ने भी इस निरपेक्ष-संस्कृति-साहित्य-धर्म्म की उपेक्षा की है, जिसने भी व्यक्तित्वविमोहन में आकर अपनी ओर से इसे अपनी मूलप्रतिष्ठा से पृथक् कर इस के प्रति अपने आप को निरपेक्ष बना लेने की महती भ्रान्ति कर डाली है, वह सत्तातन्त्र-'मन्युस्तं मन्युमृच्छति'-'धर्म्म एव हतो हन्ति' इत्यादि प्रकृति-सिद्ध नियमों के अनुसार अन्ततोगत्वा मूल-सहित ही निर्मूल प्रमाणित हो गया है, जिस धर्म्मनिरपेक्षा, साथ ही अधर्म्मासक्ति की स्थिति का राजर्षिने निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि—

अधर्म्मेणैधते तावत्–ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥ —मनुः ४।१७४।

२४८–परतन्त्रता के वारुणपाश से भारतराष्ट्र को उन्मुक्त करने वाले दिवंगत सांस्कृतिक-धर्म्मनिष्ठ महापुरुषों का कृतज्ञतापूर्वक संस्मरण—

महद्भाग्य है यह भारतराष्ट्र का कि, इसके अनन्य संस्कृतिनिष्ठ सर्वश्री श्रद्धेय **बालगङ्गाधर तिलक**, महामना श्रद्धेय **श्रीमदनमोहन मालवीय**, महामान्य **श्रीगोपालकृष्ण गोखले**, ओज की सजीव प्रतिमा स्वनामधन्य सर्वश्री **विपिनचन्द्रपाल**, सुप्रसिद्ध प्राच्यसंस्कृतिपरायण सर्वश्री **पं० मोतीलाल नेहरू**, सुप्रसिद्ध वेदभावुक महाप्राण **श्रीलालालाजपतराय**, आस्तिकशिरोमणि-शक्तिपूजापरायण–**भारतभाग्यविधाता** भारतीय-हृदयसम्राट् **श्रीसुभाषचन्द्र बोस**, एवं लोकनिष्ठा के सगुणप्रतिमानरूप रामभक्तिपरायण–भावुकहृदय-भलन्दनवशज महाभाग सर्वश्री **मोहनदास–कर्म्मचन्द गाँधी**, आदि आदि राष्ट्रीय मानवश्रेष्ठों के सांस्कृतिक–तपःकर्म्म से भारतराष्ट्र ने तीन सहस्र वर्षों के अनन्तर भारतराष्ट्र को उन परसत्ताओं के वारुणपाश से उन्मुक्त किया, जिन परसत्ताओंनें अपनी मनः–शरीरमात्रप्रधाना भूतसभ्यता से भारतीय मनःशरीरतन्त्रों को सर्वात्मना समाप्लुत ही कर लिया था ।

२४९–स्वनामधन्य–शक्तिपूजक श्रीसुभाषचन्द्र बोस के प्रति राष्ट्र की कृतज्ञताएँ—

तथोपवर्णित सांस्कृतिक–धार्म्मिक ओजस्वी–पराक्रमी–तेजस्वी सेनानियों के सेनापतित्व में सांस्कृतिक-धार्म्मिक–स्वतन्त्रतानुगत वह राजनैतिक संग्राम उपक्रान्त बना था, जिस में एकमात्र सांस्कृतिक-धार्म्मिक-आकर्षण से ही भारतराष्ट्र की समस्ता आस्तिक प्रजा प्रकृतिभेदभिन्ना स्व–स्व–सभ्यता–धर्म्ममूला स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए ही 'सेना' रूप से समवेत होती हुई भौतिक–शस्त्रास्त्रों से सुसज्जिता परसत्ता से भूझ पड़ी थी । एवं इस सम्मिलित प्रयास का ही यह सुपरिणाम था कि, अकल्पित–भूतभौतिक साधनों से सुसम्पन्ना भी, सर्वविनाशक अचिन्त्य-शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित–सैन्यबल से समन्विता भी परसत्ता गन्धर्वनगरलेखावत् देखते ही देखते विस्मृतिगर्भ में हीं विलीन होगई थी स्वनामधन्य **श्रीसुभासचन्द्र बोस** के राजनैतिक-तन्त्र से उद्दीप्त **सैन्यविद्रोह** की प्रमुखता के अनुग्रह से ही ।

२५०-सैन्यविद्रोहमूला राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता से पुलकित जनतन्त्र के स्वातन्त्र्योल्लास पर 'शासननीति' के 'धर्म्मनिरपेक्ष' रूप सुतीक्ष्ण शस्त्र का प्रचण्ड प्रहार, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

'सैन्यविद्रोहमूला-भारतीय स्वतन्त्रता' से राष्ट्रीय जनतन्त्र का पुलकित होना स्वाभाविक ही था इस आशा से कि, शरीरानुगत जिस आर्थिक शोषण से इसका शरीर कङ्कालरूपेण शेष रह गया था परतन्त्रता-युगों में, मनोऽनुगता जिस भावुकता से इसकी मान्यताएँ सर्वथैव दासभावानुप्राणिता बनतीं हुईं सापेक्षा बन गईं थीं, बुद्ध्यनुगता जिस कुनिष्ठा से इसकी आस्थाएँ मतवादाभिनिविष्टा प्रमाणित होगईं थीं, एवं भूतात्मानुगता जिस शिथिलता से इसकी आत्मनिर्भरता (स्वावलम्बित्व) सर्वथा ही तिरोहित होगई थी, निष्कर्षतः जो आत्म-भाव से सर्वथा **अशान्त**, बुद्धिभाव से एकान्ततः **क्लान्त**, मनस्तन्त्र से निरतिशयरूपेण **उद्भ्रान्त**, तथा शरीरेण सर्वथा ही **दिग्भ्रान्त** बन गया था, वे चारों पर्व इस प्राप्त स्वतन्त्रता की अभया वरदा छत्रछाया में क्रमशः आर्थिक शोषणों के अवरुद्ध होजाने से अपने कङ्कालशरीर पर माँस-मज्जा का वेष्टन लगाएगा, मानसिक भावुकता से परित्राण करेगा, बौद्धिक निष्ठा का समालिङ्गन करेगा, एवं सर्वोपरि आत्मनिर्भरता में समर्थ बनेगा। इसी आशामयी प्रतीक्षा से इस जनतन्त्र की मूकसम्मति के द्वारा जनतन्त्रात्मक उस गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्रात्मक-भारतीय-शासनतन्त्र का शिलान्यास हुआ उल्लासपूर्ण वातावरण में, जिसके 'शासननीति' के द्वारा उद्घोषित 'सेक्यूलर-Secular' (धर्म्मनिरपेक्ष) भाव से सहसा जनतन्त्र की सभी आशा-प्रतीक्षाएँ मानो धूलिधूसरित ही हो पड़ीं, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

२५१-तमःप्रकाशवत्-परस्परात्यन्तविरुद्ध रामराज्यघोषणा, एवं धर्म्मनिरपेक्षघोषणा से भारतीय आस्तिक-जनतन्त्र की स्तब्धता—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-प्रभुसत्तासमर्थ-गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्रात्मक जिस शासनतन्त्र के सर्वोच्च-शासनप्रतीक भारतीय संस्कृति-धर्म्म-आदर्शों के अनन्य-समर्थक-अनुगामी सर्वश्री महामहिम राष्ट्रपति **राजेन्द्रप्रसाद** महाभाग हों, उपराष्ट्रपतिपद को जहाँ भारतीय वेदान्तदर्शन के अनन्यभक्त, भारतीय संस्कृति के अनन्य समर्थक **डॉ० राधाकृष्णन्** हों, प्रधानामात्य पद जहाँ प्राच्यसंस्कृतिपरायण सर्वश्री **पं० मोतीलाल नेहरू**-महाभाग के आयुष्मन् वरदपुत्र, भारतीय नैगमिक-यज्ञोपवीतादि संस्कारों से सुसंस्कृत **पं० श्रीजवाहरलालनेहरू** से सुशोभित हो, तदित्थं प्रत्यक्ष में सर्वथैव भारतीय-संस्कृति का पोषक प्रतीयमान भारतीय **शासनतन्त्र**, और उसकी **'धर्म्मनिरपेक्ष'** घोषणा, तमःप्रकाशवत्-विषय-विषयीवत्-अत्यन्त विरुद्ध इन दोनों भावों का सामञ्जस्य ही नहीं कर पारहा है आज भारतराष्ट्र का आस्तिक जनतन्त्र।

२५२-भारतीय-संस्कृति-सभ्यता, तथा धर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाने वाले सत्तातन्त्र की गजनिमीलिका से भारत के सांस्कृतिक-हृदयों का विकम्पन—

क्योंकि अपनी स्वाभाविक सत्तानिरपेक्षता से हम इस सम्बन्ध में अपनी किसी भी धारणा को व्यक्त करने में असमर्थ ही है। अतएव जनतन्त्र पर ही इस महती समस्या का महान् उत्तरदायित्व छोड़ दिया जाता है। शासनतन्त्र के सञ्चालक शासक भारतीय हैं, उन भारतीय महापुरुषों के सगुण-साकार-प्रतीक हैं, जिन्होंने

भारतीय-संस्कृति-साहित्य-धर्म्म-आदि के स्वातन्त्र्य के लिए ही राजनैतिक-स्वातन्त्र्य का उपक्रम किया था। फिर सहसा उन स्वातन्त्र्य-जन्मदाताओं की आस्था-श्रद्धा-धारणा-मान्यता के सर्वथा विपरीत इस अभिनव शासनतन्त्र ने कैसे, किस आधार पर भारतीय संस्कृति-साहित्य-धर्म्म-आदर्श को सर्वथा ही निरपेक्ष मान लिया ?, सचमुच प्रत्येक प्रज्ञाशील जनमानस के लिए यह प्रश्न अत्यन्त ही जटिल समस्या बनता जारहा है। संस्कृति-धर्म्म-मूलक जिस गणेशोत्सव से श्रद्धेय **बालगङ्गाधर तिलक** ने भारत में राष्ट्रीय चेतना को उद्दीप्त किया, जिन पुराणकथाओं के बल पर महामना **पू० मालवीयजी** ने धर्म्मपूर्वक राजनैतिक-जागरण का नेतृत्त्व किया, जिस शक्तिपूजन के माध्यम से स्वनामधन्य **सुभाषचन्द्र बोस** ने सैन्यविद्रोह के जन्ममाध्यम से 'स्वतन्त्रता' को जन्म दिया, जिस रामभक्ति के बल पर सर्वश्री **गांधीजी** ने रामकृष्ण के पावनदेश भारतराष्ट्र को ऐक्यसूत्र में आबद्ध किया, उन्हीं महापुरुषों की कृपा से प्राप्त स्वातन्त्र्य-दायाद के उपभोक्ता हमारे वर्त्तमान शासक क्यों, और कैसे सहसा यों धर्म्मनिरपेक्ष बन गए ?, प्रश्न वास्तव में आज वैसा प्रश्न बन गया है, जिसका शीघ्र ही यदि समाधान न ढूँढ निकाला गया, तो यह स्वतन्त्रता जनतन्त्र को किस स्थिति पर पहुँचा देगी ?, प्रश्न के संस्मरणमात्र से भी भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक हृदय आज विकम्पित हो रहे हैं।

२५३--वर्त्तमान शासनतन्त्रानुगत जनतन्त्र, एवं तदनुगतिमूलक इसका सहज धृतिगुण, और तत्प्रति सत्तातन्त्र की भ्रान्त धारणा—

शासनतन्त्र की ऐसी धारणा है कि, यहाँ का जनतन्त्र कदापि शासनतन्त्र की स्वतन्त्र प्रगति में बाधक नहीं बन सकता। धारणा यथार्थ है। और इसलिए तो और भी यथार्थ है कि, शासनतन्त्र आज जनतन्त्र का ही निखरा हुआ रूप है। अपने हीं शासनतन्त्र का जनतन्त्र बाधक बन भी कैसे सकता है ?, जबकि इसने तो अपनी सहज-सहनशीलता से अपने विरोधी शासनतन्त्रों के उत्पीड़नों का भी चिरकालपर्य्यन्त अनुगमन कर अपने उस सांस्कृतिक-धृतिगुण का ही परिचय दिया है, जो प्रत्यक्ष में इसका दोष प्रतीत होता हुआ भी इसका वैसा महान् गुण ही है, जिस महान् गुण ने ही इसे इतर उन मनःशरीरमात्रधर्म्मा जनमानसों की भाँति कदापि उत्तेजित नहीं होने दिया, जिस तात्कालिक उत्तेजन से धृतिगुणशून्य वे अगणित जनमानस, एवं उनके देश स्मृतिगर्भ में ही विलीन होगए हैं।

२५४--वर्त्तमान शासनतन्त्र से पूर्व के ब्रिटिशसत्तातन्त्र की भी तत्समतुलिता भ्रान्त-धारणा —

वर्त्तमान जनतन्त्रीय शासनतन्त्र से पहिले अत्र विराजमान परशासनतन्त्रोंनें भी ऐसा ही कुछ समझ लिया था। इसकी सांस्कृतिक-धार्म्मिक-निष्ठा के उस अश्मखण्डसमतुलित (पाषाणशिलासम) धृतिगुण को उन्होंनें भी इसकी भीरुता ही मानने की भ्रान्ति कर डाली थी। कहीं उसी भ्रान्ति का तो उसीप्रकार हमारा अपना ही यह शासनतन्त्र भी अनुकरण नहीं करने लग पड़ा है ?, जैसे कि इसने अपने सभी शासकीय-विधिविधानों, नियमोपनियमों-पद्धतियों में परसत्ताओं की पद्धतियों का ही शासनतन्त्र में अन्धानुकरण कर लिया है, मानो इसके अपने भारतराष्ट्रने कभी किसी प्रकार की शासनपद्धति को जन्म ही न दिया हो।

२५५–भावुक–भारतीयों की धर्म्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में आवेशमूला भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण—

कुछ एक भावुक भारतीय भावुकता के क्षणिक आवेश में आकर तथोपवर्णिता 'धर्म्मनिरपेक्षता' के सम्बन्ध में अपने ये विचार व्यक्त करने लग पड़ते हैं कि, "भारतीय संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–के साथ क्योंकि–भारतीय–'हिन्दू' शब्द का सम्बन्ध है। अतएव इस दृष्टि से इन में साम्प्रदायिकता की गन्ध आरही है। साम्प्रदायिकता की गन्ध से समन्वित हिन्दूसंस्कृति–साहित्य–धर्म्म-आदि अन्य सम्प्रदायों में प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता है, करता रहा है। और इस दृष्टि से राष्ट्रसंघठन के विच्छिन्न हो जाने का भय है। अतएव धर्म्मनिरपेक्षता ही वह राजमार्ग है, जिसके द्वारा सभी वर्गों का राष्ट्रीय–समन्वय–सम्भव है"। ओमित्येतत्।

२५६–'संघठनशक्ति के प्रलोभन से सम्बद्ध 'धर्म्मनिरपेक्ष' शब्द से राष्ट्रीय संघठन का उत्तरोत्तर--अधिकाधिक--शैथिल्य—

स्वागत ही किया जायगा भावुकतापूर्णा उक्त 'राष्ट्रीयसंघठनभक्ति' का, यदि इस भक्ति से 'राष्ट्रसंघठन' सम्भव है–तो। किन्तु प्रत्यक्ष में स्पष्टतम है कि 'संघठन' शब्द का व्यामोहन ज्यों ज्यों अधिकाधिक प्रबल होता जारहा है, त्यों त्यों हीं संघठन विघठन रूप में हीं परिणत होता जारहा है। ज्यों ज्यों वर्गभेद के मूलोच्छेद का भगीरथ प्रयत्न किया जारहा है, त्यों त्यों नवीन नवीन वर्गभेद उत्पन्न होते जारहे हैं। स्वतन्त्रता–संग्राम के पावनयुग में जिस **'कांग्रेसवर्ग'** में राष्ट्र के समस्त वग एकरूपेण निर्विरोध समन्वित थे (केवल वैसे एक दो उन वर्गों को छोड़ कर, जिन्होंनें भारतराष्ट्र को न तो कभी अतीत में हीं अपना माना था, न भविष्य में हीं जो अपना मान सकते अपने मताभिनिवेशों के निग्रह के कारण), आज के इस स्वतन्त्रयुग में वैसे अनेक मतवाद-वर्गवाद आविर्भूत हो पड़े हैं, जो कांग्रेसवर्ग के साथ प्रचण्ड प्रतिद्वन्द्विता प्रकट करते हुए राष्ट्र के अमङ्गल के लिए ही मानो सन्नीभूत हैं, जिन्हें हम मतवादात्मक **सनातनधर्म्मवाद, आर्य्यसमाजवाद,** वैय्यक्तिक एषणाप्रवर्द्धक **जनसंघवाद,** तत्समतुलित ही **हिन्दूसभावाद, सिक्खवाद, महाराष्ट्रवाद, गुर्ज्जरवाद, बङ्गालवाद, जाटवाद,** आदि आदि नामों से पहिचान सकते हैं। जाने दीजिए इन विभिन्न वादों को। जिस 'कांग्रेस' दल पर आज शासन का उत्तरदायित्व है, स्वयं उसमें भी आज केन्द्रीय शासकविशेषों, तथा प्रान्तीय शासकविशेषों के नाम–माध्यम से कितने अगणित वाद पनप उठे हैं ?, इस तथ्य से भी राष्टसंघठनप्रेमी कांग्रेसी शासनतन्त्र सम्भवतः अपरिचित न होगा। यों–**'मर्ज़ बढ़ता ही गया–ज्यों ज्यों दवा की'** इस परसूक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करने वाला आज का धर्म्मनिरपेक्षतामूलक–शासनतन्त्र स्वयं ही अपनी धर्म्मनिरपेक्षमूला राष्ट्रीय संघठनशक्ति। (तत्त्वतः राष्ट्रीय विघठनशक्ति) का ही भलीभाँति समाधान कर देता है।

२५७–हिन्दूसंस्कृति--हिन्दूसभ्यता -आदर्श–धर्म्म-आदि की असाम्प्रदायिकता, एवं तत्प्रति वर्त्तमान सत्तातन्त्र का भ्रान्त साम्प्रदायिक दृष्टिकोण—

रही बात साम्प्रदायिकता की, सो इस सम्बन्ध में हम क्या निवेदन करें, जब कि हिन्दू की आत्मबुद्धिमूला व्यापक संस्कृति, साहित्य, तथा धर्म्म का स्वरूप ही आज सम्प्रदायवादियों के द्वारा अभिभूत होगया है। आत्म–दर्शनानुगत–समदर्शनरूप एकत्त्व का संस्थापन करने वाली **हिन्दूसंस्कृति'** के गर्भ में तो सम्पूर्ण विश्व की

मानवता अन्तर्गर्भित है। "**इस राष्ट्र में उत्पन्न द्विजाति ब्राह्मण की संस्कृति से सम्पूर्ण विश्व अपना अपना चरित्र-कर्त्तव्यकर्म्म-सीखे**" इसप्रकार की * उन्मुक्त घोषणा करने वाली एकमात्र हिन्दूसंस्कृति ही साम्प्रदायिक संस्कृति है, यह तो कोई वैसा कूपमण्डूक, 'संस्कृति' शब्द के अक्षरार्थ से भी अनभिज्ञ यथाजात प्राकृत मानव ही कह सकता है। ऐसी इस सम्प्रदायवादनिरपेक्ष, आत्मसमदर्शनमूला '**भारतीय-संस्कृति**' नाम से प्रसिद्धा '**हिन्दूसंस्कृति**' पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगा बैठना, साथ ही इससे निरपेक्ष बन कर अनेकत्वनिबन्धना विभिन्न प्रकृतियों के समन्वय-असम्भव विजृम्भणों के आधार पर राष्ट्रसंघठन की कल्पना कर बैठना सभी कुछ तो एकमात्र स्वस्वरूप-विमोहनात्मक उस व्यक्तित्वविमोहन के ही दुष्परिणाम हैं, जिस पद-प्रतिष्ठात्मक-व्यक्तित्वविमोहन के सिंहासन पर समासीन हमारे शासनतन्त्र को 'हिन्दूसंस्कृति' जैसी परमोदारा-मानवमात्रहितैषिणी संस्कृति भी आज दुर्भाग्यवश साम्प्रदायिक-संस्कृति प्रतीत होने लग पड़ी है, जिस इस भ्रान्ता प्रतीति से बड़ी साम्प्रदायिकता और कुछ हो ही नहीं सकती।

२५८-अभ्युपगमवादेन सत्तातन्त्र के अभियोग की स्वीकृति, एवं तदाधारेणैव आज के सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता से कतिपय प्रश्न—

अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए हम शासनतन्त्र की इस मान्यता का भी समर्थन कर लेते हैं सत्तासम्मानसंरक्षणानुरोध से कि,-"भारतीय-हिन्दूसंस्कृति भी साम्प्रदायिक संस्कृति है, हिन्दू शब्द भी साम्प्रदायिक है, एवं संस्कृति का सन्देशसूचक 'पण्डित' शब्द तो सर्वथा ही साम्प्रदायिक ही है"। बड़ा अनुग्रह हुआ शासनतन्त्र का कि, उसने इसकी साम्प्रदायिकता के कारण ही इसे निरपेक्ष कर दिया। हिन्दू के अतिरिक्त भारतीय प्राङ्गण में जो अन्य सम्मान्य अतिथि आनन्द-सुखोपभोग कर रहे हैं, वे भी तो साम्प्रदायिक ही होंगे शासनतन्त्र की दृष्टि में। तभी तो उसने 'धर्म्मनिरपेक्षता' की व्याख्या सुनते हैं-यह की है कि-"**सत्ता किसी की धार्म्मिक मान्यता में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी**"। सुस्वागतम्! क्या सत्ता अपनी इस व्याख्या का अपनी सुप्रसिद्धा '**सत्याग्रहमूला सत्यनिष्ठा**' से निर्वाह कर रही है?। अवश्य ही कर रही है उस सीमापर्य्यन्त, जिस सीमापर्य्यन्त हिन्दू का प्रवेश नहीं है। हिन्दू से इतर किसी भी सम्प्रदाय की किसी भी मान्यता में हस्तक्षेप तो क्या, भ्रूविक्षेप का भी साहस कर ही नहीं सकता हमारा शासनतन्त्र। हस्तक्षेप की कथा तो दूर रही, परोक्षरूपेण, और आज तो प्रत्यक्षरूपेणापि उन सभी सम्प्रदायवादों का पोषण ही हो रहा है सत्तातन्त्र के अनुग्रह से, मानो उसका 'धर्म्मनिरपेक्ष' शब्द एकमात्र 'हिन्दू' के लिए ही आविष्कृत हुआ हो। यदि सीमा यहीं, इसी वाक्य पर समाप्त हो जाती, तब भी कोई क्षति नहीं थी हिन्दू की। सहनशील- धृतिगुण-परायण हिन्दू तो इस धर्म्मनिरपेक्षता को भी अपने लिए महान् वरदान ही मान मान लेता।

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥—मनुः २।२०।

२५६-धर्म्मनिरपेक्ष आज के इस सत्तातन्त्र के द्वारा भावुकतापूर्ण-राजनैतिक स्वार्थ-मान्यताकर्षण से हिन्दूधर्म्म का अवमान, एवं तदतिरिक्त लोकानुबन्धी इतर समस्त मतवादों के साथ इसका समालिङ्गन, और यों स्वयं सत्तातन्त्र के द्वारा ही धर्म्मनिरपेक्षता का उपहास—

किन्तु जब हिन्दू यह देखता है कि-धर्म्मनिरपेक्षता-सिद्धान्त की व्याख्या से सर्वथा विपरीत आज से तीन सहस्र वर्ष पूर्व के 'बुद्धसम्प्रदायवाद' की जयन्ती मनाने के लिए तो विवश करता है सत्तातन्त्र जहाँ सम्पूर्ण भारतराष्ट्र को, तथैव अन्य सम्प्रदायों का तो भय से, किंवा मानवतानुबन्ध से जहाँ प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से पोषण करता जारहा है, वहाँ हिन्दू की संस्कृति–साहित्य–धर्म–आस्था–श्रद्धा–मान्यता आदि के सर्वथा विपरीत एक-मात्र इसी के लिए वैसी अर्गलाएँ लगाता जारहा है कि, आज के इस स्वतन्त्र–भारत में यह अपनी धर्म्म-भावना का अंशतः भी तो पालन नहीं कर पाता, जिस इसप्रकार की दुर्भाग्यपूर्णा स्थिति, किंवा घोरघोरतमा विषमा स्थिति का तो इसे तत्पूर्व के परसत्तानुगत–परतन्त्रतायुगों में भी साम्मुख्य नहीं करना पड़ा था। इस हिन्दू को मानो इसीलिए इसी के सत्तातन्त्र से पुरस्कार ही प्रदान–किया जा रहा है धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र के द्वारा इसप्रकार के धार्मिक-सांस्कृतिक–उत्पीड़न के माध्यम से, जिसने स्वतन्त्रतासंग्राम में अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था, एवं प्रधानरूपेण आज भी जिस हिन्दूप्रजा के सर्वस्वप्रदान से ही आज का महर्घतम शासकवर्ग बड़े बड़े–प्रासादों से, वाहनों से, तथा भोग्यैश्वर्य्यों से समालिङ्गित होता हुआ अपने शासनतन्त्र के सञ्चालन में समर्थ बन रहा है, इति तु महतीयं विडम्बना राष्ट्रस्वतन्त्रतायाः, शासनतन्त्रस्य च।

२६०--सांस्कृतिक-सुसभ्य-आस्तिक-धृतिगुणपरायण हिन्दूमानवात्मक 'मानव' की मानवता के उत्पीड़न के भीषण परिणाम, एवं अतीत के उद्बोधक चिरन्तन इतिवृत्त-

सम्भवतः ही क्या, निश्चयेन इन्हीं आत्यन्तिक उत्पीड़नों के कारण भारतराष्ट्र की हिन्दूप्रजा परतन्त्र-युगानुगता अपनी सहज भावुकता के कारण सत्तातन्त्र की हिन्दूधर्म्मानुगता–धर्म्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में अपने भावुकतापूर्ण ऐसे विचार व्यक्त करने लग पड़ी है कि–"शासनतन्त्र हिन्दूमानव की भावुकतापूर्णा उस भीरुता से, संघर्षशून्यता से सर्वथा परिचित है, जिस भीरुताने ही इसे शताब्दियों से दास बनाए रक्खा है। अतएव इस की विशेष अपेक्षा रखना व्यर्थ है। अपनी दासतामूला पारम्परिक राजभक्ति से, एवं संघर्षशून्या धर्म्मभीरुता से इसे सहज में हीं प्रतारित किया जा सकता है। एवं इसी प्रतारणा के बल पर इस के उन मतों का भी यथावसर संग्रह कर ही लिया जासकता है, जिन का निर्वाचनकाल में उपयोग हुआ करता है। किन्तु यदि संघर्षशील अन्य वर्गों–जातियों की मान्यताओं में हस्तक्षेप कर दिया जायगा, तो शासनतन्त्र का निर्वाचन ही सङ्कट में पड़ जायगा। पदप्रतिष्ठात्मक एकमात्र इसी व्यामोहन की सफलता के लिए 'धर्म्म-निरपेक्षता' जैसे मूलमन्त्र को आराध्य बना लिया है सत्तातन्त्र नें"। आगे चलकर वही भावुक हिन्दू यह भी कहता है कि—"हिन्दूधर्म्मेतर वर्गों के मतवादों (वोटों) की सफलता से अवश्य ही अमुक व्यक्तिविशेषों नें अपनी पदप्रतिष्ठा-लालसा को सफल प्रमाणित कर लिया है। किन्तु इस पदलोलुप कांग्रेसी, राष्ट्रसंघटन–के उद्घोषकर्त्ता देशहितैषी को सम्भवतः यह विदित नहीं हैं कि, अपनी पदप्रतिष्ठा के व्यामोहन के लिए प्रक्रान्त यह मलीमस पथ अन्ततोगत्त्वा राष्ट्र की मूलप्रतिष्ठा को ही विकम्पित कर दिया करता है, जैसा कि अतीतयुगों के इतिहासों से स्पष्ट है।"

२६१--वर्त्तमान-शासनतन्त्र के प्रमुख पदों पर, एवं सर्वोच्च पदों पर समासीन संस्कृति-निष्ठ-धर्म्मनिष्ठ-आस्थाश्रद्धा-परायण अमुक ज्ञात-अज्ञात महाप्राण मानव-श्रेष्ठों के धृणिगुणानुग्रह से ही भारतराष्ट्र के स्वरूप का गच्छतः स्खलनरूप से संरक्षण--

किन्तु हम तो हिन्दू के उक्त भावुकतापूर्ण तर्कजाल का इसलिए कदापि अंशतः भी समर्थन नहीं हीं करेंगे कि,
सम्भव है कुछ एक परिगणित व्यक्तिविशेष पदप्रतिष्ठालोलुपता के लिए ही कांग्रेस की सूची में अपना नाम अङ्कित
करा बड़े आवेश से अपनी राष्ट्रीयता को प्रमाणित करने के लिए ही अपने सभी आचारधर्म्मों का परि-
त्याग कर स्वैराचारपरायण बन जाते हों। किन्तु जिन शासकों के प्राणात्मक-सत्त्व से भारतराष्ट्र का शासनतन्त्र
आज गौरवान्वित है, उन प्रमुक शासकों के प्रति इसप्रकार की धारणा बना लेना तो अपने आप को प्रयश्चित्त
का ही भागी बना लेना है। अवश्य ही जिन्होंनें राष्ट्र के लिए ही जन्म लिया है, राष्ट्रीय हित में हीं जिनका
सर्वस्व लोकोत्तर वैभव आहुत होगया है, जो व्यक्तित्वविमोहनमूला पदप्रतिष्ठा से आत्यन्तिकरूपेण घृणा कर
रहे हैं, वैसे तपस्वी राष्ट्रसञ्चालकों के प्राणदान से ही तो आज भारतराष्ट्र का शासनतन्त्र गरिमा-महिमामय
प्रमाणित हो रहा है। क्या वैसे महाप्राण भी 'धर्म्मनिरपेक्षता' के समर्थक हैं ?।

२६२-राष्ट्रहितानुबन्धी एक कटुसत्य, एवं भारतीय सम्मान्य शासकवर्ग का भारतीय-संस्कृति के प्रति आवेशपूर्ण प्रतिक्रियावाद—

यहीं हमें राष्ट्रहितानुबन्ध से इस कटुसत्य का आश्रय लेना पड़ रहा है कि, वास्तव में तो उन महाप्राणों
के बल पर ही 'धर्म्मनिरपेक्षता' ने जन्म लिया है, एवं उनकी कृपा से ही वह आज येनकेन रूपेण ऊर्ध्व-
श्वास लेती हुई जीवनधारण में समर्थ बनी हुई है। क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य के समन्वय के लिए ही तो
प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है। जिस प्रतीच्य जगत् के वातावरण में हमारे प्राणवान् प्रमुख शासकों का
शिक्षा-दीक्षा-संस्कार हुआ है, उस प्रतीच्य जगत् की भौतिकविज्ञान-समन्विता उन्नति ने ही हमारे चरितनायकों
को उस सीमापर्य्यन्त आज प्रभावित कर लिया है कि, मनसा-वाचा भारतीय प्रमाणित होते रहने वाले भी वे
चरितनायक **कर्म्मणा** अपने सभी राष्ट्रीय व्यासङ्गों में प्रतीच्यपद्धति को ही स्थापित करने के लिए आतुर हो
पड़े हैं। इसलिए नहीं कि-इन्हें प्रतीच्य पद्धति के प्रति कोई विशेष मोह है। अपितु इसलिए कि, अपने
भारतराष्ट्र में इन्हें कोई उपयोगिनी पद्धति, आचारात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा मिल ही नहीं रही। अवश्य ही इन
चरितनायकों नें अपनी सहजसिद्धा भारतीयता के आकर्षण से ही शासनतन्त्र में बड़े बड़े दार्शनिकों को भी समवेत
किया, सम्भवतः इसी आशा से कि-वे भारतीय संस्कृति की दृष्टि से किसी पद्धति का अन्वेषण करेंगे।
किन्तु दुर्भाग्यवश वे स्वयं भी पद-प्रतिष्ठात्मक व्यामोहन में हीं आसक्त हो गए। और यों स्वयं इस राष्ट्र में
उन सत्यनिष्ठ शासकों को व्यवहारात्मिका कोई भी तो भारतीय-पद्धति उपलब्ध न हो सकी अभीतक।
विभिन्न मदवादात्मक जो महानुभाव भारतीय-पद्धति के स्वरूपविश्लेषण के लिए सत्तातन्त्र के सान्निध्य में
पहुँचे, एवं जिनके प्रति एकमात्र 'भारतीयता' के अनुबन्धाकर्षण से ही सत्तातन्त्र के प्रमुख शासक अनुगत
हुए आंशिकरूप से, उनकी पद्धतियाँ भी शासकश्रेष्ठों को इसलिए सन्तुष्ट न कर सकी कि, सत्य-अहिंसा-दया-
मानवता-करुणा-आदि व्यामोहक शब्दजाल के अतिरिक्त मतवादात्मिका, अतएव सर्वथा आपातरमणीया इन

पद्धतियों में भी व्यवस्थित **'राष्ट्रीय-आचार'** का लेशतः भी सम्पर्क नहीं था। इसप्रकार शिक्षा-दीक्षा में प्रतीच्य संस्कारों का अभाव, प्राच्य-संस्कृति के स्वरूपबोध से तटस्थता, मतवादात्मक व्यासङ्गों की स्वार्थपरायणता, आदि आदि अनेक कारणों से हमार वे शासक और किसी के प्रति तो भले ही प्रतिक्रियावादी न बने हों (जिसका समाधान भारतीय सांस्कृतिक कोश में तो नहीं है), किन्तु हिन्दूसंस्कृति-हिन्दूसाहित्य-हिन्दूधर्म्म, एवं हिन्दू नाम के प्रति तो वे सर्वथैव प्रतिक्रियावादी बन गए, निश्चयेन बन गए, जिस प्रतिक्रियावाद को भावुकता की दृष्टि से हम जहाँ हमारा ही दोष कहेंगे, वहाँ निष्ठादृष्टि से तो यह महान् दोष उन शासकश्रेष्ठों का ही माना जायगा, निश्चयेन माना जायगा। क्योंकि कोई भी योग्य शासक बिना किसी तथ्य के सर्वाङ्गीण-परीक्षण के किसी भी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच जाया करता, एवं न सहसा यों प्रतिक्रियावादी ही बन जाया करता, जिनके इसप्रकार के आवेश-मूलक प्रतिक्रियावाद के गर्भ में आज सम्पूर्ण राष्ट्र का भयावह पतन ही शनैः शनैः प्रवृद्ध होता जा रहा है, इति नु महद्दुःखास्पदम्।

२६३-प्रकृतिसिद्ध भेदवाद, एवं आत्मपुरुषसिद्ध अभेदवाद, तथा प्रकृतिविशिष्ट पुरुषधर्म्म का ही शाश्वतधर्म्मत्त्व—

वर्गवाद-भेदवाद-अनेकत्त्ववाद-आदि आदि जहाँ व्यक्ता प्रकृति के सहज धर्म्म हैं, वहाँ एकत्त्व-मूलक अभेद पुरुषात्मा का ही स्वरूपधर्म्म माना गया है। पुरुषात्मधर्म्म जहाँ अपने स्वाभाविक एकत्त्व से समदर्शनमूलक अभेद की प्रतिष्ठा है, वहाँ विषमवर्त्तन-मूलक भेदवर्त्तन प्रकृति की स्वरूप प्रतिष्ठा है। एकत्त्वमूलक पुरुष-धर्म्म ही शाश्वतधर्म्म है, अनेकत्त्वमूलक प्रकृतिधर्म्म ही परिवर्त्तनधर्म्म है। परिवर्त्तन को अपरिवर्त्तन से नियन्त्रित रखना, भेद को अभेद से नियन्त्रित रखना ही आत्ममूलक (पुरुषमूलक-शाश्वतधर्म्ममूलक) प्रकृतिधर्म्म का सम्पूर्ण इतिवृत्त है।

२६४-प्रकृतिसाम्यमूला प्रलयावस्था का स्वरूपदिग्दर्शन, एवं प्रकृतिसाम्यमूला धर्म्म-निरपेक्षता का स्वरूपेतिवृत्त-

जिस अभेदवाद की आज के भाग्यविधाताओं नें कल्पना कर रक्खी है, उस का केवल प्रकृतिवाद से तो कदापि कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। अपितु केवल प्रकृति से प्रकृति के नियमन-नियन्त्रण के लिए आतुर ये काल्पनिक मानवतावादी-सत्य-अहिंसावादी ज्यों ज्यों अभेद की घोषणा करते जायँगे, त्यों त्यों इन का भेद-वाद-वर्गवाद-तन्मूलक घृणावाद-हिंसावाद-मिथ्यावाद-अधिकाधिक ही प्रवृद्ध होता जायगा, और अभिन्ना आत्मसत्ता से, तद्रूप शाश्वत-सनातन-आत्मधर्म्म से वञ्चित इन प्रकृतिसाम्यवादियों के 'साम्यवाद' का अन्तिम परिणाम वही होगा, जिसका प्राधानिक दर्शन (सांख्यदर्शन) में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। पुरुष से नियन्त्रित होकर जबतक प्रकृति अपने सत्त्व-रज-स्तमो-भावों से विषमवर्त्तन की अनुगामिनी बनी रहती है, तभीतक प्राकृत विश्व की स्वरूपरक्षा है। प्रकृतिसाम्य तो लयावस्थारूपा प्रलयावस्था का ही प्रवर्त्तक माना गया है, जिसमें सुन्दोपसुन्दन्याय से सभी परस्पर कट मर-जाया करते हैं। यही परिणाम है धर्म्मनिरपेक्षता का, आत्मधर्म्मवञ्चित-भूतवाद का, ज्ञानवञ्चित क्षणिक विज्ञानवाद का, एवं क्षणिकविज्ञान-वादमूलक उस अनात्मभावापन्न-शून्यवाद का, जिसे अपनाकर अतीत युगों में भारतराष्ट्र शून्यं-शून्यंरूप में परिणत हो चुका था। ऐसे सर्वविनाशक शून्यवाद के व्यामोहन में आकर, व्यक्तित्त्वप्रतिष्ठात्मक

व्यामोहन से अपने स्वरूप को विस्मृत कर, परदर्शनमूला भावुकता को ही प्रधान मान कर, परतन्त्रों के द्वारा उपलब्ध उपलालनात्मक काल्पनिक प्रमाणपत्रों को ही अपनी सफलता मान कर, अपने राष्ट्र की मूलहृदयरूपा संस्कृति-साहित्य-धर्म्म-आदर्श-सभ्यता-आचार-आदि लोकोत्तर-विभूतियों की इसप्रकार आत्यन्तिकरूपेण न केवल उपेक्षा ही कर, अपितु इनका उपहास-तिरस्कार-दमन-करते हुए केवल प्रचारपत्रों के माध्यम से अपने मनोराज्य में हीं अपने आपको सबकुछ मान बैठना, सर्वोपरि अपनी इन भ्रान्त कल्पनाओं से बलपूर्वक सम्पूर्ण राष्ट्रप्रजा को भी दिग्भ्रान्त करते जाना कदापि न तो मानवता ही है, एवं न ऐसी काल्पनिक मानवता से मानव का कभी कुछ भला ही हुआ है। और न ऐसे मानवों की मानवता से राष्ट्रस्वातन्त्र्य का कदापि संरक्षण ही सम्भव है।

२६५–ब्रिटिशयुगानुगता 'धर्म्मनिरपेक्षता' घोषणा का ही वर्त्तमान-सत्तातन्त्र के द्वारा गतानुगतिक, अतएव नितान्त भावुकतापूर्ण अनुकरण—

हमारी सर्वथा तटस्था, एवं निरपेक्षा ऐसी कामना (इच्छा नहीं) है कि, हमारे समान्य शासक एकबार दोष-दृष्टि से ही भारतीय संस्कृति पर दृष्टिपात का तो अनुग्रह करें। निश्चित है कि, दोषदृष्टि से होने वाला भी उनका यह प्रयास अवश्यमेव संस्कृतिमूला-धर्म्ममूला उस भ्रान्ति का सर्वथैव निराकरण कर देगा, जिस भ्रान्ति के कारण ही, भावुकतावश ही, किंवा चाणाक्षचतुर प्रतीच्य देशों के द्वारा प्रचलित भारतराष्ट्रीय-संस्कृतिविरोधी शिक्षणयन्त्र के कारण ही वे अपनी इस मङ्गलमयी राष्ट्रनिधि से पराङ्मुख होगए हैं। एवं उन चाणाक्षचतुरों की-**'हम तुम्हारे धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे'** इस घातक घोषणा के अन्धानुकरण पर ही हमारे शासनतन्त्र ने भी अनिच्छन्नपि अपनी **'शासननीति'** को धर्म्मनिरपेक्ष घोषित कर दिया है। **राष्ट्रप्रजा,** एवं **राष्ट्रसत्ता** शीघ्र से शीघ्र इस सर्वविनाशिका, अनार्य्यजुष्टा-अकीर्त्तिकरा-घातक-घोषणा से अपना परित्राण करे, एकमात्र इसी मङ्गलकामना से उद्बोधनात्मक प्रस्तुत निबन्ध उपस्थित होरहा है जनतन्त्र के पावन चरणों में।

२६६–संस्कृतनिबन्धानुगत-'किमपि प्रास्ताविकम्' का उपराम, एवं भारतराष्ट्र के मूलाधारभूत ब्रह्मवीर्य्यात्मक 'भारत' नामक जागरूक दिव्य अग्निदेव का महामाङ्गलिक संस्मरण—

संकल्प था कि, तथाकथित चारों आयोजनों के पूर्वनिर्दिष्ट सोलहों आयोजनों के उदाहरणों की रूपरेखा निबन्ध में व्यक्त करदी जाती। किन्तु वैसा इसलिए सम्भव न हो सका कि, **पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोह-** नामक चार आयोजनों में से आरम्भ के-**'पर्व'** नामक आयोजन से सम्बन्ध रखने वाले **रक्षाबन्धन-विजयदशामी-दीपावली-होलिका**-नामक चार अवान्तर राष्ट्रीय पर्वों की रूपरेखा में ही निबन्धाकार ८०० पृष्ठात्मक बन गया। अतएव शेष आयोजनों को अन्य निबन्धसापेक्ष मानते हुए होलिका पर ही निबन्ध का विश्राम कर देना पड़ा, जिस अन्तिम पर्व का अग्निजागरण से ही सम्बन्ध है।

जबकि **'संस्कृति'** शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त ही **सत्तानिरपेक्ष** बनता हुआ **सर्वनिरपेक्ष** है, तो अब किसी के प्रति कुछ भी निवेदन करना सर्वथा ही व्यर्थ है। हाँ, राष्ट्र के संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों से अवश्यमेव साञ्जलिबन्ध

प्रणतभावेन यह निवेदन कर ही दिया जायगा कि, यदि वे वास्तव में भारतीय निगमागमपुराणादि मूलसंस्कृति के प्रति श्रद्धापूर्णा आस्था रखते हैं, तो उन्हें अपने सांस्कृतिक–व्यासङ्गों को सब ओर से नहीं, तो सत्तातन्त्र से तो अवश्य ही निरपेक्ष बना लेने का अनुग्रह कर लेना चाहिए, जिस सत्तासापेक्षता के कारण हीं अन्तर्जगत् से निगमागमसंस्कृतिनिष्ठ बने रहने वाले भी विद्वानों को सत्तातन्त्र के युगधर्म्मानुगत राजनैतिक–व्यामोहनों से सम्बन्ध रखने वाले उन विभिन्न मतवादों का भी विवश बनकर यशोगान करते ही रहना पड़ता है, जिन मतवादों के काल्वालीकृत विजृम्भणोंनें हीं भारतीय मूलसंस्कृति को अन्तर्म्मुख बनाया है, एवं जिस अन्तर्म्मुखता ने ही, मतवादात्मक त्रिसहस्रवर्षानुगत काल ने हीं भारतराष्ट्र की श्री-समृद्धि को काल्वालीकृत ही प्रमाणित किया है। अत-एव लौकेषणागर्भिता वित्तैषणा से, किंवा वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा से समन्वित, व्यक्तित्वविमोहनजनित कल्पित–निस्सार–व्यक्तिप्रतिष्ठाव्यामोहन का अविलम्ब–तत्क्षण अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग कर बाहिर-भीतर सब ओर से अपने आपको ऋजुभाव में परिणत कर–**'पाण्डित्यं निर्विद्य–बाल्येन तिष्ठासेत्'** इस औपनिषद–उद्बोधना-देश को शिरोधार्य्य कर हमें अनन्यनिष्ठा से संस्कृति–स्वाध्याय में हीं प्रवृत्त हो जाना चाहिए। तभी भारतराष्ट्र का नैगमिक वह **'सांस्कृतिक भारत-अग्नि'** जागरूक हो सकेगा, जिसका इसी राष्ट्र के सर्वनिरपेक्ष महामहर्षिने इन शब्दों में यशोगान किया है कि—

अग्निर्जागार–तमृचः कामयन्ते—
अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह—
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥
—ऋक्संहिता

पुनर्वसुनक्षत्रानुगता
श्रीरामनवमी वि० सं० २०१५

इति किञ्चिदिव प्रस्तूय विरमति
यः कश्चिदपि मोतीलालशर्म्मोपाह्वो मुक्तरक्तशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः

—*—



ओं तत्–सद् ब्रह्मणे नमः

'सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा'

—यजुःसंहिता

सत्तानिरपेक्ष–'संस्कृति' शब्द, एवं सत्तासापेक्ष–'सभ्यता' शब्द का चिरन्तन–इतिवृत्त

तथा

भारतीय 'सांस्कृतिक-आयोजनों' की रूपरेखा

(उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध)

श्री:

शाश्वत–'संस्कृति' का माङ्गलिक संस्मरण

[१] अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम ।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः ॥
—यजुःसंहिता ७।१४।

[२] यान्स्सोमानि, यानि पृष्ठानि, यानि छन्दांसि, एतयोरेव सा संस्कृतिः ।
—शतपथब्राह्मण ७।४।१।४५।

[३] अथातः संस्कृतिरेव–स प्रजापतिः, सोऽग्निः, स यजमानः ।
—शत० ८।३।४।११।

[४] अह्वा एतदव्लीयत । तद्देवा देवस्थाने तिष्ठन्तः संस्कृतिना समस्कुर्वन् । तत् संस्कृतेः संस्कृतित्त्वम् ।
—ताण्ड्यमहाब्राह्मण १५।३।२६।

[५] द्वे दशाक्षरे भवतः–उभयोरन्नाद्ययोरुपाप्त्यै, यच्च पद्वयञ्चापादकमित्यष्टादशाक्षराणि भवन्ति, यानि दश नव प्राणाः, आत्मैव दशमः । सा आत्मनः संस्कृतिः ।
—ऐतरेय आरण्यक १।३।७।

[६] दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम् ! वेदाः सन्ततिरेव च !
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् ! बहुदेयं च नोऽस्तु !
अन्नञ्च नो बहु भवेत् ! अतिथींश्च लभेमहि !
याचितारश्च नः सन्तु ! मा च याचिष्म कञ्चन !

अर्थात्—हमारे राष्ट्र में दाता–मानवों की अभिवृद्धि हो !
हमारे राष्ट्र में वेदतत्त्व, एवं तदनुगता सुसन्तति अभिव्यक्त हो !
हमारे राष्ट्रीय–जनमानस से श्रद्धा कभी पलायित न हो !
हमारे राष्ट्रीय–कोष में देने के लिए प्रभूत–सम्पत्तियाँ सुरक्षित रहें !
हमारे राष्ट्र में अन्नसम्पत्ति प्रचुरमात्रा में सुरक्षित रहे !
हमारा राष्ट्र सदा सम्मानित–सुसंस्कृत अतिथि प्राप्त करता रहे !
हमारे इस भारतराष्ट्र से सभी इतर राष्ट्र माँगते रहें !

और

हमारा सांस्कृतिक, सर्वसम्पन्न राष्ट्र कदापि किसी से भी कुछ भी याञ्चा न करे ।

यही भारतराष्ट्र की 'सनातन–संस्कृति' की आचारनिष्ठा है



ओं तत्-सद्-ब्रह्मणे नमः

सत्तानिरपेक्ष–'संस्कृति' शब्द, एवं सत्तासापेक्ष–'सभ्यता' शब्द का चिरन्तन–इतिवृत्त

तथा

भारतीय "सांस्कृतिक–आयोजनों" की रूपरेखा

उदबोधनात्मक–सामयिक निबन्ध

तत्र

संस्कृतेः,–सभ्यतायाश्च श्चिरन्तनेतिवृत्तात्मकं प्रथमं प्रकरणम्

१

१–माङ्गलिक संस्मरण–

नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥१॥

—ऋक्संहिता १०।११२।६।

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्य्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति,–"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥२॥

—ऋक्संहिता ६।४।२६।

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः, पशवो, मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥३॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।४।

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता, अमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥४॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।५।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देव-'मात्मबुद्धिप्रकाशं'-मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥५॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

अग्निर्जागार-तमृचः कामयन्ते ।
अग्निर्जागार-तमु सामानि यन्ति ॥
अग्निर्जागार-तमयं सोम आह ।
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥६॥
—ऋक्संहिता ५।४४।१५।

प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः ।
श्रीविश्वेशदयोदयाच्च समभूत् काश्यां सुविद्योदयः ॥
राज्ञा श्रीत्युदयादभूज्जयपुरे सम्पत्तिभाग्योदयः ।
सिद्धस्तन्मधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदयः ॥७॥

ओष्ठापिधाना न कुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥८॥

———※———

२–'संस्कृति', और 'सभ्यता' शब्दों के चिरन्तन इतिहास का उपक्रम—

मानवसंस्कृति, एवं मानवसभ्यता के समर्थक सभी राष्ट्र 'संस्कृति', एवं 'सभ्यता' नामक दोनों शब्दों से अत्यधिक स्नेह प्रदर्शित करते देखे सुने गए हैं । अपने इसी प्रदर्शन को चरितार्थ करने के लिए तत्तद् राष्ट्रों के राष्ट्रीय मानव स्व स्व सभ्यता के अनुपात से स्व स्व 'सांस्कृतिक-आयोजनों' का यथावसर अनुगमन भी करते रहते हैं। और आज महत्सौभाग्य है यह भारतराष्ट्र का कि, इसने भी अपनी अभिनव-स्वतन्त्रता के मुक्त-प्रक्रान्त जागरणकाल में विविध प्रकार के 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के द्वारा अपनी संस्कृति, और सभ्यता का परिचयात्मक प्रदर्शन आरम्भ कर दिया है ।

जीवन-जागरण-के महान् परिचायक इन 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के प्रदर्शन के लिए सोत्साह-सोल्लास प्रवृत्त आज का भारतराष्ट्र अपने इन आयोजनों से क्या भारतराष्ट्र की अपनी 'संस्कृति', अपनी

'सभ्यता' को मूलाधार बनाये हुए है ?, यही वह एक सामयिक प्रश्न है, जिसके समन्वय के लिए ही इन दोनों शब्दों के चिरन्तन इतिहास का भारतीया 'राष्ट्रदृष्टि' से सिंहावलोकन कर लेना प्रत्येक दशा में इस राष्ट्र के लिए श्रेयःपन्था ही माना जायगा। कहीं ऐसा तो नहीं है कि, जिस प्रकार आज हमारे सम्पूर्ण नैतिक-विधि-विधान पश्चिमी देशों के संविधानों के आंशिक अनुकरणमात्र हैं, दूसरे शब्दों में स्वतन्त्र भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण राजनीति का एकमात्र आधार जिसप्रकार आज 'प्रतीच्य-राजनीति' ही प्रमाणित हो रही है, तथैव वर्त्तमान-युग के ये 'सांस्कृतिक-आयोजन' भी कहीं गतानुगतिक-न्याय से वैसा अनुकरण ही तो नहीं है ?, जिस अनुकरणवृत्ति से मानवीय मन शनैः शनैः अनुकरण के आधारभूत परभावों, परसंस्कृति-परसभ्यताओं के गर्त्त में निमज्जित होता हुआ कालान्तर में अपना प्रातिस्विक-प्रतिष्ठात्मक-मौलिक स्वरूप ही सदा सदा के लिए विस्मृत कर दिया करता है। अपने वर्त्तमान 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के द्वारा कहीं राष्ट्रीय जनमानस इत्थंभूता विस्मृति की ओर ही तो शनैः शनैः अग्रेसर नहीं होता जा रहा ?, इसी भयावहा आशङ्का से शङ्कातङ्कितमानस बन जाने के कारण ही आज हमें भारतीय दृष्टिकोण से'संस्कृति'-'सभ्यता'शब्दों के चिरन्तन इतिहास का उपक्रम करना पड़ रहा है।

३-वर्त्तमान 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के अकाण्डताण्डव—

अभिनव स्वतन्त्रता के वर्त्तमान स्वर्णिम युग में भारतराष्ट्र के राष्ट्रीय जन-मानस में 'संस्कृति' के अङ्कुर पुष्पित-पल्लवित होते जा रहे हैं, यह जानकर आज एक ओर जहाँ हम मनस्तुष्टि का अनुभव कर रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर अङ्कुरिता संस्कृति के प्रसूनरूप वर्त्तमान 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के अकाण्ड-ताण्डवों को कर्णाकर्णिपरम्परया सुन सुन कर हमें इसलिए अत्यन्त ही निराश भी बन जाना पड़ रहा है कि, मणिपुर-नृत्य-कत्थककली डाँस-ढोलामारु के गीत-ढोलकनृत्य- डाँडीनृत्य-घूमरनाच-उष्ट्रवाहनारूढ रैबारीप्रदर्शन-आदि आदि उपाधियों से सुविभूषित, आजकी महती ! सांस्कृतिक ! भाषा में-'सांस्कृतिक-झलकियाँ' नाम से उद्घोषित इत्थंभूत सांस्कृतिक आयोजनों में अथ से इति पर्य्यन्त प्रयास करने पर भी भारतीय संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली मौलिकता का तो यत्किञ्चित् आभास भी उपलब्ध नहीं हो रहा।

४-रूढिवादविध्वंसक कल के समाजसुधारक के द्वारा रूढिवादों का प्रचण्ड समर्थन, एवं तन्मूलक उसके सांस्कृतिक-आयोजन—

कुछ ही वर्षों पूर्व इसी आज के आयोजनभक्त राष्ट्रीय-जनमानस के द्वारा 'रूढ़िवाद' के प्रति प्रचण्ड प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारतीय लोकजीवन से सम्बन्ध रखने वाले पर्व-उत्सव-त्यौंहारादि अवसरों पर उपगीयमान माङ्गलिक लोकगीत, नृत्य, वाद्यादि का अत्यन्त ही विरोध किया जा रहा था-'सुधार' के नाम पर। ऐसे सुधारवादी ही-'समाजसुधारक' नाम से अपने आपको अभिव्यक्त करते रहने में गरिमा-महिमा की अनुभूति करते हुए नहीं अघाते थे । "होली पर रँग डालना पशुता है, विवाहादि उत्सवों पर पारिवारिक स्त्रियों का मङ्गलगान सर्वथा असभ्यता है", आदि तर्काभासों के द्वारा जो सुधारक महाभाग स्वतन्त्रता से पूर्व के युग में' सुधार' के नाम पर यच्चयावत् लोकसंस्कृतियों के समूल विनाश के लिए ही आतुर बने हुए थे, वे ही सुधारक, वे ही रूढिवादविरोधी महानुभाव आज स्वयं बड़े उत्साह से उन्हीं लोक-संस्कृतियों के पुनरुद्धार के लिए आपादमस्तक व्यग्र बने हुए हैं।

५–राष्ट्रीय जनमानस का सांस्कृतिक अधःपतन—

ऐसा कुछ आभास हो रहा है कि, मानो इस अभिनव–स्वतन्त्रता का एकमात्र पौरुष तथाविध सांस्कृतिक–
आयोजन ही हो। इसीलिए तो आजके छोटे–बड़े–सभी राष्ट्रीय कर्म्मों, आयोजनों के उपक्रमोपसंहार में इन
झलकियों को हीं प्रमुखता प्रदान की जा रही हैं। भाषण–भोजन, और रहैव सांस्कृतिक आयोजनात्मक
कलाकौशलप्रदर्शन हीं आज प्रमुख बने हुए हैं यत्रतत्र सर्वत्र। होली के रँग के नामश्रवण से भी अपनी
मुखाकृति को अष्टावक्रभाव में परिणत कर लेने वाले कल के वे ही सुधारक, किन्तु आजके राष्ट्रीय मानव किस
उन्मुक्तता से सोल्लास रङ्गरञ्जित बन जाते हैं ?, प्रश्न की मीमांसा न करना ही श्रेयःपन्था है।

अमुक पर्वोत्सव–विशेषों पर ही मर्य्यादापूर्वक मङ्गलगान–नृत्यादि में समवेत पारिवारिक स्त्रियों के
नृत्य–गानादि पर प्रबलतम प्रतिबन्ध लगा देने वाले वे ही सुधारक आज उन्हीं पारिवारिक गृहदेवियों, एवं
कन्याओं को नृत्य-गान की दैनिक शिक्षा प्रदान करने के लिए समातुर बने हुए मानों स्वयं ही अपने सुधारवाद
का उपहास ही करते जा रहे हैं। और यों तत्त्वतः 'संस्कृति' के शब्दार्थ से भी असंस्पृष्ट अपने इन मनःशरीर–
मात्रानुबन्धी तात्कालिक अनुरञ्जनात्मक आयोजनों को 'सांस्कृतिक–आयोजन' जैसी पवित्र अभिधा से समन्वित
मानते हुए आजके ये संस्कृतिभक्त अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ इन्हें सफल बनाते रहने में हीं समर्पित करते जा रहे
हैं, इससे अधिक राष्ट्रीय जनमानस का सांस्कृतिक अधःपतन और क्या होगा ?।

६–दुरधिगम्य 'संस्कृति', और 'सभ्यता' शब्द—

अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण, अतएव सर्वथैव दुरधिगम्य है 'संस्कृति', और 'सभ्यता' शब्दों का चिर–
पुरातन–चिरनूतन–चिरन्तन इतिहास, जिसकी रूपरेखा अन्य निबन्ध में स्पष्ट की जा चुकी है। प्रसङ्ग–समन्वय
के लिए तत्सम्बन्ध में प्रकृत में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, 'मानव' के आध्यात्मिक, तथा
आधिभौतिक स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले अन्तः, और बाह्य आचार ही क्रमशः मानव की संस्कृति, और
सभ्यता मानी गई है।

७–चतुष्पर्वा मानव का आधारभूत समब्रह्म—

'मानव' का क्या स्वरूप है ?, इस प्रश्न के समाधान पर ही मानव की संस्कृति, एवं सभ्यता का
चिरन्तन इतिहास प्रतिष्ठित है। एतद्देशीय वैज्ञानिकों (महर्षियों) नें इस सम्बन्ध में हमें यह बतलाने का
अनुग्रह किया है कि–**आत्मा**, **बुद्धि**, **मन**, **शरीर**, इन चार पर्वों की समुच्चयावस्था का नाम हीं–**'मानव'**
है। नाम–रूप–गुण–कर्म्म–शक्ति–आदि की दृष्टि से परस्पर अत्यन्त विभिन्न इन चारों मानवीय आध्या–
त्मिक पर्वों को एक केन्द्रबिन्दु पर निर्विरोध समन्वित रखने वाला जो कोई एक पाँचवाँ सुसूक्ष्मतम–वाङ्मन–
सबुद्धिभूतात्मपथातीत–सर्वातीत–सर्वरूप–अभिन्न तत्त्व है, वही **'समब्रह्म'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसे आस्तिक
मानव **'परमेश्वर'–'ईश्वर'–'अव्यय'** आदि विविध नामों से स्मरण करता रहता है। शब्दब्रह्म का उपासक
व्याकरणशास्त्र इसी अवारपारीण एकरस समब्रह्म को **'स्फोट'** नाम से व्यवहृत कर रहा है। परस्पर सर्वथा
विभिन्न वाक्य–पद–शब्द–वर्ण–मात्रा–अक्षर–आदि को एकसूत्र में आबद्ध कर समस्त शब्दराशि के द्वारा

समूहालम्बनात्मक-एकतानतात्मक शाब्दबोध कराने वाला तत्त्व ही व्याकरणशास्त्र का 'स्फोट' पदार्थ है, और यही 'समब्रह्म' ब्रह्म है।

८-समब्रह्म, और सङ्गीताचार्य्यों का तालानुगत 'सम्'

नृत्य-गीत-वाद्यात्मक सङ्गीत के परमाचार्य्य इसे ही **'सम'** कहते हैं, जिसका विकृतरूप आज 'सम्' हो गया है। मृदङ्गवादक का मृदङ्गनाद, नर्त्तक का घुँघुरूनाद, एवं गायक का स्वरनाद, तीनों नाद सर्वथा समतुलित बन कर जिस क्षण किसी एक अवारपारीण स्थिर बिन्दु पर समन्वित होजाते हैं, वही सङ्गीतज्ञों की परिभाषा में-'सम्' पर आजाना कहलाया है, जिसके समसंग्रह के लिए ही सङ्गीताचार्य्यों नें 'ताल' का आश्रय लिया है। एक-पांच-नौ-तेरह की संख्याओं से समतुलिता समबिन्दु से तो सभी परिचित हैं हीं।

९-समब्रह्ममूला समानी समिति, एवं प्रपत्तिमूला सम्पत्ति—

विभिन्न विचारों का ऐकमत्य-भाव में परिणत होजाना हीं 'समब्रह्म' की प्रतिष्ठा है, जिसके आधार पर समानी **'समिति'** का स्वरूप निर्म्माण हुआ करता है। पौगण्ड-शिशु-बाल-युवा-तरुण-प्रौढ-वृद्ध-नारी-आदि आदि विभिन्न पारिवारिक व्यक्तियों का 'परिवार' निबन्धन एक सूत्र में प्रपन्न बने रहना जिस 'समत्व' पर अवलम्बित है, वही प्रपन्नात्मिका प्रपत्ति, किंवा 'पत्ति' इसी समब्रह्म के अनुग्रह से **'सम्पत्ति'** कहलाई है, जिसका मूलबीज 'सुमति' माना गया है, जैसा कि भारतीय सन्त की-'जहाँ सुमति, **तहँ सम्पत्ति नाना'** इत्यादि सूक्ति से स्पष्ट है।

१०-एकत्वाधारभूत समब्रह्म का मौलिक स्वरूप—

आधिभौतिक विश्व में गुणत्रयभेदभिन्ना महामाया प्रकृति के विकृतिरूप असंख्य अनन्त विस्तारों के कारण सर्वत्र नानाभाव जागरूक हैं। उदाहरण के लिए एक वृक्ष को ही लीजिए। बीज को आधार बना कर पुष्पित-पल्लवित होने वाले एक ही वृक्ष के अवान्तर मूल-शाखा-प्रशाखा-पत्र-मञ्जरी-पुष्प-फलादि का यदि आप विशकलन करने लग पड़ेंगे, तो आपकी गणितज्ञा भी प्रज्ञा थक थक जायगी। इन असंख्य अवयवों-भेदों-नानाभावों के विद्यमान रहते हुए भी जिस अवारपारीण किसी एक अभिन्न मूल-धरातल के आश्रय से वृक्ष 'एक' कहलाता है, 'एकत्व' प्रतीति का आधारभूत वही तत्त्व 'समब्रह्म' कहलाया है, जिसका स्वयं समब्रह्मावतार भगवान् वासुदेव कृष्ण ने इन शब्दों में यशोगान किया है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति, स पश्यति'' (गीता १३।२७)।
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्'' (गीता १३।२८)।
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं 'ब्रह्म' सम्पद्यते तथा॥ (गीता १३।२०)।

११–'समित्येकीभावे' मूलक 'सम्' उपसर्ग, और समब्रह्म—

भारतीय जनजीवन में भी इसी 'सम' भाव के कारण सर्वाधारभूत समब्रह्म 'समदर्शी' नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि–'**समदर्शी है नाम तिहारो**' इत्यादि भावुक भक्त की सूक्ति से अनुप्राणित है। ऐसा है वह सर्वव्यापक ब्रह्म, जिसका समसमत्त्व के कारण हीं–'सम' नाम है, जिसके प्रातिनिध्य में हीं व्याकरणशास्त्र ने 'सम्' नामक उपसर्ग की कल्पना की है। इस उपसर्ग का अर्थ वही है, जो 'समब्रह्म' का है। अर्थात्–"**अनेक भावों को, विभिन्न भावों को एकरूप में परिणत किए रहना**"। इसी आधारपर–'**समित्येकीभावे**' इस शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार 'सम्' उपसर्ग का अर्थ माना गया है एकीभाव। एवं एकीभावार्थक इस 'सम' उपसर्ग के माध्यम से ही हमें सर्वप्रथम दो शब्दों में 'सस्कृति' शब्दार्थ की ओर संस्कृति–प्रेमियों का ध्यान आकर्षित कर देना है।

१२–'संस्कृति' शब्द के–'सम्–स्–कृति' रूप पर्वविभाग—

'संस्कृति' शब्द के '**सम्–स्–कृति**' ये मुख्य पर्व–विभाग–हैं। इन तीन विभागों में भी मुख्य 'सम्–कृति' ये दो ही विभाग हैं। पाणिनीय व्याकरण के नियमानुसार सम्–उपसर्ग के आगे रहने वाले कृति–कारादि की अवस्था में 'सुट्' का आगम होजाता है, मध्य में '**सुट्**' का आगमन हो जाता है। फलतः सम्–कृति, और सम्–कार–आदि विभाग संस्कृति–संस्कार–आदि शब्दों में परिणत होजाते हैं। तात्पर्य्य–'संस्कृति' शब्द का अपना स्वरूप '**समृकृति**' ही है, जो आगन्तुक 'स्' (सुट्) के समावेश से 'संस्कृति' रूप में परिणत हो रहा है।

१३–एकीभावात्मिका कृति का संकृतित्त्व, तथा संस्कृतित्त्व—

'समृकृति' शब्द का अर्थ है–'**एकीभावात्मिका कृति**', **अभिन्नभावात्मिका कृति**। हम समझे नहीं इस वाक्य का अर्थ ?। समझने के लिए अब आपका ध्यान सुप्रसिद्ध '**सापेक्षवादसिद्धान्त**' की ओर ही आकर्षित करना पड़ेगा, जो अपेक्षा पारस्परिक समन्वयभावों की पूर्त्ति करती रहती है। एकीभाव सदा ही नानाभाव की अपेक्षा रखता है, तो नानाभाव सदा एकीभाव की ही अपेक्षा रखता है। एकत्त्व नानात्त्व की, अपेक्षा रखता है विश्वसृष्टि–दृष्टि से, तो नानात्त्व एकत्त्व की कामना रखता है विश्वमुक्ति की अपेक्षा से। वैसे शुद्ध एकत्त्व को तो तत्त्वयज्ञोंनें निरपेक्ष ही माना है। 'सम्' एकभाव है, तो 'कृति' नानाभाव है। कार्य्य का ही नाम 'कृति' है, जिसे लोकभाषा में–'रचना'–निर्म्माण–सर्ग–सृष्टि–उत्पत्ति–आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। सम् की कृति ही संस्कृति है। एक की अनेकता ही संस्कृति है। सम् की रचना हीं संकृति है। अर्थात् समब्रह्मात्मक अव्ययेश्वर से अक्षरद्वारा क्षर उपादान से विनिर्म्मित–विरचित–उत्पन्न–विश्व ही उससम् की कृति है, जिसका फलितार्थ निकलता है-'**यह सम्पूर्ण चराचर विश्व ईश्वर की ही कृति है**। ईश्वर 'सम्' है, एक है, तो उसकी कृतिरूप चराचर विश्व अनेकभावापन्न है।

१४–पराविद्यात्मिका आत्मविद्या, और 'सम्' भाव—

अभी थोड़ा स्पष्टीकरण और अपेक्षित है। एकत्त्व का प्रतिनिधि–शब्द माना गया है ज्ञान, एवं अनेकत्त्व का प्रतिनिधि–शब्द माना गया है '**विज्ञान**'। '**एकं ज्ञानं ज्ञानम्–एवं–विविधं ज्ञानं–विज्ञानम्**'

हीं ज्ञान–विज्ञान–शब्दों की सहज परिभाषा है, जिसका अन्य निबन्धन में स्पष्टीकरण होचुका है। समब्रह्मात्मक ज्ञानलक्षण एक तत्त्व के आधार पर विषमकर्म्मात्मक-विज्ञानलक्षण नानाभावों का विकास हुआ है। एक से अनेक कैसे उत्पन्न होगए ?, इस रहस्यविद्या का नाम हीं 'विज्ञानविद्या' है, यही 'अपराविद्या' है। ये अनेक भाव उस एक में कैसे कब परिणत हो जाते हैं ?, परिणत हो रहे हैं ?, इस रहस्यविद्या का नाम ही 'ज्ञानविद्या' है. यही 'पराविद्या' है। पराविद्यात्मिका ज्ञानविद्या ही 'आत्मविद्या' है, यही 'संस्कृति' शब्द का–'सम्' पर्व है।

१५–अपराविद्यात्मिका विश्वविद्या, और 'कृति' भाव—

अपराविद्यात्मिका विज्ञानविद्या ही 'विश्वविद्या' है, यही उक्त शब्द का 'कृति' पर्व है। आत्मसमन्वित विश्व ही ज्ञानविज्ञानसमन्वयलक्षणा संस्कृति का मौलिक स्वरूप-परिचय है। ज्ञान–विज्ञानात्मक उभय तत्त्वों का स्वरूपविश्लेषक शास्त्र ही 'संस्कृतिशास्त्र' है, जिसका अर्थ होता है भारतीय वह मौलिक साहित्य, जिसके निगम–आगम–पुराण–स्मृत्यादि अवान्तर पर्व माने गए हैं। साहित्य ही हमारी संस्कृति है, जिसकी स्वरूपव्याख्या ज्ञानविज्ञानलक्षणा आत्म–विश्वविद्याओं से ही सम्बन्ध रखती है।

१६–संस्कृति का एकमात्र प्राणवान् प्रतीक 'साहित्य'—

पुरातत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले प्राचीन खण्डरों–मूर्त्तियों–भवनों–घट–कपाल–शरावों–ठीकरियों–कङ्कालों–आदि आदि का नाम संस्कृति नहीं है। ये तो अमुक सीमापर्य्यन्त ही सभ्यता के प्रतीक तो फिर भी यथाकथञ्चित् कहे, और माने जा सकते हैं। किन्तु 'संस्कृति' का तो इन ध्वंसावशेषों से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं माना जासकता। यदि आपको 'संस्कृति' के स्वरूप–दर्शन करने हैं, तो आपको भारतीय चिरन्तन ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिक–साहित्य की ही शरण में आना पड़ेगा। साहित्य ही एकमात्र संस्कृति का प्राणवान् प्रतीक माना गया है। पुरातत्त्व के अवशेषों के दर्शन से आप अपनी सभ्यता की कण्डू तो फिर भी यथाकथञ्चित् शान्त कर सकते हैं, कर लेंगे। किन्तु कदापि इस जड़-दर्शन से आप संस्कृति का स्वरूपबोध प्राप्त नहीं कर सकेंगे। क्योंकि संस्कृति साहित्य में है। एवं साहित्य का दर्शनमात्र से सम्बन्ध न होकर एकान्तचिन्तन-मूलक तत्त्व से ही प्रधान सम्बन्ध है। संस्कृति ज्ञातव्या है, दर्शनीया-मात्र नहीं। ज्ञातव्य विषय हैं ज्ञान, और विज्ञान, तन्मूला आत्मविद्या, और विश्वविद्या, जिनकी ज्ञातव्यलक्षणा संस्कृतिरूपा अभिधा का इन शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

> ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
> यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥
>
> —गीता

१७–प्राजापत्या संस्कृति के शाश्वत आयोजन—

हाँ, तो अब स्वयं 'संस्कृति' शब्द नें हीं हमें यह मानने, मनवाने के लिए विवश कर दिया कि,—"सम् की कृति, किंवा सम्–रूपा कृति, किंवा सम से अभिन्ना कृति ही 'संस्कृति' है," । जिसका

सहजभाषा में फलितार्थ यही निकल रहा है कि–परमात्मा की कृति रूप, साथ ही परमात्मा से अभिन्न, अतएव आत्म–विश्वसमष्टिरूप यह विश्वविवर्त्त ही संस्कृति की व्यक्ता–मूर्त्ता–प्रतिकृति है । इस महती 'विश्वसंस्कृति' के गर्भ में परमाकाश–परमेष्ठी–सूर्य्य–नक्षत्र–ग्रह–चन्द्र–पृथिवी–वायु–तेज–जल–ऋषि–पितर–देवता–असुर–राक्षस–गन्धर्व–यक्ष–पिशाच–किन्नर–दैत्य–दानव–मानव–कृमि–कीट––पशु–पक्षी––लता––गुल्म–ओषधि–वनस्पति–धातु–रस–विष–आदि आदि भेद से असंख्य–अनन्त अवान्तर भेदों में विभक्ता अवयवसंस्कृतियाँ अपने अपने आयोजनों में तल्लीन हैं। इन असंख्य संस्कृतियों के पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मक महतो महीयान् आयोजन हीं विश्वम्भर विश्वेश्वर प्रजापति की इन प्राजापत्या संस्कृतियों के वे आयोजन हैं, जो तत्तद्‌विभक्त संस्कृतिनिष्ठ सूर्य्य–चन्द्रादि सांस्कृतिक व्यक्तियों के द्वारा मर्य्यादापूर्वक शाश्वतीभ्यः–समाभ्यः अनवच्छिन्नरूपेण समायोजित होते रहते हैं ।

१८–ईश्वर की अवयवरूपा कृतियाँ, एवं अवयवीरूपा संस्कृति—

महती विश्वसंस्कृति के गर्भ में प्रतिष्ठित उपर्य्युक्त अनन्त–असंख्य–विभिन्न संस्कृतियों के समतुलन में 'मानव' की 'संस्कृति' का क्या स्वरूप है ?, यही निबन्ध के वक्तव्य का प्रधान विषय है । मानव से अतिरिक्त आकाशादि पृथिव्यन्त जितनीं भी अन्य स्थावर–जङ्गम (अचर–चर,–जड़–चेतन) संस्कृतियाँ हैं, उन सब के समतुलन में मानवसंस्कृति का अपना एक विशेष स्थान सुरक्षित है । इसलिए सुरक्षित है कि, मानवेतर समस्त चर–अचर–प्राकृतिक-वैकारिक सर्ग 'समब्रह्म' लक्षण विश्वेश्वर की अवयवरूपा कृतियाँ हीं हैं, जब कि समस्त विश्व में एकमात्र मानव ही अव्ययेश्वरात्मा की परिपूर्णा अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखता हुआ अव्ययेश्वरवत् अपना स्वतन्त्र मनुकेन्द्र सुरक्षित रखता हुआ इस स्वतन्त्र उक्थ की अभिव्यक्ति से एक स्वतन्त्र 'अवयवी' ही बना हुआ है । स्पष्ट है कि, मानव से इतर ईश्वर की कृतियाँ **'अवयव'** स्थानीया बनतीं हुईं जहाँ केवल **'कृतियाँ'** हैं, वहाँ मानव **'अवयवी'** स्थानीय बनता हुआ समब्रह्म की पूर्ण अभिव्यक्ति बनता हुआ इस समब्रह्म के साक्षात् सम्बन्धरूप अभिव्यक्तित्त्व से केवल 'कृति' न हो कर–'संस्कृति' बना हुआ है । तात्पर्य्य ? ।

१९–मानवेतर विश्वपदार्थों का केवल 'कृतित्त्व', एवं मानव का 'संस्कृतित्त्व'—

तात्पर्य्य स्पष्ट है । सूर्य्य–चन्द्र–ऋषि–पितर–देवता–भू–वायु–जल–तेज–कृमि–कीट–पशु–पक्षी–आदि आदि यच्चयावत् स्थावर–जङ्गम पदार्थ भी मानववत् हैं तो ईश्वरात्मा की कृति हीं । अवश्य ही–**'अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्'** इत्यादि गीतासिद्धान्तानुसार इन सब विभक्त सूर्य्य–चन्द्रादि में वह समब्रह्म अविभक्तरूप से विभक्तवत् प्रतिष्ठित भी है । अतएव इन सब कृतियों का आधार तो वह समब्रह्म हीं बना हुआ है । और इस समष्टि की दृष्टि से इन सम्पूर्ण अवयवों की समष्टिरूप स्थावरजङ्गमात्मक प्राकृत–वैकारिक विश्व को भी अवश्य ही 'संस्कृति' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है । इसी आधार पर 'विश्वसंस्कृति' वाक्य का आविर्भाव भी हुआ है । यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी, सुसमन्वित बने रहने पर भी जब विश्वपदार्थों का अवयवदृष्टि से विचार किया जाता है, तो विश्व का प्रत्येक प्राकृतिक, अथवा तो वैकारिक अवयव अपने इस विभक्त अवयवभाव से विश्वकेन्द्रस्थ अवयवी शाश्वतब्रह्मरूप मनुर्लक्षण अव्ययोक्थ के रश्मिमात्र से उपकृत रहता हुआ, अतएव स्वतन्त्र आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व से अनभिव्यक्त बना रहता हुआ, अतएव च आत्मभाव से पृथक् रहता हुआ अनात्मरूप केवल 'कृति' ही प्रमाणित हो रहा है । दूसरे शब्दों में समब्रह्म के प्रतीकभूत 'सम्' के साक्षात् अभिव्यक्तित्त्व से वञ्चित

रहने के कारण हीं इन विश्वावयवों का केवल 'कृतित्व' ही अभिव्यक्त हो रहा है । और यों मानवेतर यच्चयावत् जड़-चेतन-पदार्थ व्यष्टिरूप से आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्वरूप मनुकेन्द्र से साक्षात्रूप से वञ्चित रहने के कारण केवल 'कृति' उपाधि के ही पात्र बने हुए हैं । और यहाँ आकर अब हमें इस सिद्धान्तबिन्दु पर आजाना पड़ता है कि, सम्पूर्ण विश्व में 'संस्कृति' शब्द का मुख्य पात्र एकमात्र वह 'मानव' ही है, जिसमें मनुकेन्द्ररूप अव्ययेश्वरलक्षण समब्रह्म स्वस्वरूप से-उक्थरूप से-अवयवीरूप से सर्वात्मना अभिव्यक्त है । इस आत्ममनु की पूर्णाभिव्यक्ति से ही यही 'मनोरपत्यम्' निर्वचन से 'मानव' जैसी श्रेष्ठतरा-परिपूर्णतमा महती सांस्कृतिक-अभिधा का एकमात्र अधिकारी बना हुआ है, जैसा कि-**'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'- 'पुरुषो वै प्रजापतेर्निर्दिष्टम्'-'यदेवेह तदमुत्र-यदमुत्र तदन्विह'-'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्''**-इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त-प्रमाणों से प्रमाणित है ।

२०-विश्वपदार्थों की परतन्त्रता, एवं मानव की स्वतन्त्रता—

मानवेतर विश्वपदार्थ जहाँ 'प्राकृत' है, प्रकृतिमात्र से सञ्चालित होते हुए **'परतन्त्र' हैं, अतएव** अव्ययपुरुषात्मानुबन्धी स्वतन्त्र पुरुषार्थ के साधन में सर्वथा असमर्थ हैं । वहाँ मानव प्रकृति से अतीत रहने वाले अव्ययपुरुष की अभिव्यक्ति से समन्वित रहता हुआ **'अप्राकृत' है**, स्वयं अपने अव्ययपुरुषात्मभाव से सञ्चालित रहता हुआ **'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' है**, स्वतन्त्र पुरुषार्थसाधन में समर्थ है ।

२१-प्राजापत्या ईश्वरीय संस्कृति, एवं प्राजापत्य ईश्वरीय साहित्य—

इसके इन स्वतन्त्र पुरुषार्थों की स्वरूपव्याख्या ही मानव का वह अपना स्वतन्त्र मौलिक **'सांस्कृतिक-इतिहास' है**, जिसे **'साहित्य'** कहा गया है, जो कि मानवश्रेष्ठों की स्वतन्त्रप्रज्ञा से प्रादुर्भूत ईश्वराज्ञासिद्ध 'प्राजापत्यसाहित्य' (वैदिकसाहित्य) कहलाया है, जिस इस अपौरुषेय सनातन साहित्य का उपबृंहक साहित्य ही इतिहास-पुराण-साहित्य कहलाया है । और यों मानव की आत्माव्ययरूपा 'संस्कृति' ही इस निगमागमपुराणरूप साहित्य के द्वारा उपबृंहित हुई है ।

२२-संस्कृति, और साहित्य का चिरन्तन सख्यभाव—

यही **संस्कृति, और साहित्य,** का वह चिरन्तन सख्य है, जिसे जब जब भी प्राकृतता की भावुकता से, प्राकृतिक व्यामोहनों से, अपने आपको इतर प्राणियों की भाँति एक प्राकृत प्राणी मानने-मनवाने की महती भ्रान्ति से मानव ने अपने इस संस्कृतिस्वरूपविश्लेषक सनातन साहित्य की उपेक्षा कर अपने को केवल 'कृति' मान लिया है, तबतब ही इसका सांस्कृतिक स्वरूप अन्तर्मुख ही बन गया है । एवं तत्स्थान में केवल बाह्य-अवयवात्मक-कृतिलक्षण-अनुकरणात्मक प्रदर्शन हीं इसका काल्पनिक सांस्कृतिकरूप शेष रह गया है । इसी महान् प्राकृतिक, किंवा वैकारिक व्यामोहन के कारण आत्मबुद्धिसंस्कृतिनिष्ठ परिपूर्ण भी सांस्कृतिक मानव अपने सांस्कृतिक स्वरूप को विस्मृत करता हुआ आज मनःशरीरानुगत भौतिक कृतिभावों के प्रदर्शनों को ही 'सांस्कृतिक आयोजन' मानने-मनवाने की महती भ्रान्ति करता जा रहा है । इससे अधिक इस आत्मसंस्कृतिनिष्ठ परिपूर्ण भारतीय मानव का और क्या सांस्कृतिक अधःपतन होगा ? ।

२३-स्वाध्याय के द्वारा सांस्कृतिक इतिहास का संरक्षण—

'संस्कृति' शब्द के अबतक के शब्दार्थेतिहास के माध्यम से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, मानव से अतिरिक्त विश्व के यच्चयावत् पदार्थ जहाँ **समब्रह्मलक्षण ईश्वराव्यय** की केवल अवयवरूपा

'कृति' है, वहाँ मानव ईश्वराव्यय की पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण 'कृति' बनता हुआ भी इस 'सम्' के पूर्णाभिव्यक्तित्त्व से **'संस्कृति'** बना हुआ है। मानव स्वयं 'संस्कृति' बना हुआ है, जिसकी इस आत्ममूला-संस्कृति का चिरन्तन इतिहासग्रन्थ ही मानव का मौलिक निगमागमपुराणरूप 'साहित्य' कहलाया है। इसी सांस्कृतिक इतिहासरूप साहित्य के गर्भ में मानव का 'स्व' स्वरूप अन्तर्निगूढ़ है। अतएव मानव को अपने सांस्कृतिक-स्वरूपबोध के लिए इस 'स्व' स्वरूप विश्लेषक साहित्य का ही अध्ययन करना पड़ता है। यही इसका 'स्व' का अध्ययन माना गया है, और यही 'स्वाध्याय' कहलाया है। अपने सांस्कृतिक स्वरूप के प्रति यावज्जीवन जागरूक बने रहने के लिए यह अनिवार्य्यरूपेण आवश्यकतम है कि, मानव प्रतिदिन यथासुविधा-यथाशक्ति (अहरहः) स्वाध्यायपथ का अनुगमन करता ही रहे, कभी इस स्वाध्यायनिष्ठा में प्रमाद न करे। इसी उद्बोधन के लिए-**'अहरहः स्वाध्यायमधीधीयीतैव'-'स्वाध्यायान्माप्रमद'-'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'-'स्वाध्यायान्न प्रमदितव्यम्'** इत्यादि आदेश व्यवस्थित हुए हैं। **"यावज्जीवन अपने स्वरूपबोध के, सांस्कृतिकस्वरूप के एकमात्र आधारभूत साहित्य का स्वाध्याय करते रहना, तदनुरूप सांस्कृतिक आचरणपथ पर निष्ठापूर्वक आरूढ बने रहना हीं भारतीय आत्मनिष्ठ मानव का एकमात्र 'सांस्कृतिक आयोजन' है"**। जिसका किसी भी बाह्यप्रदर्शन से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। संस्कृति का प्रदर्शन नहीं हुआ करता, आयोजन नहीं हुआ करता। अपितु संस्कृति का तो एकान्तनिष्ठा से साहित्य के आधार पर पहिले चिन्तन होता है, मनन होता है, निदिध्यासन होता है। एवं इस श्रवण-मनन-निदिध्यासनानन्तर तदनुरूप आचरण हुआ करता है। और यों स्वाध्यायव्रतग्रहण से आरम्भ कर आचारनिष्ठापर्य्यन्त व्याप्त रहने वाली साहित्यिक-संस्कृति ही मानव की संस्कृति का, किंवा सांस्कृतिक-स्वरूप का संरक्षण करती रहती है।

२४-ईश्वरीय कृतियों का प्रदर्शनात्मक आयोजन, और संस्कृति—

'सम्' की अवयवकृति ही कृति है, अवयवीकृति ही **संस्कृति** है। बाह्यप्रदर्शनात्मक आयोजन आत्माभि-व्यक्तित्वशून्या कृतियों का अवश्य हुआ करता है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक कृति ऋतुपरिवर्त्तन के अनुपात से विभिन्न स्वरूपों में परिणत होती रहती है। कभी वसन्त, कभी शरत्, कभी वर्षा, तो कभी ग्रीष्म। कभी हेमन्त, तो कभी शिशिर। इन साम्वत्सरिक ऋतुपरिवर्त्तनों के साथ साथ प्रत्येक कृति नवीन नवीन भावविन्यासों के आयोजनों में तल्लीन बनती रहती है। और यों इन कृतियों का प्रदर्शनात्मक बाह्य आयोजन नवीन नवीन साज-सज्जा-परिग्रहों से महता समारम्भेण घटित-विघटित होता रहता है।

२५-सांस्कृतिक मानव की सनातन-मानवता—

क्या 'मानवकृति' में ऐसा प्राकृतिक आयोजन नहीं होता ?। होता है, अवश्य होता है। किन्तु मानव स्वयं अपने आभ्यन्तर मानवरूप से इन आयोजनों का स्वयं प्रवर्त्तक नहीं बनता। अपितु प्रकृति के द्वारा होने वाले इन प्राकृतिक-परिवर्त्तनात्मक आयोजनों का मानव तो द्रष्टा-साक्षीमात्र बना रहता है। बाल--तरुण--युवा--प्रौढ--जरा--मृत्यु--आदि आदि सभी वैसे ही तो कृतिरूप आयोजन हैं, जो प्रकृत्या यथाकाल स्वयं होते रहते हैं। स्वयं मानव कदापि इन आयोजन का स्रष्टा नहीं है। अतएव मानव इन कृतिरूप आयोजन--प्रदर्शनों से पृथक्--तटस्थ--नित्य--सनातन--अप्राकृत-शाश्वत तत्त्व है, जो कि इसका सांस्कृतिक स्वरूप

है, जिस से कि मानवेतर कृतियाँ वञ्चित हैं । अतएव मानवेतर कृतियाँ जहाँ आयोजनोपशान्ति पर स्वयं भी सदा के लिए शान्त हो जातीं हैं, वहाँ मानव अपने प्राकृतिक कृतिभावों के उपरत हो जाने पर भी स्वात्मस्वरूप से सदा अक्षुण्ण ही बना रहता है । और यही सांस्कृतिक मानव की सनातन-मानवता है ।

२६–चार कृतियों के समसमन्वय से 'मानवसंस्कृति' का उद्भव—

'सम' रूप अव्ययब्रह्म की आंशिक कृति 'कृति' है, एवं पूर्णकृति 'संस्कृति' है, यही उक्त वक्तव्य का निष्कर्षार्थ है । और यहीं मानव के पूर्णकृतित्व के सम्बन्ध में पुनः कुछ विशेषरूप से अवगत कर लेना अनिवार्य्य बन रहा है । पूर्व में यह स्पष्ट किया गया है कि, समष्टिरूप से सम्पूर्ण विश्व विश्वेश्वर की 'संस्कृति' माना जा सकता है, माना गया है, जब कि विश्वावयय केवल 'कृतियाँ' हीं मानीं गईं हैं । विश्वेश्वर से अभिन्ना विश्वेश्वर की समष्टिरूपा विश्वसंस्कृति के **अव्यक्त–सूर्य्य–चन्द्रमा-पृथिवी**–ये चार मुख्यपर्व–अवयव मानें गए हैं, जिन इन चारों को मिलाकर एक विश्व का स्वरूप सम्पन्न हुआ है । एवं चारों अवयवों की समष्टि पर समानरूप से अधिष्ठित ईश्वराव्यय ही यों समष्टिरूपेण 'विश्वसंस्कृति' का स्वरूपाधिष्ठाता बना हुआ है । विश्व के किसी भी प्राकृतिक, अथवा तो वैकारिक अवयव–पर्व में इन चारों का समसमन्वय नहीं है । मानव ही एकमात्र वैसा संस्थान है, जिस में इन चारों कृतियों का समसमन्वय हो रहा है । यही मानव की सांस्कृतिकता का मूलबीज है, जिसके यथार्थ समन्वय के लिए तो स्वतन्त्र–अध्ययन ही अपेक्षित है ।

२७–मानव का पञ्चभावात्मक सांस्कृतिक स्वरूप—

विश्व का अव्यक्तभाग ही मानव में **भूतात्मा** कहलाया है, सूर्य्यभाग ही **बुद्धि**, चन्द्रभाग ही **मन**, एवं पार्थिवभाग ही **शरीर** नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इन चारों विश्वपर्वों का अधिष्ठाता वही पाँचवाँ विश्वातीत ईश्वराव्ययात्मा है, जिसने अपने एकीभावात्मक 'समभाव' से चारों कृतियों को समरूप में परिणत कर मानव को 'संस्कृति' का स्वरूप प्रदान कर रक्खा है । अत्यन्त अवधानपूर्वक **विश्वेश्वर, और मानव** के, सांस्कृतिक (वैदिक) भाषानुसार **प्रजापति, और पुरुष** के इस समतुलित पञ्चभावात्मक सांस्कृतिक स्वरूप को एकबार पुनः निष्ठापूर्वक हमें लक्ष्यारूढ कर लेना चाहिए । क्योंकि इसी मौलिक सांस्कृतिक स्वरूप के आधार पर हमें लोकप्रचलित **संस्कृति, और सभ्यता,** शब्दों का समन्वय करने की यथामति चेष्टा करनी है ।

(१) ईश्वराव्ययः–अवयवी	—जीवाव्ययः	—मानवात्मा	मानवः–प्रजापतिर्वा
(२) अव्यक्तः	—भूतात्मा	—मानवप्रकृतिः	
(३) सूर्य्यः	—बुद्धिः		
(४) चन्द्रमाः	—मनः		
(५) पृथिवी	—शरीरम्		

२८-मानव की आत्मसंस्कृति, और प्रकृतिसंस्कृति—

ईश्वराव्यय स्वयं संस्कृतिरूप है । इसकी प्रकृतिरूपा अव्यक्त-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-नाम की चार प्रकृतियाँ, किंवा कृतियाँ हैं । पाँचों की समष्टि ही विश्वेश्वर का सांस्कृतिक स्वरूप है । एवमेव ईश्वराव्यय से अभिन्न जीवाव्यय स्वयं संस्कृतिस्वरूप है । इसकी प्रकृतिरूपा अव्यक्त से अभिन्ना भूतात्मप्रकृति, सूर्य्य से अभिन्ना बुद्धिप्रकृति, चन्द्रमा से अभिन्ना मनःप्रकृति, एवं पृथिवी से अभिन्ना शरीरप्रकृति है । पाँचों की समष्टि ही जीवेश्वरमानव का सांस्कृतिक स्वरूप है, और यही प्रजापति से नेदिष्ठ मानव-पुरुष की मौलिक अव्ययात्मरूपा 'पुरुषसंस्कृति' की स्वरूपदिशा का संक्षिप्ततम चिरन्तन इतिहास है । इसी पुरुषसंस्कृति के आधार पर (जिसे कि विशुद्ध 'आत्मसंस्कृति' ही कहा जायगा ।) हमें मानव की 'प्रकृतिसंस्कृति' के चिरन्तन इतिहास के स्वरूपान्वेषण में अब प्रवृत्त होना है ।

२६-मानव की अलौकिक, तथा लौकिक संस्कृति—

अव्ययपुरुष लोकसाक्षी-लोकाधार बनता हुआ भी लोकातीत है । अतएव तद्रूपा 'अव्ययपुरुषात्म-संस्कृति' को मानव की 'अलौकिक-संस्कृति' ही कहा जायगा, जिसका प्रदर्शन, किंवा आयोजन सर्वथा असम्भव है । अपितु सम्पूर्ण आयोजनों की परिसमाप्ति ही इस अलौकिक-आत्मसंस्कृति की उपक्रमभूमि बना करती है । इस अलौकिक संस्कृति के आधार पर, तद्रूप अव्ययात्मपुरुष के आधार पर, सहजभाषा में समब्रह्म के आधार पर ही मानव के भूतात्मा-बुद्धि-मन-शरीर-ये चार प्राकृतिक पर्व समरूपेण व्यवस्थित बनते हुए 'संस्कृति' रूप में परिणत हो रहे हैं । तात्पर्य्य इस परिणति का यही है कि, मानवसंस्था के ये चारों प्राकृत पर्व, चारों कृतियाँ यदि लोकातीत अव्ययपुरुष से समन्वित हैं, तो उस दशा में हीं उस 'सम्' भाव से समन्विता रहतीं हुईं ये कृतियाँ मानव की संस्कृतियाँ बनतीं हैं । ठीक इसके विपरीत यदि चारों प्राकृतिक कृतियाँ आधारभूत समत्त्व से पराङ्मुख हो जातीं हैं, तो उस अवस्था में 'सम्' सम्बन्ध से वञ्चिता मानव की ये अवयवरूपा कृतियाँ भी उसी प्रकार केवल 'कृति' ही रह जातीं हैं, जैसे कि अव्ययात्मस्वरूपाभि-व्यक्तित्त्व से असंस्पृष्ट विश्व के मानवेतर अवयवरूप चर-अचरपदार्थ पूर्वकथनानुसार केवल कृति ही बने रहते हैं ।

३०-लोकसंस्कृति, और लोकसभ्यता—

बार बार यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ रहा है कि, प्रकृतिपर्वों से सम्बन्ध रखनें वालीं लौकिक संस्कृतियाँ, एवं तदनुगता सभ्यताएँ तभी तक 'संस्कृति', और 'सभ्यता' शब्दों की अधिकारिणीं मानीं गईं हैं इस देश में, जबतक कि लोकसंस्कृति-सभ्यताओं के मूल में 'अव्ययात्मसंस्कृति' अनिवार्य्यरूपेण प्रतिष्ठित रहती है । कारण स्पष्ट है इस मान्यता का । 'कृति' के पीछे 'सम्' उपसर्ग लगता ही तब है, लग सकता ही तब है, जबकि कृति'सम्' उपसर्ग से आकर्षित एकीभावात्मक समब्रह्मलक्षण लोकातीत अव्ययात्मा को अपना आधार बना लेती है । 'संस्कृति' शब्द के इसी नैगमिक शब्दार्थेतिहास से अब यह भी संस्कृतिप्रेमियों को अपनें अन्तर्जगत् में स्पष्ट अनुभूत कर ही लेना चाहिए कि, जो मानव अनात्मवादी हैं, लोकातीत अव्ययेश्वर के समत्त्वभाव से अपरिचित हैं, उनकी जीवनपद्धतियों, आचारपद्धतियों का केवल प्राकृतिक लोककृतियों से ही

सम्बन्ध है । आत्मेश्वराधार से वञ्चित उनकी आचारपद्धतियाँ, कृतियाँ, कदापि 'संस्कृति' शब्द की तो अधिकारिणीं नहीं मानीं जातीं है ।

३१–सांस्कृतिक–परिभाषा से असंस्पृष्ट आज के सांस्कृतिक आयोजन—

यही कारण है कि, 'संस्कृति' शब्द के इस रहस्यपूर्ण शब्दार्थबोध से परम्परया सुपरिचित भारतराष्ट्र का एक सामान्य–अपठित भी मानव अपने सर्वथा लौकिक समारोहों में भी सर्वप्रथम ईशसंस्मरण–गणपति–शारदा–राम–कृष्ण–जगदम्ब–भवानी–संस्मरण–अनिवार्य्य मानता चला आ रहा है, जब कि आज के सुसभ्य–सुशिक्षित–संस्कृतिभक्त भी प्रारम्भिक माङ्गलिक 'श्रीः' का संस्मरण भी साम्प्रदायिक मानने की भयावह भ्रान्ति कर रहे हैं । ऐसी स्थिति में आज के इन समारोहों को 'संस्कृति' शब्द से कैसे, और क्यों व्यवहृत किया जाय ?, जब कि आज के सांस्कृतिक आयोजनों में कहीं भी आत्मसंस्मरण भ्रान्ति से भी समाविष्ट नहीं है । अध्ययात्मसंस्कारशून्या कोई भी कृति कदापि इस राष्ट्र की सांस्कृतिक परिभाषा की दृष्टि से तो 'संस्कृति' नहीं कहला सकती, यही निवेदननिष्कर्ष है ।

३२–प्रकृति–पुरुष का समन्वय, और संस्कृति—

विश्वाधारभूत अव्ययपुरुष, एवं अव्यक्त–सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी–इन चार पर्वों की समष्टिरूपा विश्वप्रकृति. प्रकृति–पुरुष के इस समष्ट्यात्मक स्वरूप का नाम हीं 'संस्कृति' है । क्योंकि समब्रह्म नामक अव्ययपुरुष की चतुर्विधा अव्यक्तादि-पृथिव्यन्ता कृतिचतुष्टयी ही इस समपुरुष से तानूनप्त्र करती हुई एकीभाव में परिणत हो रही है । ऐसी यह संस्कृति सर्वाधारभूत अव्ययपुरुष की दृष्टि से **'अलौकिक–आत्मसंस्कृति'** कहलाई है, जो कि संस्कृति का अन्तर्निष्ठ निगूढ सुगुप्त–केवल चिन्तनात्मक–रहस्यपूर्ण ही स्वरूप माना गया है । वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, 'संस्कृति' के रहस्यात्मक पारिभाषिक वास्तविक अर्थ की सीमा तो इस अलौकिक–आत्मसस्कृति पर ही परिसमाप्त है । एतदतिरिक्त जिन लोकसंस्कृतियों का हमें दिग्दर्शन कराना है, जिसेकि लोकव्यवहारभाषा में 'संस्कृति' कहा जाता है, संकृति के वे सम्पूर्ण प्राकृतिक स्वरूप समब्रह्म से साक्षात् समन्वित न रहने कारण व्यक्त–मूर्त्त–भावापन्ना 'सभा' से अनुप्राणिता 'सभ्यता' के ही अवान्तर रूप मानें जायँगे । और इसी प्रकृति–पुरुष–विवेक को नितान्त अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही हमें परस्पर सापेक्ष 'संस्कृति–सभ्यता' के लौकिक स्वरूपों का समन्वय करना पड़ेगा, जिन इन दोनों हीं स्वरूपों को माना जायगा सभ्यता के ही पूर्व, एवं उत्तररूप । सभ्यता का पूर्वरूप ही 'लोकसंस्कृति कहलाएगा, एवं उत्तररूप ही 'लोकसभ्यता' माना जायगा ।

३३–मानव की संस्कृति का मापदण्ड—

उक्त विवेचन को आधार बनाकर अब हमें यह कह देना पड़ेगा कि, अव्ययपुरुषनिबन्धना अलौकिक आत्मसंस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित चतुर्द्धा विभक्ता विश्वप्रकृति ही अव्ययपुरुष की वह **'सभा'** है, जिसमें सभापतिरूप से, विश्वाध्यक्षरूप से केन्द्रस्थ अव्ययप्रजापति विराजमान हैं । निरपेक्ष–विशुद्ध–संस्कृति–स्वरूप अध्यक्ष अव्ययपुरुष की साक्षी में सञ्चालिता लोकप्रकृति–विश्वप्रकृति–रूपा सभा के प्रकृतिसिद्ध नियमित विधि–विधान, सहजभाषानुसार प्राकृतिक नियमोपनियम हीं 'प्राकृतिक–संस्कृति' है, यही 'लोकसंस्कृति' का

सुसूक्ष्म स्वरूप है, जिसने विश्व के व्यक्त-मूर्त्त-पाञ्चमहाभौतिक-स्थूलस्वरूप को स्वरूपप्रतिष्ठा प्रदान कर रक्खी है। विश्व की प्रतिष्ठारूप प्राकृतिक निर्भ्रान्त नियमों-विधि-विधानों का नाम हीं 'निर्यातःसत्यम्' है, और यही सत्यनियति विश्वधारकत्त्वात्-'धर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुई है भारतीय ज्ञानविज्ञानशास्त्रों में। अव्ययपुरुष स्वयं शाश्वतधर्म्म है, तो इस शाश्वतधर्म्मरूप अव्ययपुरुष की साक्षी में सञ्चालित व्यवस्थित विश्वसञ्चालक प्राकृतिक धर्म्म 'प्रतीकधर्म्म' है। और इस प्रतीकधर्म्म का ही नाम है-लोकसंस्कृति 'लौकिक-विश्वसंस्कृति'। यही 'संस्कृति', और 'धर्म्म' शब्दों का पारस्परिक सख्यसम्बन्ध है। धर्म्म ही, प्राकृतिक सदाचरण हीं मानव की संस्कृति का मापदण्ड है। धर्म्माचरण से ही संस्कृति अनुमेया बना करती है। स्मरण रखिए !, धर्म्म से हमारा तात्पर्य्य ईश्वरीय-सनातन-विविध विधानों से है। उन सामयिक मानव-कल्पनाप्रसूत-युगानुसार परिवर्त्तनशील मतवादों का नाम कदापि धर्म्म नहीं है, जो 'संस्कृति' के नामछल से वस्तुतः संस्कृति के सर्वविनाशक ही बनते आए हैं विगत २-३ सहस्राब्दियों से।

३४-अलौकिक-लौकिक मानव की अलौकिक-लौकिक संस्कृति—

विश्वप्रकृति ही 'लोकसंस्कृति' है, यही प्रतीकधर्म्म है, यही मानव की व्यक्ता संस्कृति है। किस मानव की ?। यह प्रश्न इसलिए करना पड़ा कि-पुरुष-प्रकृति के भेद से स्वयं मानव के भी **पुरुषमानव-प्रकृतिमानव** भेद से दो विभिन्न स्वरूप हैं। अव्ययपुरुषप्रधान वही अलौकिक मानव 'पुरुषमानव'है, जो-'**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार निर्गुण अव्ययब्रह्म की सगुण प्रतिमा है। सगुण प्रतिमा नहीं, अपितु सगुण-प्रतिमान है। क्योंकि-'**न तस्य प्रतिमा अस्ति-यस्य नाम महद्यशः**' के अनुसार उसकी प्रतिमा तो एकमात्र स्वयं वही माना गया है। प्रकृतिप्रधान वही लौकिक मानव 'प्रकृतिमानव' है। अलौकिक पुरुष-मानव की संस्कृति ही आत्मसंस्कृति है, जो केवल तटस्थरूप से चिन्तनमात्र का विषय है। लौकिक प्रकृति-मानव की संस्कृति ही विश्वसंस्कृति है, जो प्रकृति के तथाकथित चार मानवीय प्राकृतिक पर्वों के भेद से चार प्रकार की आचारपद्धतियों से समन्विता मानी गई है। यही लोकसंस्कृतिनिष्ठ मानवका लोकसांस्कृतिक प्रतीकधर्म्म है, जिसके प्रकृतिभेद से चार मुख्य संस्थान बने हुए हैं। प्रसङ्गोपात्त उन चारों संस्थानों का भी नामस्मरण-मात्र कर लेना चाहिए।

३५-लोकसांस्कृतिक प्रतीकधर्म्म का चतुर्द्धा वर्गीकरण—

भूतात्मा मानव का पहिला प्राकृतिक पर्व है। इससे सम्बन्ध रखने वाला लोकसांस्कृतिक प्रतीकधर्म्म-'**अनुशीलनधर्म्म**' माना गया है। सौरी बुद्धि मानव का दूसरा प्राकृतिक पर्व है। इसका प्रतीकधर्म्म '**आचरणधर्म्म**' माना गया है। तीसरा चान्द्र मनःपर्व है। इसका प्रतीकधर्म्म '**अनुसरणधर्म्म**' माना गया है। चौथा पार्थिव शरीरपर्व है। इसका प्रतीकधर्म्म '**अनुकरणधर्म्म**' माना गया है। अनुकरण शरीरप्रधान है, अनुसरण मनःप्रधान है, आचरण बुद्धिप्रधान है, अनुशीलन भूतात्मप्रधान हैं। चारों ही धर्म्म क्रमशः भूतात्मा-बुद्धि-मनः-शरीर, इन प्राकृतिक पर्वों से क्रमशः अनुप्राणित हैं। चारों हीं प्रतीक-धर्म्म साधनमात्र हैं, प्रकृत्यर्थमात्र हैं, स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं। 'पुरुष' नाम तो एक मात्र शाश्वतधर्म्मरूप-अप्राकृत-नित्य कूटस्थ धर्म्मरूप अव्ययेश्वर का ही है। तत्प्राप्ति ही मानव के जीवभाव का परमपुरुषार्थ माना गया है। अन्ततोगत्त्वा मानव को साधनभूत उक्त चारों हीं प्रतीकात्मक प्रतीक धर्म्मों को (साधनधर्म्मों को)

उस साध्य–धर्म्मरूप अव्ययधर्म्म में सर्वस्वार्पण कर देना पड़ता है। तभी–'**परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति**' के अनुसार मानव की एकत्वनिबन्धना अव्ययनिष्ठा व्यक्त हुआ करती है, जिसका—'**सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' इत्यादि गीतावचन से भी स्पष्टीकरण हुआ है।

३६–आचरणात्मिका चतुर्विधा लोकसंस्कृति—

तदित्थं–लोकसंस्कृतिरूप आचरणात्मक प्रतीकधर्म्म की, किंवा प्रतीकधर्म्मात्मिका लोकसंस्कृति की चार संस्थाएँ हो जातीं हैं, जिनके आधार पर ही भारतीय शास्त्र ने चार 'पुरुषार्थ' स्थापित किए हैं। तत्त्वतः हैं चारों हीं साधन प्रकृत्यर्थ। किन्तु चारों के अनुष्ठान के द्वारा अन्ततोगत्वा साध्य बनता है 'अव्ययपुरुष' ही। अतएव तान्छब्द्यन्याय से पुरुषप्राप्ति के साधन होने मात्र से प्रकृत्यर्थभूत भी इन चारों प्रतीक संस्कृतियों को–'पुरुषार्थ' नाम से कह मात्र दिया जाता है। इन चारो प्रकृत्यर्थों का स्वरूपपरिचय ही मानव की आचरणात्मिका चतुर्विधा लोकसंस्कृति का स्वरूप–परिचय है।

३७–प्रदर्शन–आयोजनादि से असंस्पृष्टा चतुर्विधा लोकसंस्कृति—

यह सर्वथा अविस्मरणीय है कि, जिस प्रकार अलौकिक शाश्वत धर्म्मात्मिका अव्ययपुरुषसंस्कृति का प्रदर्शन–आयोजन–आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, एवमेव पुरुषसंस्कृति की प्रतीकभूता–प्रतीकधर्म्मात्मिका–चतुर्विधा–प्रकृत्यर्थरूपा–पुरुषार्थसंसाधिका–-अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरण–लक्षणा लोकसंस्कृति का भी प्रदर्शन–आयोजनादि से कोई सम्बन्ध नहीं है। चारों हीं लोकसंस्कृतियाँ मानव की व्यक्तिसंस्था की सीमा से ही सीमित हैं।

३८–लोकसंस्कृतिलक्षणा शास्त्रीय संस्कृति—

अत्र प्रश्न शेष रह जाता है इन चारों लोकसंस्कृतियों के व्यावहारिक स्वरूप का। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत अनुरञ्जनात्मक सामयिक वक्तव्य में कुछ भी निवेदन नहीं किया जा सकता। जिसप्रकार अलौकिक अव्ययपुरुषसंस्कृति केवल तत्त्वचिन्तनात्मक स्वाध्याय से सम्बद्धा है, एवमेव चतुर्विधा यह लोकसंस्कृति भी शास्त्रनिष्ठानुगमन से ही सर्वात्मना अनुप्राणित है। वर्णाश्रमव्यवस्था से अनुप्राणिता यह चतुर्विधा लोकसंस्कृति ही 'शास्त्रीय–संस्कृति' कहलाई है, जिसके व्यावहारिक स्वरूपों का शास्त्रों में बड़े ही विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

३९—शास्त्रीय संस्कृति का चतुर्द्धा वर्गीकरण—

अलौकिक–पुरुषसंस्कृति से नित्य समन्विता, आत्मपुरुषाभिव्यक्तित्वमूला प्रकृतिचतुष्टयी से कृतरूपा लौकिक–प्रकृतिसंस्कृतियों के उन चतुर्विध स्वरूपों के यशोवर्णन प्रत्येक भारतीय आस्तिक जनमानस के लिए सर्वात्मना सुपरिचित हैं। **धर्म्म–अर्थ–काम–मोक्ष**–नाम के प्रकृत्यर्थरूप चारों पुरुषार्थों से कौन आस्तिक परिचित न होगा ?। **अर्थसंस्कृति–कामसंस्कृति–धर्म्मसंस्कृति–मोक्षसंस्कृति**, ये चारों संस्कृतियाँ हीं प्राकृतिक–वे लौकिक संस्कृतियाँ हैं, जिनका मानव के **आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर**–रूप वैय्यक्तिक स्वरूप से क्रमिक सम्बन्ध है। शरीरप्रधाना अर्थसंस्कृति, मनःप्रधाना कामसंस्कृति, बुद्धिप्रधाना धर्म्मसंस्कृति, एवं

भूतात्मप्रधाना मोक्षसंस्कृति, इन चारों संस्कृतियों के अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरण–रूप चारों आचरणभावों का मानव के व्यक्तित्व से ही प्रधान सम्बन्ध है। अतएव इस चतुर्विधा आचारसंस्कृति को 'वैय्यक्तिक-संस्कृति' ही कहा जायगा। अनुकरणात्मक धर्म्म हीं शरीरनिबन्धना अर्थसंस्कृति का मूलाधार बनता है। अनुसरणात्मक धर्म्म हीं मनोनिबन्धना कामसंस्कृति की आश्रयभूमि बनता है। आचरणात्मक धर्म्म हीं बुद्धिनिबन्धना धर्म्मसंस्कृति का आवपन बनता है। एवं अनुशीलनात्मक धर्म्म हीं भूतात्मनिबन्धना मोक्षसंस्कृति का अधिष्ठान बनता है। अपने प्रकृतिसिद्ध (आकृतिसिद्ध नहीं) ब्रह्म–क्षत्र–विट्–इन तीन प्राकृतिक नित्य वर्णों से जन्मना अनुप्राणित ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–इन तीन वर्णमानवों के द्वारा अपने अपने वैय्यक्तिक ब्रह्मचर्य्य–गृहस्थ–वानप्रस्थ–संन्यास नामक चार आश्रमजीवनों में मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ नामकी चारों लोकसंस्कृतियाँ गौण–प्रधानरूप से व्यवस्थित-समन्वित बनीं रहतीं हैं।

४१–वर्णाश्रमव्यवस्थामूला संस्कृति का चिरन्तन नित्य इतिहास—

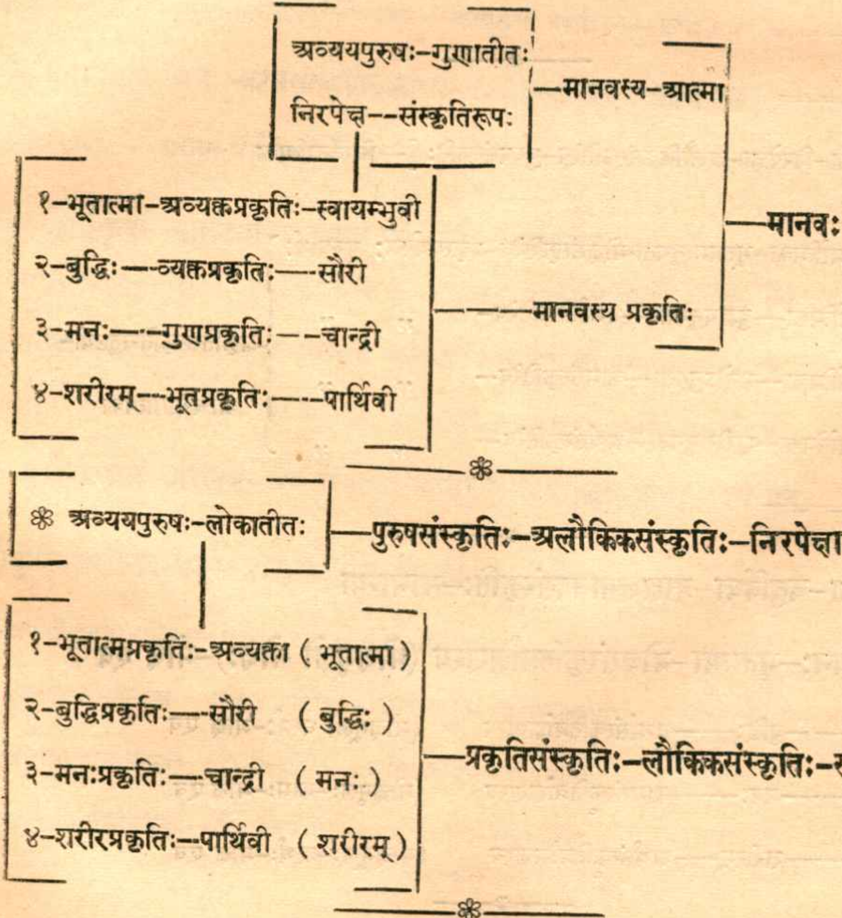
समन्वित–व्यवस्था का तात्पर्य्य यही है कि, यद्यपि तीनों हीं वर्णमानव अपने अपने आत्म–बुद्धि–मनः–शरीर–पर्वों से चारों हीं संस्कृतियों के अभिगन्ता माने गए हैं, बने रहते हैं। तथापि वर्णभावों के क्रमिक समन्वयानुबन्ध से ब्राह्मणमानव का प्रधान सांस्कृतिक आधार भूतात्मानुबन्धी अनुशीलन धर्म्म ही माना जायगा, एवं तदनुप्राणिता मोक्षसंस्कृति ही ब्राह्मणमानव की प्रधान लोकसंस्कृति मानी जायगी, जैसाकि निम्नलिखिता सुप्रसिद्धा सूक्ति से प्रमाणित है—

ब्राह्मणस्य च देहो ऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय–तपसे चैव प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

एवमेव क्षत्रियमानव का प्रधान सांस्कृतिक आधार बुद्धयनुबन्धी आचरण धर्म्म हीं माना जायगा, एवं तदनुप्राणिता 'धर्म्मसंस्कृति' ही क्षत्रिय की प्रमुख लोकसंस्कृति मानी जायगी। तथैव वैश्यमानव का प्रधान सांस्कृतिक आधार मनोऽनुबन्धी अनुसरणधर्म्म हीं माना जायगा, एवं तदनुप्राणिता 'कामसंस्कृति' ही वैश्य की मुख्य लोकसंस्कृति कही जायगी। एवमेव शूद्रमानव का प्रधान सांस्कृतिक आधार शरीरानुबन्धी अनुकरणकर्म्म ही माना जायगा, एवं तत्सम्बद्धा 'अर्थसंस्कृति' ही शूद्र की मुख्य संस्कृति कही जायगी। तात्पर्य्य इस वर्गीकरण से यही निकलेगा कि, ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–नामक चतुर्विध आत्मनिष्ठमानव सामान्यरूप से अपने अपने मानवीय आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–पर्वों से अव्ययपुरुषनिष्ठा को लक्ष्य बनाये रहते हुए जहाँ मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ–चारों ही लोकसंस्कृतियों के सामान्याधिकारी बने रहेंगे, वहाँ अपने अपने विशेष वर्णस्वरूपों की प्रधानता से चारों की अव्ययनिष्ठा के प्रमुख द्वार क्रमशः–भूतात्मा–बुद्धि–मनः–शरीर, एवं तदनुप्राणित अनुशीलन–आचरण-अनुसरण-अनुकरण धर्म्म हीं बने रहेंगे। फलतः तदनुप्राणिता मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ-संस्कृतियाँ हीं क्रमशः चारों की विशेष लोकसंस्कृतियाँ बनीं रहेंगी। शरीरप्रधान शूद्रमानव अपने शारीरिक–अर्थप्रधान-अनुकरणात्मक आचरण से चारों प्रकृत्यर्थों का समानभोक्ता बन जायगा। मनःप्रधान वैश्यमानव अपने मानसिक कामप्रधान अनुसरणात्मक आचरण से, बुद्धिप्रधान क्षत्रियमान

अपने बौद्धिक धर्म्मप्रधान आचारात्मक आचरण से, एवं भूतात्मप्रधान ब्राह्मणमानव अपने भूतात्मानुबन्धी मोक्षप्रधान अनुशीलनात्मक आचरण से चारों प्रकृत्यर्थों का समानभोक्ता बन जायगा।

सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्य-नाम के चतुर्विध मोक्ष (अपरामुक्ति), धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-यशः-श्री-नाम की षड्विध भगसम्पत्तियाँ, यज्ञ-तप-दान-नामक विद्यासमुच्चित प्राकृतिक कर्म्म, इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-नामक विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म, सत्य-अहिंसा-शौच-इन्द्रियनिग्रह-शम-दम-तम-आर्जव-अनुसूया-आदि आदि सामान्यधर्म्म, आनृशंशधर्म्म, स्वस्त्ययनकर्म्म, इत्यादि अगणित भेदभिन्न यच्चयावत्-शास्त्रीय ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-उपासना-आदिलक्षण अनुशीलन-आचरण-अनुसरण-अनुकरणात्मक धर्म्मों की समष्टि ही भारतीया शास्त्रीया उस प्रकृतिसिद्धा लोकसंस्कृति का आचारात्मक इतिहास है, जो प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य, एवं चातुराश्रम्य से उपगीत सांस्कृतिक वर्णमानवों से हीं अनुप्राणित है। और यही लोकसंस्कृति का संक्षिप्त चिरन्तन इतिहास है, जिसका निम्नलिखित परिलेखों से यथामति समन्वय किया जा सकता है।



*—व्यक्ताव्यक्तातीतभावानुगता—अव्ययात्मसंस्कृतिरेव—शाश्वतधर्म्मः—अप्राकृतः

१—अव्यक्तभावानुगता भूतात्मसंस्कृतिरेव—अनुशीलनधर्म्मः
२—सौरभावानुगता बौद्धिकसंस्कृतिरेव——आचरणधर्म्मः
३—चान्द्रभावानुगता—मानसिकसंस्कृतिरेव——अनुसरणधर्म्मः
४—पार्थिवभावानुगता—शारीरिकसंस्कृतिरेव—अनुकरणधर्म्मः
} प्रतीकधर्म्माः—प्राकृताः

——*——

*—शाश्वतधर्म्मरूपा—निरपेक्षा—अलौकिकसंस्कृतिरेव—पुरुषसंस्कृतिः]—चिन्तनात्मिका

१—अनुशीलनधर्म्मात्मिका—भूतात्मानुगता-मोक्षसंस्कृतिरेव—प्रकृत्यर्थरूपः पुरुषार्थः
२—आचरणधर्म्मात्मिका—बुद्ध्यनुगता—धर्म्मसंस्कृतिरेव— " "
३—अनुसरणधर्म्मात्मिका—मनोऽनुगता—कामसंस्कृतिरेव— " "
४—अनुकरणधर्म्मात्मिका—शरीरानुगता—अर्थसंस्कृतिरेव— " "
} प्रकृतिसंस्कृतिचतुष्टयी—आचरणात्मिका

——*——

(१)—मोक्षमूला—चतुर्विधा—ब्राह्मणमानवसंस्कृतिः—सामान्या

१—भूतात्मप्रधानः—भूतात्मा—मोक्षसंस्कृतिर्ब्राह्मणस्य (मोक्षमूलो मोक्षः)—मोक्ष एव

२—भूतात्मप्रधाना——बुद्धिः——धर्म्मसंस्कृतिर्ब्राह्मणस्य (मोक्षमूलो धर्म्मः—मोक्ष एव

३—भूतात्मप्रधानं——मनः——कामसंस्कृतिर्ब्राह्मणस्य (मोक्षमूलः—कामः—मोक्ष एव

४—भूतात्मप्रधानं——शरीरम्——अर्थसंस्कृतिर्ब्राह्मणस्य (मोक्षमूलः—अर्थः—मोक्ष एव

——*——

(२)-धर्म्ममूला-चतुर्विधा-क्षत्रियमानवसंस्कृतिः-सामान्या—

१-बुद्धिप्रधानः——भूतात्मा-मोक्षसंस्कृतिः——क्षत्रियस्य——धर्म्ममूलो मोक्षः——धर्म्म एव

२-बुद्धिप्रधाना-बुद्धिः-धर्म्मसंस्कृतिः-क्षत्रियस्य-धर्म्ममूलो धर्म्मः-धर्म्मएव

३-बुद्धिप्रधानं——मनः—कामसंस्कृतिः——क्षत्रियस्य——धर्म्ममूलः कामः——धर्म्म एव

४-बुद्धिप्रधानं——शरीरम्-अर्थसंस्कृतिः——क्षत्रियस्य——धर्म्ममूलः अर्थः——धर्म्म एव

——❀——

(३)-काममूला-चतुर्विधा-वैश्यमानवसंस्कृतिः-सामान्या—

१-मनःप्रधानः—भूतात्मा-मोक्षसंस्कृतिर्वैश्यस्य——काममूलो मोक्षः——काम एव

२-मनःप्रधाना----बुद्धिः-धर्म्मसंस्कृतिर्वैश्यस्य——काममूलो धर्म्मः——काम एव

३-मनःप्रधानं-मनः-कामसंस्कृतिर्वैश्यस्य-काममूलः कामः-काम एव

४-मनःप्रधानं——शरीरम्-अर्थसंस्कृतिर्वैश्यस्य——काममूलः-अर्थः——काम एव

——❀——

(४)-अर्थमूला-चतुर्विधा-शूद्रमानवसंस्कृतिः-सामान्या—

१-शरीरप्रधानः——भूतात्मा—मोक्षसंस्कृतिः——शूद्रस्य——अर्थमूलो मोक्षः——अर्थ एव

२-शरीरप्रधाना——बुद्धिः——धर्म्मसंस्कृतिः——शूद्रस्य—अर्थमूलो धर्म्मः——अर्थ एव

३-शरीरप्रधानं——मनः——कामसंस्कृतिः——शूद्रस्य—अर्थमूलः—कामः—अर्थ एव

४-शरीरप्रधानं-शरीरम्-अर्थसंस्कृतिः-शूद्रस्य-अर्थमूलः-अर्थः-अर्थ एव

——❀——

प्राकृतिकवर्णनिबन्धना-प्राकृतिकसंस्कृतिचतुष्टयी-विशेषा—

१-अनुशीलनधर्म्मात्मिका-लोकसंस्कृतिरेव—मोक्षसंस्कृतिः-ब्राह्मणप्रधाना

२-आचारधर्म्मात्मिका——लोकसंस्कृतिरेव—धर्म्मसंस्कृतिः-क्षत्रियप्रधाना

३-अनुसरणधर्म्मात्मिका——लोकसंस्कृतिरेव—कामसंस्कृतिः-वैश्यप्रधाना

४-अनुकरणधर्म्मात्मिका——लोकसंस्कृतिरेव—अर्थसंस्कृतिः-शूद्रप्रधाना

——*——

१	सर्वधर्म्मातीता–अव्ययसंस्कृतिरेव–पुरुषसंस्कृतिः–अलौकिकी–चिन्तनात्मिका]–चिन्तनसंस्कृतिः–अलौकिकी (१)	सैषा विश्वात्मसंस्कृतिः
२	मोक्षधर्म्मानुगता–भूतात्मसंस्कृतिरेव–ब्राह्मणसंस्कृतिः–लौकिकी—अनुशीलनात्मिका	सैषा विश्वसंस्कृतिरेव
	धर्म्मधर्म्मानुगता–बुद्धिसंस्कृतिरेव—क्षत्रियसंस्कृतिः—लौकिकी—आचरणात्मिका	आचारसंस्कृतिः
	कामधर्म्मानुगता–मनःसंस्कृतिरेव—वैश्यसंस्कृतिः—लौकिकी—अनुसरणात्मिका	वैय्यक्तिकी (२)
	अर्थधर्म्मानुगता–शरीरसंस्कृतिरेव–शूद्रसंस्कृतिः—लौकिकी—अनुकरणात्मिका	–प्राकृतिकी–

४१–संस्कृति–साहित्य–संस्कार, एवं धर्म्म–शब्द का समन्वय—

'संस्कृति' शब्द के इतिहास के तथाकथित स्वरूप–विश्लेषण के आधार पर अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, मानव का अलौकिक मूल आत्मा, एवं मानव का प्राकृत–लौकिक स्वरूप, इन दो विभिन्न स्वरूपों के आधार पर ही मानव की व्यक्तिमूला–'**आत्मसंस्कृति,**' एवं व्यक्तिमूला ही '**लोकसंस्कृति**' प्रतिष्ठित है। ये दोनों हीं संस्कृतियाँ 'साहित्यिक–संस्कार' के द्वारा ही अङ्कुरित, तथा पुष्पित–पल्लवित होतीं हैं। अतएव **संस्कृति–साहित्य–संस्कार–धर्म्म**–ये चारों भाव 'संस्कृति' शब्द के इतिहास में गर्भीभूत हैं।

४२–शास्त्रीय संस्कृति का फलितार्थ—

ऋषिप्रज्ञा के द्वारा दृष्ट चिरन्तन मौलिक साहित्य (जिसे कि–भारतीय परिभाषा में–'**शास्त्र**' कहा गया है) वह साहित्य है, जो 'संस्कृति' का स्वरूप–विश्लेषक बनता हुआ–'**सांस्कृतिक–साहित्य**' कहलाया है, एवं जिसकी भाषा इसी 'संस्कृति' के सम्बन्ध से–'**संस्कृत**' कहलाई है। 'संस्कृत' भाषा में उपनिबद्ध संस्कृतसाहित्य (शास्त्रसाहित्य), एवं सुसंस्कृता '**छन्दोभ्यस्ता**' नाम की वेदभाषा में उपनिबद्ध वैदिक साहित्य, दोनों की समष्टि ही हमारा सांस्कृतिक साहित्य है, जिसमें पूर्वोक्ता अलौकिकी आत्मसंस्कृति का, तथा चतुर्विधा लौकिकी संस्कृतियों का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। आत्मसंस्कृतिमूलक अव्ययपुरुषात्मस्वरूप अप्राकृत शाश्वतधर्म्म जहाँ अलौकिक संस्कृति का मूलस्वरूप है, वहाँ **अव्यक्त–सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी**–से अनुगत प्राकृत–प्रतीकधर्म्मात्मक मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ–मय–अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरण–भावापन्न प्रतीकधर्म्मात्मक चतुर्विध प्राकृतधर्म्म ही लौकिक संस्कृति का मूलस्वरूप है। यों संस्कृति का फलितार्थ 'धर्म्म' शब्द पर ही विश्रान्त हो रहा है।

४३–सांस्कृतिक बीज के संरक्षक त्रिविध संस्कार—

सांस्कृतिक साहित्य के स्वाध्याय–चिन्तन से, एवं तदाधार पर व्यवस्थित अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरणात्मक आचरण से, कर्त्तव्यकर्म्मानुष्ठान से मानव के भूतात्मा में जो एक प्राणात्मक

सुसूक्ष्म अतिशय उत्पन्न होता रहता है, वही अतिशय 'संस्कार' कहलाया है, जिसके चिरन्तन इतिहास का स्वरूप-विश्लेषण किसी स्वतन्त्र निबन्ध का ही विषय माना जायगा। प्रसङ्गसमन्वयमात्र की दृष्टि से इस सम्बन्ध में प्रकृत में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, 'संस्कार' उस तत्त्व का नाम है, जिससे मानव के दोषों का परिमार्ज्जन होता हैं, दोषपरिमार्ज्जन के अनन्तर स्वच्छ पवित्र-निर्म्मल बन जाने वाले मानवीय शरीर-मन-बुद्धि-भूतात्मा-पर्वों में अमुक अतिशय-वैशिष्ट्य का आधान होता है, सर्वान्त में इसी संस्कार-विशेष से मानव की उस क्षति की पूर्ति हो जाती है, जिसके बिना मानव अपूर्ण बना रहता है। इसी आधार पर शास्त्रनें संस्कारों को १-**दोषमार्ज्जक संस्कार**, २-**अतिशयाधायक संस्कार**, ३-**हीनाङ्गपूरक संस्कार**, भेद से तीन वर्गों में विभक्त किया है।

४४-उदाहरणसहित त्रिविध संस्कारों का समन्वय—

उदाहरण के लिए उस प्राकृतिक तूल-रुई-को लक्ष्य बनाइए, जो अमुक संस्कारपरम्पराओं के कारण कालान्तर में विशिष्ट-सुसंस्कृत-परिधान-वस्त्ररूप में परिणत हो जाया करती है। क्षेत्र (खेत) में प्रकृति के द्वारा उत्पन्न रुई में तृणादि-बिनोले-आदि अनेक दोष विद्यमान रहते हैं। सर्वप्रथम अमुक प्रक्रियाओं से इस रुई को इन दोषों से पृथक् किया जाता है। इन प्राथमिक संस्कारों से रुई सर्वथा स्वच्छ-निर्दुष्टरूप में परिणत हो जाती है। अनन्तर इसे सूतरूप में-पटरूप में परिणत किया जाता है। वस्त्ररूप में परिणत हो जाती है इन्हीं अवान्तर प्रक्रियाओं से कालान्तर में यह निर्दुष्टा रुई। यही दूसरा **'अतिशयाधानरूप'** संस्कार है। वस्त्र बन गया। अब इस्त्री-बटन-कलप-आदि कतिपय संस्कार सर्वान्त में और कर दिए जाते हैं। यही तीसरा प्रक्रम-**'हीनाङ्गपूरकसंस्कार'** है। और यों इन तीन संस्कारप्रक्रमों से आरम्भ की असंस्कृता रुई वस्त्रपरिधानरूप में परिणत होती हुई 'सुसंस्कृता' बन जाती है। यही वस्त्र का सांस्कृतिक स्वरूप है। रुई तो उदाहरणमात्र है। प्रकृतितत्त्ववेत्ता विद्वानों का इस सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण है कि, **'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी'** के अनुसार यच्चयावत् प्राकृतिक-जड़-चेतन पदार्थ प्रकृत्या गुण, और दोष, दोनों विरुद्ध भावों से नित्य समन्वित रहते हैं। अतएव ये 'कृति' मात्र हैं। अमुक संस्कारों से ही ये प्राकृतिक कृतियाँ 'संस्कृति' रूप में परिणत हुआ करतीं हैं। एवं वे यच्चयावत् असंख्य संस्कार **दोषमार्जन-अतिशयाधान-हीनाङ्गपूर्त्ति**-इन तीन प्रक्रमों में हीं अन्तर्भूत हैं।

४५-अनुकूल-प्रतिकूल-संस्कारों का तारतम्य—

जन्मान्तरीय अशुभ कर्म्मकृत दोष, अविद्यादोष, मातृदोष (शोणितदोष), पितृदोष (शुक्रदोष), देशदोष, कालदोष, मातृभुक्त अन्नदोष, कालदोष, सत्तादोष, सङ्गदोष, आदि आदि असंख्य दोषों का पुरस्कार ग्रहण कर के ही औपपातिक-कर्म्मभोक्ता-भूतात्मा मातृगर्भ में प्रतिष्ठित होता है। इन दोषों से आसमन्तात् वेष्टित ही भूतात्मा अपने सहयोगी बुद्धि-मनः-शरीर-पर्वों से समन्वित होता हुआ नवमासानुगता अग्निचिति से अपनी भूतसंस्था को पूर्ण बनता हुआ यथासमय भूमिष्ठ बनता है, और यही मानव का प्राकृतिक जन्मोदय कहलाया है। अवश्य ही मूलतः-मानव सुसंस्कृत है, बीजरूप से। किन्तु जैसे अङ्कुरशक्ति रखने वाला भी बीज अनुरूप उर्वर भूक्षेत्रजलसेकादि संस्कारों के बिना, एवं तद्विपरीत प्रचण्ड ताप-शीत-झञ्झावात-अतिवृष्ट्यादि विरुद्ध संस्कारों के आक्रमण से अपनी अङ्कुरिता शक्ति से अभिभूत हो जाता है, एवमेव

बिना अनुकूल संस्कारों के, साथ ही विपरीत कुसंस्कारों के आक्रमण से मूलतः मानवीय सांस्कृतिक बीज भी अपने सांस्कृतिक विकास से पराङ्मुख हो जाता है ।

४६–संस्कारों से संस्कृत मानव, और असंस्कृत मानव—

संस्कारों में ही वह बल है, जो मानव के प्राकृतिक दोषों का परिमार्जन करते हैं, परिमार्जनप्रक्रिया से विशुद्ध बने हुए सांस्कृतिक बीज में अतिशय का आधान करते हैं, एवं सर्वान्त में हीनभावों की पूर्त्ति करते हैं । तदन्तर ही मानव अपने परोक्ष सांस्कृतिक स्वरूप से व्यक्त–अभिव्यक्त होता हुआ–**'सांस्कृतिक मानव'** बन पाता है । बिना इन संस्कारों के तो मानव यथाजात–प्राकृत–असंस्कृत–पशुसमतुलित मानव ही माना गया है । जिन सांस्कारिक धर्म्मों से मानव सुसंकृत बनता है, वे धर्म्म हीं मानव की संस्कृति की मूलप्रतिष्ठा बनते हैं । अतएव निश्चयेन संस्कारधर्म्म ही मानव की संस्कृति के मूलाधार माने जायँगे । संस्कारविहीन मानव तो पशुश्रेणि की समृद्धि का ही कारण बन जाया करता है ।

४७–संस्कारशून्य असंस्कृत मानव का आत्यन्तिक पतन—

विद्या–शिक्षा–सभ्यता–आचार–अशन–पान–वेशभूषा–सङ्गति–भाषण––गमन––हसन––रुदन––शयन–आदि आदि यच्चयावत् कर्त्तव्य–कर्म्मों में मानव जागरूकता से अमुक सांस्कारिक–मर्य्यादाओं का कड़ाई से पालन करता हुआ ही अपनी संस्कृति' का संरक्षण कर सकता है, करता रहा है आजतक । प्रवाह में पड़ कर जब जब इसने अपने इन त्रिविध संस्कारों की उपेक्षा की है, तब तब ही इसकी संस्कृति अभिभूत हो गई है । स्वसंस्कारों के तो नामश्रवण का भी अभाव, ठीक इसके विपरीत स्वसंस्कृति–विरोधी हीनसस्कारों, कुसंस्कारों के साथ समालिङ्गन, ऐसी विषमा परिस्थिति में तो मानव में 'संस्कृति' शब्द के उच्चारण का भी अधिकार नहीं रह जाता । स्वसंस्कारों के न केवल अभाव ने हीं, अपितु स्वसंस्कारों की आत्यन्तिक विस्मृति ने, साथ ही परसंस्कारों की सोल्लास आराधना ने हीं भारतीय 'संस्कृति' के मूलस्वरूप को उस सीमापर्य्यन्त आज अभिभूत कर लिया है, जिस अभिभूति की विद्यमानता में आज भारतीय पारिभाषिक दृष्टिकोण से **'संस्कृति'–'साहित्य'–'संस्कृति'-धर्म्म'–'सभ्यता'–'संस्कार'** आदि शब्दों के अर्थसमन्वय में भी भारतराष्ट्र की मानवप्रज्ञा शिथिल बनती जा रही है । इससे अधिक विश्व के इस आदिम सांस्कृतिक भारतीय मानवश्रेष्ठ का और क्या पतन होगा ? ।

४८–भारतभाग्यानुबन्धिनी संस्कार की बात—

क्यों इसका ऐसा सांस्कृतिक पतन हुआ ?, यह प्रश्न जितना गम्भीर है, सम्भवतः प्रश्न का उत्तर उतना हीं सरल है । एक अपठित, किन्तु ईश्वरनिष्ठ भारतीय मानव से भी यदि यह प्रश्न किया जायगा, तो उसका मज्जागत सांस्कृतिक संस्कार अविलम्ब ही यह उत्तर दे देगा कि–**'संस्कार की बात'** । अर्थात् कुसंस्कार की बात । अर्थात् स्वसंस्कारों की उपेक्षा, एवं दूषित संस्कारों के समालिङ्गन की बात । संस्कारों की आचारात्मिका पद्धति जिस भारतीय मौलिक साहित्य में विद्यमान है, आज वह मौलिक साहित्य ही जब साम्प्रदायिक–मतवादात्मक-नवग्रह–ग्राहों नें विस्मृत करा दिया, तो संस्कार किस आधार पर करती यहाँ की सांस्कृतिक जनता । साहित्य की विस्मृति ने संस्कारों को विस्मृत कराया, संस्कारविस्मृति सर्वोपरि कुसंस्कारसमालिङ्गन ने

सांस्कृतिक धर्म्म को निरपेक्ष घोषित कर दिया। यों साहित्य गया, संस्कार गए, धर्म्म गया, और संस्कृति अभिभूत हो गई। एवं शेष रह गए भारतीय संस्कृति-साहित्य-संस्कार-धर्म्म-सभ्यता-आदर्श-आचार-व्यवहारादि से एकान्ततः असंस्पृष्ट गतानुगतिक वैसे वैडालव्रतिक 'सांस्कृतिक आयोजन', जिनके साथ भारतीय संस्कृति का तो स्वप्न में भी सम्पर्क नहीं माना जा सकता। 'आलप्यालम्'। कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।

४६-सांस्कृतिक आयोजनों के आविष्कर्त्ताओं की भावुकता का संरक्षण—

जबकि संस्कृति की मूलप्रतिष्ठा त्रिविध संस्कार हैं, संस्कारों के चिरन्तन इतिहास का ही नाम जबकि मौलिक-चिरन्तन साहित्य है, तो इत्थंभूत साहित्य, तथा संस्कारों से अनुप्राणिता एकविधा आत्मसंस्कृति, एव चतुर्विधा प्रकृति-संस्कृति के सम्बन्ध में आज के साहित्य-धर्म्म-संस्कार-विहीन युग में भारतीय दृष्टिकोण से हम क्या निवेदन करें, जबकि हम स्वयं भी वर्त्तमान युग के प्रावाहिक उस जनजीवन के प्रवाह में हीं अपने आपको प्रवाहित मान रहे हैं, जिस प्रवाह में 'संस्कृति' के मौलिक शब्देतिहास का प्रवेश भी निषिद्ध बना हुआ है। अतएव हम भी युगधर्म्म को मुहुर्मुहुः नमस्कार समर्पित करते हुए वर्त्तमानयुग के-'सांस्कृतिक-आयोजनों' को ही सर्वात्मना 'संस्कृति' के आयोजन मान लेते हैं एकमात्र इस प्रलोभन से कि, भारतराष्ट्र की चिरन्तना चिरपुरातना-चिरनूतना-पुराणींप्रज्ञा के चिरन्तन-सांस्कारिक-पारम्परिक अनुग्रह से सम्भव है इन 'सांस्कृतिक आयोजनों' के माध्यम से ही सजातीयशब्दाकर्षणसिद्धान्तानुसार कभी न कभी भारतीय-मूल 'संस्कृति' के पूर्वनिर्दिष्ट मौलिक स्वरूप की ओर भी ध्यान आकर्षित हो हीं जायगा इन आयोजनों का। इसी आकर्षण-कामना से आज हमनें संस्कृति, और 'सभ्यता' शब्दों के चिरन्तन शब्दार्थेतिहास के दिग्दर्शन की महती धृष्टता कर डाली है, जिसे 'संस्कृति-भक्ति' के नाते क्षम्य हीं मान लेंगे हमारे वे सांस्कृतिक-आयोजनों के आयोजक वर्त्तमान राष्ट्रबन्धु।

५०-सभा-समिति-पर्षत्-परिषत्-सभेय-सभ्यता-आदि शब्दों का समन्वय—

पूर्व में निवेदन किया गया था कि, 'सभ्यता के पूर्वरूप का नाम 'लोकसंस्कृति' हैं, एवं उत्तररूप का नाम 'लोकसभ्यता' है। इस निवेदन-वाक्यसन्दर्भ का भी प्रासङ्गिक समन्वय कर ही लेना चाहिये। जिस प्रकार 'संस्कृति' शब्द का समब्रह्म की कृति से सम्बन्ध है, एवमेव 'सभ्यता' शब्द का समब्रह्म की 'सभा' से सम्बन्ध माना जायगा, जिसके लिए-मन्त्रवेद में 'समिति' शब्द, एवं ब्राह्मणवेद में 'पर्षत्'-किंवा 'परिषत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सभा का सभ्य सदस्य ही मन्त्रभाषा में-'सभेय' कहलाया है, जैसाकि-'सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्' इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है। श्रुतिशास्त्र ने स्वयं भी यत्रतत्र-प्रजापति-ईश्वर की 'सभा' का नामोल्लेख किया है, जैसाकि-'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये-यशोऽहं भवामि' (छां० उप० ८।१४) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। जिस समिति में-समूह में-संघ में-समाज में-गण में अनेक मानव साथ सम्मिलित होकर प्रज्ञातेज से सुविकसित रहा करते हैं, वही समिति-'सह भान्ति यस्यां-सा' निर्वचन से 'सभा' कहलाई है। प्रज्ञा वृद्धपुरुषों में हीं परिपक्वा रहती है। अतएव-'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः' के अनुसार-प्रज्ञावृद्धों के समूह में हीं 'सभा' शब्द अनुरूप बनता है। इस सभा का सदस्य ही 'सभ्य' कहलाया है। एवं ऐसे सभ्यों के सभास्वरूपानुगत आचारव्यवहार-नियमोपनियम-विधि-विधान हीं-'सभ्यता' कहलाई है।

५१–सभ्यों की सभ्यता का निष्कर्ष—

पाञ्चभौतिक–स्थावरजङ्गमभावापन्न यह व्यक्त विश्व ही विश्वेश्वर प्रजापति की **सभा है**। इस विश्व-प्राङ्गणरूपा महासभा में व्यवस्थापूर्वक समासीन प्राकृतिक चर-अचर पर्व ही उक्त सभा के **सभ्य हैं**। एवं जिन प्राकृतिक–नियतिः सत्यात्मक नियमोपनियमों से ये सभ्य स्व स्व प्राकृतिक स्वरूपों से स्व स्व जीवनचर्य्या का आचरण कर रहे हैं, वे प्राकृतिक विधि–विधान हीं इन सभ्यों की सभ्यता है, जिसका अर्थ है–**आचारात्मिका–प्राकृतिकी–मर्य्यादिता–सुव्यवस्था–जीवनपद्धति**।

५२–मानव की सभ्यता—

विचार केवल मानवसभ्यता का प्रस्तुत है। पाञ्चभौतिकी विश्वसभा में मानव नामक सभ्यों का इतर सभ्यों (चर–अचर पदार्थों) की अपेक्षा अपना एक विशेष स्थान है। क्योंकि एकमात्र सुसंस्कृत–सुसभ्य मानव में हीं सभापति विश्वेश्वर केन्द्ररूप से अभिव्यक्त हैं। सभाध्यक्ष–विश्वेश्वर प्रजापति से सर्वात्मना समतुलित, अतएव–**'प्रजापतेर्नेदिष्ठ'** उपाधि से सुविभूषित मानवसभ्य की आत्मसाक्षीमूला, अर्थात् संस्कृति-मूला (आत्मनिष्ठामूला) जीवनीया प्राकृतिक–पद्धति का ही नाम हीं **'मानव की सभ्यता'** है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष **है**।

५३–वैय्यक्तिक जीवनपद्धति, एवं सामाजिक जीवनपद्धति—

तथाकथिता सभ्यता को आधार बना कर ही अब हमें इसके पूर्वोत्तर रूपों का समन्वय करना चाहिए। 'सभा' शब्द समूहात्मक 'समाज' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। अतएव 'सभा' शब्द से निष्पन्न 'सभ्यता' शब्द भी 'सामाजिक' बनता हुआ नित्य सापेक्ष प्रमाणित हो रहा है। **सामाजिक मानव की सामाजिक जीवनपद्धति ही 'सभ्यता' शब्द का निष्कर्ष है**। अतएव इत्थंभूत 'सभ्यता' शब्द के द्वारा ही 'मानवव्यक्ति' भी स्वतः ही आकर्षित हो जाता है। और 'सभ्यता' शब्द के द्वारा ही सभ्यता की अपेक्षा का पूरक **'व्यक्ति'** शब्द स्वतः उपरत हो जाता है। यों जीवनपद्धति **वैय्यक्तिक जीवनपद्धति, एवं सामाजिक-जीवनपद्धति**, भेद से दो भागों में विभक्त हो जाती है।

५४–व्यक्तिमानव, और समाजमानव का तारतम्य—

मानव एक ओर जहाँ **सामाजिक प्राणी** है, वहाँ दूसरी ओर अपने स्वरूप से यह **वैय्यक्तिक प्राणी** भी बना हुआ **है**। वैय्यक्तिक मानव की जीवनपद्धति जहाँ व्यक्तिमानव की स्वयं की अपनी विशेषता है, वहाँ सामाजिक मानव की जीवनपद्धति सामाजिक मानव की व्यक्तित्त्व से विभिन्ना एक स्वतन्त्र सामाजिकी (समाज-सापेक्षा) विशेषता है। दोनों में प्रमुखता किस की है ?, प्रश्न का समाधान एक स्वतन्त्र चिन्तन का विषय है। व्यक्तित्त्व से सम्बन्ध रखने वाली वर्त्तमानयुग की पर्सनल्टी (Peronlity) की दृष्टि से यदि इस प्रश्न का समाधान ढूँढ़ा जाता है, तब तो व्यक्तिमानव की अपेक्षा सामाजिक प्राणी की ही विशेषता है। संस्कतिमूला अध्ययात्मनिष्ठा के सांस्कृतिक स्वरूप से अपरिचित भारत के कतिपय मतवाद भी इसी विशेषता के अनुगामी प्रतीत हो रहे है, जैसाकि–**'संघं शरणं गच्छामि'–'जमात करामात'–'संघे शक्तिः'** इत्यादि मतवादात्मक आभाणकों से स्पष्ट है।

५५-व्यक्तिमानव का वैय्यक्तिक महान् व्यामोहन--

"व्यक्ति का व्यक्तित्त्व भले ही अच्छा-बुरा-कैसा भी हो। किन्तु उसे समाज में अपने आपको विशिष्ट प्रदर्शनों से ही उपस्थित होना चाहिए। भले ही व्यक्ति एकान्त में यथेच्छ सुरापान से प्रमत्त बना रहे। नीमीलित-नेत्र बन कर मांसादि अखाद्यों का भक्षण-चर्वण करता रहे! पत्नी-वत परदारेषु-पथ का अनुगमन करता रहे। कोई हानि नहीं है। कोई सामाजिक प्रतिबन्ध, किंवा दण्डविधान नहीं है। क्योंकि यह तो उसका पर्सनलमेटर (Personalmatter) जो ठहरा। हाँ-जब यही व्यक्ति सभात्मक सामाजिक प्राङ्गण में पधारे, तो उस समय इसे मद्यनिषेध-नैतिकता का पालन-सत्य-अहिंसा की व्याख्या आदि आदि अलौकिक आदर्शों की ही घोषणा करते रहना चाहिए। क्योंकि इसकी दृष्टि में सामाजिकता ही मानव की वास्तविक विशेषता है। व्यक्तित्त्व, और सामाजिकता में सामाजिकता-रूप समाजवाद हो राष्ट्र की समस्याओं का एकमात्र निदान है इस समाजवादी की उदारदृष्टि में, जिसमें व्यक्तित्त्व का प्रवेश भी निषिद्ध है। प्रतीच्य सत्तातन्त्र से पूर्व के कामभोगमात्रपरायण सत्तातन्त्र (यवनशासन) में भी ऐसी ही मान्यता प्रतिष्ठित थी, जैसाकि उन्हीं की-'बद अच्छा-बदनाम बुरा' जैसी सुप्रसिद्धा लोकोक्ति से प्रमाणित है। मानव पापाचरण कर सकता है। कोई हानि नहीं है। किन्तु उसे समाज की दृष्टि से लुक-छिप कर ही पापकर्म्म करनें चाहिएँ। यदि समाज में भण्डाफोड़ हो गया, तो इसका सामाजिक स्वरूप उच्छिन्न हो जायगा। यही उक्त लोकसूक्ति का मर्म्म है।

५६-व्यक्तित्त्वविमोहन के द्वारा समाज का सामाजिक व्यामोहन—

व्यक्ति के समतुलन में समाज को श्रेष्ठ क्यों माना गया उक्तरूप से ?, इस प्रश्न का समाधान भी सहजसिद्ध ही बन रहा है। जिनकी दृष्टि में मानव इतर प्राणियों की भाँति केवल प्राकृतिक प्राणी है, प्रकृति का अवयवमात्र है, ऐसे यथाजात प्राकृत मानव का अवश्य ही कोई वैसा व्यक्तित्त्व नहीं माना जा सकता, जिसके आधार पर वह व्यक्तिमानव बिना समाजसहयोग के अपने उत्तरदायित्त्व का निर्वाह कर सके। अव्ययात्मलक्षण समब्रह्म के स्वरूपबोध से वञ्चित मानव अवश्य ही प्राकृत है, पशुसमानधर्म्मा है, जीवमात्र है, आत्मनिष्ठ नहीं। आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व ही मानव का व्यक्तित्व है। इस अभिव्यक्तित्त्व से अपरिचित, दूसरे शब्दों में आत्मस्वरूपबोधानुग्रह से वञ्चित मानव का सचमुच कोई भी व्यक्तित्त्व नहीं है। ऐसे व्यक्तिशून्य मानवों की प्राकृतिकी-लौकिकी-योगक्षेमव्यवस्था का भार क्योंकि समाज की दया पर ही अवलम्बित रहता है। अतएव ऐसे व्यक्तियों को स्वभौतिक जीवन की रक्षा के लिए युगधर्म्मानुगता सामाजिक-सभ्यताओं के प्रति ही अपने मनःशरीरों को सर्वतोभावेन समाज की इच्छानुसार समर्पित रखना हीं पड़ता है। अपनी सामाजिक सभ्यता-शिक्षा-आचार-आदि के सम्बन्ध में तत्तद्युगीय समाजनेता सभ्यता के जो भी विधि-विधान बनाते हैं, व्यक्तिमानवों को अनिच्छन्नपि उन सामाजिक नियमों का प्रदर्शन तो अवश्य ही करना पड़ता है। राजनैतिक क्षेत्रों में, तथा धार्म्मिक-मतवादात्मक क्षेत्रों में दोनों में हीं व्यक्तियों की यही स्वरूप-स्थिति रहती है। जगन्माता भगवती के आराधनसम्प्रदाय ने जब पञ्चमकार का रहस्यार्थ न जान कर इनका मद्य-मांसादि पर विश्राम मान लिया गया, तो तत्कालीन शाक्तमतावलम्बियों को अनिच्छन्नपि इनका अनुगामी बन जाना पड़ा। एवमेव आज का समाज यदि नाच-गान को ही सांस्कृतिक आयोजन मान बैठता है, तो

आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व से शून्य हमारे जैसे प्राकृत मानवों को इनका भी संस्कृति-रूप से ही समादर करना पड़ रहा है। हमारी तो स्थिति ही क्या है। देश के बड़े बड़े दार्शनिक-वैज्ञानिक-विचारक-राजनैतिक भी सोल्लास-अथवा तो निरुत्साहरूपेण इन आयोजनों में योगदान करते रहना आज अपना सामाजिक ही कर्त्तव्य मान रहे हैं।

५७-व्यक्तित्त्वविमूढ मानवों की विजैषणागर्भिता लोकैषणा—

समाजप्रतिष्ठा-विच्युति ही परम्परया पदप्रतिष्ठाविच्युति का कारण बन रही है आज के सामाजिक वातावरण में। स्वस्वरूपानुगता-स्वयोग्यतानुबन्धिनी स्वप्रतिष्ठा जहाँ शून्यं शून्यं बनी रहती है, वहीं पदप्रतिष्ठा का व्यामोहन जागरूक हुआ करता है। मात्र पदेन प्रतिष्ठित मानव को वह सभी कुछ गतानुगतिकरूप से करना हीं पड़ता है, जिसके करने में हीं पदप्रतिष्ठा सुरक्षित रहा करती है। अव्ययात्मलक्षण विश्वेश्वर कदापि सभाध्यक्ष-किंवा समाजाध्यक्ष नहीं है इत्थंभूत आत्मशून्य व्यक्तिमानव की दृष्टि में। अतएव ईश्वर की धर्म्मात्मिका नियति का, सत्यदण्ड का भय विस्मृत है इस के लिए। अब भय रह जाता है इस के सम्मुख केवल उन समाजनेताओं का, जिनसे इसे पदप्रतिष्ठा, लोकैषणा (नामख्यापन), एवं अन्यान्य योगक्षेम के साधन मिलते रहते हैं, अथवा तो मिलने की सम्भावनाएँ बनी रहतीं है। अतएव केवल इसी अंश में ऐसे प्राकृत मानव जागरूक बने रहते हैं। प्रत्यक्ष में सामाजिक सभ्यताओं का, आचार-व्यवहारों का पूरा पूरा प्रदर्शन करते ही रहना पड़ता है इन व्यक्तित्त्वविमूढ मानवों को।

५८-समसञ्जनरूप 'समाज' तत्त्व से बहिष्कृत वर्त्तमान समाजवाद—

सर्वतः पाणिपादाक्षिशिरोमुख-सर्वव्यापक-सर्वशास्ता-सहस्राक्ष परमेश्वराव्ययरूप विश्वसमाजनेता के नियतिदण्डभय से अपरिचित केवल प्रकृतिवादी व्यक्तिमानव हीं गुप्त-हिंसा-चोरी-छलकपट-मद्यमांसभक्षण-अगम्यागमनादि महत्पातकों को अपना पर्सनल् मेटर मानता हुआ उस कौशल से करते रहने में तबतक कोई हानि-अहित नहीं समझता अपने व्यक्तित्त्व की, जबतक कि सामाजिक विधि-विधानों के प्रदर्शनों में एक कुशल अभिनेता की भाँति लोकचातुरी के बल पर, अर्थप्रसारात्मक महान् अनर्थ के बल पर समाज का अनुग्रह प्राप्त करते रहने में यह सफल बनता रहता है। और यही उस समाजवाद का वह सम्पूर्ण लोकेतिवृत्त है, जिसमें व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। जहाँ सबकुछ समाज ही समाज है, भले ही सममञ्जनरूप 'समाज' शब्द को ऐसे समाजवाद से स्वाप्निक सम्पर्क भी प्राप्त न हो रहा हो।

५९-वैय्यक्तिक स्वातन्त्र्य से समाज का आत्यन्तिक पतन—

व्यक्तिस्वरूपविकास से उपेक्षित ऐसे समाजवाद का कालान्तर में जो परिणाम समाज को, एवं समाज के साथ साथ सभी प्राणियों को भोगना पड़ता है, उसकी चर्चा न करना हीं उचित पक्ष है। समाज कोई कल्पित आकाशकुसुम नहीं है। अपितु व्यक्तियों के समुदाय का नाम हीं समाज है। जिस समाजवाद में से व्यक्ति की स्वरूपयोग्यता का मापदण्ड सर्वथा निकाल दिया जाता है, व्यक्ति को 'पर्सनलमेटर' जैसे व्यामोहक शब्द से स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है, निश्चयेन उस समाज की आधारशिलाभूता व्यक्तियाँ कालान्तर में उस सीमापर्य्यन्त चरित्रहीन-अनुशासनहीन,-एवं अमर्य्यादित बन जातीं हैं, जिनके बहुदलभाव में परिणत होते ही समाज के प्रारम्भिक आदर्श इन्हीं व्यक्तियों के द्वारा उलट दिए जाते हैं।

६०–वैयक्तिक भ्रष्टाचारों से समाज का आत्यन्तिक पराभव—

उदाहरण के लिए भारतभूमि के महद्सौभाग्य से शताब्दियों के अनन्तर सर्वात्मना ईश्वरनिष्ठ महामना पू० मालवीयजी, महाप्राण श्रीतिलक, रामभक्त सर्वश्री गांधीजी आदि जिन राष्ट्रीय मान्यनेताओं की निष्ठा–संस्कृति के अनुग्रह से सत्य–अहिंसा–अस्तेय–मद्यमांसादिविवर्जन–आदि आदि लक्षण जिन व्यक्तिविकासमूलक आध्यात्मिक नियमों की समाज के लिए घोषणा हुई थी, वही आज का समाज आज पर्य्यन्त अमुक अंशों में घोषणाएँ तो सामाजिक मञ्चों पर ऐसी ही करता जा रहा है । किन्तु व्यक्तिविकास-मूलक–स्वात्मस्वरूपविकास के पथों के आत्यन्तिकरूप से अवरूद्ध हो जाने के कारण व्यक्ति उत्तरोत्तर अनुशासनहीन हीं बनते जारहे हैं । अब और अधिक समय पर्य्यन्त इस नग्न सत्य को–'बद अच्छा, बदनाम बुरा' नीति से, किंवा पर्सूनल्टी के गुप्ततन्त्रों से परोक्ष नहीं रक्खा जा सकता, जो गुप्ततन्त्र आज अधिकांश में सर्वसाधारण के लिए व्यक्त हो पड़े हैं । रुपय्या–आठ आना–किंवा सौ–पचास रुपय्यों का भ्रष्टाचार करने वालों के नियन्त्रण के लिए स्थापित **'भ्रष्टाचारनिरोधकविभाग'** देखना है—कबतक उन सुगुप्त महाभयानक घोरघोरतम भ्रष्टाचारों के प्रति गजनिमीलिका करता रहता है, जिन महान् भ्रष्टाचारों का इतिहास आज अणुविस्फोटकों से भी कहीं अधिक भयानक महाविस्फोटनों का रूप धारण कर चुका है । क्योंकि **'संयोगा विप्रयोगान्ताः'** नियम का कभी नियन्त्रण सम्भव नहीं है ।

६१–व्यक्तित्त्वविमूढ मानवों के द्वारा हीन समाज का आविर्भाव—

यदि निरपेक्ष महाप्राण व्यक्तिविशेषों के द्वारा शीघ्र ही भारतीय वर्त्तमान समाज के उपेक्षित व्यक्तित्त्व का उद्बोधन न हुआ, तो निश्चयेन हमारा समाज समाज की शेषभूता संस्कृति–आदर्श–सभ्यता–सभी कुछ पश्चिम के अन्धानुकरणानुग्रह से विस्मृत कर देगा, जिसके परिचायक चिह्न संस्कृति के मूलोच्छेदक नवनिर्म्मित तलाकबिल–दायादविभागबिल–आदि–आदि बिलों के द्वारा व्यक्त हो पड़े हैं । प्रकृति के इस सहज परिवर्त्तन-क्रम का नियन्त्रण उस समय अत्यन्त कठिन हो जाता है, जबकि समाज के अधिक व्यक्ति गुप्तरूप से अनैतिक-ताओं के पदचिह्नों का अनुसरण करने लग पड़ते हैं । जब ऐसे व्यक्तियों का बहुमत हो जाता है, तो समाज पर इन्हीं का प्रभुत्त्व स्थापित हो जाता है । और इस प्रभुता के उदित होते ही कल के नैतिकता के उद्घोषक वे ही सामाजिक व्यक्ति आजके समाज के लिए भी अपने अनुरूप ही विधि–विधान बना डालते हैं, जैसेकि अनैतिक विधि–विधान पूर्व के शाक्तादि तान्त्रिक युगों में बन गए थे ।

६२–समाज की एकमात्र आधारशिला व्यक्तित्त्व—

उद्बोधन का एकमात्र उपाय भारतीय दृष्टिकोण से तो माना गया है–व्यक्ति के **व्यक्तित्त्व की प्रतिष्ठा** । समाज, और व्यक्ति, दोनों के विकास में प्रथम स्थान व्यक्ति को ही देना पड़ेगा । व्यक्तिगता-प्राकृतिक गुण–शक्ति–योग्यताएँ हीं व्यक्तिसमष्टिरूप समाज को गुण–शक्ति–योग्यताशाली बनाने की क्षमता रखतीं हैं । एकमात्र इसी आधार पर भारतीय समाजशास्त्रियों नें तो समाज, और व्यक्ति के पदप्रतिष्ठासमतुलन में 'व्यक्ति' को ही प्रधानता दी है । **व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र**-एवं **विश्व**, इन पाँचों संस्थाओं में तत्त्वतः मूलाधार-भूमि व्यक्तिमानव को ही तो माना जायगा । सुसंस्कृत–सुसभ्य व्यक्तियों का समूह ही सुसंस्कृत–सुसभ्य परिवारों का जन्मदाता बनता है । एवंविध विशिष्ट परिवारों से ही उत्कृष्ट समाजों का निर्म्माण होता है । एवंविध

उत्कृष्टसमाज ही सुसमृद्ध राष्ट्र के प्रतिष्ठान बनते हैं। एवं ऐसे सुसमृद्ध राष्ट्रों के समसमन्वयात्मक सहास्तित्त्व से ही 'विश्वमानवता' सुप्रतिष्ठिता बना करती है। अतएव यह सर्वथा असंदिग्ध सिद्धान्त है कि, 'विश्वमानवता' रूप महान् समाज के मूल में मानव के विशिष्ट व्यक्तित्त्व का ही प्राधान्य है. जिसके एकत्त्व से ही अनेक भाव समन्वित भी परिवार–समाजादि वर्ग सममञ्जनरूप समत्त्वनिबन्धन एकत्व के अनुगामी बनते रहते हैं।

६३–व्यक्तिमानव की स्वरूपपरिभाषा—

आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वमूलक 'व्यक्तित्त्व' ही व्यक्तिमानव की स्वरूपपरिभाषा है। शारीरिक सौन्दर्य्य, मानसिक वैशिष्ट्य, तथा बौद्धिक वाग्विजृम्भण का नाम कदापि मानव का व्यक्तित्त्व नहीं है। अपितु इन तीनों मानवीय पर्वों को प्रकृति के नियमों के अनुरूप मर्य्यादित–व्यवस्थित–सुसंस्कृत–सुसभ्य बनाए रखने वाले आत्मस्वरूप का अभिव्यक्तित्त्व ही मानव का 'व्यक्तित्त्व' है, एवं ऐसे व्यक्तित्त्व का ही नाम 'मानवता', किंवा **'मानवधर्म्म'** है। निश्चयेन व्यक्तित्त्वलक्षणा इत्थंभूता मानवता का उदय एकमात्र उन संस्कारों से ही हुआ करता है, जिन संस्कारों की आचारपद्धति का नाम हीं–'मौलिक–प्राजापत्यशास्त्र' है। इन प्राजापत्य विद्या–कर्म्म–संस्कारों से ही मानव का आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वलक्षण व्यक्तित्त्व उदित होता है। इसी से यह सुसंस्कृत, तथा सभ्य बनता है।

६४–जनता, और इन्द्र का समन्वय—

अवश्य ही ऐसा सुसंस्कृत–सुसभ्य व्यक्ति ही समाज का पथ–प्रदर्शक बना करता है, बनता आया है, जिसे वैदिक परिभाषा में–'इन्द्र' कहा गया है। समाज के लिए शब्द आया है–**'जनता'**। एवं–**'एकैको वै जनतायामिन्द्रः'** के अनुसार जनतारूप प्रत्येक समाज में अवश्य ही कोई न कोई व्यक्तित्त्व ही मूलप्रतिष्ठा बना रहता है। समाज के लिए उस व्यक्ति के ही आदेश अनुगमनीय बना करते हैं। अतएव कहा गया है कि, तत्त्ववेत्ता सुसंस्कृत एक भी व्यक्ति समाज के लिए जो व्यवस्था व्यवस्थित कर देता है, वही समाज का गन्तव्यपथ बन जाता है, जबकि तत्त्वज्ञानशून्य असंख्यों का कथन भी कदापि समाज के लिए हितकर नहीं हो सकता। *।

६५–व्यक्तित्त्व के प्रति निष्ठाओं का समर्पण—

यही मानवधर्म्मसम्मत वह सुनिश्चित पक्ष है, जिसे आजके गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्रलक्षण **'जनता के राज'** ने भी द्रविड़प्राणायाम से येनकेनरूपेण मान्यता प्रदान कर ही रक्खी है। वर्त्तमान राजनैतिक तन्त्रों के मर्म्मज्ञ, साथ ही व्यक्तित्त्वविघातिका विप्रेषणाओं से सर्वथा असंस्पृष्ट प्रज्ञाशील **सर्वश्री नेहरू** महाभाग के व्यक्तित्त्व के सम्मुख सभी गणतन्त्रप्रेमियों को क्या आज भी अवनतशिरस्क नहीं बन जाना पड़ता ?। अतएव

---

*–एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं यं व्यवस्येद्–द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परोधर्म्मः, नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
—मनुः १२।११३।

व्यक्तित्त्व की उपेक्षा करने वाला समाजवादी आवेश में आकर भले ही कहता-सुनता-कुछ भी रहे। किन्तु समाज-समतुलन की दृष्टि से उसे भी व्यक्तित्त्व के प्रति अपनी निष्ठाएँ विवश बन कर समर्पित कर ही देनीं पड़तीं हैं।

६६-पुरातन-नूतन-व्यक्तिप्रतिष्ठाओं में तारतम्य--

आज की व्यक्तिनिष्ठा, एवं भारतीय व्यक्तिनिष्ठा में क्या अन्तर है ?, यह प्रश्न भी कम महत्त्व नहीं रखता। आजके व्यक्तित्त्व की मूलप्रतिष्ठा है-पदप्रतिष्ठा, एवं पदप्रतिष्ठासंरक्षण से सम्बन्ध रखने वाली कौशल-बलपरिपूर्णा तन्त्रबुद्धि, जबकि एकमात्र श्रीनेहरूमहाभाग को तो हम ऐसे आजके व्यक्तित्त्व-पारिभाषिक अर्थ, किंवा अनर्थ की सीमा से बहिर्भूत ही कहेंगे। श्रीनेहरू कदापि पदप्रतिष्ठा से अपने आपको प्रतिष्ठित नहीं मान रहे। अपितु इनका तो स्वयं का अपना व्यक्तित्त्व है। यह व्यक्तित्त्व भारतीय व्यक्तित्त्व की परिभाषा के अनुरूप हैं, अथवा तो प्रतिरूप ?, यह प्रश्न स्वतन्त्र है, जिसकी मीमांसा का अभी अवसर नही है। यह सुनिश्चित है कि, अपनी सहजप्रज्ञा से यह महान् व्यक्तित्त्व राष्ट्र के अभ्युदय के लिए अपनी पदप्रतिष्ठा से पृथक् बनकर ही सुचिन्तित बना रहता है, और यही श्रीनेहरू का वह महान् व्यक्तित्त्व है, जिसके सम्मुख सभी पदप्रतिष्ठा-प्रेमियों को अवनतशिरस्क बना रहना पड़ता है-प्रत्यक्ष, किंवा परोक्षरूप से।

६७-भारतीय दृष्टिकोण से व्यक्ति के व्यक्तित्त्व की मौलिक परिभाषा--

पदप्रतिष्ठादि लौकिक-व्यामोहनों से पृथक् रहने वाला व्यक्तित्त्व, किंवा लोकशिक्षा-लोकप्रज्ञा-आदि की परपारगामिता, तदनुबन्धिनी जागरूकता, एवं तदनुप्राणिता निर्भयता, आदि आदि ही क्या भारतीय 'व्यक्तित्त्व' की परिभाषाएँ हैं ?, प्रश्न के सम्बन्ध में-**'नेति होवाच'** ही उद्घोष कर दिया जायगा। विश्वेश्वर के साक्षात् अवतार भगवान् रामकृष्णादि के व्यक्तित्त्व भी केवल इन हेतुओं से तो कदापि आत्मनिष्ठा, संस्कृतिनिष्ठा भारतीया प्रज्ञा के लिए मान्य नहीं बन गए ये कि, ये व्यक्तित्त्व अपने रूप में महान् हीं नहीं, अपितु लोकोत्तर थे। अपितु इनके व्यक्तित्त्व के प्रति भारतीय जनता इसलिए आज भी अवनतशिरस्का बनी हुई है, बनी रहेगी सदा सदा के लिए कि, इन अवतारपुरुषोंनें भारतीयसंस्कृति-तदाधारभूत साहित्य-संस्कार-धर्म्म-नीति-आचार-आदर्शादि को आधार बनाकर आसुरी शक्तियों का दमन किया था। सहजभाषा में धर्म्मग्लानि के उपशम के कारण, एवं धर्म्मसंस्थापन के कारण हीं अवतारपुरुषों का व्यक्तित्त्व समादृत हुआ है इस भारतराष्ट्र में। अतएव यहाँ तो व्यक्तित्त्व की एकमात्र परिभाषा यही रही है कि-**"जो मानवश्रेष्ठ-'इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्व्याचचक्षिरे' के अनुसार निगमागमपुराणस्मृत्यादि मौलिक साहित्य में उपवर्णित शास्त्रसिद्ध आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वमूलक मानवधर्म्म का सन्देशवाहक बनता है, वही मानवश्रेष्ठ यहाँ 'व्यक्ति'कहलाया है"**। एवं ऐसे शास्त्रतत्त्वज्ञ-शास्त्राचारनिष्ठ-लोकवित्तैषणा-पदप्रतिष्ठादि व्यामोहनों से असंस्पृष्ट मानवश्रेष्ठों का कथन हीं प्रमाण माना गया है। अपनी अनुभूति-योग्यता-महाप्राणता आदि आदि का कोई महत्त्व नहीं है यहाँ की व्यक्तित्त्व-परिभाषा के सम्बन्ध में।

६८-विचारस्वातन्त्र्य, और आचारपारतन्त्र्य का समन्वय—

विचारस्वातन्त्र्य की जन्मभूमि भारतवर्ष में विचार प्रत्येक मानव स्वतन्त्रता से कर सकता है, करता रहा है, करते रहना हीं चाहिए। अवतारपुरुष भी विचारस्वातन्त्र्य के लिए अपने व्यक्तित्त्व से स्वतन्त्र हैं।

किन्तु जहाँ जब भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का प्रश्न उपस्थित हो जाता है, वहाँ व्यक्तियों के व्यक्तित्त्व का, इन की प्राणवती स्वतन्त्रा प्रज्ञा का कोई भी महत्त्व शेष नहीं रह जाता,यदि इनकी स्वतन्त्र प्रज्ञा सृष्टिके चिरन्तन सत्यके प्रतीकभूत शास्त्र के विपरीत जाती है-तो। यही कारण है कि, विचारस्वातन्त्र्य के महान्प्रेमी भावुक अर्जुन के सभी प्रश्नों का भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ने विचारस्वातन्त्र्यपूर्वक ही समाधान तो अवश्य कर दिया। किन्तु जब कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रश्न उपास्थित हुआ, तो भगवान् ने अपनी विचारस्वातन्त्र्यपद्धति का भी एकान्ततः संवरण कर अर्जुन के सम्मुख वही सिद्धान्त रख दिया, जिस निम्न लिखित सिद्धान्त से सम्भवतः आजके गीताभक्त भी अपरिचित न होंगे—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ॥
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम ॥१॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ॥
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तु मिहार्हसि ॥२॥
—गीता १६।२३, २४;।

६९-भारतीय व्यक्तित्त्व के मूलप्रतिष्ठासूत्र-

वेदशास्त्रप्रामाण्य से अनुप्राणित संस्कार, इन संस्कारों से सुसंस्कृत भूतात्मा, एवं ऐसे सुसंस्कृत भूतात्मा का अव्ययात्माभिव्यक्तित्त्वमूलक व्यक्तित्त्व ही एकमात्र 'व्यक्तित्त्व' की परिभाषा है भारतीय दृष्टिकोण से। तदतिरिक्त बड़े से बड़ा भी तत्त्वनिष्ठ-तत्त्वशील-तत्त्वानुगत-व्यक्तित्त्व सर्वथा उपेक्षणीय रहा है, रहेगा इस सांस्कृतिक राष्ट्र के लिए तो सदा ही, जिस व्यक्तित्व का 'मानवसंस्कृति' के स्वरूपविश्लेषक राजर्षिनें इन शब्दों में स्पष्टीकरण कर दिया है कि—

एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः॥
स विज्ञेयः परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥१॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्॥
सहस्रशः समवेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥२॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्म्ममतद्विदः॥
तत्पापं शतधाभूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति॥३॥
-मनुः १२।११३।१४।१५

७०-धर्म्मनीति, एवं राजनीति का स्वरूपदिग्दर्शन—

'वेदवित् एकोऽपि द्विजोत्तमः-यं धर्म्मं व्यवस्येत्' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ में पठित-'द्विजोत्तमः' शब्द से राजर्षि एक विशेष तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। राजनीति और धर्म्मनीति, दोनों विश्वेश्वर की संस्कृति के दो महान् स्तम्भ हैं, जैसा कि अनुपद में हीं निवेदन किया जाने वाला है। स्वयं अव्ययेश्वर-आत्मा

धर्म्मरूप है, तदनुगता सुसूक्ष्मा नीति ही **'धर्म्मनीति'** है। इस धर्म्मनीतिरूप अव्ययेश्वर के आधार पर प्रतिष्ठित व्यक्त पाञ्चभौतिक विश्व ही नीतिरूप है, तदनुगता व्यक्ता नीति ही–**'राजनीति'** है। विश्वेश्वर की विश्वात्मनीति ही 'धर्म्मनीति' है, एवं विश्वनीति ही 'राजनीति' है। बिना राजनीति के धर्म्मनीति अव्यक्त बनी रहती है, तो बिना धर्म्मनीति के आधार के राजनीति भी निश्चयेन अनीति ही बन जाया करती है।

७१–अध्यात्म–अधिभूत–अधिदैवत–तन्त्रानुगत तन्त्रायी मानव–

धर्म्मनीत्यनुगत विश्वात्मतन्त्र ही–'अध्यात्मतन्त्र' है, एवं राजनीत्यनुगत विश्वतन्त्र ही **'अधिभूततन्त्र'** है। इन दोनों तन्त्रों का समसमन्वयात्मक सम्बन्ध कराने वाला मध्यस्थ तन्त्र ही **'अधिदैवततन्त्र'** है, जिसे दार्शनिक व्यामोहन ने दुर्भाग्य से सर्वथा ही अभिभूत कर लिया है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप ही आज धर्म्ममूलक अध्यात्म, तथा नीतिमूलक अधिभूत-तन्त्रों में पार्थक्य हो रहा है। और इसीलिए विगत अनेक शताब्दियों से भारतीय सत्तातन्त्र धर्म्मनिरपेक्ष ही बनता चला रहा है, जिस धर्म्मनिरपेक्षता का प्रत्यक्ष ताण्डव आज के गणतन्त्रात्मक शासनतन्त्र में भी हो पड़ा है।

७२–राजनीतिपथानुगत चतुर्विध शासनतन्त्र—

आत्ममूला धर्म्मनीति शाश्वत है, अपरिवर्त्तनीया है, जब कि विश्वप्रकृतिमूला राजनीति प्रकृति के सहज परिवर्त्तनभावों के कारण युगधर्म्मानुगति से परिवर्त्तनशीला ही बनी रहती है, बनती आई है। इसी परिवर्त्तन के कारण राजनीतिप्रधान शासनतन्त्रों में कभी भूतात्ममूलक **नीतितन्त्र**, कभी बुद्धिमूलक राजतन्त्र, तो कभी मनोमूलक गणतन्त्र, एवं कभी शरीरमूलक **प्रजातन्त्र**, आदि आदि अनेक प्रकार के परिवर्त्तन होते रहते हैं, होते रहने हीं चाहिएँ।

७३–सहकामचारिणी वाराङ्गनासमतुलिता राजनीति, एवं सहधर्म्मचारिणी कुलवधु–समतुलिता धर्म्मनीति—

इसलिए तो राजनीति को यहाँ के राजनैतिकों नें–**'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा'** इत्यादि रूप से उस **'वाराङ्गना'** (वेश्या) उपाधि से समलङ्कृत किया है, जो पुरोऽवस्थित भावुक मानवों के तात्कालिक अनुरञ्जन के लिए नित्य नवीन नवीन वेश–विन्यास बनाती रहती है, जबकि ठीक इसके विपरीत अध्यात्म–तन्त्रानुगता धर्म्मनीति अपने शाश्वत स्वरूप से उस 'कुलवधु' से ही समतुलिता बनी रहती है, जिसे सदा की सङ्गिनी माना गया है, अतएव जो वाराङ्गनावत् सहकामचारिणी न होकर–**'सहधर्म्मिणी'** ही बनी रहती है। सहकामचारिणी वाराङ्गना जहाँ केवल मनःशरीरानुगत कामभोगमात्र की अनुरञ्जिका बनती हुई स्वतः ही कालान्तर में परित्यक्ता बन जाती है, वहाँ सहधर्म्मचारिणी कुलनारी आत्मबुद्धि–अनुगत मोक्ष–धर्म्म की संसाधिका बनती हुई–**'सह धर्म्मं चरताम्'** पथ का ही संरक्षण करती रहती है।

७४–सुसंस्कृत–सुसभ्य–मानव के चतुर्विध सामाजिक पुरस्कार—

'धर्म्म, और नीति के इस आध्यात्मिक–आधिभौतिक–पृथक् विवेक को आधार बना कर ही 'यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः' के मर्म्म की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना है। उक्त दोनों हीं तन्त्र यद्यपि

हैं अन्योऽन्याश्रय-न्याय से परस्पर समन्वित। किन्तु अध्यात्मतन्त्र, और तदनुगत अव्ययात्मधर्म्म जहाँ अपने आत्मनिबन्धन सुसूक्ष्मभाव से 'एकान्तचिन्तन' का क्षेत्र है, वहाँ अधिभूततन्त्र, एवं तदनुगता विश्वनीति अपने लोकनिबन्धन स्थूलभाव के कारण नानाभावनिबन्धन बहिःप्राङ्गण का क्षेत्र है। इस स्वरूपभेद के कारण कदापि समाज का एक ही वर्ग एक साथ इन दोनों तन्त्रों में कौशल प्राप्त नहीं कर सकता। अवश्य ही दोनों के स्वरूपसंरक्षण-विकास के लिए दो स्वतन्त्र वर्ग नियत मानने हीं पड़ेंगे, एवं उन्हें **तत्त्वचिन्तक**, एवं **लोक शासक**-इन उपाधियों से सुविभूषित करना पड़ेगा। तत्त्वचिन्तक को राष्ट्रप्रजा पुरस्कार में **'सम्मान'** प्रदान करेगी, एवं लोकशासक को पुरस्कार में **'सत्ता'** बल प्रदान करेगी। शेष रह जाते हैं सम्पत्ति, एव श्रम, जिसे **'सेवा'** भी कहा गया है। **सम्मान-सत्ता-सम्पत्ति-सेवात्मकश्रम**-चारों पुरस्कार यद्यपि फलभाग की दृष्टि से संपूर्ण राष्ट्र के ही भोग्य माने जायँगे। किन्तु चारों के व्यवस्थापूर्वक विकास के लिए अवश्य ही जन्म-कर्म्म-गुण-शक्ति-योग्यतानुपात से चार वर्ग विभक्तरूप से व्यवस्थित करने हीं पड़ेंगे। तभी राष्ट्र सर्वात्मना सब अङ्गों से-**विद्या[१]-शासन[२]-वित्त[३]-श्रम[४]**-भावों से सुसमृद्ध होता हुआ क्रमशः **सुसंस्कृत[१]-सुसभ्य[२]-सुसमृद्ध[३]-सुपुष्ट[४]** बन सकेगा।

७५-लोकैषणात्मक राष्ट्रीयकरण का महान् व्यामोहन—

जब भी लोकैषणा के निग्रह से सभी वर्ग चारों हीं पुरस्कारों की अहमहमिका में प्रवृत्त हो पड़ते हैं, तभी चारों हीं पुरस्कार राष्ट्रप्राङ्गण से उच्छिन्न हो जाते हैं। राष्ट्र के तत्त्वचिन्तकवर्ग ने सम्मानव्यामोहन में आकर जब सत्ता-सम्पत्ति-श्रम-तीनों पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया, तो तभी इस वर्ग का पतन होगया। और तत्त्वनिष्ठा से वञ्चित हो गया स्वयं यह वर्ग, एवं इसके साथ साथ ही राष्ट्र भी। यही दोष सत्तावर्ग ने अपना लिया। चारों हीं पुरस्कारों को अपनाने के लिए व्यग्र हो पड़ने वाला सत्तातन्त्रात्मक राजतन्त्र भी इसी व्यामोहन से धूलिधूसरित बन गया। यही दोष आज सम्पत्तिपुरस्कार के पात्र धनपतियों को समाप्त कर रहा है। और यदि गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र भी 'राष्ट्रीयकरण' के नाम से ऐसा ही कुछ करने लग पड़ा, तो निश्चयेन पुनः आगामिनी अनेक शताब्दियों के लिए भारतराष्ट्र की विद्या-शौर्य्य-वित्त-श्रमादि सभी विभूतियाँ अभिभूत ही हो जायँगी। अतएव................। इस 'अतएव' की व्याख्या में तो हम अपने आपको असमर्थ ही अनुभूत कर रहे हैं।

७६-सत्तानिरपेक्षता को आधार बना कर ही संस्कृति का स्वरूपसंरक्षण सम्भव—

समस्या अभी केवल संस्कृति, और सभ्यता की ही समुपस्थित है। अतएव तथाकथित 'अतएव' की जिज्ञासा का भी इसी दृष्टि से समन्वय करना चाहिए। अध्यात्मतन्त्रानुगत धर्म्म, तदभिन्ना संस्कृति, तत्स्वरूपसंरक्षक संस्कार, एवं तत्स्वरूपविश्लेषक प्राजापत्य वेदशास्त्र का चिरन्तन एक स्वतन्त्र वैसा पक्ष है, जो सत्तातन्त्र को निरपेक्ष मान कर ही, एकमात्र वेदशास्त्र की सापेक्षता के आधार पर ही अपनी चिन्तननिष्ठा सुरक्षित रख सकता है। जब जब भी भारतराष्ट्र के तत्त्वचिन्तक वर्ग ने अमुक सत्ता-सम्पत्ति-एषणाओं के प्रलोभन में पड़कर अपनी चिन्तनधारा को राजभक्ति के आवेश में आकर सत्तासापेक्ष बना लिया है, तब तब ही इसकी चिन्तननिष्ठा शास्त्रनिष्ठा से निरपेक्षा बनती हुई केवल लोकानुरञ्जिका ही बन गई है। और तद्दुष्परिणाम स्वरूप राष्ट्र की मौलिक संस्कृति-साहित्य-संस्कार-सभ्यता-धर्म्म-आदर्श-सभी कुछ युगधर्म्मात्मक सत्ताधर्म्मों से ही अभिभूत हो गए हैं।

७७–तत्त्वचिन्तक द्विजाति की राजभक्ति के दुष्परिणाम—

अवश्य ही तत्त्वचिन्तक के लिए समाजशास्त्रियों की ओर से नियत **'सम्मान'** नामक प्रथम-मुख्य पुरस्कार के प्रति जागरूक न बने रहने के दुष्परिणामस्वरूप ही तत्त्वचिन्तकवर्ग सत्ताभक्ति में विभोर होता आ रहा है विगत कतिपय शताब्दियों से । सम्भवतः ही क्यों, निश्चय ही मनोजनिता इस सहज दुर्बलता को लक्ष्य बना कर ही इस वर्ग के लिए यहाँ के प्रज्ञाशील समाजशास्त्रियों नें एक ओर जहाँ इसके लिए–**'सम्मान'** जैसा सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार नियत किया था, तत्सहैव इसके सम्मुख यह भी उद्बोधनसूत्र रख देना अनिवार्य्य मान लिया था सम्मानपुरस्कारप्रदाता उन्हीं समाजशास्त्रियों नें कि,–**'तत्त्वचिन्तक ब्राह्मणवर्ग को सर्वविनाशक महान् विष की भाँति 'सम्मान' से तो सदा अपने आपको बचाते रहना चाहिए, एवं 'अपमान' की अमृत की भाँति प्रतिक्षण कामना करते रहना चाहिए'** ।

> **"सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।**
> **अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥"**
>
> —मनुः २।१६२।

७८–संस्कृतिनिष्ठ मानव के सम्बन्ध में उदात्त घोषणा—

इस उद्बोधनादेश को विस्मृत कर सत्तासम्मान, लोकसम्मान, सम्पत्तिसम्मानादि की एषणाओं में व्यासक्त हो पड़ने वाले लोक-वित्तैषणालिप्सु इस तत्त्वचिन्तकवर्ग ने अपने स्वरूप का, एवं अपने साथ साथ ही राष्ट्र की मौलिक संस्कृति--साहित्य--निष्ठाओं का भी कैसा अभिभव कर डाला है ?, इस तथ्य के स्मरणमात्र से भी हृत्कम्प हो पड़ता है । ऐसे आत्मसमर्पक, अतएव नितान्त भावुक, अतएव च लोकप्रवाहसमर्थक तत्त्वचिन्तकों से लोकभावुकताओं के अनुरञ्जनात्मक समर्थनों के अतिरिक्त राष्ट्रप्रजा को निष्ठादृष्टि से और मिलना भी क्या था । और आज ?। आज तो सांस्कृतिक-सन्देशवाहक तत्त्वचिन्तकोंनें अपने आपको पदप्रतिष्ठा पर भी समासीन कर लिया है, जिस आसन पर विराजमान होनें के अनन्तर तो शासनतन्त्र के गुणानुवाद के अतिरिक्त और कोई भी तत्त्वचिन्तन शेष नहीं रह जाया करता । इस सम्पूर्ण तथ्य को लक्ष्य बना कर ही राजर्षि ने व्यक्तिनिष्ठानुगता संस्कृतिनिष्ठा के सम्बन्ध में यह उद्घोष किया है कि--**'एकोऽपि वेद-विद्धर्म्म-यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः'** ।

७९–'अरतिर्जनसंसदि' मूला संस्कृतिनिष्ठा, एवं सत्ता के लिए उद्बोधनसूत्र—

वेदशास्त्र का तत्त्वचिन्तक द्विजातिमानव अनेकभावापन्न समाजतन्त्र, किंवा शासनतन्त्र का एक प्रतिनिधि बना ही तब रह सकता है जब कि यह स्वयं--**'अरतिर्जनसंसदि'** रूप से इन लोकतन्त्रों की एषणाओं से अपने आपको पृथक् रखता हुआ अनन्यनिष्ठा से गुहानिहित बन कर तत्त्वचिन्तन में ही प्रवृत्त रहता है । ऐसा एक ही व्यक्ति पक्षपातरहिता वैसी नीति निर्द्धारित कर सकता है, जो सब के लिए मान्या बन जाया करती है । इसी से यह भी प्रतिध्वनित है कि, लोक-राजनीतियों के सञ्चालक सत्तातन्त्र-शासकतन्त्र को भी इस दिशा में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । जैसे तत्त्वचिन्तक द्विजाति राजनीति से

निरपेक्ष बना रहता है, एवमेव लोकचिन्तक शासक को धर्म्मनीति से अपने आपको सर्वथा निरपेक्ष ही बनाए रखना चाहिए। यदि वर्तमान शासनतन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता का यही अभिप्राय होता, तो भारतराष्ट्र का भाग्यसूर्य्य निश्चयेन अपनीं सहस्र कलाओं से ही आज प्रदीप्त हो पड़ता। किन्तु ?।

८०–संस्कृतिनिष्ठा के राष्ट्रीयकरण से संस्कृति की अन्तर्म्मुखता—

जिस प्रकार सम्मानमद से आत्मविस्मृत बन जाने वाले द्विजातिवर्ग ने अनधिकृत क्षेत्रों की एषणा कर 'संस्कृति' को आज नृत्य-गान-वाद्य-परिग्रह-समन्विता एक 'वाराङ्गना' के पद पर ला खड़ा किया है, एवमेव सत्तामद, किंवा पदप्रतिष्ठात्मक महान् व्यामोहन से लोकविस्मृत बन जाने वाले शासकवर्ग नें भी अनधिकृत धर्म्म-साहित्य-संस्कृति-आदि आदि चिरन्तन क्षेत्रों को सर्वथा उपेक्षितरूप से निरपेक्ष मानते हुए एकान्तचिन्तनमूला संस्कृति का भी अन्यान्य राष्ट्रीयकरणादि की भाँति आज राष्ट्रीयकरण ही कर डाला है। और अपनी लोकमान्यताओं के अनुरूप ही पञ्चशीलादि नैतिकताओं को राष्ट्र की महती संस्कृति मानना मनवाना आरम्भ कर दिया है, जबकि इन मतवादात्मक सामयिक नैतिक भावों का साहित्यमूला-आचारात्मिका-संस्कृति से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है।

८१–अध्यात्मवादियों की भ्रान्त धारणा—

शासकवर्ग कदापि संस्कृति के उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक वहन नहीं कर सकता, जैसे कि चिन्तकवर्ग कदापि शासननीतियों के उत्तरदायित्व-निर्वाह में अपनी निष्ठा प्रदान नहीं कर सकता। 'निष्ठाप्रदान' के तत्त्वबोध से वञ्चित आजकल के कल्पित अध्यात्मवादियों नें आज भारतीय शास्त्र के सम्बन्ध में जो यह भ्रान्त धारणा बनाली है कि, **"तत्त्वचिन्तनात्मक साहित्य का समाज-लोक-राजनीति आदि से कोई भी सम्पर्क नहीं है। अतएव साहित्यसेवी को कभी सामाजिक,-किंवा राजनैतिक तन्त्रों में नहीं पड़ना चाहिए"**। उसका यत्किञ्चित् भी महत्त्व नहीं है।

८२–सहयोगी मित्रों के आपातरमणीय उद्बोधनसूत्र—

हमारे एक संस्कृतिनिष्ठ मित्र प्रायः हमें यही उद्बोधन प्रदान करते रहते हैं कि–**"हमें समाज-राजनीति, और सनातनधर्म्म-आदि के पचड़े में न पड़ कर केवल वैदिक तत्त्व-ज्ञानविज्ञान के अन्वेषण में हीं प्रवृत्त रहना चाहिए"**। इस उद्बोधन-प्रदान के साथ साथ ही हमारे वे ही सांस्कृतिक मित्र यह भी कहते रहते हैं कि–**'हमें समाज-राजनीति-धर्म्म-आदि शब्दों की चर्चा भी अच्छी नहीं लगती। हमें तो एकान्त में बैठ कर पढ़ना-लिखना-साहित्यिक चर्चा करते रहना हीं मनःपूत लगता है"**। मित्रश्रेष्ठ के द्वारा प्राप्त उक्त उद्बोधन के प्रति तो हम इसलिए कृतज्ञता ही समर्पित करेंगे कि, सचमुच हमनें तो अपने जीवन में केवल स्वाध्यायचिन्तन के अतिरिक्त किसी लोक-समाज-सत्ता-तन्त्र की एषणा का मनसापि संस्मरण भी नहीं किया। हाँ विगत वर्ष से ही, जब से कि मित्रश्रेष्ठ का हमें विशेषरूप से सान्निध्य प्राप्त हुआ है, अवश्य ही स्वाध्यायचिन्तननिष्ठा के साथ साथ चिन्तनसूत्रों के आधार पर ही, किन्तु सर्वथा तटस्थरूप से हमारी सामयिक-प्रवृत्ति भी प्रकान्त हो पड़ी है, जिसका समस्त श्रेय हम उद्बोधन-प्रदाता मित्रश्रेष्ठ को ही समर्पित कर देना चाहते हैं।

८३–आचार्य्यनिष्ठा के प्रति आत्मसमर्पण, एवं मित्रों की मनस्तुष्टि—

स्वाध्यायारम्भ में ही आचार्य्यप्रवर श्रद्धेय श्रोझाजी महाराज के द्वारा प्राप्त इस आदेश का हमनें श्रद्धापूर्वक अबतक पालन किया है कि,–**'हम स्वाध्यायकाल में कदापि किसी लोकतन्त्र-व्यासङ्ग से कोई सम्पर्क नहीं रक्खेंगे। कदापि लोकतन्त्रों के अकाण्ड-ताण्डवों का गर्जन-तर्जन करने वाले सामयिक-पत्रों (अखबारों) से कोई सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे"** इत्यादि। **'यथाज्ञापयति देवः'** आदेशानुसार सचमुच हम इन सभी लोकव्यासङ्गों से अपने आपको आज भी असंस्पृष्ट ही मान रहे हैं, यावज्जीवन मानते ही रहेंगे। फिर हमारी ऐसी लोकतान्त्रिकी-सामाजिकी-प्रवृत्ति सहसा क्यों, और कैसे व्यक्त हो पड़ी ?, यह प्रश्न हमारे सम्मुख रक्खा जा सकता है, जिसका समस्त उत्तरदायित्व हम उद्बोधन-प्रदाता मित्रश्रेष्ठ से ही सम्बद्ध मान रहे हैं। नियतिःसत्याधिष्टाता अन्तर्य्यामी किस निमित्त से कब, और कैसे, क्या विचार अभिव्यक्त करा दिया करते हैं ?, प्रश्न प्रज्ञा के समाधान से अतीत अनतिप्रश्नात्मक असमाधेय प्रश्न ही माना है ऋषिप्रज्ञा ने। मादृश प्राकृत मानव तो इस क्यों, एवं क्या का एकमात्र समाधान–**'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'** ही कर सकता है।

८४–उद्बोधनप्रदाता मित्रों का सामाजिक व्यामोहन—

मित्रश्रेष्ठ के सान्निध्य से ही स्वयं मित्रश्रेष्ठ के ही अमुक लेखों के देखने की कामना केवल सांस्कृतिक आकर्षण से ही जागरूक हो पड़ी। एवं इस कामना को स्वाध्याय-कामना का ही अङ्ग मानते हुए चरितार्थ किया गया। अवश्य ही विभिन्न समाचारपत्रों में प्रकाशित होनें वाले मित्रश्रेष्ठ के अमुक लेखों में संस्कृतिनिष्ठा का ही आभास उपलब्ध हुआ। किन्तु···यदि हम भूल नहीं कर रहे, तो सभ्यतानुबन्धिनी अर्वाचीन-संस्कृति की प्रतिच्छाया से ही सुसंस्कृत इन सांस्कृतिक ? लेखों में अधिकांश में हमें उन राजनैतिक-सामाजिक-बुद्धमतानुगत-जैनमतानुगतादि सामयिक धार्म्मिक-अनुबन्धों का ही प्राचुर्य्य उपलब्ध हुआ, जिसे देख कर एकबार तो सहसा हमें इसलिए स्तब्ध ही हो जाना पड़ा कि, जो संस्कृतिनिष्ठ व्यक्ति एक ओर हमें इन सामयिक-झञ्झावातों से पृथक् रहने के लिए महान् उद्बोधन प्रदान कर रहा है, वही व्यक्ति क्या स्वयं अपने आपको 'संस्कृति' शब्द की व्याख्या के रूप मे यों विविध-सामयिक मतवादों, राजनैतिक गणतन्त्रादि पद्धतियों, सामाजिक नीतियों, तथा युगधर्म्मानुगता परिवर्त्तनशीला वेशभूषादि सभ्यतानुबन्धी बाह्य परिचायक चिन्हों आदि का यों स्पष्टीकरण करते रहना भी उचित मान सकता है ?।

८५–'राजा कालस्य कारणम्' का सामयिक तथ्य—

विसंवाद औचित्य अनौचित्य का नहीं है। प्रश्न है सामयिक परिस्थिति का, सामाजिक वातावरण का, सर्वोपरि **'राजा कालस्य कारणम्'** लक्षणा शासनतन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली सत्तानुबन्धिनी कालमहिमा का। कोई भी व्यक्ति कदापि युगधर्म की प्रतिच्छायाओं से अपने आपको कदापि तटस्थ-निरपेक्ष नहीं बनाए रख सकता, भले ही वह कैसा ही संस्कृतिनिष्ठ क्यों न हो। मित्रश्रेष्ठ **श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल महाभाग** के उक्त सामयिक लेखों से हमें यही सामयिक उद्बोधन प्राप्त हुआ, जिसके प्रति कृतज्ञतार्पणरूप से ही हमनें अपनी स्वाध्यायनिष्ठा का सर्वात्मना संरक्षण करते हुए भी इत्थंभूत सामयिक विचारों को व्यक्त करते रहना अब तो आवश्यकरूप से अनिवार्य्य ही मान लिया है।

८६–सत्ताधीशों की आपातरमणीया धारणाएँ, एवं उनका नीरक्षीरविवेक—

एक दूसरा महान् कारण और भी है इस अनिवार्य्यता का। लगभग एक वर्ष पूर्व भारतवर्ष के ही एक मान्य सत्ताधीश नें मानवाश्रम पधारने का अनुग्रह किया था। आप से भी वैदिक-संस्कृति के सम्बन्ध में हमें कुछ एक उद्बोधनसूत्र मिले, जिनका आतिथ्यमर्य्यादा से श्रवण-सम्मान किया गया। आपकी एक धारणा यह भी विदित हुई कि, **"भारतीय वैदिक-संस्कृति तो आध्यात्मिक संस्कृति है, जिसमें साधन के लिए अमुक परिगणित पुस्तकों के अतिरिक्त, एकान्तचिन्तन के अतिरिक्त अन्य किसी भी भूत-भौतिक साधन की आवश्यकता ही नहीं है। युगधर्म्मानुसार परिवर्त्तित होने वाले राजनैतिक-सामाजिक-क्षेत्रों से हमारी अध्यात्मसंस्कृति का कोई सम्बन्ध नहीं है"। (बिहार के राज्यपाल माननीय श्रीरङ्गनाथ दिवाकर महाभाग)**। अवश्य ही वैदिक-संस्कृति अध्यात्ममूला है, एकान्तचिन्तन-सापेक्षा है, एवं अमुक सीमापर्य्यन्त-भूत-भौतिक-साधन-परिग्रहों की विशेषरूप से अपेक्षा न करने वाली भी। साथ ही परम्परया समागत अमुक परिगणित ग्रन्थविशेषों से ही पुष्पित-पल्लविता भी। वर्त्तमान शिक्षा-सभ्यतादि संस्कृतियों की भाँति कदापि भारतीय वेदादि सांस्कृतिक ग्रन्थ क्षण क्षण में नहीं बदलते। सनातन-वैदिक-संस्कृति के सन्देशवाहक वेदादिग्रन्थ भी सनातन हैं, शब्दार्थ के औत्पत्तिक सम्बन्ध भी सनातन ही हैं। अतएव वर्त्तमान पाठ्यग्रन्थों की भाँति इन सनातन ग्रन्थों के बदलते रहने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अमुक परिगणित पारम्परिक ग्रन्थों में हीं सीमित वैदिक-संस्कृति का मूलाधार विश्वाध्यक्ष-विश्वेश्वर-अव्ययपुरुषात्मा ही है। और इस दृष्टि से वैदिक-संस्कृति की अध्यात्ममूलकता पर भी कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। निश्चयेन लक्ष-लक्ष-कोटि-कोटि-मित द्रव्य की निर्म्मम आहुतियों से कृतरूप महतो-महीयान् भूत-भौतिक-युनिवर्सिटी-भवन भी अपेक्षित नहीं है इस संस्कृति के चिन्तन-विकास के लिए। निश्चय ही लोक-समाज-राज-वित्तैषणादि यच्चयावत् एषणा-लिप्साओं-नामख्यातिओं से सर्वात्मना आत्मत्राण करने वाली एकान्तनिष्ठ सत्त्वप्रज्ञाएँ हीं एकान्तचिन्तन के माध्यम से ही वैदिक-संस्कृति की उपासना में सफलता प्राप्त कर सकतीं हैं। और यों माननीय दिवाकर महाभाग ने वैदिक संस्कृति के सम्बन्ध में जो धारणाएँ अभिव्यक्त कीं, उनका प्रत्येक संस्कृतिभक्त को अभिनन्दन ही करना चाहिए। किन्तु !...।

८७–कूटनीतिज्ञ चाणाक्षचतुर प्रतीच्य राजनैतिकों की घातक-घोषणा के दुष्परिणाम—

किन्तु "सामाजिक-राजनैतिक-किंवा लोकतान्त्रिक अनुबन्धों से अध्यात्ममूला संस्कृति का कोई सम्बन्ध नहीं है"–इस धारणा के साथ किसी भी संस्कृतिनिष्ठ का तो ऐकमत्य प्राप्त नहीं कर सकते माननीय राज्यपाल महोदय। यही तो वह दुर्भाग्यपूर्ण दृष्टिबिन्दु है, जिसने जनजीवन को संस्कृति के पारम्परिक जीव-नीयरस से पृथक् ही कर दिया है अनेक शताब्दियों से प्रचलित रहने वाली इसी धारणा के वारुणपाशबन्धन के द्वारा। **'कोउ हो नृप हमें का हानि'** जैसी संस्कृतिशून्या धारणा इसी पाशबन्धन के तो-प्रसून हैं। इसी अनार्ष-धारणा ने तो धर्म्म-संस्कृति का नीति-सभ्यता-से पार्थक्य करा दिया है। इसी पार्थक्य ने तो संस्कृति-धर्म्म-सहयोग-वञ्चिता नीति-सभ्यताओं को आज पश्चिम के अनुकरण के द्वारा अनीति-असभ्यताओं के रूप में परिणत कर रक्खा है। कतिपय शताब्दियों से प्रचलित हो पड़ने वाली इस भ्रान्त धारणा के अनुग्रह से ही तो राजनीतिकुशल ब्रिटिशसत्ता ने–**'हम तुम्हारे धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे'** इस व्यामोहनपूर्णा सर्वस्वघातिका घोषणा से भावुक भारतीयों को परतन्त्र बनाए रखने में सफलता प्राप्त की

थी। इस धारणा के प्रति अपनी भावुक–श्रद्धा के प्रसून अर्पित करते रहने में सर्वाग्रणी प्रमाणित भारत के राजभक्त विद्वानों नें इस व्यामोहन के कारण ही तो–**'हमारे धर्म्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है'** इस घोषणा के द्वारा भारतीय आस्तिक प्रजा के जनजीवन को निष्प्राण प्रमाणित कर दिया था। आलप्यालम्।

८८–संस्कृति-साहित्य-धर्म्म-आदर्शादि की जनजीवन में महती उपयोगिता—

जिस संस्कृति का समाज से, सभ्यता से, राजनीति से, सर्वोपरि लोकजीवन से परम्परया, किंवा साक्षात् सम्बन्ध न हो, वह संस्कृति संस्कृति ही नहीं है। जो धर्म्म नीति पर अनुशासन नहीं कर सकता, वह धर्म्म धर्म्म हो नहीं है। जिस संस्कृति, शास्त्र, धर्म्म, आदर्श का जनजीवन में कोई उपयोग नहीं है, उसकी मान्यता भी सर्वथा निरर्थक ही कही जायगी। देखिए वेदशास्त्र का अत्यन्त ही चिन्तनपरिपूर्ण उपनिषद्भाग क्या धारणा अभिव्यक्त कर रहा है इस सम्बन्ध में—

> **"इह चेद्वेदीत्–अथ सत्यमस्ति।**
> **न चेदिहावेदीत्–महती विनष्टिः।**
> **भूतेषु भूतेषु विचित्य–धीराः—**
> **प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति"**
> —केनोपनिषत् २।१३।

८९–अधिदैवत के द्वारा अध्यात्म, एवं अधिभूत का समसमन्वय, और संस्कृति—

'सम्भवत्यदितिर्देवतामयी या भूतेभिर्व्यजायत' इत्यादि रूप से उपवर्णित अधिदैवत–तन्त्र ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा अध्यात्म हीं परोक्षरूप से अधिभूत का सञ्चालन करने की क्षमता रखता है। अध्यात्म ही जब सर्वस्व का सञ्चालक है, तो सञ्चालित अधिभूत बिना अध्यात्मसहयोग के स्वरूपतः प्रतिष्ठित ही कैसे रह सकता है ?। भूत कभी भूत का सञ्चालन नहीं कर सकता। यदि भूत दुर्भाग्यवश स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है, तो अपने सहज तमोगुण से वह स्वयं भी कालान्तर में विनष्ट हो जाता है, एवं अपने सहयोगी भूतवादियों को भी ले डूबता है। विज्ञान कदापि विज्ञान का नियन्त्रण नहीं कर सकता। ज्ञान हीं विज्ञान का नियन्ता बना करता है। ज्ञानवञ्चित विज्ञान तो विश्वशान्ति का मूलोच्छेदक ही बन जाया करता है, बन रहा है।

९०–प्रकृति से प्रकृति का सञ्चालन असम्भव—

प्रकृति कभी प्रकृति से सञ्चालित नहीं हुआ करती। पुरुष ही प्रकृति का सञ्चालक बना करता है, बना हुआ है—**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्'**। अव्ययपुरुष की अध्यक्षता से नियन्त्रित बन कर ही प्रकृति चराचर–विश्व–के निर्म्माण में समर्थ बनी हुई है। राजनीति कदापि स्वयं अपना सञ्चालन नहीं कर सकती। धर्म्मनीति ही राजनीति को लोकैषणाओं के व्यामोहनों से पृथक् रखती हुई इसे मर्य्यादित बनाए रहती है।

शरीर कदापि आत्मा से तटस्थ रह कर प्राणवान् नहीं बना रह सकता। विश्व कदापि विश्वात्मा को आधार बनाए बिना व्यक्त नहीं हो सकता। और यों अधिदैवत के माध्यम से अध्यात्म को आधार बनाए बिना जब अधिभूत क्रियाशील ही नहीं बन सकता, तो इस सहजसिद्धा स्थिति की विद्यमानता में अध्यात्ममूला वैदिक-संस्कृति को अधिभूतमूलक राज-समाज-लोक-नीति-प्रधान जनजीवन से सर्वथा असंस्पृष्ट मान बैठना क्या प्रौढ़िवाद ही नहीं मान लिया जाएगा ?।

६१-संस्कृति की उपासना, एवं सत्ता के प्रति तदुपासक की निरपेक्षता का वास्तविक अर्थ—

यह ठीक है कि, अपनी समस्त एषणाओं से तटस्थ-निरपेक्ष बना रहने वाला एकान्तचिन्तननिष्ठ एक भारतीय द्विजाति अनन्यनिष्ठा से संलग्न रहेगा-ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा अध्यात्ममूला संस्कृति की उपासना में ही। किन्तु इसका कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि, वह अपनी इस आध्यात्मिक संस्कृति का यह अर्थ मान बैठे कि, **"इसका तो केवल मुक्ति-परलोक-आत्मनिःश्रेयस्-आदि परोक्ष भावों से ही सम्बन्ध है। एवं इसका जनजीवन से न तो कोई सम्बन्ध ही है, एवं न उपयोग ही"**। अपितु-**'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि'-'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि'** इत्यादि आदेशों के अनुसार प्रत्यक्षरूप से तटस्थ बने रहने वाले भी संस्कृतिनिष्ठ तत्त्वचिन्तक को लोकतन्त्र के प्रति सदा जागरूक ही बने रहना चाहिए, लोकतन्त्र को उद्बोधन प्रदान करते ही रहना चाहिए। जिस दिन से यह सांस्कृतिक-उद्बोधन-परम्परा अन्तर्मुख बन गई है, उसी दिन से प्रकृतिमात्रवादी-विज्ञानमात्रवादी-भूतवादी प्रतीच्य देशों की भाँति भारतराष्ट्र भी केवल जड़वादी ही बन गया है। और आज संस्कृतिनिष्ठ भी भारतराष्ट्र अपनी मूल वैदिकसंस्कृति की सामयिक-उपयोगिता में शङ्कातङ्कित-मानस बनता हुआ इसके प्रति निरपेक्ष ही बन गया है।

६२-जनतन्त्र के महारथियों के द्वारा प्राच्यसंस्कृति के प्रति आक्षेपात्मक प्रश्न—

आजके जनतन्त्र के महारथियों नें प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से अनेकबार ऐसे प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित करने का महान् अनुग्रह किया है कि,- **"जबकि संसार विज्ञान के चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका है, मानव आज यातायातसाधनों की सुलभता से अन्तर्राष्ट्रीय मानव बन गया है, अपने क्रमिक विकास के कारण मानव जबकि-आज सभ्यता के उच्चतम शिखर की भी सीमा का उल्लंघन कर चुका है, निष्कर्षतः जबकि मानव का चिरपुरातन सर्वथा चिरनूतन प्रमाणित हो चुका है, तो ऐसे परिवर्त्त-नात्मक-सुसभ्य-वैज्ञानिक-युग में उस वैदिक-संस्कृति का, किंवा वेदादि पुरातन शास्त्रों का क्या उपयोग ?, जो उस पुरातनयुग की संस्कृति-सभ्यता-के प्रतीकमात्र हैं। पुरातत्त्व के ध्वंसावशेषों से अधिक पुरातन-अवशेषात्मक इस भारतीय वैदिक-साहित्य की और कोई भी तो उपयोगिता नहीं मानी जा सकती।**

६३-वर्त्तमान समारम्भों की दृष्टि से प्राच्यसंस्कृति की निरपेक्षता, किन्तु ?......—

बात सचमुच श्रवणप्रिय लग रही है। सचमुच वैदिक-संस्कृति, किंवा वैदिक-साहित्य का आजके जनजीवन में प्रत्यक्ष में तो यत्किञ्चित् भी तो उपयोग प्रतीत नहीं हो रहा। यही क्यों। यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जायगा, तो भी अत्युक्ति न मानी जायगी कि, वर्त्तमान जनतन्त्र की अमुक लोकनिष्ठाओं के प्रति प्रतिक्रियावादिनी

प्रमाणित होती रहने वाली वैदिक-संस्कृति का नामस्मरण भी उचित नहीं है। जिस पुरातन-संस्कृति से निर्वाचन में मतदानात्मक सहयोग (वोट) नहीं मिल सकता ग्रामोद्योगों का सञ्चालन नहीं हो सकता, जिसमें शिक्षितों के द्वारा कूपखनन-सड़ककुट्टन-सरोवरखनन-मलादिपरिमार्जन-आदि आदि रचनात्मक-निर्म्माणात्मक श्रमों की व्याख्या नहीं, जो संस्कृति विविध योजनाओं की पद्धतियाँ नहीं बतला सकती, इत्येवंरूपेण जो संस्कृति वर्त्तमान किसी भी प्रगतिपथ में अपना कोई भी उपयोग व्यक्त नहीं कर सकती, उसे बलपूर्वक निरपेक्ष बना देना हीं तो बुद्धिमानी होगी। और सम्भवतः इसीलिए भारतराष्ट्र की वर्त्तमाना सत्ता इस मूलसंस्कृति के प्रति यों तटस्थ-निरपेक्ष बन रही होगी, इत्यनुमीयते। किन्तु ?·········।

६४-वर्त्तमान भूतविज्ञान, और उसकी दैनिक जीवन में सर्वथा अनुपयोगिता—

अवश्य ही आग्नेय सूर्य्य से 'धूम्रपान' जैसे सांस्कृतिक ? कर्म्म को तो सफल नहीं बनाया जा सकता। शीतांशु चन्द्रमा से प्यास तो नहीं बुझाई जा सकती। एवमेव प्रकृतिदेवी के आकाश-वायु-पृथिवी-नक्षत्र-ग्रह-आदि आदि पर्वों का मानवजीवन की दैनिक उपयोगिताओं में साक्षात्रूप से तो कोई भी उपयोग प्रतीत नहीं हो रहा। जिस विज्ञान की उपयोगिता का आज उद्घोष किया जा रहा है, उस व्यवहार्य्य-आविष्कारात्मक विज्ञान के मूलाधारभूत विज्ञान-सिद्धान्तों का भी जनतन्त्र के दैनिक जीवन में तो यत्किञ्चित् भी उपयोग नहीं है।

६५-सनातन-संस्कृति की सनातन-उपयोगिता का समन्वय-

प्रत्यक्षरूपेण-तात्कालिकरूपेण-अनुभूयमाना शरीर-मन-इन्द्रियानुबन्धिनी कामभोगमयी उपयोगिता ही यदि 'उपयोगिता' की एकमात्र परिभाषा है जनतन्त्र की प्रज्ञा के लिए, तब तो वैदिक-संस्कृति, वैदिक-साहित्य ही क्या, अर्वाचीन विज्ञान-संस्कृति-वैज्ञानिक साहित्य आदि की भी कोई उपयोगिता नहीं है। यदि परम्परया अप्रत्यक्ष रूप से इन्हें उपयोगी मान कर अपनाया जासकता है, अपनाया जारहा है, तो वैदिक-साहित्य भी उपेक्षणीय नहीं है। अवश्य ही इस शास्त्र में ज्ञानसहकृत उन विज्ञानसिद्धान्तों का बड़े ही समारम्भ से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिसके एक एक आंशिक विज्ञान में आज के महतो महीयान् भूतविज्ञान अन्तर्गर्भित प्रमाणित हो रहे हैं। अवश्य ही जगन्मिथ्यात्ववादमूला भ्रान्ति के कारण शताब्दियों से वैदिक-संस्कृति का ज्ञानविज्ञानात्मक वह उपयोगी दृष्टिकोण मतवादभक्त, सर्वोपरि राजभक्त इस देश के संस्कृतिभक्त विद्वानों के द्वारा ही यद्यपि अभिभूत होता आ रहा है। अतएव ऐसे मतवादाभिनिविष्ट सम्प्रदायवादी राजभक्त भावुक विद्वानों की कृपा से ही यद्यपि वैदिक संस्कृति-साहित्य का ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप जनमानस से पृथक् हो चुका है अनेक शताब्दियों से। तथापि स्वयं अपने स्वरूपानुबन्धी दृष्टिकोण से वेदशास्त्र की सनातन-उपयोगिता आजतक भी ज्यों की त्यों अक्षुण्ण ही चली आरही है, अक्षुण्ण ही रहेगी शाश्वतीभ्यः समाभ्यः। चिरपुरातना भी यह संस्कृति चिरनूतना बनकर युगधर्म्मनुपात से अपनी मूलप्रतिष्ठाओं के प्रति उद्बोधन प्रदान करते रहने में सदा ही समर्थ है। और इसी दृष्टिबिन्दु पर एक विशेष प्रासङ्गिक तथ्य का भी हमें समन्वय कर ही लेना है।

६६-'संस्कृति' के आकर्षण से ध्वंसावशेषरूप पुरातत्त्वों का अकाण्डताण्डव-

कतिपय शताब्दियों से 'संस्कृति' का अर्थ बाह्य-जीवनपद्धति, तदनुगता वेशभूषा, बाह्य-आचार-व्यवहार, लोकानुबन्धी अलङ्करणादि ही माना, और मनवाया जा रहा है। और इत्थंभूता मान्यता को ही-

'**पुरातत्त्व**' नाम से सुविभूषित किया जा रहा है आज की परिभाषा में। अमुक शताब्दियों के भग्न-प्रासादावशेषों को, कङ्कालास्थियों को, शासनतन्त्रानुगता सुवर्ण-रजतादि विविध मुद्राओं (सिक्कों) को, विविध विरुदावलियों से समन्वित शिलालेखों को, यूप-स्थाणु-आदि कीर्त्तिस्तम्भों को, विविध अलङ्कार-आभूषण-वस्त्रादि परिधानों को, व्यवहार्य भग्न मृत्तिका-पाषाणादि पात्रविशेषों को, आदि आदि को ही पुरातत्त्व के प्रतीक मान कर इन्हीं के आधार पर 'सांस्कृतिक-कालों' के निर्णय में व्यग्र बने हुए हैं आज के पुरातत्त्वविद संस्कृतिप्रेमी विद्वान्।

९७-पुरातत्त्वानुबन्धी ध्वंसावशेष, और आसुरी पद्धति--

'आर्कियालॉजिकल (Archaeologycal) जैसे प्रतीच्य शब्द के पर्य्यायमात्र इस '**पुरातत्त्व**' शब्द के प्रथमाविष्कार का श्रेय प्रतीच्य-प्रज्ञा को ही दिया जा सकता है। क्योंकि संस्कृतिनिष्ठ भारतीय प्रज्ञाने तो इन भौतिक ध्वंसावशेषों के संरक्षण को '**आसुरीपद्धति**' ही माना है। देवतावर्ग के प्रतिनिधि **इन्द्र**, एवं असुरवर्ग के प्रतिनिधि **विरोचन**, दोनों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण में सदा से ही महान् अन्तर चलता आ रहा है। देववर्ग जहाँ '**भस्मान्तं शरीरम्**' की निष्ठा रखता हुआ भूत-भौतिक परिग्रहों को कोई सांस्कृतिक-स्थायी महत्त्व प्रदान नहीं करता, वहाँ असुरसर्ग शरीर को, एवं तदनुबन्धी भूतभौतिक-परिग्रहों को ही स्थायी मान बैठने की भ्रान्ति करता हुआ वस्त्रालङ्करणादि को ही सांस्कृतिक-परिचय-चिह्न मानता आ रहा है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर पुरातत्त्वप्रेमी (भूतपरिग्रहप्रेमी) असुरसम्प्रदाय जहाँ शवशरीरों को भी वस्त्रालङ्करणादि से सुसज्जित कर उन्हें सुरक्षित रखते रहना अपना महान् सांस्कृतिक ! कर्त्तव्य मानते आरहे हैं, वहाँ आत्मसंस्कृति को ही 'संस्कृति' मानते रहने वाले देवभावापन्न मानव आत्म-संस्कृतिप्रतिष्ठा से शून्य शवशरीरादि भूत-भौतिकपरिग्रहों को 'भस्मान्त' उपाधि प्रदान करते हुए इन्हें संस्कृति की सीमा से बहिर्भूत ही करते रहते हैं।

९८-सांस्कृतिक देवपद्धति, एवं परिचयचिह्नरक्षणात्मिका असुरपद्धति—

यही कारण है कि भारतीय देवपद्धति में आत्मप्रतिष्ठा से पृथक् हो जाने वाले शवशरीर के भस्मीकरण के साथ साथ ही तद्व्यक्ति के उपयोग में आते रहने वाले शय्यासन-वस्त्र-अलङ्करणादि भूतभौतिक परिग्रह प्रेतकर्म्म के साक्षीभूत महाब्राह्मण को ही श्रद्धापूर्वक समर्पित कर दिए जाते हैं, जबकि आसुरसम्प्रदाय में इन परिचयचिन्हों को या तो शवशरीर के साथ ही सुरक्षित स्थानों में रख दिया जाता है, अथवा तो लोकप्रदर्शन के लिए इन परिचायक चिन्हों को स्थानविशेष में सजाकर रख दिया जाता है, और कहा जाता है इन्हीं अवशेषों को प्रेरणाप्रद सांस्कृतिक-चिह्न, एवं यही है 'पुरातत्त्व' से सम्बन्ध रखने वाले सांस्कृतिक इतिहास का महत्त्वपूर्ण स्वरूपविश्लेषण। दोनों हीं प्रकार के इन विभिन्न दृष्टिकोणों का स्वयं वेद ने भी इन शब्दों में स्वरूपविश्लेषण किया है कि—

"(प्रजापतिरुवाच)-मघवन्! मर्त्यं वा इदं शरीरं, आत्तं मृत्युना। तदस्यामृतस्य-अशरीरस्य-आत्मनोऽधिष्ठानम् (देवदृष्टौ)। (तस्माद् भस्मान्तं शरीरम्)। (अथ च असुर दृष्टौ)-तस्मादप्यद्य हाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुः-आसरो वत-इति। असुराणां ह्येषोपनिषद्-प्रेतस्य शरीरं भिक्षया-वसनेन-अलङ्कारेण-इति संस्कुर्वन्ति एतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यते।

—छान्दोग्य-उपनिषत् ८ अध्याय ८ खण्ड, १२ खण्ड।

९९–बाह्य–सभ्यतामात्र के परिचायक पुरातत्त्वानुबन्धी ध्वंसावशेष—

भूतभौतिक–परिग्रह कदापि न तो 'पुरा' लक्षण प्राचीन तत्त्व ही हैं, न अर्वाचीन तत्त्व ही। अतएव कदापि उन अतीत के, किंवा इन वर्त्तमान के भूत–भौतिक–परिग्रहों को न तो 'पुरातत्त्व' ही कहा जासकता, न अर्वाचीन तत्त्व ही माना जासकता। अतएव न इन ध्वंसावशेषों को 'संस्कृति' का ही परिचायक माना जा सकता। क्योंकि–आरम्भ में निवेदित 'संस्कृति' शब्द के शब्दार्थ का इन अवशेषों से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। हाँ, इन्हें अधिक से अधिक तद्युग की भूतकृतिरूपा 'कृति' अवश्य माना जासकता है, जिसका परिवर्त्तनशीला 'सभ्यता' से ही सम्बन्ध है। पुनः इसी दृष्टिबिन्दु पर कुछ और भी समझ लेना है।

१००–'संस्कृति' शब्द का वास्तविक इतिवृत्त–समन्वय—

मानव की 'कृति' के दो विभिन्न स्वरूप मानें हैं ऋषिप्रज्ञा ने। दोनों कृतियों के विभिन्न दो सर्जक मानव हैं। प्रकृति से पर अवस्थित अव्ययात्मा के स्वरूप से अनुगृहीत साक्षात्कृतधर्म्मा आत्मनिष्ठ–ब्रह्मवित् मानव ही **अलौकिक–मानव** है, एवं यही 'साक्षात्कृतधर्म्मा–'ऋषि' है। इस ऋषि की कृति मानव की कृति नहीं है। अपितु 'समब्रह्म' नामक अव्ययात्मा की स्वतःसिद्धा कृति ही शब्दरूप से इस आविर्भूतप्रकाश–हृदय ऋषिमानव के मुखपङ्कज से विनिःसृत है। ऋषि इस कृति का निमित्तमात्र है, द्रष्टामात्र है–कर्त्ता नहीं। क्योंकि यह कृति समब्रह्म की कृति है। अतएव ऐसी सनातना आत्मकृति को समब्रह्म के प्रतीकात्मक वाचक 'सम्' उपसर्ग के द्वारा 'संस्कृति' कहा गया है, और संस्कृतिरूपा ऐसी आत्मकृति अर्थदृष्टि से जहाँ विश्वेश्वरात्मक समष्टिरूप महाविश्व है, वहाँ शब्ददृष्टि से ऐसी आत्मकृतिरूपा संस्कृति उस अर्थसंस्कृति (विश्वसंस्कृति) की ज्ञानविज्ञानात्मिका चिरन्तन–इतिहासात्मिका मन्त्रब्राह्मणलक्षणा **'वेदशास्त्रसंस्कृति'** ही है, जिसे **'अपौरुषेयसंस्कृति'** का सम्मान प्राप्त हुआ है। यही कृति **ऋषिसंस्कृति–आर्षसंस्कृति–वैदिक–संस्कृति–अलौकिकसंस्कृति–आत्मसंस्कृति–सनातनसंस्कृति**–आदि आदि अनेक नामों से शास्त्रों में उपवर्णित हुई है। आगम–पुराण–स्मृत्यादि शास्त्र यद्यपि नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों के द्वारा उपनिबद्ध होनें से तत्त्वतः 'कृति' नाम के ही अधिकारी बनने चाहिए थे। किन्तु इन कृतियों के द्वारा क्योंकि **ऋषिसंस्कृति–**लक्षणा वैदिक–संस्कृति का ही उपबृंहण हुआ है, एकमात्र इसी अनुबन्ध से संस्कृति की साधनरूपा इन मानवकृतियों को भी 'संस्कृति' का सम्मान प्रदान कर दिया है यहाँ की सांस्कृतिक–मानवप्रज्ञाने। किन्तु माना गया है इन साधन–संस्कृतियों को 'लोकसंस्कृति' ही। क्योंकि इनके द्वारा लोकनिष्ठाओं का ही संरक्षण हुआ है। अतएव मन्त्रब्राह्मणातिरिक्ता, किन्तु तत्प्रामाण्याधार पर ही प्रतिष्ठिता तदुपबृंहिका–आगम–पुराण–इतिहास (महाभारत–वाल्मीकिरामायणादि)–स्मृत्यादि संस्कृतियों को परतःप्रमाणकोटि में हीं अन्तर्भूत माना गया है। और यही 'कृति' के आत्मानुबन्धी 'संस्कृति' रूप का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

१०१–लोककृति के 'शिल्प', तथा 'कला' रूप दो विवर्त्त—

मानवकृति का दूसरा विभाग केवल प्राकृतिक विश्व के भूत–भौतिक–परिग्रहों से सम्बन्ध रखता है। जिसप्रकार अलौकिक कृतिरूपा 'संस्कृति' के स्वतःप्रमाणानुगता **संस्कृति–परतःप्रमाणानुगता संस्कृति** भेद से दो अवान्तर भेद हो जाते हैं, एवमेव मानव की लौकिक कृतिरूपा 'भूतकृति' के भी **प्रतिरूप, अनुरूप** भेद से दो अवान्तर विभाग हो जाते हैं। वृक्ष–लता–गुल्म–पत्र–पुष्प–आदि आदि मूलतः हैं तो प्राकृतिकीं

भूतकृतियाँ हीं । किन्तु इनको आधार बनाकर मानव इनके मौलिक-द्रव्यों के मिश्रण के तारतम्य से, किंवा प्रज्ञानुगत कौशल-प्रदान से इन्हें जो अद्भुत स्वरूप प्रदान कर देता है, वही 'प्रतिरूपकृति' कहलाई है । एवं प्राकृतिक विश्व में सर्वथा ही अनुपलब्ध अपूर्व भूतभावों का प्राकृतिक द्रव्यों के द्वारा ही जो उत्पादन है, आविष्कार है, वही 'अनुरूपकृति' कहलाई है । प्रतिरूपकृति 'शिल्प' कहलाई है, एवं अनुरूपकति 'कला' कहलाई है । हस्तकौशल शिल्प है, प्रज्ञाकौशल कला है । शिल्पकृति क्रियाप्रधाना है, कलाकृति ज्ञानप्रधाना है । प्रायः दोनों अंशतः समसमन्विता भी रहा करती हैं । अतएव 'शिल्प-कला' शब्द साथ भी प्रयुक्त होते रहते हैं । दोनों हीं लोकमानव की 'कृति' मात्र हैं, जिनके साथ समब्रह्मरूप अव्ययात्मा का व्यक्तीभावात्मक साक्षात् सम्बन्ध न रहने से ही इन दोनों हीं प्रकार की कृतियों को 'संस्कृति' न कह कर-'कृति' ही कहा जायगा, कहा गया है ।

१०२-मानव के मर्त्य 'कृति' पर्व—

उक्त चारों कृतिभावों का स्वयं मानव के प्राकृत स्वरूप के आधार पर एक दूसरे दृष्टिकोण से भी समन्वय किया जा सकता है । बतलाया गया है कि, अलौकिक अव्ययात्मा के आधार पर ही मानव के प्राकृतिक भूतात्मा-बुद्धि-मन-शरीर-ये चार पर्व प्रतिष्ठित हैं । इन चारों में आत्मा, और बुद्धि इन दोनों पर्वों का अव्ययात्मा से साक्षात् सम्बन्ध है । अतएव इन दोनों को मानव के सांस्कृतिक पर्व (अमृतपर्व) कहा गया है । सूर्य्य से नीचे रहने वाले, **'तद्यत्किञ्चार्वाचीनं-आदित्यात्-सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्'** (शतपथ) के अनुसार मृत्युप्रधान-मरणधर्म्मा मन और शरीर, इन दोनों का अव्ययात्मा के साथ क्योंकि साक्षात् सम्बन्ध नहीं है । अतएव इन दोनों को मानव के कृतिपर्व (मृत्युपर्व) ही माना गया है ।

१०३-संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का पार्थक्य—

आत्मा, और बुद्धि, इन दोनों सांस्कृतिक-अमृतपर्वों मे भी तारतम्य है । भूतात्मलक्षण आत्मा अव्ययात्मा के सन्निकट रहता हुआ अलौकिक संस्कृति का अपौरुषेय पर्व है, एवं विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि निकट रहती हुई लौकिकसंस्कृति का पौरुषेय पर्व है । आत्मानुगता कृति आत्मकृति है, यही वेदशास्त्रानुगता अपौरुषेयकृति है । बुद्ध्यनुगता कृति पौरुषेयकृति है, यही आगमपुराणादि कृति है । इसप्रकार आत्मा, और बुद्धि के तारतम्य से एक ही संस्कृति के अपौरुषेय-पौरुषेय भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं । मन और शरीर, इन दोनों कृतिपर्वों में भी तारतम्य है । मानसिक भूतकृति शिल्प है, मनोऽनुगता शारीरिक-कृति कला है । और यही शिल्प-और कला में सुसूक्ष्म विभेद है, जिसका विस्तार यहाँ अनपेक्षित है । यों इस दृष्टिकोण से भी इन चारों कृतिभावों का समन्वय किया जा सकता है । चारों में आत्मबुद्ध्यनुगता संस्कृतिद्वयीरूपा सूक्ष्म-अमूर्त्त-कृति ही **'संस्कृति'** है, एवं मनःशरीरानुगता भूतकृतिद्वयीलक्षणा-शिल्पकालात्मिका स्थूला-मूर्त्ता-कृति ही-**'सभ्यता'** है । और इसी तत्त्वविवेक के आधार पर भौतिक-ध्वंसावशेषों को 'सभ्यता' के परिचायक चिन्ह तो फिर भी अमुक सीमापर्य्यन्त कहा जा सकता है । किन्तु इन्हें सांस्कृतिक चिन्ह तो कदापि नहीं माना जा सकता ।

अलौकिकः–निरपेक्षसंस्कृतिरूपः

अव्ययात्मा

अव्ययसन्निकटः–१–भूतात्मा–स्वायम्भुवः–अमृता–आत्मसंस्कृतिः–वैदिकसंस्कृतिः
अव्ययनिकटा––२–बुद्धिः––सौरी–––अमृता––बुद्धिसंस्कृतिः–आगमेतिहासपुराण–संस्कृतिः
––आत्मकृतिरेव संस्कृतिः

प्रतिरूपकृतिरूपं–१–मनः–––चान्द्रम्–––मर्त्यम्––मनःकृतिः––––शिल्पकृतिः सभ्यता
अनुरूपकृतिरूपं–२–शरीरम–पार्थिवम्––मर्त्यम्––शरीरकृतिः––कलाकृतिः सभ्यता
––भूतकृतिरेव सभ्यता

१०४–संस्कृति की उपयोगिता, अनुपयोगिता का समन्वय—

प्रकृतमनुसरामः। निवेदन किया जा रहा था कि, आत्मानुगता अपौरुषेया वैदिक–संस्कृति, एवं बुद्धयनुगता पौरुषेया आगमेतिहासपुराणसंस्कृति, इन दोनों हीं संस्कृतियों का मानव के मनःशरीरानुगत–सभ्यतानुबन्धी–लोकजीवन, योगक्षेमात्मक भूतभौतिक जीवन, समाजपद्धति, राजनीति, आदि आदि व्यक्त–भूत–भावों की दृष्टि से वैसे ही साक्षात् तो उपयोग नहीं है, जैसे कि प्रकृति के प्राणात्मक सूक्ष्म तत्त्वों का, तथा भूतात्मक सूर्य्य–चन्द्रादि स्थूल तत्त्वों का प्रत्यक्षदृष्टया कोई भी उपयोग प्रतीत नहीं हो रहा यथाजात मानवों को। किन्तु थोड़ी भी प्रज्ञा के उपयोग से यह भलीभाँति समझ में आजाता है कि, बिना इन प्राकृतिक आधारों के मानव के वैकारिक–व्यक्त–भौतिक–स्वरूपों की सत्ता ही सुरक्षित नहीं रह सकती। सौर ताप से पाकशाला का भोजन तो नहीं बना सकता विकृति का उपासक प्राकृत मानव। किन्तु यह उसे भी अविलम्ब ही समझाया जा सकता है कि, यदि–"सूर्य्य न रहे, तो उसकी, और उसके साथ साथ समस्त विश्व की क्या स्थिति हो सकती है ?"।

१०५–संस्कृतिनिष्ठों की लोकसमाजनिष्ठा का समन्वय—

अब इस सम्बन्ध में अध्यात्ममूला केवल वह धारणा शेष रह जाती है, जिसके आकर्षण से विगत कतिपय शताब्दियों से माननीय श्रीदिवाकर महाभाग की ही भाँति संस्कृतिभक्त स्वयं भारतीय विद्वान् भी इस दिशा में अपनी यही धारणा व्यक्त करते आरहे हैं कि, "शास्त्रीया वैदिक–संस्कृति का किसी भी लोकतन्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। विद्वान् का काम है केवल शास्त्रचिन्तन करना"। काम तो अवश्य ही शास्त्रचिन्तन ही है। किन्तु इस चिन्तन का परिणाम यदि लोक–समाज–राजनीति–शासन–दैनिक जीवन

व्यवस्था-आदि आदि में व्यवस्था उत्पन्न करना नहीं है, तो कदापि इस चिन्तन का कोई भी महत्त्व नहीं है। व्यवस्थानीतियों का नियन्त्रण तो स्वाध्यायनिष्ठ संस्कृतिचिन्तक ही कर सकते हैं। जो शासनतन्त्र स्वयं लोकतन्त्रों के विविध परिवर्त्तनों के सञ्चालन के कारण अपनी बौद्धिक-मानसिक विचारधाराओं को परिवर्त्तित करता रहता है, वह स्वयं स्वस्थता-प्रकृतिस्थता-पूर्वक निश्चित व्यवस्थासूत्रों की कल्पना भी नहीं कर सकता। इसी आधार पर श्रुति ने-'ब्रह्मवै-अभिगन्ता, कर्त्ता क्षत्रियः' (शत०) के अनुसार तत्त्वचिन्तक ज्ञान-विज्ञाननिष्ठ संस्कृतितत्त्वोपासक द्विजातिब्रह्म (ब्राह्मण) को ही अभिगन्ता-अनुमन्ता-निर्देशक-पथप्रदर्शक-नीतिनिर्द्धारक माना है, एवं शास्ता क्षत्रिय को तदनुपात से कर्त्ता माना है। संस्कृति, एवं तन्मूला सभ्यता का व्यवस्थापक-निर्णायक तत्त्वचिन्तक द्विजाति है, एवं संस्कृति तथा सभ्यता को आक्रान्ता आततायियों के आक्रमण से बचाते हुए इन्हें साम-दाम-दण्ड-भेद पूर्वक जनजीवनपथानुगामिनी बनाए रखना, सहजभाषा में संरक्षण करना शासनतन्त्र का काम है। शासनतन्त्र के प्रत्येक अङ्ग में नीतिसञ्चालक द्विजाति ही रहेगा, रहा है भारतीय सांस्कृतिक शासनयुगों में। इसी सम्पूर्ण तथ्य को लक्ष्य बना कर राजर्षि को यह कहना पड़ा है कि--

एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।

१०६-'सर्वं वेदात्-प्रसिद्धयति'--सूत्रमूला संस्कृति—

जो अध्यात्मवादी दुर्भाग्यवश ऐसा मान बैठे हैं कि "वेद-पुराणेतिहासादि' भारतीय शास्त्र तो केवल आत्मशास्त्र हैं। जीवित दशा में आत्मशान्ति लाभ करा देना, एवं मरणोत्तर परलोक का प्रमाणपत्र प्रदान कर देना हीं एकमात्र इस सांस्कृतिक शास्त्र का अन्यतम उपयोग है", हमें निःसंकोच उन अध्यात्मवादियों से यह नम्रता पूर्वक आवेदन कर ही देना चाहिए कि,-"**वेदशास्त्र की इस प्रतिमाभक्ति नें ही उन्हें इस प्रकार की अनार्षधारणा-वेदविरुद्ध-धारणा बना लेने के लिए विवश कर दिया है**"। तात्त्विकी ज्ञानविज्ञानदृष्टिलक्षणा स्वाध्यायनिष्ठा को तो छोड़िए। यदि हमारे वे लोकबन्धु शब्दार्थमात्र-दृष्टि से भी क्रमपूर्वक भारतीय शास्त्र पर दृष्टिपात का अनुग्रह कर लेते, तो स्वतः ही उनकी तथाविधा धारणा, किंवा भ्रान्ति शरदभ्रवत् विलीन ही हो जाती। वेदशास्त्र न सही। यदि स्मृतिशास्त्र को ही वे लक्ष्य बना लेने का अनुग्रह कर लेंगे, तो उनका उद्बोधन सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही सम्भव बन जायगा। और उन्हें मान हीं लेना पड़ेगा कि, "**पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युलोक-नामक सम्पूर्ण त्रैलोक्य, प्रकृतिसिद्ध ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-नामक नित्य चातुर्वर्ण्य, ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास-नामक वैय्यक्तिक चातुराश्रम्य, किंबहुना अतीत-वर्त्तमान-भविष्यत्-सब कुछ वेदशास्त्र के आधार पर ही व्यवस्थित है**"। वेदशास्त्र की इसी शाश्वत उपयोगिता का उद्घोष करते हुए भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ समाजशास्त्री राजर्षि मनु ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं, त्रयोलोका, श्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं-भवत्-भविष्यश्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ॥

—मनुः १२।६७।

१०७–'सर्वं' मूला आत्मभ्रान्ति—

सम्भव है नवनवोन्मेषशालिनी विद्वानों की प्रज्ञा–'**सर्वं वै प्रजापतिः**'-'**प्रजापतिर्वैब्रह्म**'-'**ब्रह्म वै आत्मा**' इत्यादि अनुगम–निगम–श्रुतियों के पारिभाषिक समन्वयार्थों से अपनी प्रज्ञा को निरपेक्ष बनाए रखने के कारण मनु के–'**सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति**' इस वाक्य में पठित 'सर्वम्' शब्द को भावुक जनता के सम्मुख '**आत्मा**' परक लगाते हुए यही समन्वय कर डालें कि, 'राजर्षि मनुने भी सर्वरूप आत्मा को ही, आत्मानुगत पारलौकिक निःश्रेयस् को ही वेदतत्त्वचिन्तक द्विजाति का एकमात्र महान् पुरुषार्थ माना है। और इस 'सर्वम्' के द्वारा वेदनिष्ठ द्विजाति को लोक–समाजादि-किसी तन्त्र से कोई सम्बन्ध न रखते हुए आत्मचिन्तन में हीं प्रवृत्त रहना चाहिए। क्योंकि "**वेद से 'सर्वम्' रूप आत्मस्वरूप की ही, अध्यात्मस्वरूप की ही संसिद्धि प्राप्त होती है**"।

१०८–राजर्षि के द्वारा 'सर्वम्' की स्वरूपव्याख्या, और भ्रान्ति का निराकरण—

उक्त भ्रान्त अर्थ के निरोध के लिए हमें विवश बन कर अब उसी मानवधर्मशास्त्र के उस सुप्रसिद्ध वचन की ओर उन विद्वानों का, साथ ही माननीय श्रीदिवाकर महाभाग का भी ध्यान आकर्षित करना हीं पड़ेगा, जिसके द्वारा विस्पष्ट शब्दों में यह प्रमाणित हो जाता है कि–"**वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक–रहस्यात्मक–सांस्कृतिक स्वरूप को जानने वाला वेदवित् ही सम्पूर्ण लोकतन्त्रों का, समाजतन्त्रों का, राजनैतिकतन्त्रों का सञ्चालक बन सकता है। यही नहीं एक वेदवित् द्विजाति सेना का जिस कौशल से सञ्चालन कर सकता है, वैसा केवल शास्ता सेनापति नहीं कर सकता। श्रूयताम्!**

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्त्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥
—मनुः १२।१००।

"वेदशास्त्र का विद्वान् सेना का कौशलपूर्वक सञ्चालन कर सकता है, राज्यतन्त्र का सञ्चालन कर सकता है, न्यायदण्ड का सफल नेतृत्त्व कर सकता है। किम्बहुना। सम्पूर्ण लोकतन्त्रों का आधिपत्य करने की योग्यता रखता है" एतदर्थक उक्त मनुवचन का–'**वेदशास्त्रविदर्हति**' यह अन्तिम वाक्य एक विशेष ध्वन्यर्थ को अभिव्यक्त कर रहा है। वेदशास्त्रवित् ज्ञानविज्ञाननिष्ठ द्विजातिब्राह्मण उन सभी लोक–समाज–तन्त्रों का शासक की अपेक्षा भी कहीं अधिक योग्यतापूर्वक सञ्चालन करने की योग्यता तो अवश्य रखता है। किन्तु वह स्वयं यह लोकतान्त्रिक कर्तृत्व अपने हाथों में लिया नहीं करता। यही '**अर्हति**' क्रियापद का स्वारस्य है। सञ्चालन की निश्चित–निर्भ्रान्त तत्त्वनीति व्यवस्था करने वाला नीतिज्ञ–धर्मज्ञ–जब स्वयं लोकतन्त्रों पर आरूढ़ हो जाता है, तो अमुक अंशों में इसका व्यवस्थित तत्त्वचिन्तन, एवं निश्चित नीतिनिर्द्धारण शिथिल हो जाता है। अतएव इसने कर्तृत्वरूप समस्त उत्तरदायित्व सौंपा है शासक को ही। किन्तु शासक सत्तामदान्ध बन कर जब भी इस नीतिव्यवस्थापक–तत्त्वज्ञ–पुरोधा की उपेक्षा कर देता है, तो निश्चयेन लोकतन्त्रव्यामुग्ध उस मदान्ध शासक की लोकनीति अनीतिरूप में परिणत हो जाती है। नीतितन्त्रात्मक सत्तातन्त्र के कर्तृत्व का

वहन करने वाला शासक नीति और धर्म्मस्वरूप-निर्णायक आत्मज्ञानविज्ञाननिष्ठ वेदवित्, अतएव सर्ववित् द्विजाति को ही मूलतः राष्ट्रपति-राष्ट्रस्वामी मानता रहता है, जैसाकि महाभारतीय शासकश्रेष्ठ अश्वपतिकेकय, तथा राक्षसराज कबन्ध अथर्वा की निम्नलिखिता सम्वादभाषा से भी प्रमाणित है—

आत्मविज्ञानसम्पन्नस्तपस्वी सर्वधर्म्मवित् ॥
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः ॥ १ ॥
येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्मपरं बलम् ॥
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥ २ ॥
तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत, ते हि रक्षन्ति रक्षिताः ।
आशीरेषां भवेद् राजन्! राज्ञां सम्यक् प्रवर्त्तताम् ॥ ३ ॥

—महाभारत शान्तिपर्व राज० ७७ अध्याय

१०९-'मैत्रावरुणग्रहविज्ञान' के द्वारा अभिगन्ता, और कर्त्ता का समन्वय—

स्वयं वेद ने **'मैत्रावरुणग्रहविज्ञान'** के द्वारा इसी स्मार्त्तसिद्धान्त को प्रतिष्ठा प्रदान की है। शासक जिस सत्तातन्त्र से जनतन्त्र पर शासन करता है, उस सत्तातन्त्र का मौलिक स्वरूप क्या ?, यह प्रश्न उपस्थित हुआ वेद के सम्मुख। इसी प्रश्न के समाधान के लिए श्रुति को प्रकृतिसिद्ध मैत्रावरुणग्रहविज्ञान का स्पष्टीकरण करना पड़ा, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन तो शतपथविज्ञानभाष्य में हीं देखना चाहिए। प्रकृत में तत्सम्बन्ध में यही जान लेना अलं होगा कि, सत्तातन्त्र वह तन्त्र है, जिसमें **'ज्ञान, और कर्म्म'** दोनों शक्तियों का सहसमन्वय अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है। ज्ञानशक्ति के बिना यदि कर्म्मशक्ति निस्तेज हैं, तो कर्म्मशक्ति के बिना ज्ञानशक्ति का भी विकास सम्भव नहीं है। दोनों अन्योऽन्याश्रित हैं। इन दोनों विभिन्न शक्तियों के मूल उक्त वैदिक परिभाषा में क्रमशः **मित्र** और **वरुण** कहलाए है। मित्र **ब्रह्म है, वरुण क्षत्र है**। ज्ञानोक्थ ही ब्रह्म है, कर्म्मोक्थ ही क्षत्र है। वेदतत्त्वनिष्ठ द्विजाति-ब्राह्मण उस ज्ञानघन प्राकृतिक ब्रह्म का ही प्रतिनिधि है, एवं लोकतन्त्रनिष्ठ शासक क्षत्रिय उस कर्म्मघन प्राकृतिक क्षत्र का प्रतिनिधि है। दोनों के समन्वय से ही ज्ञान-कर्म्ममय अर्थानुगत राष्ट्र का यथाव्यवस्थित सञ्चालन सम्भव है। दोनों क्रमशः **अभिगन्ता, कर्त्ता** कहलाए है। ज्ञानप्रतिनिधि ब्राह्मण अभिगन्ता है, परामर्शदाता है। कर्म्मप्रतिनिधि शासक कर्त्ता है, परामर्शों को कार्य्यरूप में परिणत करने वाला है। और यों दोनों के समन्वय से ही सत्तातन्त्र सुव्यवस्थित रूप से प्रतिष्ठित रहा करता है।

११०-क्रतु और दक्ष के द्वारा ब्रह्म तथा क्षत्र का समन्वय—

जिस सत्तातन्त्र की ज्ञाननिष्ठा विगलित हो जाती है, दूसरे शब्दों में तत्त्वज्ञानात्मक विज्ञान का आश्रय जब सत्तातन्त्र छोड़ देता है, तो क्या होता है ?, यह प्रश्न स्वयं वेद ने आगे चल कर उठाया है, एवं इसका स्वयं ने हीं समाधान भी किया है, जिसका दो शब्दों में यही निष्कर्ष है कि, जब ज्ञानात्मक ब्रह्म कर्म्मात्मक

शासन के सहयोग से वञ्चित हो जाता है, किंवा प्रज्ञाहीन शासकों के द्वारा वञ्चित कर दिया जाता है, उस राष्ट्र के तत्त्वचिन्तक द्विजातिवर्ग का ज्ञान विकास-समृद्धि से वञ्चित हो जाता है। किन्तु कदापि इस वञ्चना से ब्रह्म का स्वरूपविनाश नहीं होता। किन्तु जब कर्म्मात्मक शासक इस ब्रह्म से पृथक् हो जाता है, किंवा मदान्ध बन कर बलपूर्वक ज्ञाननिष्ठों से अपने आपको पृथक् कर लेता है, तो उस शासक, और शासनतन्त्र का सर्वनाश ही हो जाता है। अतएव अनिष्ट की दृष्टि से शासनतन्त्र का ही महान् अनिष्ट होता है दोनों के पार्थक्य में।

१११–मैत्रावरुणग्रहश्रुति का पावन संस्मरण—

अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए मैत्रावरुणग्रहश्रुति के इन कतिपय आर्ष संस्मरणों को !

क्रतूदक्षौ ह वाऽस्य मित्रावरुणौ। मित्र एव क्रतुः, वरुणो दक्षः। ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः। अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः॥ १॥

ते हैते उभे नानेवासतुः–ब्रह्म च, क्षत्रं च। ततः शशाकैव ब्रह्म मित्रः–ऋते क्षत्राद् वरुणात् स्थातुम्॥ २॥

न क्षत्रं वरुणः–ऋते ब्रह्मणो मित्रात्–स्थातुम्। यद्ध किञ्च वरुणः कर्म्म चक्रे–अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत्समानृधे॥ ३॥

स क्षत्रं वरुणः–ब्रह्म मित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे–उप मा वर्त्तस्व, संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूतः कर्म्म करवै–इति। तथेति। तौ समसृजेताम्। तत एष मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत्॥ ४॥

सोऽएव पुरोधा। तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वस्येव क्षत्रियस्य पुरोधां कामयेत। सं ह्येतौ सृजेते–सुकृतं च, दुष्कृतं च। नोऽएव क्षत्रियः सर्वमिव ब्राह्मणं पुरो दधीत। सं ह्येवैतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च। स यत्ततो वरुणः कर्म्म चक्रे प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, संहैवास्मै तदानृधे॥ ५॥

तत्तत्–अवक्लृप्तमेव, यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्। यद्यु राजानं लभेत–समृद्धं तत् (ब्रह्म)। एतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं–यत् क्षत्रियः–अब्राह्मणो भवति। यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण–न हैवास्मै तत्समृध्यते। तस्मादु क्षत्रियेण कर्म्म करिष्यमाणेनोपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः। संहैवास्मै तद् ब्रह्मप्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते॥ ६॥

—शतपथब्राह्मण ४ काण्ड १ अध्याय। ४ ब्राह्मण १ कण्डिका से ६ कण्डिका पर्य्यन्त।
—'मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण'

११२-श्रुत्यक्षरार्थसमन्वय-द्वारा संस्कृति, और सभ्यता का सामञ्जस्य—

श्रुति का अक्षरार्थ यही है कि--"क्रतु, और दक्ष नामक तत्त्व ही सुप्रसिद्ध **मित्र** और **वरुण** तत्त्व हैं। (ज्ञानशक्तिरूप) ब्रह्म ही (क्रतुरूप) मित्र है, एवं (कर्म्मशक्तिरूप) क्षत्र ही (दक्षरूप) वरुण है। अभिगन्ता (परामर्शप्रदाता) ही ब्रह्म (ब्राह्मण) है, (परामर्शानुसार चलने वाला कर्म्मकर्त्ता ही क्षत्रिय है। अर्थात् प्रकृति का ब्रह्ममित्र ही ब्राह्मण का आत्मा बनता है, एवं क्षत्रवरुण ही शासक का आत्मा बनता है ॥१॥

उक्त दोनों हीं बल आरम्भ में पृथक् पृथक् ही थे, जो कि ब्रह्म-क्षत्र नाम से तत्त्वपरिभाषा में प्रसिद्ध थे। इन दोनों बलों में से ब्रह्ममित्र तो क्षत्रवरुण के सहयोग के बिना भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रह जाने में समर्थ बना रह गया ॥ २ ॥ किन्तु क्षत्रवरुण ब्रह्ममित्र के सहयोग-आश्रय-के बिना क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रह जाने में समर्थ न बन सका। ब्रह्ममित्र के सहयोग से पराङ्मुख बने हुए इस क्षत्रवरुण ने जो भी कर्म्म किया, वह कोई सा भी इसका कर्म्म समृद्ध-सफल न हो सका ॥ ३ ॥

(अपनी इस असमृद्धि,-एवं असफलता को देख कर ही उस क्षत्र ने प्रणतभाव से ब्रह्म मित्र का आमन्त्रण किया, और आवेदन किया कि, आप अनुग्रह कर मुझ क्षत्र से अनुगत होने का अनुग्रह करें, और मेरे साथ समन्वय स्थापित करें। (आप विश्वास कीजिए ! मैं अपने प्रत्येक कर्म्म में आप ही को अग्रणी बनाए रहूँगा, आप मुझे जैसी-जो प्रेरणा देंगे, जो परामर्श प्रदान करेंगे, मैं उसी के अनुपात से कर्म्म करूँगा। (क्षत्रवरुण के द्वारा इसप्रकार प्रणतभाव से आमन्त्रण करने पर मित्रब्रह्म ने इसे यही आश्वासन प्रदान कर दिया कि) तथेति। (अर्थात् ऐसा ही हो। इस स्वीकृति से) ब्रह्म मित्र, और क्षत्र वरुण दोनों परस्पर समन्वित हो गए। इन दोनों के समसमन्वय से ही सुप्रसिद्ध **'मैत्रावरुण'** नामक **'ग्रह'** का आविर्भाव हुआ। अर्थात् ब्रह्म-क्षत्र का समन्वित रूप ही विज्ञानपरिभाषा में-**'मैत्रावरुणग्रह'** नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ४ ॥

अब इसी सम्बन्ध में एक विशेष उद्बोधन प्रदान करती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है कि-क्षत्र वरुण के साथ समन्वित होने वाले मित्र ब्रह्म को यह नहीं भुला देना चाहिए कि, इस समन्वय में निश्चयेन यह ब्रह्ममित्र आज 'पुरोधा' बनने जा रहा है, किंवा बन चुका है, जिसका स्वरूप अब क्षत्रस्वरूप के अनुरूप ही व्यवस्थित रहेगा। तात्पर्य्य-पुरोधा-बन जाना कोई लौकिक शिष्टाचारात्मक भौतिक सम्बन्धमात्र ही नहीं है। अपितु यह तो अन्तर्य्यात्मक वह 'प्राणसम्बन्ध' है, जिसके व्यक्त हो जाने पर दोनों सम्बधियों के गुण-दोष-सुकृत-दुष्कृत (पुण्य-पाप) परस्पर एक दूसरे में संक्रान्त हो जाते हैं उसीप्रकार, जैसेकि सगोत्रबन्धुओं में सापिण्ड्य-सम्बन्धसूत्र के द्वारा आशौचादि का संक्रमण हो जाता है *। अतएव ब्राह्मण को जिस किसी अज्ञात-कुलशील, किंवा दोषयुक्त क्षत्रिय का पुरोहित नहीं बन जाना चाहिए। एवमेव क्षत्रिय को भी जिस किसी अज्ञातकुलशील-ब्राह्मणनामधारी को ही अपना कुलपुरोहित नहीं बना लेना चाहिए। अत्यन्त ही अवधानपूर्वक पूर्ण परीक्षण के अनन्तर ही ब्रह्म-क्षत्र का याजमान तथा पौरोहित्य सम्बन्ध होना चाहिए। इस अनुरूप सम्बन्ध के द्वारा ही दोनों की स्वरूपप्रतिष्ठा प्रतिष्ठित रहा करती है।

---

*—अतएव पुरायुगों में कुलपुरोहितों के गोत्रों के माध्यम से भी क्षत्रियराजाओं के विवाहादि सम्बन्ध सम्पन्न हो जाते थे। मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम, एवं जगन्माता सीता का विवाह ऐसा ही उदाहरण है।

हाँ, तो अपनी स्वरूपरक्षा, तथा स्वरूपसमृद्धि के लिए वरुण–क्षत्र ने मित्र–ब्रह्म को अपनी मूलप्रतिष्ठा बना लिया। इस ब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित क्षत्रवरुण ने ब्रह्ममित्र की अनुज्ञा–प्रेरणा–आदेश–के अनुसार जो भी कर्म्म किया, वह कर्म्म निश्चयेन क्षत्र–वरुण के लिए सुसमृद्धि का ही कारण बन गया। यों अभिगन्ता–नीतिनिर्द्धारक–ब्राह्मण के आदेश से आदिष्ट कर्त्ता क्षत्रिय के सभी कर्म्म सुसमृद्ध बन गए ॥५॥

जिसप्रकार क्षत्रवरुण को स्वस्वरूपरक्षा, तथा स्वस्वरूपसमृद्धि के लिए ब्रह्ममित्रप्रतिष्ठा की अनिवार्य्य आवश्यकता है, क्या इसीप्रकार ब्रह्ममित्र को भी स्वरक्षा–समृद्धि के लिए क्षत्र–वरुण की अनिवार्य्य आवश्यकता है ?, इस सहज प्रश्न के सम्बन्ध में एक विशेष तथ्य का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है कि—

"यह तो सहजरूप से स्वाभाविक ही है कि–ब्राह्मण अपनी स्वरूपरक्षा की दृष्टि से भले ही अपने आपको अराजन्य ही बनाए रहे। अर्थात् ब्राह्मण की स्वरूपरक्षा तो स्वयं ब्राह्मण की संस्कृतिनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। इसे अपने सांस्कृतिक-स्वरूप–संरक्षण के लिए तो किसी भी राजन्य–शासन सत्तातन्त्रादि–की यत्किञ्चित् भी अपेक्षा–आवश्यकता नहीं है। हाँ, यदि स्वयं सत्तातन्त्र राष्ट्रसमृद्धि के लिए इस ब्राह्मण का आश्रय ले लेता है, तो ब्राह्मण की संस्कृति राष्ट्रसमृद्धि का कारण बन जाया करती है। सत्ता यदि निरपेक्ष बनी रहती है, तो ब्राह्मण की संस्कृति से राष्ट्र समष्टिरूप से कोई लाभ नहीं उठा सकता, जिसका कुफल सत्तातन्त्र को ही भोगना पड़ता है। ब्राह्मण की इसमें कोई क्षति नहीं है। तात्पर्य्य–ब्राह्मण को सत्ताश्रय अपेक्षित नहीं है, अपितु सत्ता को ही ब्राह्मण की संस्कृति का आश्रय अपेक्षित है। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, **धर्म्म अवश्य ही सत्तानिरपेक्ष रह कर भी जहाँ स्वस्वरूप से सुरक्षित है, वहाँ नीति धर्म्म-निरपेक्षा बन कर न तो स्वरूपरक्षा ही कर सकती, न समृद्ध ही बन सकती। धर्म्म शासननिरपेक्ष रह सकता है, शासन कदापि धर्म्मनिरपेक्ष नहीं रह सकता।** इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि—

यह सर्वथा अस्वाभाविक–अप्राकृतिक है, कि क्षत्रिय अब्राह्मण बना रहे। अर्थात् बिना ब्रह्ममित्र को प्रतिष्ठा बनाए, सनातनसंस्कृतिरूप शाश्वत धर्म्म को मूलाधार बनाए क्षत्रवरुणरूप शासनतन्त्र न तो स्वरूप से ही सुरक्षित रह सकता, न समृद्ध ही बन सकता। ब्रह्ममित्र की अनुज्ञा–प्रेरणा–आदेश की उपेक्षा कर इस ब्रह्मधर्म्म को निरपेक्ष मानकर क्षत्रवरुण जो भी कर्म्म करता है, कदापि ब्रह्माश्रयशून्य वह कर्म्म इस क्षत्र के लिए समृद्धिजनक नहीं बनता। अतएव यह सर्वथा आवश्यक है कि–कर्म्म करने की कामना रखने वाले शासनतन्त्र को ब्राह्मण की धर्म्मसंस्कृति का ही सर्वप्रथम आश्रय लेना चाहिए। ब्रह्मप्रसूत कर्म्म हीं समृद्धि का कारण बना करता है—"सं हैवास्मै तद् ब्रह्मप्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते" ॥६॥

११३–विशेषदृष्टिकोणनिबन्धन मानव का अन्तर्जगत्, और बहिर्जगत्—

मैत्रावरुणग्रहश्रुति के तथाकथित अक्षरार्थसमन्वय के माध्यम से आज एक उस विशेष दृष्टिकोण की ओर प्राच्यसंस्कृतिनिष्ठों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है, जो विशेष दृष्टिकोण संस्कृतिनिष्ठों की परदर्शनमूला भावुकता के वारुणपाशबन्धननिग्रह से विगत द्वि–त्रिः सहस्राब्दियों से उत्तरोत्तर अभिभूत ही बनता चला आ रहा है। 'संस्कृति' अन्य पक्ष है, एवं 'सभ्यता' विभिन्न पक्ष है। मौलिक तत्त्वदृष्टि के अनुसार मानवीय आत्म-

सम्मता बुद्धि 'संस्कृति' पक्ष की मूलप्रतिष्ठा है, तो मनोऽनुगत शरीर 'सभ्यता' पक्ष का आधारबिन्दु है। आत्मानुगत बुद्धितन्त्र मानव का 'अन्तर्जगत्' हैं, एवं मनोऽनुगत शरीर मानव का 'बहिर्जगत्' है। अन्तर्जगत् प्राणप्रधान है, तो बहिर्जगत् भूतप्रधान है। प्राणप्रधान अन्तर्जगत् 'अक्षरप्रकृति' का उपबृंहित स्वरूप है, एवं भूतप्रधान बहिर्जगत् 'क्षरप्रकृति' का व्यक्तरूप है। तात्त्विक सृष्टिधाराक्रम में इन दोनों में आधार कौन ?, एवं आधेय कौन ?, यह सहज जिज्ञासा है।

११४-अन्तर्जगत्, और बहिर्जगत् के आश्रय-आश्रित-भाव—

जिज्ञासा का समाधान स्पष्ट-स्पष्टतर-स्पष्टतम है। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी" इत्यादि औपनिषद-सिद्धान्तानुसार श्वोवसीयसब्रह्म नामक अव्ययरूप आत्ममन से अभिन्न प्राणात्मक अक्षरात्मा हीं तैत्तिरीयश्रुति का वह 'आत्मा' है, जिससे बलग्रन्थितारतम्य से क्रमशः परम्परया आकाश-वायु-अग्नि-आपः-पृथिवी-नामक पञ्चतन्मात्रारूप वे गुणभूतात्मक पाँच सूक्ष्मभूत (तत्त्व) अभिव्यक्त हुए हैं, जो आगे चलकर सहजसिद्धा पञ्चीकरणप्रक्रिया से क्रमशः अणुभूत-रेणुभूत-पञ्चमहाभूतादि में परिणत होते हुए पञ्चपञ्चात्मक शरीरात्मक सत्त्वभूतों के रूप से अभिव्यक्त हुए हैं।

उक्त सृष्टिधारा-क्रमानुपात से यह सर्वात्मना संसिद्ध है कि, सर्वान्त का पार्थिवभूत तदपेक्षया सूक्ष्म आपोभूत पर आश्रित है। आपोभूत अपने से सूक्ष्म तेजोगुणभूत पर आश्रित है। तेजोगुणभूत अपने से सूक्ष्म वायुगुणभूत पर आश्रित है। वायुगुणभूत अपने से सूक्ष्म आकाशगुणभूत पर आश्रित है। एवं सर्वभूताश्रयमूर्त्ति आकाशगुणभूत सुसूक्ष्म मनोमय प्राणमूर्ति पराप्रकृतिरूप अक्षरात्मा पर आश्रित है। और यों सर्वसुसूक्ष्म-अन्तर्जगत्रूप-प्राणलक्षण-अक्षरात्मा हीं अपेक्षया सूक्ष्म-स्थूल-स्थूलतर-स्थूलतम बने हुए भूतभौतिक-क्षरात्मक-बहिर्जगत्रूप व्यक्त विश्व का प्रधान आश्रयस्थल बना हुआ है।

११५-अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-निबन्धन आश्रय-आश्रित-भावों के तीन संस्थान-

इसी आश्रय-आश्रित-भाव-परम्परा का जब हम मानव की स्वरूपसंस्था के साथ समन्वय करने चलते हैं, तो यहाँ भी हमें उसी प्राकृतिक-आधिदैविक-ईश्वरीय परम्परा का ही समन्वय यथाक्रमरूप से उपलब्ध होता है। प्राकृतिक विश्व के **आकाश[१]-वायु[२]-तेज[३]--जल[४]-पृथिवी[५]**-ये पाँचों भूतपर्व हीं अधिदैवतभाषा में क्रमशः **स्वयम्भू[१]-परमेष्ठी[२]-सूर्य्य[३]-चन्द्रमा[४]-पृथिवी[५]**-इन नामों से उपस्तुत हैं। एवं मानवसंस्था में ये हीं पाँचों प्राकृतिक पर्व क्रमशः **अव्यक्त[१]-महान्[२]--बुद्धि[३]-मन[४]-शरीर[५]-इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं।** इसप्रकार भूत[१]-देव[२]-आत्म[३]-भेद से पञ्चधा विभक्त प्रकृतितत्त्व के तीन संस्थान बन रहे हैं। इसी आधार पर भारतीय ज्ञानविज्ञानधारा **अधिभूत[१]-अधिदेव[२]-अध्यात्म[३]**-भेद से तीन संस्थानों-प्रक्रमों-में प्रवाहित हुई है। यही सुप्रसिद्ध वैदिक त्रिसत्यवाद है, जिसका **'त्रिःसत्याः वै देवाः'** इत्यादि निगमवचन से उपबृंहण हुआ है। इसी त्रिसत्य के आधार पर भारतीय तत्त्ववाद एक विशेष दृष्टिकोण से **ईश्वर-जीव-जगत्**-इन तीन संस्थाओं में विभक्त मान लिया गया है, जिसके आधार पर ही साम्प्रदायिकों नें 'विशिष्टाद्वैत' की कल्पना कर डाली है।

११६–प्राणात्मा की आश्रयता, एवं स्थूलभूतों की आश्रितता—

प्रकृत में इस संस्थानक्रम से निवेदन यही करना है कि, अधिभूतसंस्थान–अधिदैवतसंस्थान–अध्यात्मसंस्थान–भेद से पञ्चतत्त्ववाद त्रिधा विभक्त हो रहा है। एवं तीनों में हीं आत्मा, तथा पञ्च–प्रकृतिरूप व्यक्तभावों का समान हीं अवस्थानक्रम है, जिस समानक्रमसंस्थान के आधार पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, स्थूल सर्वत्र 'आश्रित' है, एवं सूक्ष्म सर्वत्र 'आश्रय' है। सूक्ष्म सर्वत्र आधार है, स्थूल सर्वत्र आधेय है। सहजभाषा में सुसूक्ष्म प्राणात्मा आश्रय है, स्थूल भूत आश्रित है, जैसा कि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है।

१		२		३
मनोमयः प्राणात्मा आत्मा		मनोमयः प्राणात्मा आत्मा		मनोमयः प्राणात्मा आत्मा
१–स्वयम्भूः	————	१–अव्यक्तः	————	१–आकाशः
२–परमेष्ठी	————	२–महान्	————	२–वायुः
३–सूर्य्यः	————	३–बुद्धिः	————	३–तेजः
४–चन्द्रमाः	————	४–मनः	————	४–जलम्
५–पृथिवी	————	५–शरीरम्	————	५–मृत्
ईश्वरसंस्था अधिदैवतम्		मानवसंस्था अध्यात्मम्		जगत्सस्था अधिभूतम्

११७–ईश्वर-जीव-जगद्वाचिका ओम्–अहम्–अहः–नाम की व्याहृतित्रयी का समन्वय–

उक्त तीनों संस्थाओं को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही पूर्वप्रतिपादिता मैत्रावरुण–ग्रहश्रुति से अनुप्राणित प्रतिज्ञात विशेष दृष्टिकोण का समन्वय अपेक्षित है। श्रुति का अक्षरार्थ–समन्वय करते हुए तत्रैव यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, ब्रह्म ही मित्र है, एवं क्षत्र ही वरुण है, जिसका बोधगम्या लौकिक–भाषा में यही फलितार्थ निकलता है कि, ज्ञान हीं मित्र–ब्रह्म है, एवं कर्म्म ही वरुण–क्षत्र है। वैदिक तात्त्विक परिभाषा में इन दोनों (ज्ञान–कर्म्मों) के मौलिक–तत्त्वों का नाम है क्रमशः 'रस', और

'बल', जो दोनों तत्त्व सृष्टिप्रक्रिया के साक्षी बनते हुए आगे चल कर क्रमशः 'अमृतम्',-'मृत्युः' इन नामों से प्रसिद्ध हो जाते हैं । अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-तीनों संस्थाएँ अमृत-मृत्युमयीं हैं, रस-बलात्मिका हैं, ज्ञान-कर्म्मानुगता हैं, ब्रह्म-क्षत्र-समन्विता हैं, मित्र-वरुण-भावसमाक्रान्ता हैं । उभयरूपा तीनों संस्थाएँ क्रमशः ईश्वर-जीव-जगत्-नाम की संस्थाएँ हैं। तीनों का मौलिक रहस्य ही 'उपनिषत्' कहलाया है। 'उपनिषत्' शब्द मौलिक रहस्य का ही संग्राहक बना हुआ है। संस्थात्रयी के मौलिक रहस्य के प्रतिपादक 'उपनिषत्' लक्षण वे तीनों शब्द ही क्रमशः 'ओम्-अहम्-अहः' इस रूप से प्रसिद्ध हैं, जैसा कि "तस्योपनिषत्-ओमिति, तस्योपनिषदहमिति, तस्योपनिषदहरिति" इत्यादि निगमसिद्धान्तों से प्रमाणित है। इसी आधार पर-'तस्य वाचकः प्रणवः' इत्यादि पातञ्जलसिद्धान्तानुसार अधिदैवतरूप ईश्वरभाव 'प्रणव (ओम्)' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' इत्यादि गीतासिद्धान्तानुसार अध्यात्मभाव 'अहम्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवं-'स्वरहर्देवाः सूर्य्यः' इत्यादि शतपथसिद्धान्तानुसार व्यक्तविश्वसाक्षी सूर्य्यनिबन्धन जगत् 'अहः' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। और यों रसबलात्मक-अमृत-मृत्युलक्षण-ब्रह्मक्षत्रमूर्ति-ज्ञानकर्म्ममय मित्र-वरुण-तत्त्व 'ओम्-अहम्-अहः' रूप से दैवत-अध्यात्म-अधिभूत-भेद से त्रिसंस्थ बना हुआ है।

अधिदैवतम्	अध्यात्मम	अधिभूतम्
ईश्वरः	मानवः	जगत्
ओम	अहम्	अहः
प्रथमा-अमृतमृत्युसंस्था	द्वितीया अमृतमृत्युसंस्था	तृतीया अमृतमृत्युसंस्था
तस्योपनिषदोमिति (१)	तस्तोपनिषदहमिति (२)	तस्योपनिषदहरिति (३)

११८-संस्थात्रयी के (प्रत्येक के) अवान्तर ६-६-विभाग—

पूर्वपरिलेख (पृ० सं० ५१) में तीनों संस्थाओं में-प्रत्येक में पाँच-पाँच तो प्राकृतिक व्यक्त पर्व बतलाए गए हैं, एवं एक एक मनोमय-प्राणात्मा नामक 'आत्मा' व्यवस्थित माना गया है। यों लोकबुद्धया समझने मात्र के लिए प्रत्येक संस्था में अवान्तर ६-६ विभाग हो जाते हैं। इन ६ओं विभागों के सम्बन्ध में देखना हमें अब यह है कि, रसनिबन्धन-अमृतात्मक-मित्रलक्षण-ब्रह्मरूप ज्ञान का प्राधान्य तो ६ ओं विभागों में से किस विभाग-पर्य्यन्त है, एवं बलनिबन्धन मृत्युमय-वरुणलक्षण-क्षत्ररूप-कर्म्म का प्राधान्य

किस विभाग पर्य्यन्त है ?। इसी समन्वयदृष्टि के आधार पर क्योंकि प्रतिज्ञात विशेष दृष्टिकोण का समन्वय अवलम्बित है। अतएव उसे ही अवधानपूर्वक हमें लक्ष्यारूढ कर लेना है।

११६-अमृत, और मृत्यु का प्रथम दृष्टिकोण, एवं तत्समन्वय—

अपरिवर्त्तनीय-सनातन-शाश्वत-नित्य-सुसूक्ष्म-अधामच्छद-तत्त्व ही 'अमृतम्' की स्वरूपपरिभाषा है, जो कि मनोमय प्राणमूर्त्ति अक्षरात्मा का स्वरूपलक्षण माना गया है। इस पारिभाषिक स्वरूपलक्षण के अनुसार तो तथाकथित ६ विभागों में से सर्वारम्भ का मनोमय-प्राणरूप अक्षरात्मा ही 'अमृत' कहलाया है। परिवर्त्तनशील-अतएव अशाश्वत-अनित्य-स्थूल-धामच्छद-तत्त्व ही 'मृत्यु' की स्वरूपपरिभाषा है, जो कि वाङ्मय व्यक्त क्षर का स्वरूपलक्षण माना गया है। इस पारिभाषिक स्वरूपलक्षण के अनुसार तथाकथित ६ विभागों में से प्राणाक्षर के आगे के पाँचों हीं क्षरात्मक विभाग 'मृत्यु' कहलाए है। और इस प्राथमिक दृष्टिकोण के अनुसार अमृत-और मृत्यु के १-और ५-ये विभाग हो जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

	१	२	३
अमृतसंस्था एका	अधिदैवतम् (ईश्वरः)	अध्यात्मम् (मानवः)	अधिभूतम् (जगत्)
	अमृतम्-१-प्राणात्मा (१)]	अमृतम्-१-प्राणात्मा (१)]	अमृतम्-१-प्राणात्मा (१)]
मृत्युसंस्थाः-पञ्च	मृत्युः-१-स्वयम्भूः (२)	मृत्युः-१-अव्यक्तः (२)	मृत्युः-१-आकाशः (२)
	मृत्युः-२-परमेष्ठी (३)	मृत्युः-२-महान् (३)	मृत्युः-२-वायुः (३)
	मृत्युः-३-सूर्य्यः (४)	मृत्युः-३-बुद्धिः (४)	मृत्युः-३-तेजः (४)
	मृत्युः-४-चन्द्रमाः (५)	मृत्युः-४-मनः (५)	मृत्युः-४-जलम् (५)
	मृत्युः-५-पृथिवी (६)	मृत्युः-५-शरीरम् (६)	मृत्युः-५-मृत् (६)
	ओङ्कारसंस्था	अहङ्कारसंस्था	अहस्कारसंस्था

१२०-अमृत, और मृत्यु का द्वितीय दृष्टिकोण, एवं तत्समन्वय—

अब एक दूसरी दृष्टि से अमृत-मृत्यु-लक्षण मित्र-वरुण-तत्त्वों का समन्वय कीजिए, जिस दृष्टि का आधार माना गया है-"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्, अर्द्धममृतम्" (शत० ब्रा०···) यह श्रौत वचन। प्रत्येक वस्तु-(वह भूतप्रधाना हो, अथवा तो प्राणप्रधाना) एक एक स्वतन्त्र 'व्यक्ति' है। प्रति व्यक्ति एक एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्तित्व ही व्यक्तित्व की पृथगात्मता है। और यही

स्वतन्त्र अभिव्यक्तित्त्व स्वतन्त्र वह प्रजापति है, जिसमें रसनिबन्धन अमृतभाव, तथा बलनिबन्धन मृत्युभाव, दोनों समाविष्ट है। 'अर्द्ध' शब्द का अर्थ है 'भाग'। प्रत्येक वस्तु में एक भाग अमृत है, एक भाग मृत्यु है। प्रत्येक वस्तु भूतप्राणमयी है। भूतदृष्ट्या वही वस्तु नामरूपकर्म्ममयी बनी रहती हुई परिवर्त्तनशीला है, यही परिवर्त्तन वस्तु का असल्लक्षण मृत्युभाव है। प्राणदृष्टि से वही वस्तु मनःप्राणवाङ्मयी बनी रहती हुई अस्तिरूप अपरिवर्त्तनभावलक्षणा है। यह अपरिवर्त्तन ही वस्तु का सल्लक्षण भाव है। "स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयः, मनोमयः" इत्यादि बृहदारण्यकश्रुति के अनुसार प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में अन्तर्य्यामीरूप से प्रतिष्ठित मनःप्राणवाङ्मय अक्षरात्मा ही 'आत्मा' है। एवं इस त्रिकल अक्षरात्मा के मनोभाग से विनिर्गत 'रूप' नामक विकार, प्राणभाग से विनिर्गत 'कर्म्म' नामक विकार, एवं वाक् भाग से विनिर्गत 'नाम' नामक विकार की (नाम-रूप--कर्म्म की) समष्टिरूप दृश्य-स्पृश्य अण्ड--पिण्डात्मक भौतिक वस्तु ही अन्तर्य्यामी आत्मा का शरीर है। और यों प्रत्येक वस्तुभाव अन्तर्य्यामी-मनःप्राणवाङ्मय आत्मा, तथा बहिर्य्यामी नामरूपकर्म्ममय शरीर, इन दो विभिन्न वस्तुतत्वों से अमृतमृत्युमय बना हुआ है। एवं इस सर्वव्यापक अमृत-मृत्य-समन्वयात्मक दृष्टिकोण से दैवत-आत्मिक-भौतिक-तीनों संस्थाओं के तथाकथित ६ ओं विभाग-प्रत्येक विभाग स्व-स्व वैय्यक्तिक वस्तुभावरूप से भी अमृत-मृत्युमय प्रमाणित हो रहे हैं।

उदाहरण के लिए ६ओं विभागों में से पहिले सर्वारम्भ के मनोमय प्राणात्मा को ही लीजिए, जिसे पञ्चविभागदृष्टि से हमनें केवल 'अमृत' ही कहा है प्रथम दृष्टिकोण से। यह ठीक है कि स्वयम्भू परमेष्ठ्यादि पाँचों प्राकृतिक क्षरपर्वों की दृष्टि से मनोमय प्राणशरी भारूप अक्षरात्मा 'अमृत' ही है। किन्तु स्वयं अपने स्वरूप के भेद से यह भी अमृत-मृत्युमय प्रमाणित हो रहा है। मनोरूप निर्गुण-निष्कल-निर्द्वन्द्व-अव्यय-पुरुष इस आत्मा का अमृतभाव है, एवं तदभिन्न पराप्रकृतिरूप मनोमय प्राणशारीरी अक्षरतत्त्व इसी आत्मा का मृत्युभाव है अव्ययपुरुष की अपेक्षा से यों अव्यय, और अक्षर भेद से मनोमय प्राणात्मा में भी दोनों का समन्वय प्रमाणित हो रहा है। अब आगे चलिए। अमृतरूप अव्ययाधिष्ठान पर प्रतिष्ठित मृत्युमय अक्षर के व्यापार से आविर्भूत स्वयम्भू दूसरा विभाग है। इसे उत्पन्न कर-'**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' इस सिद्धान्त के अनुसार अव्ययाक्षररूप आत्मा इस का अधिष्ठान बन रहा है। इस दृष्टि से स्वयम्भू का अधिष्ठानात्मक अन्तर्य्यामीभाव अमृत है, जिसे अमृताकाशरूप परमेव्योमन्-परमाकाश-कहा गया है। एवं तदपेक्षया स्वयं स्वयम्भू मृत्यु बना हुआ है। और यों केवल स्वयम्भू में भी अमृत-मृत्यु-रूप से दोनों भाव समन्वित हो रहे है। यही स्थिति आगे के शेष चारो पर्वों में समन्वित हो रही है।

ऋक्-साम-यजुर्म्मूर्त्ति स्वयम्भू के 'यत्' रूप गतिभाव के व्यापार से 'जू' रूप वाक् भाग ही द्रुत होकर-'**सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव सासृज्यत**' इत्यादि के अनुसार आपोमय परमेष्ठी के रूप में परिणत हो रहा है। साथ ही उसी 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से अव्ययाक्षरमूर्त्ति आत्मसन्वित स्वयम्भू इस परमेष्ठी का आत्मा बना हुआ है, एवं स्वयं परमेष्ठी इस आत्मा का स्वरूप। आत्मदृष्टया अमृतपरमेष्ठी देवता है, भूतदृष्ट्या मर्त्यपरमेष्ठी भूत है। '**दैवतानि च भूतानि च**' के अनुसार इसप्रकार परमेष्ठी में भी अमृत-मृत्यु-दोनों भाव समन्वित हो रहे हैं।

आगे चालिए। आपोमय परमेष्ठी भृग्वङ्गिरोमय है, ऋतमूर्त्ति है *, जैसा कि-'ऋतमेव परमेष्ठी-ऋतं नात्येति किञ्चन' इत्यादि गोपथवचन से प्रमाणित है। स्नेहगुणक भृगुतत्त्व के सम्बन्ध से तेजोगुणक अङ्गिरा-तत्त्व उत्तरोत्तर घनीभूत बनते हुए कालान्तर मे हिरण्मयी सौरसंस्था के जनक बन जाते हैं। और यों भृग्वङ्गिरोमय ऋतपरमेष्ठी ही अपने प्रवर्ग्यरूप भृग्वङ्गिरो-भावों की चिति-सञ्चिति-चयन से तमोविनाशक सूर्य्याविर्भाव के कारण बन रहे हैं। उसी तत्सृष्ट्वान्याय से प्राणात्मा से समन्वित स्वयम्भू-समन्वित परमेष्ठी इस सौरसंस्था के आधार बन जाते हैं। और यही इस चौथे सूर्य्यविभाग के अन्तर्य्यामी आत्मा है, यही 'अमृत है। एवं स्वथं सूर्य्य इस आत्मा के शरीरस्थानीय मृत्युभाव हैं।

और आगे चलिए। दृष्टिक्रमानुसार जहाँ चन्द्रमा का पृथिवी से प्रथम स्थान है, वहाँ सृष्टिक्रमानुसार चन्द्रमा का पृथिवी से अन्तिम स्थान है। अभी दृष्टिक्रम को ही प्रधान मान कर चलिए। जिसका अर्थ हुआ-सौरसंस्था के अनन्तर चन्द्रसंस्था का आविर्भाव हुआ आन्तरिक्ष्य अश्माशोम के द्वारा। चन्द्रमा से पूर्व के सभी संस्थान चन्द्रमा के 'आत्मा' बने, स्वयं चन्द्रमा इस आत्मा का शरीर। अन्ततोगत्त्वा भूपिण्ड का विकास हुआ, जिसका आत्मा बना चन्द्रान्त, एवं स्वयं भूपिण्ड बना शरीर। यों भूपिण्ड पर एक सृष्टिधाराक्रम उपशान्त हुआ। स्पष्ट है कि, ६ ओं विभागों में सर्वान्त का भूपिण्ड ही वैसा विभाग है, जिसमें तत्पूर्व का सम्पूर्ण प्राणभूतप्रपञ्च गर्भीभूत है। अतएव श्रुति ने पृथिवी को सम्पूर्ण भूतों का 'रस' मान लिया है। इसीलिए तो-'पद्भ्यां भूमिं प्रतिष्ठितः' के अनुसार सप्तवितस्तिकायात्मक सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपात्-मूर्त्ति विराट् पुरुष की पादस्थानीया पृथिवी ही उपासनाकाण्ड में संगृहीत है। पार्थिव इरामय-प्रज्ञानरस ही वह प्रपदब्रह्म है, जो मानव-मानवी के दक्षिणाङ्गुष्ठस्थानीय प्रपदस्थान से मानवसंस्थान में प्रविष्ट हुआ करते है। यही भारतीय चरणोपासना-चरणवन्दन-का मौलिक आधार है, जिस पार्थिव मौलिक आधार में सम्पूर्ण रस समाविष्ट हैं। अतएव 'इह चेन्नावेदीत्-महती विनष्टिः'-'अत्रैतत्समर्पितम्'-भूतेषु 'भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' इत्यादि श्रुतियाँ पार्थिवशरीरी मानव के अभ्युदय-निःश्रेयस्-का उपक्रमबिन्दु 'भूत' को ही मान रहीं हैं। प्रकृत में इस धारावाहिक क्रमसंस्थान के द्वारा निवेदन यही करना है कि, तीनों संस्थाओं के ६ ओं विभागों में प्रत्येक में भी सापेक्ष आत्मा, और शरीर भावों से अमृत-मृत्युभाव-समाविष्ट हैं, जिन ६ ओं का मौलिक सर्वाधार अव्ययपुरुषात्मक अमृतभाव ही 'संस्कृति' का केन्द्र बन रहा है, जबकि उत्तर के शेष सब विभाग अपेक्षया संस्कृति (आत्मदृष्टि से), तथा सभ्यता (शरीरदृष्टि से) उभयात्मक बने हुए हैं। निम्नलिखित परिलेख से इसी द्वितीय दृष्टिकोण का समन्वय हो रहा है।

---

* आपो भृग्वङ्गिरोरुप, मापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः॥
—गोपथब्राह्मण

(१)	१–आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्घन–अप्राण–अमन–लक्षणः–अव्ययपुरुषः—अमृतम्–आत्मा (संस्कृतेराधारः) २–मनःप्राणवाङ्मयः–प्राणात्मा–विश्वप्रकृतिरूपः–अक्षरः————मृत्युः–शरीरम् (सभ्यताया राधारः)	मनोमयः प्रणात्मा (१)	अमृतमेव
(१)	१–मनोमयः प्राणात्मा ——–अमृतम्–आत्मा–संस्कृतेरालम्बनम् २–ऋक्सामयजुर्मयः-स्वयम्भूः–मृत्युः-शरीरम्-सभ्यताया रालम्बनम्	प्राणात्मगर्भितः–आकाशात्मा–अव्यक्तः– स्वयम्भूः (२)	अमृतमृत्यू
(२)	१–प्राणात्मगर्भितस्वयम्भूः–अमृतम्–आत्मा–संस्कृतिप्रवर्त्तकः २–भृग्वङ्गिरोमयः परमेष्ठी–मृत्युः–शरीरम्–सभ्यताप्रवर्त्तकः—-	प्राणात्म–अव्यक्ताकाशात्म–स्वयम्भुगर्भितः परमेष्ठी (३)	अमृतमृत्यू
(३)	१–प्राणात्म–स्वयम्भु–परमेष्ठी–अमृतम्–आत्मा –-संस्कृतेरुदयभूमिः— २–अङ्गिराचितिमयः–सूर्य्यः—मृत्युः–शरीरम्–सभ्यताया उदयभूमिः–	प्राणात्म–स्वयम्भु -परमेष्ठि–गर्भितः–सूर्य्यः (४)	अमृतमृत्यू
(४)	१–प्राणात्म–स्वयम्भु–परमेष्ठिगर्भितसूर्य्यः-अमृतम–आत्मा–संस्कृतेः सन्देशवाहकः २–रेतःश्रद्धायशोमयश्चन्द्रमाः ———मृत्युः–शरीरम्–सभ्यतायाः–सन्देशवाहकः	प्राणात्म–स्वयम्भु–परमेष्ठि–सूर्य्य–गर्भितश्चन्द्रमाः (५)	अमृतमृत्यू
(५)	१–प्राणात्मस्वयम्भुपरमेष्ठिसूर्य्यगर्भितचन्द्रमाः—–अमृतम्–आत्मा–संस्कृतेर्भोगायतनम् २–वागृगौर्द्यौर्लक्षणा पृथिवी ————— मृत्युः–शरीरम्–सभ्यतायाः-भोगभूमिः	प्राणात्मस्वयम्भुपरमेष्ठिसूर्य्यचन्द्रगर्भिता–पृथिवी (६)	अमृतमृत्यू

संस्कृतिमूर्त्तिः पुरुषः	अमृतात्मा–अव्ययः, मृत्युप्रवर्त्तकः-अक्षरः }–अमृतमेव–मनोमयः–प्राणात्मा		न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः		
अन्तरं मृत्योरमृतं–मृत्यावमृतमाहितम् सभ्यतामूर्त्तिः–प्रजापतिः	अमृतम्	मृत्युः	१	२	३
	(१) अमृताकाशमूर्त्तिः–स्वयम्भूः	प्राणात्मापेक्षया–मृत्युः	स्वयम्भूः	अव्यक्तः	आकाशः
	(२) अमृतसोममूर्त्तिः––परमेष्ठी	स्वयम्भ्वपेक्षया––मृत्युः	परमेष्ठी	महान्	वायुः
	(३) अमृताग्निमूर्त्तिः––सूर्य्यः	परमेष्ठ्यपेक्षया–मृत्युः	सूर्य्यः	बुद्धिः	तेजः
	(४) अमृतसोममूर्त्तिः––चन्द्रमाः	सूर्य्यापेक्षया–––मृत्युः	चन्द्रमाः	मनः	जलम्
	(५) अमृताग्निमयी—पृथिवी	चन्द्रापेक्षा–––मृत्युः	पृथिवी	शरीरम्	मृत्
	सत्	असत्	ईश्वरः	मानवः	जगत्
	अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्, अर्द्धममृतम्		अधिदैवतं	अध्यात्मम्	अधिभूतम्
	अमृतञ्चैव–मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !				

१२१–अमृत, और मृत्यु का तृतीय दृष्टिकोण, एवं तत्समन्वय—

अब एक तीसरे उस दृष्टिकोण की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है, जिसका मानव की आचारात्मिका संस्कृति, तथा सभ्यताओं से प्रधान सम्बन्ध माना जायगा। तथाकथित ६ विभागों को लक्ष्य बनाइए, जिनके सम्बन्ध में विभिन्न दो दृष्टिकोणों का पूर्व में क्रमशः दिग्दर्शन कराया गया है। प्रथम दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाली प्रथम तालिका में (पृ० सं० ५३ में) आप देखेंगे कि, ६ विभागों में से सर्वारम्भ का प्रथम **'प्राणात्मा'** नामक विभाग तो 'अमृतम्' है, एवं उत्तर के स्वयम्भूरादि पृथिव्यन्त पाँच विभाग 'मृत्युः' हैं। इन एक, और पांच के अमृतमृत्युमय दो विभागों में से प्राणात्मरूप अमृत नामक प्रथम विभाग को **'संस्कृति'** कहा जायगा, एवं मृत्युमय स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–रूप पाँच व्यक्त विश्व विभागों को **'सभ्यता'** कहा जायगा। आत्ममूला संस्कृति, एवं विश्वमूला सभ्यता का यही प्राथमिक दृष्टिकोण होगा, जिसका तत्रैव निर्दिष्टा प्रथमा तालिका से ही सम्बन्ध माना जायगा।

दूसरे दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाली पृष्ठ सं० ५६ की तालिका में ६ ओं विभागों में प्रत्येक विभाग के साथ अमृतनिबन्धन आत्मा, तथा मृत्युनिबन्धन शरीर, इन दो दो विभागों का समन्वय प्रतिपादित है। फलतः प्रत्येक विभाग में आत्मापेक्षया संस्कृति, तथा शरीरापेक्षया सभ्यता, दोनों का भोग प्रमाणित हो जाता है। यों ये दोनों दृष्टिकोण सृष्टितत्त्वानुबन्धी विशेष दृष्टिकोणों से सुसमन्वित हैं। अब लोकव्यवहारात्मक जिस तृतीय दृष्टिकोण का जो दिग्दर्शन कराया जाने वाला है, उसे ही अवधानपूर्वक विशेषरूप से इसलिए हमें

लक्ष्य बना लेना है कि, इसी तृतीय दृष्टिकोण को आधार मानकर हमें संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों के उस चिरन्तन इतिहास का समन्वय करना है, जो कि प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

पूर्व के **'प्रकृति-पुरुष का समन्वय, और संस्कृति'** नामक बत्तीसवें (३२) परिच्छेद में हमनें कहा है कि, "सभ्यता का पूर्वरूप जहाँ 'लोकसंस्कृति' कहलाया है. वहाँ सभ्यता का उत्तररूप ही 'लोकसभ्यता' माना गया है" (देखिए पृ० सं० १३)। उस सभ्यता का पूर्वरूप तो कौन सा है, जो मानव की लोकसंस्कृति का आधार बनता है, एवं उत्तररूप कौनसा है, जो मानव की लोकसभ्यता का आधार बनता है ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो जाता है, जिसका समाधान 'सभ्यता' शब्द के चिरन्तन इतिहास-परिज्ञान पर ही अवलम्बित है। सम्पूर्ण विश्व ही विश्वात्मा-मनोमय प्राणात्मा की वह व्यक्त सभा है, जिसे पाञ्चभौतिक महाविश्व कहा गया है। यही अन्तर्य्यामी-सर्वशास्ता-ईशप्रजापति की लोकसभा है। इस विश्वात्मिका लोकसभा में यथास्थान * यथाधिकार-यावदधिकारपर्य्यन्त (सृष्टिपर्य्यन्त) व्यवस्थित-अधिकारारूढ बने रहने वाले इन्द्र-वरुण-अग्नि-वायु-मरुत्-विश्वेदेव-आदि आदि आधिदैविक प्राणदेवता ही लोकसभा के सम्मान्य सदस्य हैं, जिनके द्वारा विश्वपति-राष्ट्रपति-अन्तर्य्यामी के साक्षित्व में तानूनप्त्र (शपथ) पूर्वक उन नियमोपनियमों पर दृढ़ रूप से, आस्था-श्रद्धापूर्वक व्यवस्थित रहने की विधि विहित होती है, जो विधिविधान हीं इस लोकसभा-रूप विश्व के नियम माने गए हैं। इन नियमों की समष्टि ही **'सभ्यता'** है। सहजभाषानुसार ईश्वरीय नियतिः-सत्यात्मक-आचरणधर्म्मात्मक-प्रतीकरूप विश्वनियमों का ही नाम सभ्यता है। विश्वसभा की आचारपद्धति-नियमपद्धति ही सभ्यता है, जिसका प्रकारान्तर से पूर्व में भी दिग्दर्शन कराया जा चुका है (देखिए पृ० सं० १३-३३ वाँ परिच्छेद)।

स्वयम्भू से आरम्भ कर पृथिवी पर्य्यन्त व्याप्त-वितत-महाविश्व ही अक्षरावच्छिन्न अव्ययेश्वर-षोडशी-प्रजापति की सभा है, एवं इस सभा के सभ्य प्राणदेवताओं के द्वारा व्यवस्थित-सञ्चालित-विधि-विधान हीं 'सभ्यता' है, यही 'सभ्यता' शब्द के चिरन्तन इतिहास का निष्कर्ष है। इस सभ्यता के, किंवा सभ्यता से अभिन्न लोकसभारूप पञ्चपर्वा विश्व के पूर्वोत्तररूपों की दृष्टि से ही हमें सभ्यता के उन दो पूर्व, तथा उत्तररूपों का अन्वेषण करना है, जिन दोनों रूपों के आधार पर ही मानव की लोकसंस्कृति, एवं लोकसभ्यता का स्वरूप अवस्थित-व्यवस्थित है।

दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार पञ्चपर्वा विश्व का उपक्रम स्थान पृथिवी है, उपसंहार स्थान स्वयम्भू है, और यही **'पादमूला-पार्थिवी सृष्टिविद्या'** कहलाई है। **स्थितिमूला** सृष्टिविद्या के अनुसार विश्व का उपक्रम स्थान विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य है, जैसाकि-**'आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्'** इत्यादि निगमवचन से प्रमाणित है। उपसंहार स्थान पञ्चपर्वा विश्व की वह परिधि है, जिसका आलम्बन स्वायम्भुव परमाकाश के गर्भ में प्रतिष्ठित सौर पुराणाकाश बना हुआ है। और यही **'हृन्मूला-सौरी सृष्टिविद्या'** है। **सृष्टिमूला** सृष्टिविद्या के अनुसार विश्व का उपक्रमस्थान विश्व का आदि महाभूतात्मक परमाकाशात्मा अव्यक्तमूर्त्ति स्वयम्भू है, उपसंहारस्थान निधनस्थानीय चन्द्रमा है। और यही-**'शिरोमूला-स्वायम्भुवी सृष्टिविद्या'** है।

---

*-**यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्** (वेदान्तसूत्र)।

सृष्टिविद्यात्मक उक्त तीन संस्थानों में से प्रकृत में हमें हृन्मूला–सौरी–सृष्टिविद्या की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित करना है, जिसके आधार पर मानव की संस्कृति–सभ्यता के आधारभूत विश्वरूपा सभ्यता के पूर्व, तथा उत्तर रूपों का समन्वय अपेक्षित है। सूर्य्य विश्व के केन्द्र में 'बृहतीछन्द' नामक सुप्रसिद्ध पूर्वापरवृत्तात्मक उस मध्य के अहोरात्रवृत्त पर स्थिररूप से ÷ प्रतिष्ठित है, जिस अहोरात्र के द्वारा ही सौरबृहत्सामात्मक सौरज्योतिर्म्मय सम्वत्सरमण्डल का वितान हुआ है। सम्वत्सराध्यक्ष सौर प्राण ही 'मघवा' नामक सौर 'इन्द्र' कहलाए हैं। इसी आधार पर सौरलोकात्मिका द्यौ को 'इन्द्रगर्भिणी' मान लिया गया है *।

इसी प्रसङ्ग में एक सुप्रसिद्ध इस निगमवचन की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है, जो विस्पष्ट शब्दों में पाञ्चभौतिक विश्व के पूर्व–उत्तर रूप से दो विभागों का निरूपण कर रहा है। वचन का स्वरूप है–"**बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः**', जिसका अक्षरार्थ है–'बृहस्पति' नामक देवता पूर्व देवताओं के अन्त में प्रतिष्ठित रहने के कारण 'उत्तम' कहलाए हैं, एवं 'इन्द्र' नामक देवता उत्तरदेवताओं के आदि में रहने के कारण 'प्रथम' कहलाए है। उत्तम बृहस्पति, तथा प्रथम इन्द्र, ये दो प्राणदेवता ही विश्व के पूर्व–उत्तर–रूपों के व्यवस्थापक बने हुए हैं, यही उक्त निगम वचन का निष्कर्षार्थ है।

विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य से ऊपर भी वैसे तो अनन्त–असंख्य–प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। किन्तु उन सब का प्रधान रूप से ९ प्रमुख देववर्गों में हीं अन्तर्भाव मान लिया गया है। एवमेव सूर्य्य से अर्वाक् भी यद्यपि हैं तो असंख्य–अनन्त देवता। तथापि इनका संग्रह ९ प्रमुख देवताओं में हीं मान लिया गया है। परोरजामूर्त्ति स्वयम्भू ब्रह्मा तो देवाधिपति हैं। इनको आधार बना कर क्रमशः **१–अन्तर्य्यामी, २–सूत्रात्मा, ३–वेदात्मा, ४–वाचस्पतिविश्वकर्म्मा, ५–परमेष्ठी विष्णु, ६–वरुण असुराधिपति, ७–प्रसविता सविता, ८–पवित्र ब्रह्मणस्पति, एवं ९–वाक्पति बृहस्पति**, ये ९ प्रमुख प्राणदेवता ही पूर्वदेवता कहलाए हैं, जिन इन पूर्वदेवताओं के अन्त में बृहस्पति प्रतिष्ठित हैं। एवमेव **१–हिरण्यगर्भ इन्द्र, २–आङ्गिरस शनैश्चर, ३–आङ्गिरस ग्रह बृहस्पति, ४–देवसेनाग्रह, ५–आङ्गिरस मङ्गल, ६–पार्थिव अग्नि, ७–चान्द्रसोम, ८–भार्गव शुक्र, एवं ९–भार्गव बुध**, ये नौ प्रमुख ग्रहदेवता ही उत्तरदेवता कहलाए हैं, जिन इन उत्तरदेवताओं के आदि में हिरण्यगर्भ इन्द्र प्रतिष्ठित है। इस अष्टादश–(१८) प्राणदेवसंघ के दिग्दर्शन से प्रकृत में हमें स्पष्ट यही कर देना है कि, श्रुति ने विस्पष्टरूप से पञ्चपर्वा महाविश्व के पूर्व, एवं उत्तररूप से दो विभाग माने हैं, जिन में पूर्व के विभागान्त में वाक्पतिबृहस्पति प्रतिष्ठित हैं, तो उत्तर के विभागादि में हिरण्यगर्भ इन्द्र प्रतिष्ठित हैं। 'बृहस्पतिरुत्तमो भवति पूर्वेषाम्, इन्द्रः प्रथमो भवति–उत्तरेषाम्' वचन का यही समन्वय है।

÷ **सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति। बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः। नैवोदेता, नास्तमेता। मध्ये एकल एव स्थाता। आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्।**

—श्रुतयः

* **यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी** (श्रुतिः)।

एक अन्य दृष्टि से पञ्चपर्वा विश्व को ऋषि ने त्रिसंस्थ मान कर भी उक्त पूर्व-उत्तर-विभागों का स्पष्टीकरण किया है। "या ते धामानि परमाणि० *' इत्यादि यजुर्मन्त्र-वर्णनानुसार स्वयम्भू-परमेष्ठी-तथा तन्मध्यस्थ-अन्तरिक्ष-रूप तीनों लोक परमधाम हैं। मर्त्यसूर्य्य-आन्तरिक्ष्य चन्द्र-पृथिवी रूप तीनों लोक अवमधाम हैं। एवं सौरसम्वत्सररूप क्रन्दसीत्रैलोक्य-मध्यमधाम है। मध्यमधाम का अमृतभाग पूर्व के परमधामों में, तथा मर्त्यभाग उत्तर के अवमधामों में अन्तर्भुक्त रहता है। फलतः परम, और अवम, रूप से दो ही धाम प्रधान बने रह जाते हैं, जिन्हें क्रमशः पूर्व, और उत्तर धाम कहा जा सकता है।

सहजभाषा में उक्त स्थिति का यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, विश्वमध्यस्थ सूर्य्य से नीचे नीचे मृत्युतत्त्व की प्रधानता है, सूर्य्य से ऊपर ऊपर अमृततत्त्व की प्रधानता है, एवं स्वयं सूर्य्य में अमृत-मृत्यु-दोनों का समन्वय है। तात्पर्य्य इस कथन का यह निकला कि, सूर्य्य से ऊपर के परमेष्ठी और स्वयम्भू-नामक दो लोकों में अमृतात्मक प्राणतत्त्व प्रधान है, मर्त्यरूप गौण है। सूर्य्य से नीचे के चन्द्रमा, और भूपिण्ड में मर्त्य भूत प्रधान हैं, एवं अमृतप्राण गौण है। तथा स्वयं सूर्य्य में अमृतप्राण, मर्त्यभूत-दोनों समतुलित हैं। सम्पूर्ण विश्व भूत और प्राण की समन्वितावस्थामात्र है। अन्तर यही है कि, सूर्य्य से ऊपर भूतगर्भित प्राण का साम्राज्य है, सूर्य्य से नीचे प्राणगर्भित भूत का प्राधान्य है ÷, एवं स्वयं सूर्य्य में दोनों समतुलित हैं। इसी समतुलन को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

—यजुःसंहिता ३४।३१।

प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यबिम्ब भूतात्मक मर्त्यसूर्य्य है। और यह प्रत्यक्षदृष्ट भूतात्मक, अतएव मर्त्य चन्द्रबिम्ब, तथा भूपिण्ड, दोनों इस मर्त्य सूर्य्यबिम्ब के ही सहयोगी बने हुए हैं। इसप्रकार मर्त्यसूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड, इन तीनों प्रत्यक्षदृष्ट भूतपिण्डों की समष्टि को हम महाविश्वात्मिका सभ्यता का मृत्युलक्षण उत्तररूप कह सकते हैं, अवश्य कह सकते हैं। प्रत्यक्षदृष्ट मर्त्य-भूतपिण्डात्मक-सूर्य्य का आधारभूत अप्रत्यक्ष-इन्द्र-

---

*** या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा।**
शिखासखिभ्यो हविषि स्वधा वः स्वयं यजस्व तन्वं वृधा नः॥

—यजुःसंहिता १७।२१।

÷—यद्यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात्—सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्।

—शत० ब्रा० १०।५।१।४

प्राणात्मक सूर्य्य अमृतसूर्य्य है। और यह अप्रत्यक्ष-महत्प्राणात्मक परमेष्ठी, तथा अप्रत्यक्ष ही अव्यक्त वेदप्राणात्मक स्वयम्भू, इन दोनों अण्डों का सहयोगी बन रहा है। यों इन्द्रप्राणात्मक अमृतसूर्य्य, महत्प्राणात्मक परमेष्ठी, वेदप्राणात्मक स्वयम्भू, इन तीनों की समष्टि को हम महाविश्वात्मिका सभ्यता का अमृतलक्षण पूर्वरूप कह सकते हैं।

अमृतप्राण ही आत्मा की सहज परिभाषा है, मर्त्य शरीर ही भूत की सहज परिभाषा है। इस सहज परिभाषा के अनुसार अमृतस्वयम्भू-अमृतपरमेष्ठी-अमृतसूर्य्य (इन्द्र) तीनों की समन्वितावस्थारूप पूर्वरूप को **'आत्मा'** कह सकते हैं। एवं मर्त्यसूर्य्य-मर्त्यचन्द्रमा-मर्त्यभूपिण्ड, तीनों की समष्टिरूप उत्तररूप को **'शरीर'** कह सकते हैं। **'आत्मा उ एक सन्नेतत् त्रयम्। त्रयं सदेकमयमात्मा'** के अनुसार स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य की समष्टि पाञ्चभौतिक विश्व का सोपाधिक एक **'भूतात्मा'** है। इस त्रिपर्वा एक भूतात्मा के आधार पर मर्त्यसूर्य्यरूप कारणशरीर, मर्त्यचन्द्ररूप सूक्ष्मशरीर, तथा मर्त्य भूपिण्डरूप स्थूलशरीर, इन तीनों कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीरों की समष्टिरूप भौतिक शरीर सुप्रतिष्ठित है। और यों पञ्चपर्वा विश्व में हीं अमृतप्राण-मर्त्यभूत-के विभाजन से **'आत्मा-शरीर'** नामक दो विभाग उपपन्न हो जाते हैं। यह सर्वथा अविस्मरणीय है कि, निरपेक्षा मूलसंस्कृति से अनुप्राणित मनोमय प्राणशरीरनेता अव्ययपुरुषात्मा नामक सांस्कृतिक आत्मा इस विश्वानुबन्धी सोपाधिक-भूतशरीरनेता अव्यक्त-क्षरात्मा-नामक सभ्यताधारभूत आत्मा से सर्वथा पृथक् ही वस्तुतत्त्व है, जो सम्पूर्ण विश्व का, दूसरे शब्दों में आत्मशरीररूप-पूर्वोत्तरविभाग-द्वयात्मक-सभ्यतात्मक-पञ्चपर्वा-अमृतमृत्युमय-महाविश्व का अवारपारीण तटस्थ आलम्बनमात्र ही बना रहता हुआ कार्य्य-कारणमर्य्यादाओं से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है। कार्य्यकारणातीत-निरपेक्ष संस्कृतिरूप अवारपारीण उस अखण्ड-शाश्वत-अव्ययात्मा पर ही सभ्यतारूप पञ्चपर्वा विश्व प्रतिष्ठित है, जिसके तथाकथित पूर्व-उत्तर-रूपों के द्वारा ही मानव की भूतात्मनिबन्धना सभ्यता का, पूर्वरूपात्मिका लोकसंस्कृति का, एवं मनःशरीरनिबन्धना सभ्यता का, उत्तररूपात्मिका लोकसभ्यता का स्वरूप-वितान होता है।

वक्तव्यनिष्कर्ष यही है कि, पञ्चपर्वा विश्व संस्कृतिरूप पर्वातीत-विश्वातीत-अव्ययेश्वरप्रजापति (षोडशीप्रजापति) का 'सभ्यता' लक्षण व्यक्त-लौकिक-मौलिक स्वरूप है। इस पञ्चपर्वा भौतिक विश्वस्वरूप का अमृतसूर्य्यान्त भाग आत्मा है, यही विश्वसंस्कृति है। मर्त्यभूपिण्डान्त भाग शरीर है, यही विश्वसभ्यता है। और यही अमृत-मृत्यु-संस्थानात्मक वह तीसरा दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर ही आपको मानव की लोकसंस्कृति, तथा लोकसभ्यता का समन्वय करना है। परिलेख के द्वारा लक्ष्य बनाइए इस तृतीय दृष्टिकोण को, एवं तदाधारेण अपने अन्तर्जगत् में हीं समन्वय करने की चेष्टा कीजिए मानवीया आत्मनिबन्धना (भूतात्मनिबन्धना) संस्कृति का, तथा शरीरनिबन्धना सभ्यता का।

विश्वातीतः–विश्वाधारः–आलम्बनात्मकः–निरपेक्षसंस्कृतिरूपः–अक्षरावच्छिन्नोऽव्ययात्मा विश्वात्मा

१–स्वयम्भूः—१–वेदप्राणमयः—अमृतस्वयम्भूः (प्राणमूर्त्तिः)
२–परमेष्ठी—२–महत्प्राणमयः—अमृतपरमेष्ठी (आपोमूर्त्तिः)
३–सूर्य्यः— ३–इन्द्रप्राणमयः—अमृतसूर्य्यः (वाङ्मूर्त्तिः)
–विश्वपूर्वभागः (आत्मा)–लोकसंस्कृतिः | सभ्यतायाः–पूर्वरूपम् |

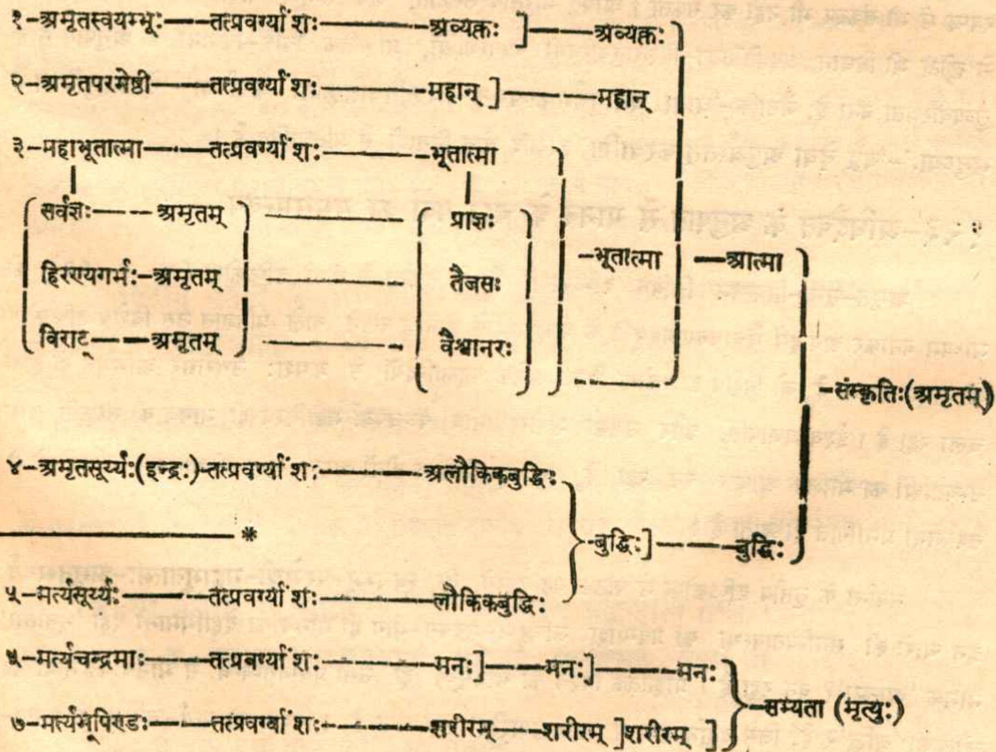
—* निवेशयन्नमृतंमर्त्यंच

३–सूर्य्यः— १–भूतपिण्डात्मकः—मर्त्यसूर्य्यः (वागूरूपः)
४–चन्द्रमाः—२–भूतपिण्डात्मकः—मर्त्यचन्द्रमाः (आपोरूपः)
५–भूपिण्डः—३–भूतपिण्डात्मकः—मर्त्यभूपिण्डः (अग्निरूपः)
–विश्वोत्तरभागः (शरीरम्)–लोकसभ्यता | सभ्यतायारुत्तररूपम् |

पूर्वपरिच्छेदों में यत्र तत्र अनेकधा यह स्पष्ट किया गया है कि, आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, इन चारों की समन्वित अवस्था का ही नाम मानव है। एवं आत्मबुद्धि की समष्टि ही मानव की संस्कृति का मूलाधार है, तथा मनःशरीर की समष्टि ही मानव की सभ्यता का मूलाधार है। इन मानवीय संस्कृति, तथा सभ्यता–पर्वों का ही उक्त तालिका के माध्यम से समन्वय अपेक्षित है। स्वयम्भू–परमेष्ठी–अमृतसूर्य्य–तीनों के प्रवर्ग्य भागों से मानव की संस्था में जो स्वरूप समन्वित होता है, उसका नाम क्रमशः अव्यक्त–महान्–बुद्धि है। इन तीनों में मध्यस्थ महान् ही अपने सौम्य–वीभ्र–गुण के कारण चिदंश का ग्राहक बनता हुआ मानवीय कर्म्मभोक्ता औपपातिक भूतात्मा (देहाभिमानी जीवात्मा) का स्वरूपाभिव्यञ्जक बनता है। अतएव मानवीय भूतात्मा नामक 'आत्मा' पारमेष्ठ्य महान् के द्वारा संगृहीत बन जाता है। और यों अव्यक्त–महान्–बुद्धि–तीनों अमृतपर्वों के साथ भूतात्मा का भी संग्रह हो जाता है। अतएव 'भूतात्मा' रूप 'आत्मा' से ही अव्यक्त–महान्–बुद्धि–भूतात्मा चारों का ग्रहण गतार्थ बन जाता है। और यों प्राकृतिक विश्व के [1]स्वायम्भुव अव्यक्त, [2]पारमेष्ठ्य महान [3]तद्भिन्न भूतात्मा, [4]अमृतसौरीबुद्धि इन पर्वों का समन्वय सुसमन्वित हो जाता है। इनमें जो चौथी बुद्धि है, वही विज्ञान है, जो महान् का अनुगामी बना रहता है।

अब शेष रह जाते हैं मर्त्यसूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–ये तीन पर्व। इन तीनों के प्रवर्ग्य भागों से मानवसंस्था में क्रमशः मर्त्या लौकिकी सौरीबुद्धि, मर्त्यचान्द्रमन, मर्त्य पार्थिव शरीर, ये तीन भाव आविर्भूत हो जाते हैं। इन तीनों में से मर्त्या लौकिकी सौरीबुद्धि का मनःशरीर के साथ भी सम्बन्ध रहता है। एवं

समान-सजातीय क्षेत्रानुबन्ध से अमृत-सौर-विज्ञान-लक्षणा अलौकिकी बुद्धि से भी सम्बन्ध रहता है। अतएव अव्यक्त-महान्-भूतात्मा-अमृताबुद्धिरूप आत्मा के साथ भी बुद्धि का सम्बन्ध मान लिया जासकता है। एवं मर्त्यमन, मर्त्यशरीररूप शरीर के साथ भी मर्त्याबुद्धि का सम्बन्ध मान लिया जासकता है। बुद्धि बुद्धित्वेन एक ही तत्त्व है। अतएव अमृता विज्ञानबुद्धि, मर्त्या लोकबुद्धि दोनों का मिलकर एक बुद्धिपर्व हो जाता है। अव्यक्त-महान्-भूतात्मा-तीनों का मिलकर एक आत्मपर्व होजाता है। चान्द्रमन एकपर्व है, पार्थिव शरीर एक पर्व है। इस प्रकार अव्यक्त-महान्-भूतात्मा-अमृताबुद्धि-मर्त्याबुद्धि-मन-शरीर-इन ७ पर्वों का अन्ततोगत्वा चार ही प्रधान पर्वों पर पर्य्यवसान हो जाता है। और यही मानव के आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-समष्टिरूप चतुष्पर्वा संस्थान का पर्वसमन्वय है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।



१२२–अमृतमृत्युनिबन्धन–मानव की अमृता संस्कृति, एवं मर्त्या सभ्यता—

पूर्वप्रदर्शित विविध दृष्टिकोणों के आधार पर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, चतुष्पर्वा मानव की संस्कृति, तथा सभ्यता–तत्त्व केवल काल्पनिक प्रसून ही नहीं हैं। अपितु इसकी इस संस्कृति के, तथा सभ्यता के मूल तो उस महाविश्व के रहस्यपूर्ण सुसूक्ष्म तत्त्ववाद पर ही प्रतिष्ठित हैं, जिस तत्त्ववाद का यथावत् सुसमन्वय किए बिना कदापि मानव न तो सांस्कृतिक क्षेत्रों में ही सफलता प्राप्त कर सकता, एवं न इसे सभ्यता के क्षेत्रों में हीं सफलता मिल सकती। बहुत सम्भव है भारतेतर देशों के मानवों नें इन संस्कृति–सभ्यता शब्दों की आत्मप्रतिष्ठा के स्वरूपज्ञान में प्रयत्न करना उचित न माना हो। अतएव परिणामस्वरूप यह भी सम्भावित है कि, उनकी संस्कृति, और सभ्यता का उपक्रम भी केवल बाह्य–वैकारिक भूतजगत ही बनता चला आ रहा हो, एवं उपसंहार भी भूतजगत् पर ही होता आ रहा हो। किन्तु आत्मनिष्ठ भारतीय मानव तो कदापि इस लोकदृष्टिमात्र पर ही संस्कृति–सभ्यता–शब्दों का बलिदान कर देने के लिए कदापि स्वप्न में भी संकल्प भी नहीं कर सकता। अपितु भारतीय संस्कृति, एवं तन्मूला भारतीय–सभ्यता का तो छोटे से छोटा भी विधान प्रकृतिसिद्धा–विश्वानुबन्धिनी व्यवस्थाओं, प्राकृतिक विधि–विधानों के अनुपात से ही सुव्यवस्थिता बना है, जैसाकि–**'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'**–**'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'**–**'देवाननुविधा वै मनुष्याः'**–**'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि'** इत्यादि श्रौत निनादों से प्रतिध्वनित है।

१२३–अधिदैवत के अनुपात से मानव के चार पर्वों का समसमन्वय—

अमृत–मृत्यु–निबन्धन त्रिविध दृष्टिकोणों में से सर्वान्त के तीसरे दृष्टिकोण (पृ० सं० ६३) को माध्यम बनाकर अब हमें मैत्रावरुणग्रहश्रुति के अक्षरार्थ से सम्बन्ध रखने वाले प्रतिज्ञात उस विशेष दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाना है, जो विशेष दृष्टिकोण विगत अनेक सहस्राब्दियों से क्रमशः उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला रहा है। ईश्वरप्रजापति, और उसका शरीरस्थानीय पञ्चपर्वा महाविश्व ही मानव की संस्कृति, तथा सभ्यताओं का मौलिक आधार बन रहा है, यह पूर्व निर्दिष्ट तीनों अमृत–मृत्यु–संस्थानक्रम–दृष्टिकोणों से सर्वात्मना प्रमाणित हो जाता है।

सर्वान्त के तृतीय दृष्टिकोण में पाठक यह देखेंगे कि, **स्वयम्भू–परमेष्ठी–महाभूतात्मा–अमृतसूर्य्य**, इन चारों की समन्वितावस्था का प्रवर्ग्यांश उच्छिष्ट–उदक्त–भाग ही मानव का देहाभिमानी देही 'भूतात्मा' नामक **'आत्मा'**१ बन रहा है। प्राकृतिक विश्व का मर्त्यसूर्य्य ही उसी प्रवर्ग्यसम्बन्ध से मानव की मर्त्या वह लौकिकी **'बुद्धि'**२ है, जिसे दर्शनभाषा में **'कारणशरीर'** कहा गया है। विश्व का मर्त्य–चन्द्रमा ही प्रवर्ग्य–रूपेण मानव का मर्त्य लौकिक ऐन्द्रियक–**'मन'**३ है, जिसे **'सूक्ष्मशरीर'** कहा गया है। एवं विश्व का मर्त्य सर्वरसात्मक पार्थिव मृद्भाग ही प्रवर्ग्यसम्बन्ध से मानव का मर्त्य लौकिक पाञ्चमहाभौतिक **'शरीर'**४ है, जिसे दर्शनभाषा में **'स्थूलशरीर'** माना गया है।

१२४–मुक्तिकामना,–और आत्मबुद्धितन्त्र, तथा सृष्टिकामना,–और मनःशरीरतन्त्र––

उक्त चारों मानवीय पर्वों में आत्मा, और बुद्धि नामक पूर्व के दो पर्व अमृतप्रधान कहे जा सकते हैं, जिनका ऋषियों ने इसी अमृतप्राधान्य से मुमुक्षा (मुक्तिकामना–बन्धनविमोककामना) से सम्बन्ध माना है * । आत्मा, और बुद्धि को स्व अमृतज्योति (ज्योतिषां ज्योतिर्लक्षण–ज्ञानज्योति) से प्रकाशित करने वाले प्रजापति देव की शरण में मुमुक्षु मानव ही जाया करते हैं, जबकि सिसृक्षु मानव उसी प्रजापतिदेव के मर्त्यरूपात्मक चान्द्र–पार्थिव मानसिक–शारीरिक भावों की ओर ही अनुधावन करते रहते हैं ÷ । मुक्तिकामना के आधारभूत आत्मबुद्धितन्त्र, तथा सृष्टिकामना के अवलम्बभूत मनःशरीरतन्त्र, इन दो तन्त्रों को आधार बनाकर अब मैत्रावरुणग्रहश्रुति के अक्षरार्थ का तात्त्विक समन्वय कीजिए ।

१२५–अमृत-ज्ञान-ब्रह्म-मित्र, एवं मृत्यु-कर्म्म-क्षत्र-वरुण-शब्दों का समन्वय—

बुद्धिसमन्वित आत्मा 'अमृतम्' है, यही 'ज्ञानम्' है, यही 'ब्रह्म' है, यही 'मित्र' है । शरीरसमन्वित मन 'मृत्यु' है, यही 'कर्म्म' है, यही 'क्षत्र' है, यही 'वरुण' है । दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही 'मैत्रावरुणग्रह' है । अमृतब्रह्म ही मित्र है, मृत्युक्षत्र ही वरुण है । दोनों का सहसमन्वय ही मानव का वास्तविक स्वरूप है, और इस दृष्टि से ब्रह्म क्षत्र के प्रति आश्रित है, तो क्षत्र ब्रह्म के प्रति आश्रित है । यही नहीं, लोकदृष्टि से तो ब्रह्ममित्रात्मक आत्मबुद्धितन्त्र जहाँ परोक्ष बना रहता हुआ अव्यक्त है, वहाँ क्षत्रवरुणात्मक मनःशरीरतन्त्र प्रत्यक्ष बनता हुआ व्यक्त है । अतएव प्रत्यक्ष में लोकदृष्टि से सर्वत्र प्रधानता क्षत्र–कर्म्मरूप वरुण की ही मानी गई है । और इसी प्रत्यक्षदृष्टि के आधार पर स्वयं श्रुति ने भी—

"तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति । तस्मात् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तात्–उपास्ते–राजसूये । क्षत्रऽएव तद्यशो दधाति" (शत० १४।४।२।२३) ।

२२६–मित्रब्राह्मण की लोकनिष्ठा, और राज्याश्रय—

अक्षरार्थ श्रुति का यही है कि, मनःशरीरानुबन्धी वरुण–क्षत्रात्मक शास्ता ही व्यक्त विश्व में व्यक्तरूप से सर्वश्रेष्ठ है । राष्ट्रपति शासक ही लोकप्रतिष्ठात्मक राजसूय में–शासनतन्त्र में सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं ।

---

*–यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
—उपनिषत्

÷–यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेष्वनुधावति ।
एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यँस्तानेवानुविधावति ॥
—कठोपनिषत् ४।१४

अतएव आत्मबुद्धि–अनुबन्धी मित्रब्रह्मात्मक नीतिनिर्द्धारक ब्राह्मण भी लोक में शास्ता–क्षत्रिय को सिंहासनारूढ बनाकर स्वयं सिंहासन के नीचे खड़ा होकर ही शासक को सम्मान प्रदान करता है। और ऐसा करता हुआ यह ब्राह्मण शासक क्षत्रिय में उस यशोरूप शासनबल का ही आधान करता है, जिस प्रतिष्ठा–सम्मानात्मक–यशोरूप बल से शासक गौरव के साथ शासनसूत्रसञ्चालन में सक्षम बनता है। और यों लोकतन्त्र की दृष्टि से शासनतन्त्र ही सर्वोच्चसत्तातन्त्र मान लिया गया है, माना जाना ही चाहिए लोकव्यवस्था–संरक्षण के लिए। एवं इसी श्रौत सिद्धान्त के आधार पर–'**इति ते संशयो मा भूत्–राजा कालस्य कारणम्**' इत्यादि रूप से भगवान् व्यास ने शासनतन्त्र को ही सामयिक स्थिति–परिस्थितियों की अवनति–उन्नति का एकमात्र उत्तरदायी माना है। यों इस व्यक्तदृष्टि से यह कहा जा सकता है कि, आत्मबुद्धिनिष्ठ मित्रब्रह्म (ब्राह्मण) की विकासात्मिका आश्रयभूमि, एवं सर्वलोकाश्रयभूमि मनःशरीरनिष्ठ वरुणक्षत्र (क्षत्रिय–शासक) ही है। और यों लोकतन्त्रानुबन्धी सम्पूर्ण विकास एकमात्र सत्ताश्रय–राज्याश्रय पर ही अवलम्बित है। अतएव स्पष्ट ही ब्राह्मण की संस्कृतिनिष्ठा भी राज्याश्रय के द्वारा ही पुष्पित–पल्लविता हुआ करती है, होनी ही चाहिए।

२७–संस्कृति–धर्म्म–साहित्य–निबन्धन एक दुरधिगम्य प्रश्न—

व्यक्त 'लोकजगत्' की दृष्टि से यह सब कुछ मान्यतानुबन्ध ने ठीक ठीक होने पर भी अन्तर्जगत् की दृष्टि से कदापि यह पक्ष 'आस्थित' तो नहीं ही माना जा सकता, जैसाकि विगत सहस्राब्दियों से इस 'मान्यतापक्ष' को ही '**आस्था**' का सम्मान दिया जा रहा है स्वयं आस्थित आत्मबुद्धिनिष्ठ प्रज्ञाशील एतद्देशीय विद्वानों के द्वारा ही। **संस्कृति, तदाचरणात्मक धर्म्म, तत्स्वरूपविश्लेषक आर्षसाहित्य, आदि आदि आत्मबुद्धिनिबन्धना सांस्कृतिक-विभूतियों की अपेक्षा सत्ता को है, अथवा स्वयं संस्कृति सत्ता की अपेक्षा रखती है** ?, यही वह महान् दुरधिगम्य प्रश्न है, जिसका प्रस्तुत सांस्कृतिक–चर्चा–प्रसङ्ग में हमें आज समन्वय कर ही लेना है श्रौततत्त्वानुबन्धिनी उसी मैत्रावरुणग्रहश्रुति के माध्यम से।

१२८–संस्कृतिनिष्ठ ब्रह्म का आधारत्त्व, एवं सभ्यतानिष्ठ सत्तातन्त्र का आधेयत्त्व—

उत्तर स्पष्टतम है। आश्रयभूमि सर्वत्र अमृततत्त्व है, आश्रित सर्वत्र मृत्युतत्त्व है। प्राण–आश्रय है, भूत आश्रित है। आत्मा आश्रय है, शरीर आश्रित है। * ब्रह्म आधार है, क्षत्र आधेय है। मित्र आधार है, वरुण आधेय है। ज्ञान आधार है, कर्म्म आधेय है। तात्पर्य्य, सर्वत्र सूक्ष्म तत्त्व ही आश्रय–आधार–अवलम्ब–प्रतिष्ठा–बना करता है। एवं स्थूलभाव सर्वत्र आश्रित–आधेय–अवलम्बित–प्रतिष्ठित–माना गया है। शरीर कदापि आत्मा की प्रतिष्ठा नहीं है। अपितु आत्मा ही शरीर की प्रतिष्ठा है। अमृत के आधार पर ही मृत्यु व्यवस्थित–प्रतिष्ठित–रहा करता है। आत्मबुद्धिनिष्ठ, अतएव संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण, उसकी संस्कृति, तदाचरणात्मक धर्म्म, तत्स्वरूपविश्लेषक आर्ष मौलिक साहित्य, एवं तदनुबन्धिनी सुसूक्ष्मा धर्म्मनीति ही आधार है, प्रतिष्ठा है, अवलम्ब है व्यक्त लोकतन्त्र का। मनःशरीरनिष्ठ, अतएव सभ्यतासंरक्षक क्षत्रिय,

*–**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा** (शत० ६।१।१।८।)।

उसकी लोकसभ्यता, तदाचरणात्मक नीतितन्त्र, तत्त्वरूपविश्लेषक नैतिक विधि–विधान, तदनुबन्धिनी व्यक्ताव्यक्ता राजनीति आधेया है, प्रतिष्ठिता है, अवलम्बिता है धर्म्मनीति के आधार पर। और यों स्पष्टतम-रूपेण ब्रह्म ही क्षत्र की आश्रयभूमि बना रहता है, बने रहना चाहिए।

१२९–शासनतन्त्र की मूलप्रतिष्ठा का दिग्दर्शन—

जो शासनतन्त्र ब्रह्म के द्वारा प्राप्त शासनतन्त्र पर आरूढ होकर वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के वारुणपाशबन्धन से अपने आपको आबद्ध कर मदान्ध बन यह मान बैठता है कि, "मैं ही सब की आश्रयभूमि हूँ। सबको मेरी शासननीति का ही प्रभुत्व मानना चाहिए"। निश्चयेन ऐसा मदान्ध–संस्कृति–साहित्य–धर्म्म निरपेक्ष सत्तातन्त्र अपनी योनि–प्रतिष्ठा–आश्रयभूत ब्रह्मबल की यों उपेक्षा कर अपने सर्वनाश का ही उपक्रम कर बैठता है। अतएव उसे यह नहीं भुला देना चाहिए कि, शासनतन्त्र के अधःस्थान में खड़ा हुआ भी संस्कृतिसन्देशवाहक ब्राह्मण ही शासनतन्त्र की मूलप्रतिष्ठा है। तत्त्वतः यही आश्रयभूमि है सत्तातन्त्र की। मदमानान्वित जो सत्तातन्त्र इसे उपेक्षित–निरपेक्ष मान बैठने की भयावह भ्रान्ति कर बैठता है, उसका क्या परिणाम होता है ?, प्रश्न का समाधान उसी श्रुति के मुख से सुनिए, जिसने पूर्व में–"तस्मात्--क्षत्रात्परं नास्ति' कहते हुए सत्तातन्त्र को सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया है—

> **"सैषा क्षत्रस्य योनिः, यद् ब्रह्म। तस्मात्–यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्। य उ एवं हिनस्ति, स्वां स योनिं–ऋच्छति। स पापीयान् भवति, यथा श्रेयांसं हिंस्वा"।**
>
> —शतपथ ब्रा० १४।४।२।२३।

१३०–मूलप्रतिष्ठात्मक ब्रह्म से वञ्चित सत्तातन्त्र का पराभव—

श्रुत्यर्थ स्पष्टतम है। मित्रामृतरूप आत्मब्रह्म ही वरुणमृत्युरूप शरीरक्षत्र की योनि है, उक्थस्थान–प्रभवस्थान--उद्गमस्थान–प्रतिष्ठास्थान--आश्रयस्थान है। अतएव वरुणक्षत्रात्मक राजा (शासनतन्त्र) इसी ब्रह्मयोनिप्रभाव से यद्यपि लोकतन्त्र में सर्वोत्कृष्ट--सम्मान--पदप्रतिष्ठा--सर्वोच्चप्रभुसत्ता का अधिकारी अवश्य बन जाता है (परमतां गच्छति), तथापि इसे अन्ततोगत्वा सर्वथा प्रणतभाव से स्वयोनिभूत ब्रह्ममित्र को ही अपनी आश्रयभूमि बनाए रखना पड़ता है, अनिवार्य्यरूपेण बनाए ही रखना चाहिए (उपनिश्रयति स्वां योनिम्)। सत्तासम्मान की परमता पर सर्वोच्चपद पर, पहुँच जाने वाला जो शासनतन्त्र पदप्रतिष्ठा के व्यामोहन से आत्मस्वरूपविस्मृत बन कर अपनी आश्रयभूता उस ब्रह्मयोनि की उपेक्षा कर देता है, तिरस्कार–अवमान करता हुआ उसे स्व राजनीतितन्त्र में निरपेक्ष मान बैठने की भयावहा भ्रान्ति कर बैठता है, वह अपने मूलस्थानरूप योनि में ही, प्रतिष्ठा में हीं विलीन हो जाता है (ऋच्छति--गच्छति)। अर्थात् ब्रह्माग्नि उस निरपेक्ष शासनतन्त्र को अपने उदर में हीं विलीन कर लेता है। सम्पूर्ण वह तेज--यश--प्रतिष्ठा--सम्मान योनिभूत ब्रह्म में हीं विलीन हो जाता है, जिसके बल पर शासनतन्त्र परमता पर पहुँचा हुआ था। और यों

सर्वशून्य बनता हुआ शासनतन्त्र कालान्तर में सम्पूर्ण लोकाभ्युदयों, लोकैश्वर्य्यों से वञ्चित हो कर सर्वथा निस्तेज-दीनहीन-पापदशा में उसी प्रकार परिणत हो जाता है, जैसे कि लोक में कोई मदान्ध व्यक्ति अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति की हिंसा कर इस पाप से हतप्रभ एवं हतश्री हतैश्वर्य्य बन जाया करता है-(स पापीयान् भवति, यथा श्रेयाँसं हिंस्वा)।

१३१-आत्मबुद्धिनिष्ठ ब्राह्मण की सर्वाश्रयता, एवं सत्तातन्त्र के प्रति तन्निरपेक्षता—

धर्म्मनीतिसञ्चालक संस्कृतिनिष्ठ तत्त्ववेत्ता मित्रब्राह्मण जहाँ राष्ट्र का आत्मबुद्धितन्त्र है, वहाँ राजनीतिसञ्चालक सभ्यतासंरक्षक तत्त्वविस्तारक वरुण क्षत्र (शासनतन्त्र) राष्ट्र का मनःशरीरतन्त्र है। प्रत्यक्ष भूतदृष्ट्या यद्यपि शासनतन्त्र ही सर्वाश्रय है। किन्तु तत्त्वप्राणदृष्ट्या आत्मबुद्धिनिष्ठ ब्राह्मण हीं सर्वाश्रय बना हुआ है। और इसी श्रौततत्त्व के तथ्यपूर्ण वास्तविक दृष्टिकोण के आधार पर यह कहा, और माना जा सकता है कि, **"संस्कृति, सदाचरणात्मक धर्म्म, तत्स्वरूपविश्लेषक आर्ष मौलिक साहित्य कदापि सत्ता के आश्रय की अपेक्षा नहीं रखते। अपितु संस्कृति, धर्म्म, साहित्य तो सत्तानिरपेक्ष बने रहते हुए ही स्वस्वरूपस्थिति में प्रतिष्ठित रहा करते हैं. रहते आए हैं आरम्भ से आज पर्य्यन्त। सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मण की स्वयं की आत्मबुद्धिमूला संस्कृतिनिष्ठा ने हीं भारतराष्ट्र की संस्कृति, धर्म्म, साहित्य के मौलिक स्वरूप को परम्परया आजतक स्वस्वरूप से अक्षुण्ण बनाए रक्खा है"।**

१३२-सत्तासापेक्षमूला भ्रान्त धारणा, और तन्निबन्धन उत्पीड़न—

सचमुच अतीत युगों का वह क्षण भारतीय संस्कृति-धर्म्म-साहित्यादि के लिए अत्यन्त ही दुर्भाग्य-पूर्ण था, जिस कुक्षण में एतद्देशीय संस्कृति-धर्म्म-साहित्यनिष्ठ भी, आत्मबुद्धिनिष्ठ भी विद्वानों की प्रज्ञा में कुछ ऐसा व्यामोहन समुद्भूत हो पड़ा, जिसके निग्रहात्मक अनुग्रह से उन भावुक विद्वानों की ऐसी धारणा बन गई कि, **"राज्याश्रयमूला राजभक्ति के माध्यम से ही राष्ट्र की संस्कृति, धर्म्म, और साहित्य का संरक्षण सम्भव है"**। धारणा पवित्र थी। और भावुकता-पूर्णा सभी धारणाएँ प्रत्यक्षप्रभावमूला बनीं रहतीं हुईं गन्धर्वनगरलेखावत् आपातरमणीया प्रतीत होतीं हुईं प्रत्यक्ष में पवित्र हीं प्रतीत हुआ करतीं हैं, हो रहीं हैं आज भी, एवं भविष्य में भी होतीं हीं रहेंगी। किन्तु यह सर्वात्मना असंदिग्ध है कि, विद्वानों की पवित्रा भी तथाविधा भावुकतापूर्णा धारणा के, तदनुप्राणिता केवल मनोऽनुबन्धिनी मान्यता के आकर्षण से ही कालान्तर में इनकी संस्कृति-धर्म्म-साहित्यादि की संरक्षणनिष्ठा राज्याश्रयमूला राजभक्ति के व्यामोहन-पाश में आबद्ध हो कर स्वस्वरूप से सर्वथा ही अभिभूत हो गई, जिसके दुष्परिणाम आजतक इस राजभक्ता प्रजा को विवश बन कर भोगनें पड़ रहे हैं, और भगवान् जानें, कब तक इसे यों हीं उत्पीड़ित बना रहना पड़ेगा ?।

१३३-सत्तातन्त्रेच्छानिबन्धना भावुकतापूर्णा व्याख्यापरम्पराएँ —

विगत ३-४ सहस्र वर्षों के सांस्कृतिक-धार्म्मिक-साहित्यिक इतिहास को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने मात्र से हीं स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जाता है। भारतराष्ट्र के राज्यसिंहासन पर जो भी सत्तातन्त्र

पदारूढ बना, राज्याश्रय के व्यामोहन से यहाँ के विद्वानों नें, और–'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' न्याय को अक्षरशः चरितार्थ करने वाली परप्रत्ययनेयभावात्मिका गतानुगतिका प्रजा ने सर्वात्मना तत्कालीन शासनतन्त्रों के प्रति ही आत्मसमर्पण कर दिया। परिणाम, किंवा घोरघोरतम दुष्परिणाम यही हुआ इस आत्मसमर्पण का कि, तत्कालीन सत्तातन्त्र की मान्यताओं, के, विधि–विधानों–आचार–सभ्यतादि–पद्धतियों के अनुरूप ही यहाँ के विद्वानों को संस्कृति–धर्म्म–साहित्य की व्याख्याएँ करनीं पड़ीं।

१३४–सत्तातत्त्वानुरञ्जनात्मिका दुष्प्रवृत्तियों की प्रक्रान्ति—

संस्कृति–धर्म्म–साहित्य–का अपना कोई मौलिक स्वरूप रहा ही नहीं। अपितु जैसा सत्तातन्त्र ने चाहा, विद्वानों को वैसा ही समन्वय करना पड़ा। इसी दुष्प्रवृत्ति के कारण संस्कृति–धर्म्म–साहित्य के नाम से ही राष्ट्र में अनेक वैसे मतवाद–सम्प्रदायवाद–दर्शनवाद–धर्म्मवाद–उपदेशवाद–सन्तवादादि आविर्भूत होते गए, जिनका तत्त्वतः संस्कृति–धर्म्म–साहित्य के साथ न पहिले कभी सम्बन्ध था, न आज ही कोई सम्बन्ध है। यदि सत्तातन्त्र नें शून्यवाद के प्रति अपनी रुचि अभिव्यक्त की, तो यहाँ के विद्वानों नें तत्समर्थन में सैकड़ों पोथे लिख डाले। किसी सत्तातन्त्र नें चाटुकारिता को प्रश्रय दिया, तो उन्हीं विद्वानों नें राजसत्ताओं के यशोगान से साहित्य के भाण्डार परिपूर्ण कर दिए। और यों तत्तद्युगानुगत तत्तत्सत्तातन्त्रों की मनःशरीर–निबन्धना परिवर्त्तनशीला तत्तत्सभ्यताओं के अनुपात से ही राजभक्त विद्वानों नें संस्कृति–धर्म्म–साहित्य की व्याख्याएँ कर तद्द्वारा सत्तातन्त्रों का अनुरञ्जन करते रहना हीं अपना परमपुरुषार्थ मान लिया, जो कि दुष्प्रवृत्ति आज भी यथापूर्व प्रक्रान्त ही बनी हुई है।

१३५–विदेशीसत्तातन्त्र के प्रति भारतीय राजभक्त विद्वद्वर्ग का दयनीय आत्मसमर्पण–

सर्वतन्त्र–स्वतन्त्रात्मक आज के गणतन्त्रीय प्रजातन्त्रात्मक भारत की धर्म्मनिरपेक्षता के प्रति दिग्–विदिक् कम्पित करने वाले आज के धर्म्मभक्त (वस्तुतः मतभक्त) इन्हीं विद्वानों नें कुछ समय पूर्व ही तो उस विदेशीसत्ता के यशोगान में अपनी समस्त सांस्कृतिक–निष्ठा समर्पित कर पुरस्कार में राजभक्ति की महान् वरदानरूपा उपाधियों से अपने आपको सुविभूषित कर लिया था, जो उपाधियाँ तत्त्वतः दासता की ही सूचना दे रहीं थीं। विदेशी सत्ताधीशों की मंगलकामना, स्वास्थ्यकामना के लिए देवमन्दिरों में समुपस्थित यहाँ के संस्कृतिनिष्ठ ! धर्म्मिष्ठ ! विद्वान् हीं तो मुक्तहृदय से अपने भगवान् से प्रार्थना करते हुए नहीं अघाते थे। और आज !।

१३६–वर्त्तमाना–प्रक्रान्ता राजभक्ति, और राजभक्त भावुक विद्वान्—

आज भी तो उसी राजभक्ति का मुक्तहृदय से यशोगान हो रहा है। कल के राजतन्त्र भक्त वे ही भारतीय विद्वान् आज धर्म्मनिरपेक्ष गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र के भक्तिसागर में अपने आप को आपाद–मस्तक निमज्जित कर मानों अपने आज तक के पापसंस्कारों को धो डालने के लिए आकुल–व्याकुल ही बने हुए हैं। जो भारतीय शास्त्र इन विद्वानों की दृष्टि में कलतक ईश्वरवादमूलक राजतन्त्र के समर्थक बने

हुए थे, वे ही शास्त्र उन्हीं विद्वानों के प्रज्ञाकौशल से आज ईश्वर-धर्म्म-निरपेक्ष गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र के समर्थक बनते जारहे हैं। विश्वास न हो, तो वर्त्तमानयुग के सुविख्यात नामधेय अभिनव संस्कृतिनिष्ठ ? पुरातत्त्वविद् लोकनिष्ठ सांस्कृतिक विद्वानों के द्वारा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहने वाले गणतन्त्रसमर्थनात्मक उनके शास्त्रीय ? लेखों, रेडियो भाषणों को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कर लीजिए। स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जायगा।

१३७-विद्वानों के लिए उद्बोधनसूत्र, एवं सत्तातन्त्र का उत्तरदायित्व—

राज्याश्रय की, एवं तदनुप्राणिता राजभक्ति की एक सांस्कृतिक-नैतिक-सामयिक-सीमा है। और उस सीमा-मर्य्यादानुबन्ध से विद्वानों को, तथा सर्वसाधारण प्रजावर्ग को, सभी को राज्याश्रय की कामना करते ही रहना चाहिए, तदनुपात से ही राजभक्ति के प्रति अपनी निष्ठाएँ भी समर्पित करते ही रहना चाहिए। किन्तु जिन विद्वानों की प्रज्ञा पर संस्कृति-संरक्षण का उत्तरदायित्व है, उन्हें स्वसंस्कृतिनिष्ठा के तात्त्विक-स्वरूपानुपात से, सर्वथा तटस्थरूप से ही राज्याश्रय, तथा राजभक्ति को अवलम्ब बनाए रखना चाहिए। युगधर्म्मानुसार सत्तातन्त्र, तथा तदनुबन्धिनीं सभ्यताएँ बदलतीं हीं रहीं है, बदलतीं हीं रहेंगी। इस प्राकृतिक प्रवाह में कदापि सनातन-संस्कृति को प्रवाहित नहीं कर देना चाहिए। यह तभी सम्भव है, **जब कि संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-को अमुक सीमापर्य्यन्त सत्तातन्त्र से निरपेक्ष-तटस्थ ही बनाए रक्खा जाय।** यह उत्तरदायित्व तो स्वयं सत्तातन्त्र की सद्बुद्धि पर ही छोड़ देना चाहिए, जैसा स्वयं श्रुति ने भी यह उत्तरदायित्व उद्बोधनभाषा के माध्यम से सत्तातन्त्र पर ही छोड़ दिया है।

१३८-भगवती श्रुति के द्वारा सत्ता के प्रति ब्राह्मण की निरपेक्षता का महान् उद्घोष-

तटस्थरूप से सत्ता के सम्मुख वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण कर देना हीं संस्कृतिनिष्ठों का एकमात्र उत्तरदायित्व है। यदि सौभाग्य से सत्तातन्त्र उस संस्कृतिनिष्ठा को आधार बना लेता है, तो इससे उसकी समृद्धि तो होती ही है ? साथ ही संस्कृति भी व्यक्तरूपेण सुसमृद्धा बन जाती है। और इस समन्वय से राष्ट्र का सर्वाङ्गीण अभ्युदय-निःश्रेयस् संसिद्ध हो जाता है। यदि दुर्भाग्य से सत्तातन्त्र संस्कृति के मौलिक स्वरूप से उद्बोधन प्राप्त न कर इसके प्रति निरपेक्ष बन जाता है अपनी काल्पनिक मान्यताओं का समर्थन प्राप्त न करने की दशा में, तो इससे संस्कृति के मूलस्वरूप की कोई हानि नहीं है, जबकि संस्कृति के आधार से निरपेक्ष-वञ्चित रहता हुआ सत्तातन्त्र निश्चयेन कालान्तर में विनाशनिकेतन का ही सम्मान्य अतिथि बन जाया करता है। हाँ इस भयावह स्थिति में संस्कृति का बाह्यविकास अवश्य ही अवरुद्ध हो जाता है। किन्तु यह पक्ष उस प्रतारणापक्ष से कहीं श्रेष्ठ-श्रेष्ठतर-श्रेष्ठतम है, जिस सत्ताश्रय-राजभक्ति-पक्ष में सत्ता की युगधर्म्मानुगता मान्यताओं के अनुपात से सत्ता को प्रसन्न करने के लिए संस्कृति का विकृत स्वरूप सत्ता के सम्मुख रखते हुए उस विकृता संस्कृतिरूपा असंस्कृति-अधर्म्म-असत्साहित्य के लिए राज्याश्रय प्राप्त कर लिया जाता है। इसी स्थिति का विस्पष्टभाषा में स्पष्टीकरण करते हुए मैत्रावरुणग्रहश्रुति को यह कह देना पड़ा है कि—

तत्तत्–तत्-अवक्लृप्तमेव–यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात् । यद्यु राजानं लभेत–समृद्धं तत् । एतद्धत्वेवानवक्लृप्तं–यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति । यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत् समृध्यते । तस्मात् क्षत्रियेण कर्म्म करिष्य-माणेन–उपसत्तव्य एव ब्राह्मणः । सं हैवास्मै तद् ब्रह्मप्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते"(शत० ४।१।३।६)।

१३९–सत्ताश्रयलक्षणा पराश्रयता के महतो महीयान् दुष्परिणाम, एवं तद्द्वारा संस्कृति का अभिभव—

श्रुति का अक्षरार्थ पूर्व की मैत्रावरुणग्रहश्रुति के अक्षरार्थसमन्वय-प्रसङ्ग में स्पष्ट किया ही जाचुका है । यही वह प्रतिज्ञात दृष्टिकोण है, जिसके प्रति हमें संस्कृतिनिष्ठ भारतीय विद्वानों का ध्यान अत्यन्त प्रणत-भाव से इसलिए आकर्षित कर ही देना है कि, इस अवधानात्मक आकर्षण के बिना वे कदापि भारतीय संस्कृति की, एवं तत्प्रतीकभूता भारतीय सभ्यता की सनातननिष्ठा का कदापि संरक्षण नहीं कर सकेंगे ।

सत्ताश्रयानुगता राजभक्ति का व्यामोहन ही राष्ट्रीय संस्कृति-सभ्यता के उत्तरोत्तर अपकर्ष का कारण इसलिए बनता चला आ रहा है कि, सत्तातन्त्र युगधर्म्मानुपात से सदा से ही परिवर्त्तनशील रहे हैं, रहेंगे ही । इनके प्रति संस्कृति–धर्म्म–एवं आर्षसाहित्य (मन्त्रब्राह्मणात्मक प्राजापात्य वेदसाहित्य) को सापेक्ष बनाने का प्रारम्भिक अर्थ होगा तद्युगभावुकताक्रान्त-सभ्यताक्रान्त सत्तातन्त्रों की मनःशरीरनिबन्धना लोकैषणात्मिका मान्यताओं के प्रति संस्कृति को सापेक्ष बना देना । जिसका फलितार्थ अन्ततोगत्वा यही होगा कि, सांस्कृतिक साहित्य की व्याख्याओं में साहित्यिक–मौलिक दृष्टिकोण के प्रति तो उपेक्षा, एवं सत्तामान्यताओं के प्रति सापेक्षता । और यों संस्कृति–धर्म्म–साहित्य–सभी को अन्ततोगत्वा इस सत्ताश्रयरूपा पराश्रयता के व्यामोहन से स्वमौलिक स्वरूप से अभिभूत ही कर देना एकमात्र सुपरिणाम होगा तथाविधा राजभक्ति का, जिसके उदाहरणों के कुफल विगत २-३ सहस्राब्दियों से भारतीय संस्कृतिनिष्ठा प्रजा को निरन्तर भोगने पड़ रहे हैं ।

१४०–सत्ताश्रय से पदप्रतिष्ठात्मिका लोकैषणा का व्यामोहन, एवं संस्कृतिनिष्ठों का आत्यन्तिक पराभव—

तत्–अवक्लृप्तमेव–यत् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्' यह श्रौत उद्घोष आत्मबुद्धिनिष्ठ, अतएव संस्कृतिनिष्ठ राष्ट्रीय मित्रब्राह्मण को यही उद्बोधन कर रहा है कि,–"इसके लिए यही ठीक ठीक पक्ष माना जायगा कि, यह 'अराजन्य' ही रहे" । अर्थात् यह अपनी संस्कृति–धर्म्म–साहित्य को राजसत्ता के प्रति निरपेक्ष ही बनाए रहे । 'यद्यु राजानं लभेत, समृद्धं तत्' । तात्पर्य्य–यदि अयाचितरूप से ही इसे सत्ता का सहयोग प्राप्त हो जायगा, तो ब्राह्मण के अन्तर्जगतरूप प्रज्ञाक्षेत्र में प्रतिष्ठिता संस्कृति सत्तातन्त्र को सुसमृद्ध बनाती हुई स्वयमपि लोकसमृद्धि की अनुगामिनी बन जायगी । स्पष्ट है–'यद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात' का स्वरूप । यदि ब्राह्मण 'राजन्य' बन गया, अर्थात् सत्ताश्रयानुगता राजभक्ति के आवेश में आत्मविस्मृत बन गया, तो इसमें भी पदप्रतिष्ठात्मिका लोकैषणा (नामख्याति) का व्यामोहन जाग्रत हो पड़ेगा, और सर्वस्वघातिका–लोकसम्मानात्मिका–पदप्रतिष्ठात्मिका उस एषणा के पाश में आबद्ध हो जाने वाला यह राजन्य

(राजभक्त) ब्राह्मण कदापि संस्कृति-धर्म्म-साहित्य के प्रति सर्वात्मना एकान्तनिष्ठ न रह सकेगा। सत्तासापेक्ष-मूलक यही सांस्कृतिक स्खलन एक ओर जहाँ संस्कृति-स्वरूप को विकृत कर देगा, वहाँ इस विकृत सांस्कृतिक-धार्मिक-साहित्यिक सम्पर्क से राजन्यसत्ता की भी समृद्धि न हो सकेगी। यही नहीं, इस विकृति से सत्तातन्त्र भी उत्तरोत्तर उच्छृंखल-अमर्य्यादित ही बनता जायगा। इसी अमर्य्यादाकर्षण से सत्तातन्त्र संस्कृतिभक्तमात्र सत्ताश्रित इन विद्वानों को इसके लिए प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से विवश ही बनाता रहेगा कि, वे सत्तातन्त्र की मान्यताओं के अनुरूप ही संस्कृति-धर्म्म-साहित्यादि का समन्वय करते हुए अपनी सत्तासापेक्षतामूला-राजभक्ति को सुरक्षित बनाए रहें।

१४१-राजन्य ब्राह्मणों की सत्ताश्रयमूला जीवितमृत्यु —

सापेक्षतामूला आत्मसमर्पणात्मिका इत्थंभूता राजभक्ति में सर्वात्मना सुदीक्षित ये राजन्यब्राह्मण सत्ताश्रय के प्रतिदान में प्राप्त लोकसम्मानों से सम्मानित होकर अन्ततोगत्त्वा विवश ही तो बन जाते हैं सत्ताद्वारा निर्दिष्ट गाए गाए गीत ही गाने के लिए। यदि कभी वे अपने इस दास्यकर्म्म के प्रति थोड़ी भी उपेक्षा व्यक्त कर देने की भूल कर बैठते हैं, तो सत्ता उनका वह लोकसम्मान अपहृत कर लेती है, जिसके बिना ये राजभक्त विद्वान् अपने आपको शून्यं-शून्यं-अनुभूत करते हुए सत्ताद्वारा निर्दिष्ट वे सभी प्रायश्चित्त करने के लिए सहर्ष सोल्लास सन्नद्ध हो जाते हैं, जिन प्रायश्चित्तों का अर्थ होता है-'जीवितमृत्यु'।

१४२-उद्बोधनात्मक महान् मानवसूत्र की उपेक्षा से सांस्कृतिक-चेतना का अभिभव-

सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेन संस्कृतिनिष्ठ एतद्देशीय ब्राह्मण को आरम्भ में हीं मानवधर्म्मशास्त्र-व्यवस्थापक राजर्षि मनु ने महान् उद्बोधनात्मक वह लोकसूत्र प्रदान किया है, जिस-'**सम्मानात्-नित्य-मुद्विजेत ब्राह्मणो विषादिव**' (मनुः) इस सूत्र को विस्मृत कर सचमुच सम्मानैषणाकामुक विद्वान् ब्राह्मणों नें संस्कृति-धर्म्म-साहित्य की गरिमा-महिमा के समतुलन में अपने लोकसम्मानों को ही प्रमुखता देते हुए राष्ट्र की पारम्परिक सांस्कृतिक-चेतना का सर्वथा ही अभिभव कर दिया है।

१४३-सत्तानिरपेक्षाः ऋषिकल्पाः-ये ब्राह्मणा-देवास्तेभ्यो नमो नमः—

सचमुच जो ब्राह्मण अराजन्य बना रह सकता है, सहजभाषा में राजभक्ति-समन्वित सत्ताश्रय से राष्ट्रीय संस्कृति को निरपेक्ष बनाए रख सकता है, सत्ता-लोक-सम्मानों, पदप्रतिष्ठाव्यामोहनों, एवं अन्यान्य भी वित्तादि प्रलोभनों के तात्कालिक सम्मानों से अपना आत्मपरित्राण करता रहता है, सर्वोपरि युगधर्म्मानुगत भावुकताओं के समर्थन में तटस्थ बने रहने वाला ऐसा संस्कृतिनिष्ठ जो ब्राह्मण सहजरूप से ही प्राप्त होते रहने वाले असम्मानों-अपमानों-तिरस्कारों-उपेक्षाओं को अपनी संस्कृतिनिष्ठा के महान् पुरस्कार ही मानता रहता है, ऐसा लोकनिरपेक्ष द्विजातिमानव हो राष्ट्रीया मूलसंस्कृति, मूलधर्म्म, का स्वरूप संरक्षण कर सकता है। किया है ऐसे ही प्रातःस्मरणीय उन भारतीय द्विजातिमानवों नें राष्ट्रीय-संस्कृति का

संरक्षण, जिन्होंनें अपने आपको गुहानिहित बनाए रखते हुए सम्पूर्ण लोकव्यासङ्गों–लोकसम्मानों–सत्तानुबन्धों से असंस्पृष्ट ही प्रमाणित किया है। तथाभूता ऋषिकल्पा ये ब्राह्मणा देवास्तेभ्यो नमो नमः, नमोनमः, नमोनमः प्रणतभावेन।

१४४–सत्ताश्रयपथात्मक आविष्कार की सर्वस्वघातकता, एवं श्रुतिविरोध—

सत्ता–लोक–भूत–आदि आदि बाह्य व्यासङ्गों से सर्वात्मना अपना आत्मत्राण करते हुए, 'अरति–र्जनसंसदि' मूलक गुहानिहित–ऐकान्तिक–साधनक्षेत्र में आरूढ रहते हुए संस्कृतिस्वरूप के चिन्तन में निमग्न इत्थंभूत अराजन्य (सत्तानिरपेक्ष) ब्राह्मण की संस्कृति से राष्ट्रीय प्रजा कैसे लाभ उठावे ?, यह एक महान् प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसके समाधान के लिए ही तो यहाँ के विद्वानों नें 'सत्ताश्रय' जैसे पथ का आविष्कार कर डाला है विगत सहस्राब्दियों में। इस आविष्कार की निःसारता, एवं घातकता स्वयं श्रुति के द्वारा ही जब प्रमाणित हो चुकी है, तो उस स्थिति में तथाकथित प्रश्न ज्यों का त्यों सुरक्षित रह जाता है। क्या स्वयं श्रुति ने इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं किया ?। किया है, किन्तु अपनी सहजसिद्धा परोक्षभाषा में। दो शब्दों में उस परोक्ष श्रौत–समाधान को भी लक्ष्य बनाने का निःसीम अनुग्रह कर लीजिए। वह परोक्ष समाधान सूत्र है–"एतद्ध त्वेवानवक्लृप्त-यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति" यह, जिस इस परोक्षसमाधान सूत्र से उक्त प्रासङ्गिक प्रश्न सर्वात्मना सुसमाहित बन जाता है।

१४५–ब्राह्मण की अराजन्यता, एवं सत्तातन्त्र की ब्राह्मण्यता का समन्वय—

ब्राह्मण का जहाँ अराजन्य (सत्तानिरपेक्ष) रहना हीं श्रेयःपन्था है, वहाँ सत्तातन्त्र का ब्राह्मणसापेक्ष बना रहना हीं श्रेयःपन्था माना जायगा। तात्पर्य्य–संस्कृतिनिष्ठ–धर्म्मनिष्ठ–साहित्यनिष्ठ–आदर्शनिष्ठ ब्राह्मण के संस्कृति–धर्म्म–साहित्य–आदर्श आदि जहाँ सत्तानिरपेक्ष रह कर ही स्वस्वरूप से ही सुरक्षित–अक्षुण्ण–विशुद्ध–बने रह सकते हैं, बने रहे हैं, बने रहेंगे, वहाँ सभ्यतानिष्ठ–लोकाचारनिष्ठ–राजनीतिनिष्ठ सत्तातन्त्र के सभ्यता–लोकाचार–राजनीति–आदि आदि पर्व ब्राह्मणसंस्कृति को सापेक्ष बना कर ही स्वस्वरूप से सुरक्षित–अक्षुण्ण-व्यवस्थित–सुसमृद्ध बने रह सकते हैं। ठीक इसके विपरीत जो ब्राह्मण, संस्कृतिनिष्ठ भी जो वित्तैषणागर्भित विद्वान् वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के परोक्ष–(अज्ञात), प्रत्यक्ष (ज्ञात) आकर्षण से आकर्षितमना बना हुआ अपने आपको, अपनी संस्कृति को राजभक्ति के प्रवाह में प्रवाहित होकर सत्तासापेक्ष मानने, मनवाने की महद्भ्रान्ति कर बैठता है, निश्चयेन कालान्तर में सत्ता के द्वारा अभिभूत ही हो जाती है ऐसी संस्कृति अपने मौलिक विशुद्धरूप से, जिसका–'राजा कालस्य कारणम्' रूप से पूर्व में भी दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

१४६–दिग्देशकालातीता–मौलिक संस्कृति—

यह स्मरण रखने की बात है कि, 'राजा कालस्य कारणम्' इस महाभारतीय ऐतिह्य क्षात्रवचन (भीष्मवचन) की पर्य्यवसानभूमि कदापि संस्कृति नहीं है, जैसा कि कुछ समय से

यहाँ के संस्कृतिनिष्ठ ? विद्वान् भी ऐसा ही कुछ मानने मनवाने की भूल करते जा रहे हैं। संस्कृति, तत्-आचरणात्मक धर्म्म, एवं तत्स्वरूपविश्लेषक आर्षसाहित्य, तीनों मूलतः एक ही तत्त्व हैं, जो कि आत्मबुद्धिनिबन्धन प्राणप्रधान-अमृतप्रधान-शाश्वत-सनातन तत्त्व ही मानें गए हैं, जिनका कि भूतानुबन्धी दिग्देशकाल-सीमाओं से कदापि कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा ।

१४७–चतुर्विध प्रतीकधर्म्म, एवं प्रतीकात्मक भारतीय साहित्य—

शरीरनिबन्धन अनुकरणधर्म्म, मनोनिबन्धन अनुसरणधर्म्म, बुद्धिनिबन्धन आचरणधर्म्म, एवं भूतात्मनिबन्धन अनुशीलनधर्म्म, चारों प्राकृतिक धर्म्म, तदाधारभूता प्राकृतिक संस्कृति, तत्प्रतिपादक आगम-पुराणादि प्राकृत पौरुषेयशास्त्र आदि आदि अवश्य ही प्रतीकात्मक प्राकृत धर्म्म हैं, प्रतीकात्मिका प्राकृत संस्कृतियाँ हैं, एवं प्रतीकात्मक प्राकृत ही साहित्य हैं, जिन्हें कि सहज भाषानुसार विश्वसंस्कृति-विश्वधर्म्म-विश्वसाहित्य, किंवा लोकसंस्कृति, लोकधर्म्म, लोकसाहित्य ही माना गया है। जिन्हें कि पूर्व में हमनें स्वयं सभ्यतानिबन्धन-प्राकृतिक विश्व से अनुप्राणिता सभ्यता के ही पूर्वरूप कहा है । अवश्य ही मूलसंस्कृति-मूलधर्म्म-मूलसाहित्य के प्रतीकभूत प्राकृत चतुर्विध प्रतीकधर्म्म, तन्मूला प्रतीकसंस्कृतियाँ, एवं तत्स्वरूपविश्लेषक आगमपुराणदर्शनादि प्रतीक साहित्य विश्वानुबन्धिनी कालसीमा में अन्तर्भुक्त होते हुए, अतएव स्वयं विश्वजगत में हीं 'प्रतीक' शब्द से व्यवह्रियमाण बने रहते हुए अमुक-सीमापर्य्यन्त –**'राजा कालस्य कारणम्'** की लक्ष्यभूमि माने जा सकते हैं, माने जाते रहेंगे, माने जाने चाहिएँ ।

१४८–'यथा राजा, तथा प्रजा' आभाणक का समन्वय—

उक्त प्रतीक भावों के माध्यम से ही तो सभ्यता के ही पूर्वरूपों से सम्बन्ध रखनें वाले, मूलसंस्कृति के प्रतीकमात्र बने हुए **भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों की रूपरेखा** का अनुपद में हीं दिग्दर्शन कराया जाने वाला है, जिन प्रतीकात्मक सांस्कृतिक-आयोजनों के संरक्षण-अभिवर्द्धन-विकासादिका सम्पूर्ण उत्तर-दायित्त्व यहाँ की ऋषिप्रज्ञा नें स्वयं हीं सत्तातन्त्र के प्रति ही समर्पित माना है । और अवश्य ही इन सभ्यतालक्षण–प्रतीकभूत–मनःशरीरनिबन्धन–अतएव दिग्देशकालसीमात्मक संस्कृति–धर्म्म–साहित्यादि को सत्तासापेक्ष मानते हुए 'राजा कालस्य कारणम्' इस क्षात्रवचन का भी अंशतः समादर कर लिया गया है। और इसी आधार पर–'यथा राजा, तथा प्रजा' यह आभाणक भी प्रचलित हो पड़ा है ।

१४९–'राजा कालस्य कारणम्'–लक्षणा विप्रतिपत्ति का तात्त्विक समन्वय—

प्रजा की संस्कृति, प्रजा का धर्म्म, प्रजा का साहित्य अवश्यमेव सत्तासापेक्ष बन कर ही सुरक्षित रहा करता है । क्योंकि लोकसंस्कृति–लोकधर्म्म–लोकसाहित्य ही प्रजा की संस्कृति–धर्म्मादि हैं, जिन इन सबका

प्राकृतिक विश्वसीमात्मक कालविवर्त्त में हीं अन्तर्भाव है । अतएव प्रजा अवश्य ही राजासापेक्ष, किंवा सत्तासापेक्षा है, सापेक्षा रहना हीं चाहिए प्रजा को, एवं प्रतीकभूता संस्कृति को । इसी बिन्दु पर तो भारतीय ब्राह्मणप्रज्ञा का वह महान् स्खलन हुआ है, जिसके कारण इसकी भी लक्ष्यभूमि विगत कतिपय सहस्राब्दियों से प्रतीकभाव ही बन गए हैं ।

क्या ब्राह्मण सत्तासापेक्ष प्रतीकसंस्कृति-प्रतीक-धर्म्म-प्रतीक-साहित्यादि प्रतीकभावों का सन्देशवाहक है ?, यह प्रश्न है । उत्तर स्पष्ट है । जहाँ तक लोकभावुकता के संरक्षण की सीमा है, उस सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही ब्राह्मण ही इन प्रतीक संस्कृत्यादि का भी स्रष्टा-संरक्षक-प्रचारक है । आगमपुराणादि लोकसाहित्य, तत्प्रतिपादित चतुर्विध प्रतीकधर्म्म, तत्प्रतिष्ठारूपा लोकसंस्कृतियों की लक्ष्यभूमि वह प्रजावर्ग ही है, जिसके आधार स्त्री-बाल-द्विजबन्धु-आदि मनःशरीरनिबन्धन भावुकवर्ग ही मानें गए हैं । और इस भावुकवर्ग की युगधर्म्मानुगता भावुकताओं के संरक्षणानुबन्ध से अवश्य ही ब्राह्मण को इन प्रतीक संस्कृत्यादि का भी सन्देशवाहक माना जा सकता है, माना गया है, जिन इन समस्त प्रतीकभावों के संरक्षण-प्रचार-समृद्धि का प्रधान उत्तरदायित्व कालानुबन्धी सत्तातन्त्र से ही अनुप्राणित है । एवं एकमात्र इस प्रतीकदृष्टि से ही- **'राजा कालस्य कारणम्'** यह भावुकतासंरक्षक सूत्र प्रतीकधर्म्म के रहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म के द्वारा आविर्भूत हो पड़ा है, जिसका प्रतीकदृष्टि से राजभक्ता प्रजा ने सदा से ही स्वागत किया है, करना हीं चाहिए । किन्तु......?

१५०-राजा, प्रजा, और सोमानुगत संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण—

किन्तु एतावता ही 'संस्कृति' के मूलस्वरूप का तात्त्विक समन्वय कदापि सम्भव नहीं है । इसलिए सम्भव नहीं है कि, राजा प्रजा का है । अतएव प्रजा की संस्कृति-धर्म्म-साहित्यादि के उत्थान-पतनों का उत्तरदायित्व राजा पर ही अवलम्बित है । क्या ब्राह्मण प्रजा नहीं है ? । उत्तर 'प्रजा' शब्द के मौलिक चिरन्तन इतिहास के स्वरूप विश्लेषक 'विट्' शब्द पर ही प्रतिष्ठित है । * **'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** (यजुःसंहिता...) इस आर्षवचन के स्वारस्य पर क्या कभी राजभक्त विद्वानों नें ध्यान देने का अनुग्रह किया है ? । सत्ताश्रय के लिए आतुर बने हुए भूसुरवृन्द ने क्या कभी-**'सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म । तस्मात् यद्यपि राजा परमतां गच्छति-ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्'** इस श्रौतवचन के अक्षरार्थमात्र समन्वय का भी अनुग्रह किया है ? । आलम्यालम् । पर्य्याप्त है ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणवर्ग के परितोष के लिए उक्त श्रुतिवचन ही, जिसके द्वारा ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण को सत्तातन्त्र के आश्रित नहीं, अपितु सत्तातन्त्र की आश्रयभूमि-योनि-प्रभव-प्रतिष्ठा-उक्थ-अधिष्ठान-अवलम्बन ही माना गया है ।

***-सोमो महान्-अव्ययगर्भाधारभूमिः । सोऽयं महानात्माव्ययपुरुष एव-ब्राह्मणानां राजा-शास्ता-नेता । नतु मानवीयः सत्ताधीशो लोकराजा ।**

१५१–मूलसंस्कृति-धर्म्म-साहित्य-की अप्राकृतता, एवं सनातनता—

जब ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण क्षत्रिय की (सत्तातन्त्र की) योनि (आश्रयस्थल) है, प्रतिष्ठा–प्रभवस्थान है, तो वह सत्तातन्त्र की सन्ततिरूपा प्रजा हो भी कैसे सकती है ? । क्षत्र की योनिभूत ब्रह्म तो क्षत्र के लिए अभि–गन्ता (पथप्रदर्शक) ही माना गया है । ब्रह्मप्रसूत बनकर ही क्षत्रकर्म्म सुसमृद्ध बना करता है । सत्ता के अनन्य आश्रयरूप ब्रह्ममित्र की मूलसंस्कृति–मूलधर्म्म–मूलसाहित्य तो केवल ब्रह्मनिष्ठा से ब्रह्म के अन्तर्जगत् में (सम्पूर्ण बाह्यभावों से निरपेक्ष बन कर ही) सुरक्षित रहा करता है । मूलसंस्कृति का, तदभिन्न मूलधर्म्म का, तदभिन्न मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र का प्रकृतिरूप बाह्य–भौतिक–विश्व के परिवर्त्तनशील विश्व से सम्बन्ध रखने वाले दिग्–देश–कालानुबन्धों से कोई सम्बन्ध नहीं है । अपितु विश्वातीत सनातन–अव्ययपुरुषात्मा के निःश्वासरूप अपौरुषेय वेदशास्त्ररूप आर्यसाहित्य का, तदभिन्न आर्ष अव्ययात्मधर्म्म का तदभिन्ना आर्ष आत्मसंस्कृति का तो दिग्देशकालातीत सनातनभाव से ही सम्बन्ध है । अतएव अप्राकृता है वह मूलसंस्कृति, अप्राकृत है वह शाश्वतधर्म्म, एवं अप्राकृत, अतएव नित्यकूटस्थ है मौलिक आर्षसाहित्य, जिसे किसी बाह्य–भूत–सत्ता की कोई अपेक्षा नहीं है । सर्वनिरपेक्षा वह ब्रह्मसंस्कृति ही वास्तविक संस्कृति है, वह शाश्वतधर्म्म ही वास्तविक धर्म्म है, वह शाश्वत–सनातन साहित्य ही वास्तविक साहित्य है । तदभिन्ना विश्वानुबन्धिनी सभी लोकसंस्कृतियाँ तत्त्वतः लोकसभ्यताओं के हीं परिवर्त्तनात्मक लौकिक स्वरूप हैं । शाश्वतधर्म्मातिरिक्त विश्वानु–बन्धी सभी लोकधर्म्मात्मक मतवाद लोकधर्म्मों के ही परिवर्त्तनशील स्वरूप हैं । एवं शाश्वत आर्षसाहित्य के अतिरिक्त इतर सम्पूर्ण लोकसाहित्य तो परिवर्त्तनात्मक मनोऽनुरञ्जक साहित्य हीं हैं, जिन्हें स्वस्वरूप–संरक्षण–संवर्द्धन–प्रचार के लिए अवश्य ही लोकसत्तातन्त्रों का आश्रय ग्रहण करना हीं पड़ता है ।

१५२–बुद्धयुगनिबन्धना भावुकता, एवं संस्कृतिस्वरूपव्यामोहन—

ब्रह्मनिष्ठा के अभिभव से राष्ट्र के ब्राह्मण ने भी लोकभावुकतावश जब जब भी लोकसभ्यतारूप तथाकथित प्रतीकसंस्कृति–प्रतीकधर्म्म–प्रतीक साहित्यादि को ही मूलसंस्कृति–मूलधर्म्म–मूलसाहित्य आदि मानने मनवाने की महती भ्रान्ति कर ली, तब तब ही इसे भी सत्ताश्रयरूपा राजभक्ति का ही अनुगामी बन जाना पड़ा । और इस भक्ति–व्यामोहन से स्वस्वरूप से वियुक्त बन जाने वाले इस ब्राह्मण ने स्वयं भी सत्ता–मान्यताओं के अनुरूप ही सांस्कृतिक–धार्मिक–साहित्यिक व्याख्याओं का सर्जन करना आरम्भ कर दिया । बुद्धयुगारम्भ से कुछ पूर्व से ही इस भावुकता का उपक्रम हो पड़ा था । और दुःखपूर्वक यह कहने में कोई संकोच नहीं हो रहा कि, तब से आरम्भ कर आजतक की इन २ सहस्र वर्षों की अवधि में इसकी मौलिक संस्कृति–मौलिकधर्म्म–मौलिकसाहित्य परिवर्त्तनात्मक लोकतन्त्रों, लोकतन्त्राध्यक्षों की कृपा से सञ्चालित प्रजावर्गों की तत्तद्युगधर्म्मानुगता मनःशरीरनिबन्धना–सभ्यतालक्षणा–मान्यताओं के अनुपात से ही व्याख्यात बनते गए । और इन मतवादात्मिका व्याख्याओं के महान्स्तूप के निग्रहात्मक अनुग्रह से ही अन्त में यह दुष्परिणाम हुआ कि, आज अपनी मूलसंस्कृति–मूलधर्म्म–मूलसाहित्य के–सम्प्रदायवाद–सत्तावाद–निरपेक्ष मौलिक शुद्धस्वरूप के दर्शनमात्र कर लेना भी असम्भवप्राय बन गया । इसी स्वरूपविस्मृति ने एकमात्र सत्तातन्त्र की मान्यता के निग्रहात्मक अनुग्रह से ही नृत्य गीत–वाद्यादि से समाकुलित मानसिक गन्धर्व-

प्सराप्राणनिबन्धन–सर्वथा जड़भूतानुरञ्जक बालोपलालनात्मक व्यासङ्ग को ही आज बड़े ही आवेश–आटोप के साथ 'सांस्कृतिक-आयोजन' जैसी पावन अभिधा से उद्घोषित कर डाला, जिन इत्थंभूत आजके इन उपलालनभावों के साथ मूलसंस्कृति की कौन कहे, भारतीय लोकसंस्कृति-सभ्यता आदि का तो स्वप्न में भी तो संस्पर्श नहीं है, जैसाकि संस्कृतिप्रेमी अगले परिच्छेदों में देखेंगे।

१५३–संस्कृतिसंरक्षण का एकमात्र महान् राजपथ—

हाँ, तो हम निवेदन कर रहे थे कि, भारतीय संस्कृति–धर्म्म–साहित्य का तो उस आत्मब्रह्म से अभिन्न सम्बन्ध है, जो सनातन–शाश्वत–ऐकान्तिक–सर्वनिरपेक्ष ब्रह्म कहलाया है, एवं जिसका ऐहलौकिक प्रतीक ब्रह्मप्राणप्रधान 'ब्राह्मण' कहलाया है। एकमात्र ईश्वरीय संस्कृतिधर्म्मसाहित्य का सर्वात्मना निरपेक्षरूप से चिन्तन हीं ब्राह्मण का स्वाध्यायात्मक तप कहलाया है *। स्वाध्यायनिष्ठानुगता यह अनन्यतपोनिष्ठा ही राष्ट्रीया मूलसंस्कृति के संरक्षण का एकमात्र राजपथ है, जिसमें सत्ता–शासन–आदि आदि का प्रवेश भी निषिद्ध माना गया है भारतीय सांस्कृतिक–दृष्टिकोण से।

१५४–सांस्कृतिक अभिभवानुबन्धी दुरधिगम्य प्रश्न, एवं तत्समाधान-चेष्टा—

सचमुच यह दुरधिगम्य प्रश्न है कि, विश्वेश्वरात्मा अव्ययपुरुष की निःश्वासरूपा संस्कृति, तद्रूप शाश्वतधर्म्म, तदभिन्न सनातन आर्षसाहित्य जैसी ईश्वरीय–विभूतियों के विद्यमान रहते भी कैसे, और क्यों भारत का यों उत्तरोत्तर पतन होता गया !, जिस इस दुरधिगम्य प्रश्न का खण्डचतुष्टयात्मक स्वतन्त्र सामयिक निबन्ध में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जा चुका है। प्रकृत में इस दुरधिगम्य प्रश्न के समाधान के सम्बन्ध में केवल भारतीय 'शिक्षानीति'–'शिक्षापद्धति' को आधार मानकर ही हमें दो शब्द निवेदन कर देने हैं।

१५५–'ब्राह्मणेन निष्कारणं षड़ङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' का समन्वय—

जबतक शिक्षा का उत्तरदायित्व संस्कृतिनिष्ठ–ब्रह्मनिष्ठ–लोकनिरपेक्ष द्विजातियों के उत्तरदायित्व से अनुप्राणित रहा, तबतक सभ्यतानुबन्धी शासनतन्त्रों से यहाँ के संस्कृति–धर्म्म–साहित्य–सत्तानिरपेक्ष बने रहते हुए स्वतन्त्ररूपेण स्वस्वरूप से व्यक्त बने रहे। जिस दिन से यहाँ का संस्कृतिनिष्ठ द्विजातिमानव प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के आकर्षण से सत्तासापेक्ष बन गया, उसी दिन से शिक्षा पर सत्तातन्त्र का अधिकार स्थापित हो गया। और इस सत्ताधिकार से अधिकृत शिक्षातन्त्र अपनी आत्मबुद्ध्यनुबन्धिनी अन्तर्जगत् की प्राणप्रतिष्ठा से उत्तरोत्तर वञ्चित होता हुआ भूतासक्तिपथों का ही अनुवर्त्मा बनता गया। और इस रूप से बनता गया कि, अन्ततोगत्वा शिक्षा का भी प्रधान उद्देश्य एकमात्र मनःशरीरानुबन्धी योगक्षेम ही प्रमाणित हो गया, जबकि भारतीय शिक्षा का मूलसूत्र निष्कारण–निरपेक्ष–ब्रह्म की भाँति निष्कारणभाव से समन्वित होता हुआ मानव के आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व का ही सर्जक माना गया था, जैसाकि–'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस आर्षसिद्धान्त से प्रमाणित है।

---

*–आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।

—मनुः

१५६–कार्य्यकारणभावों से असंस्पृष्ट भारतीय शिक्षासूत्र

लौकिक भूतभौतिक जगत् में हीं कार्य्य–कारणपरम्पराओं का अन्वेषण प्रक्रान्त रहा करता है। कार्य्यकारणातीत अलौकिक साहित्य–धर्म्म–संस्कृति के साथ कदापि कारणता जैसे भूताडम्बर का समन्वय सम्भव ही नहीं है। मानव की मानवता का निर्म्मापक शिक्षायन्त्र स्वयं मानव के आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व पर ही विश्रान्त है। स्वयं शिक्षा ही शिक्षा का महान् उपयोग है, जिसका लौकिक–योगक्षेमानुबन्धी कार्य्यकारणभावों से कदापि कोई भी सम्बन्ध नहीं है। शिक्षा कदापि व्यवसाय का साधन नहीं है। निश्चयेन सत्तासापेक्षता ने हीं निष्कारणा शिक्षा को कालान्तर में व्यवसायैषणा की जननी प्रमाणित कर दिया। और यों शिक्षा के परतन्त्र बन जाने से ही भारतीय संस्कृति का उत्तरोत्तर अभिभव ही होता गया। अतएव यह निःसंदिग्ध रूप से हमें मान ही लेना चाहिए कि, शिक्षायन्त्र का पारतन्त्र्य ही इस स्वाध्याय–स्वातन्त्र्य का महान् विघातक प्रमाणित हुआ है पूर्वयुगों में, एवं आज तो यह उद्घोषपूर्वक भारतीय प्रज्ञा के सर्वस्वदलन के लिए मानो कटिबद्ध ही बन चुका है।

१५७–भारतीय शिक्षानीति के मौलिक आधार—

राष्ट्रीय शिक्षानीति का मूलाधार भारतराष्ट्र में सदा से ही 'संस्कृति' ही रही है। संस्कृतिसापेक्षा शिक्षा ही यहाँ शिक्षा मानी गई है, जिसे उपनिषदों ने एक विशेष रहस्य के आधार पर–'अथातः शीक्षां व्याख्यास्यामः' (तै० उप०) के अनुसार 'शीक्षा' नाम से व्यवहृत किया है। वर्ण–स्वर-मात्रा–बल–सामसन्तान–आदि रहस्यपूर्ण सांस्कृतिक सूत्रों के आधार पर प्रतिष्ठिता संस्कृतिमूला भारतीय शिक्षा * केवल शरीरैषणा पर ही परिसमाप्त नहीं है। कदापि शिक्षा का वह उद्देश्य नहीं है, जिसे आजके शिक्षाशास्त्री–'मल्टीपर्पज' (multi purpge) जैसी महान् उपाधि से समलङ्कृत करते हुए नहीं अघाते। मानव केवल वैसा पशुमात्र नहीं है, जिसके स्वरूप का पर्य्यवसान मनःशरीरनिबन्धन आहारनिद्रादि व्यासङ्गों पर ही हो जाता हो। अपितु मानव मन और शरीर से भी कुछ अधिक है। वह 'अधिक' जो कुछ है, वही मानव की 'मानवता' है। मानवता ही मानव का स्वरूपधर्म्म है। और अव्ययात्मपुरुष का स्वरूपाभिव्यक्तित्व ही 'मानवता' नामक वह स्वरूपधर्म्म है, जिसका अन्यत्र विस्तार से उपबृंहण हुआ है। यह स्वरूपधर्म्म जिस शिक्षानीति से सुव्यवस्थित सुविकसित रहता है, वही यहाँ की शिक्षानीति है, जिसका उत्तरदायित्व उन संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों पर ही रहा है (रहता था), जो मानवधर्म्मात्मक मानव के स्वरूपचिन्तन में प्रवृत्त रहते हैं (रहते थे)। संस्कृतिनिष्ठों की सांस्कृतिक, नीति ही मानव की शिक्षानीति का मूलाधार माना गया है। अतएव भारतीय शिक्षायन्त्र को भी संस्कृतिवत् यहाँ सत्तानिरपेक्ष ही माना गया है। तत्तत् ब्रह्मपरिषदों के अध्यक्ष महाशाल संस्कृतिनिष्ठ आचार्य्यों के तत्त्वावधान में भी भारतीय बालप्रज्ञ की शिक्षानीति सञ्चालित रही है। सत्ता तटस्थरूप से इतना भर सहयोग देते रहने में अवश्य अधिकृत मान ली गई है कि, संस्कृति–शिक्षा–विरोधी जो आततायी विघ्न उपस्थित

---

* वर्णः-स्वरः-मात्रा-बलम्-साम–सन्तानम्। इत्युक्तं शीक्षाध्यायः।
—तै० उप०

करने के लिए आतुर बने रहते हैं, उन्हें सत्तातन्त्र शिक्षा प्रदान करता रहता है। इसके अतिरिक्त सभ्यता-संरक्षक, अधिक से अधिक लोकसंस्कृति के संरक्षक सत्तातन्त्र को कदापि सांस्कृतिक-क्षेत्रानुबन्धिनी शिक्षा के हस्तान्तरणात्मक राष्ट्रीयकरण का यहाँ स्वप्न में भी अधिकार नहीं मिला।

१५८-लोकैषणा के असंवरण से ब्राह्मण की दासभाव में परिणति—

सत्तातन्त्र नें शिक्षा पर अधिकार कर इसे सकारण क्यों बना डाला ?, इस प्रश्नमीमांसा का यहां अवसर नहीं है। यहां तो-'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' पक्ष को आधार बना कर जैसा जो कुछ विगत सहस्राब्दियों से घटित-विघटित होता आ रहा है संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-शिक्षा आदि क्षेत्रों में, उसी के आधार पर समस्या का निदान ढूँढ निकाल लेना है। प्राथमिक महान् स्खलन तो ब्राह्मण का ही माना जायगा, जो लोकैषणा का संवरण न करने के कारण सत्तासापेक्ष बन गया। न केवल स्वयं अपने शरीर-मन से ही सत्तासापेक्ष बन गया। अपितु आत्मा और बुद्धि को भी इसने सत्ता के प्रति, उसी प्रकार समर्पित कर दिया, जैसे कि मनःशरीरप्रधान लोकमानव सत्ता के प्रति सर्वात्मना समर्पित होकर सर्वथा 'दास' कोटि में हीं आजाया करते है।

१५९-शिक्षा की कारणता के अन्वेषक ब्राह्मण का अधःपतन—

शिक्षा की कारणता के अन्वेषक ब्राह्मण की इस दासवृत्ति ने हीं यहाँ की मूलसंस्कृति को अभिभूत किया, इस प्रारम्भिक पतन के सम्बन्ध में अणुमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता। अवश्य ही यह राजसत्ताओं के बाह्य-प्रदर्शनों के व्यामोहनात्मक आकर्षणों से अपना नियन्त्रण न कर सका। और राजर्षि मनु के-'सर्वान् परित्यजेदर्थान्-स्वाध्यायस्य विरोधिनः' (उन सभी लौकिक भौतिक-आर्थिक सुख-सुविधाओं की सर्वथा उपेक्षा ही कर देनी चाहिए, जो द्विजाति की स्वाध्यायनिष्ठा के प्रतिबन्धक हैं)-इस उद्बोधनसूत्र की, तथा इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण-'सम्मानाद् नित्यमुद्विजेत ब्राह्मणो विषादिव' (अर्थात् ब्राह्मण को लोकसम्मानों से मारक विष की भाँति अपने आपको बचाते रहना चाहिए) इस शिक्षासूत्र की उपेक्षा करने वाले ब्राह्मण की स्वाध्यायविरोधिनी अर्थलोलुपता ने, सर्वोपरि लोकसम्मान-लालसा ने, हीं इसे सत्तातन्त्र के निबिड़पाश में आबद्ध ही कर लिया। और इस पाशबन्धन से आबद्ध ब्राह्मण सत्तातन्त्रों के ऐच्छिक लोकमन्तव्यों के आधार पर ही संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-शिक्षा-आदर्श-आदि की व्याख्या में प्रवृत्त हो पड़ा, जिसका परिणाम आज राष्ट्र के सम्मुख है। राजमान्य-राजगुरु-राज्याश्रित-आदि आदि उपाधियों से धन्य-कृतकृत्य अनुभूत करने वाले राष्ट्र के इस ब्राह्मण ने यों वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के व्यामोहनों में आसक्त-व्यासक्त बनते हुए अपने सभी उत्तरदायित्व सोल्लास उस सत्ता के प्रति ही समर्पित कर दिए, जिस लोकसत्ताक्षेत्र की प्रवृद्धा लोकैषणाग्नि में सभी कुछ 'स्वाहा' होता रहता है।

१६०-भारतीय सम्राट् अशोक की धर्म्मप्रचारभावुकता, और राष्ट्रस्वातन्त्र्य का अभिभव—

वर्त्तमान युग के भावुक मानव भारतीय अन्तिम सम्राट् देवानां प्रियदर्शी अशोक की धर्म्मप्रवृत्ति का वर्णन करते हुए नहीं अघाते। सम्राट् अशोक के पुत्र, और पुत्री ने राज्यपरित्याग कर सिंहलद्वीप में जो

कुछ किया, वह भी भावुक मानवों के लिए एक अतिरञ्जनात्मक मनोऽनुरञ्जन का ही साधन बना हुआ है । परिणाम क्या हुआ इस 'धर्म्मचक्र' प्रवर्त्तन का ?, प्रश्न का समाधान अब परोक्ष नहीं रह गया है । जो उत्तरदायित्व संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मणों का था, वह समर्पित हो गया था सत्ताभक्ति के प्रति । परिणामस्वरूप सत्ता ने यह भ्रान्ति कर डाली थी कि, संस्कृति–धर्म्म–के प्रचार का उत्तरदायित्व भी सत्ता का ही है । अशोक ने इसी भ्रान्ति का अनुसरण किया । और परिणाम में भविष्य के लिए अभिभूत ही होगया भारतीय सत्तातन्त्र बाहिर के आततायी आक्रान्ताओं से । तदित्थं प्रकृतिसिद्ध व्यवस्थाओं के अनुपात से विभक्ता विशेषयोग्यताओं के संकरदोष से ही भारत का उत्तरोत्तर अभिभव ही होता गया, जिसने कालान्तर में यवनसंस्कृति को भारतराष्ट्र का सम्मान्य अतिथि बना डाला । और यों महान् धर्म्मचक्रप्रवर्त्तक भारतीय सम्राट् की धर्म्मभावुकता से भारतराष्ट्र में जिस पारतन्त्र्य का आविर्भाव हो पड़ा, उसके वरुणपाश से आजतक यह राष्ट्र सर्वात्मना अपने आपको उन्मुक्त नहीं कर सका है ।

१६१–विजेता यवनसम्राटों का राष्ट्र के मनःशरीरतन्त्रों पर आक्रमण–

विजेता यवनसम्राट् आए थे आक्रान्ता बन कर । किन्तु यहाँ के सस्यश्यामल–ऋद्धि–वृद्धि–सुसम्पन्न ऐश्वर्य्य नें कालान्तर में उन्हें यहाँ के निवासी बन जाने के लिए ही विवश कर दिया, और यों आरम्भ के आक्रान्ता अतिथि भी यहाँ उसी प्रकार भारतीय ही बन गए (बन गए होते), जैसे कि आक्रान्ता शक–हूण–आदि सम्राटों को इस राष्ट्र की संस्कृति ने अपनी सभ्यता में विलीन कर यहीं का बना दिया था । राष्ट्र के मन और शरीरमात्र पर आक्रमण करने में कुशल भी इन यवन आक्रान्ताओं का आक्रमण भारतीय शिक्षायन्त्र पर आक्रमण न कर सका । फलस्वरूप इस युग में पुनः शिक्षायन्त्र सत्तातन्त्र से पृथक् होकर जनता की प्रज्ञा से समन्वित हो गया उस शासनकाल में । इसी क्षणिक–शिक्षा स्वातन्त्र्य के महान् वरदानरूप तद्युग में राष्ट्र में सभी क्षेत्रों में वैसी नवचेतनाएँ प्रादुर्भूत हो पड़ीं, जिनके विद्या–बल–पौरुष के अनुग्रह से राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–वैभव पुनः एकबार उदीयमानसा होता प्रतीत होने लगा । किन्तु ?

१६२–नैष्ठिकी ब्रिटिशसत्ता के द्वारा शिक्षायन्त्र का पारतन्त्र्य, एवं तन्मूलक राष्ट्रवैभव का सर्वविध शोषण––

इस किन्तु ? परन्तु ? से सम्बन्ध रखने वाले उस ब्रिटिशयुग के इतिहास का पिष्टपेषण आज सर्वथा निरर्थक है, जिसने सम्मान्य अतिथि के रूप में यहाँ पदार्पण करते ही करते तत्कालीन स्थिति का निष्ठापूर्वक अध्ययन किया । एवं इस राष्ट्र की संस्कृतिमूला सभ्यता के उस महान् अतिशय को लक्ष्य बना लिया अपनी बाणाक्षदृष्टि से, जिस अतिशय ने सभी आगन्तुकों को अपनी सभ्यता में विलीन कर लिया था । क्या था वह अतिशय ?, एकमात्र शिक्षास्वातन्त्र्य, जिसके मूल में भारतीय संस्कृति–धर्म्म–साहित्य–जैसी अश्माखण–शिलाएँ प्रतिष्ठित थीं । इन बुद्धिमानों नें यह अनुभव कर लिया कि, जबतक शिक्षायन्त्र यहाँ के जनतन्त्राध्यक्ष द्विजातियों के हाथों में सुरक्षित रहेगा, तबतक प्रयत्नसहस्रों से भी इस राष्ट्र को सर्वात्मना परतन्त्र न किया जा सकेगा । इस दृष्टिबिन्दु के साथ साथ ही इन नैष्ठिकों नें यह भी देखा, सुना, और अवधानपूर्वक मनन

किया कि, "अपने से निकट पूर्व के यवन अतिथि भी शनैः शनै-शक-हूणादि की भाँति उत्तरोत्तर भारतीय ही बनते जा रहे हैं। यदि कहीं ऐसा हो गया, तो फिर क्षणमात्र भी यहाँ अपन आतिथ्यसुख न भोग सकेंगे। अतः सर्वप्रथम इस आशङ्का का ही समाधान कर लेना आवश्यक होगा"।

उक्त आशङ्का का उन महान् नैष्ठिकों नें जो समाधान किया था, उसी के अनुग्रह से तत्पूर्वक के अतिथियों की भारतीयता का प्रवाह मानों अवरुद्ध ही हो गया। और ऐसा अवरुद्ध हो गया कि, उसनें इन्हीं नवीन अतिथियों के समाधानानुग्रह से इस राष्ट्र का अङ्ग-भङ्ग ही कर डाला, जिसके दुष्परिणामों से आज राष्ट्र की दो महान् शक्तियाँ (अमेरिका और रूस) मैत्री-वरुणा-मुदिता-सहायक-आदि आदि विविध प्ररोचनापथों के माध्यम से दोनों का हीं निगरण करने के लिए सन्नद्ध बनी हुई है।

प्रश्न शिक्षायन्त्र का प्रकान्त है। अतएव तत्सम्बन्ध में हीं निवेदन कर देना है। तथाकथित एक समाधान से ही समस्या का सर्वात्मना समाधान सम्भव न था। सर्वात्मना यह आवश्यक था कि, भारतीय उस शिक्षायन्त्र को स्वायत्त कर लिया जाता, जिसके बल पर मनःशरीरदृष्ट्या परतन्त्र भी बन जाने वाला भारतराष्ट्र आत्मबुद्ध्या स्वतन्त्र ही बनता चला आरहा था। वही हुआ, वही किया गया, और अवधानपूर्वक बड़ी सावधानी से किया गया। जिसका प्राथमिक श्रेय मिला 'गवर्न्मेंन्ट कॉलेज बनारस' के संस्थापक दूरदर्शी **लार्ड मेकाले महोदय को**। शिक्षायन्त्र के इसी राष्ट्रीयकरण से प्रतीच्यशिक्षायन्त्र के अनुग्रह से वैसे मेधावी-प्रज्ञाशील-कुशल दासों की परम्परा समुद्भूत होने लग पड़ीं, जिसने सर्वथा दासभाव से अपने राष्ट्र के इतर अदासों को भी दासता की शिक्षा-दीक्षा में शिक्षित-दीक्षित करना आरम्भ कर दिया।

शिक्षायन्त्र के इसप्रकार जनतन्त्र से पृथक् हो जाने के कारण हीं राष्ट्र का शिक्षित सांस्कृतिक द्विजातिवर्ग भी शिथिल बन गया। और इसने भी इस राजभक्तिपञ्जिका में हीं अपना नाम लिखवाना आरम्भ कर दिया। सत्ताश्रयभूता प्रतीच्यशिक्षा ही 'शिक्षा' रूप से प्रधान बन गई, एवं इस शिक्षा से शिक्षितों का एकमात्र महान् पौरुष बन गया-**प्रणतभाव से दासधर्म्म का अनुगमन**। नौकरी-सेवा-ही शिक्षा का एकमात्र मुख्य लक्ष्य बन गया, किंवा बना दिया गया उन प्रतीच्य नैष्ठिकों के द्वारा।

१६२-राष्ट्र के मध्यमवर्ग की दासवृत्ति, और राष्ट्र का पारतन्त्र्य—

यह अविस्मरणीय है कि, राष्ट्र के मध्यमवर्ग में हीं राष्ट्रीय चेतना प्रधानरूप से पुष्पित-पल्लवित रहा करती है। श्रमजीवीवर्ग भी इस ओर से उदासीन बना रहता है, एवं सुनिश्चित सम्पत्तिशाली वर्ग भी तटस्थ ही बना रहता है। संघर्षजीवी मध्यमवर्ग ही जागरूक बना रहता है। यदि किसी उपाय से इसकी स्वतन्त्र चेतना को परतन्त्र कर दिया जाता है, तो फिर केवल सेवावृत्ति-राजभक्ति-के अतिरिक्त और कोई भी स्वावलम्बिस्वपूर्ण पथ शेष नहीं रह जाता इसकी दृष्टि में। इस वर्ग के दासश्रेणि में दीक्षित होते ही सत्तातन्त्र निरंकुश बन कर सर्वात्मना अपने शोषणकर्म्म में सफल बन जाता है। और यही है उस बृटिशसत्तातन्त्र के

शिक्षायन्त्र का महद्दुःखपूर्ण जघन्य इतिहास, जिसने राष्ट्र के मध्यम वर्ग की चेतना को अभिभूत कर उसे दासधर्म्म में दीक्षित कर निरङ्कुशतापूर्वक इस राष्ट्र का निर्म्मम-शोषण प्रक्रान्त रखनें में हीं सफलता प्राप्त की थी।

१६४-राजभक्त विद्वानों, एवं सत्तासञ्चालक वित्तपतियों पर एक विहङ्गमदृष्टि-

संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों नें क्या इस मर्म्म को उस युग में नहीं समझा ?। समझा भी, और नहीं भी समझा। जिन परिगणित संस्कृतिनिष्ठों नें समझा, वे सत्तातन्त्र से निरपेक्ष बन कर अपनी निष्ठाओं में संलग्न रहे। जिन्होंनें नहीं समझा, वे मध्यमवर्ग की भाँति राजभक्ति में दीक्षित होकर ब्रिटिशसत्ता के महान् पोषक-समर्थक बन गए। तद्युग में उन उपाधिप्राप्त-महामहोपाध्यायों नें ब्रिटिशसत्ता की प्रशंसा में अनेक नवीन काव्यों का ही सर्जन कर डाला, जैसा कि इनका पूर्वसत्तायुगों में एक सफल व्यवसाय रहा है। क्या सम्पत्तिशालीवर्ग नें भी इस मर्म्म को नहीं समझा ?। जैसा इसने समझा, वैसा तो आजतक किसी ने भी नहीं समझा। तथाविध मर्म्म के स्वरूपसंरक्षण में हीं तो इस वित्तशालीवर्ग के हित सुरक्षित रहते आए हैं। दासता की अभिवृद्धि ही तो वित्तैषणा की पूर्ति का अन्यतम केन्द्र बना हुआ है इन व्यवसायधुरीणों की विहङ्गमदृष्टि में। अतएव यह वर्ग तो सत्तातन्त्र का सहसखा ही बनता आया है सदा से ही। संस्कृति-शिक्षा-धर्म्म-साहित्य-आदि आदि उसी सीमापर्य्यन्त इसकी दृष्टि में कुछ अर्थ रखते हैं, जिस सीमा में इस वित्तशाली के दासवर्ग की मान्यताओं का पोषण होता रहता है। अथवा तो साक्षात्रूप से ही ये धर्म्मादि इसकी वित्तैषणा-लोकैषणा के सहायक प्रतीत होते रहते हैं इसे। यही कारण है कि, जो भी सत्तातन्त्र जिस युग में भी राष्ट्र-जन-हित के व्याज से मध्यमवर्ग का जिन उपायों से जब भी शोषण करता है, तद्युग के वित्तशाली इस शोषणकर्म्म में सत्तातन्त्र के सहयोगी ही बनते रहे है, बनते ही रहेंगे। अतएव स्पष्ट ही एकमात्र मध्यम-वर्ग की चेतना के आधार पर ही राष्ट्रजागरण सम्भव बना करता है। यदि दुर्भाग्य से यह वर्ग भी सुप्त हो जाता है, तो उस अवस्था में तो राष्ट्र का भविष्य अन्धकारपूर्ण ही बन जाया करता है, जैसाकि तथाविध ब्रिटिशसत्तायुग में बन चुका था।

१६५--आज का स्वतन्त्र भारत और शिक्षायन्त्र का पारतन्त्र्य--

आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारत के जनतन्त्र में 'शिक्षा' के सम्बन्ध में क्या घटित होरहा है ?, यह अप्रिय प्रश्न हमारे प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है। अतएव तत्सम्बन्ध में कुछ न कहना हीं श्रेयःपन्था है। हाँ-राष्ट्रीयकरण के नाम पर शिक्षायन्त्र आज के इस जनतन्त्रात्मक स्वतन्त्र भारत में भी जिस निर्म्ममता से परतन्त्र बनता जा रहा है, यदि 'मल्टीपर्पज' लक्षण शिक्षायन्त्र का विस्तार कुछ समय पर्य्यन्त यों हीं परतन्त्र ही बना रह गया, तो निश्चयेन मध्यमवर्ग की स्वतन्त्र चेतना पुनः ब्रिटिशयुग की भाँति स्मृतिगर्भ में हीं विलीन हो जायगी, जिसके लिए सम्पूर्ण राष्ट्र को ही परितप करना पड़ेगा, निश्चयेन करना हीं पड़ेगा।

१६६-राष्ट्रीय संस्कृति-सभ्यता--धर्म्म--साहित्य--शिक्षा--आदि के संरक्षण के मूलसूत्र-

विस्पष्टतम है कि, राष्ट्र के मनीषी-प्रज्ञाशील-संस्कृतिनिष्ठ-साहित्यमर्म्मज्ञ विद्वानों, तथा तत्सहयोगी आस्थाश्रद्धाशील जनतन्त्र के उत्तरदायित्व से ही राष्ट्रीय संस्कृति--शिक्षा-साहित्य-धर्म्म-आदर्शादि अनुप्राणित

रहनें चाहिएँ । कदापि सत्तातन्त्र को इस व्यामोहन में नहीं पड़ जाना चाहिए कि, निर्वाचनपद्धति के अनुग्रह-मात्र से सत्तापद पर समारूढ हो जाने मात्र से ही उसने सभी क्षेत्रों की परपारदर्शकता प्राप्त करली । फिर जनतन्त्रात्मक प्रजातन्त्रीय सत्तातन्त्र में तो इसप्रकार का व्यामोहन कर बैठना मानों स्वयं अपने हीं हाथों से अपना सर्वनाश ही करा लेना हैं । जबकि राजतन्त्रानुगत सत्तातन्त्र के लिए भी भारतराष्ट्र में ऐसा अधिकार व्यामोहन अक्षम्य ही प्रमाणित होता आया है । वहाँ भी 'प्रजानुरञ्जनात्‌राजा' ही परिभाषा हुई है सत्तातन्त्र की । अवश्य ही कुछ एक भूत-भौतिक-श्रम-जीवनात्मक वैसे भी असंख्य क्षेत्र है राष्ट्र में, जिनके प्रति सत्ता को ही सापेक्ष रहना चाहिए । जबकि संस्कृति-शिक्षादि के संरक्षक-प्रवर्त्तकों को इन भूत-भौतिक सत्तानुबन्धों से निरपेक्ष ही बना रहना चाहिए । किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि, अनधिकृत क्षेत्रों को भी सत्तातन्त्र केवल 'सत्ता' नामाकर्षणमात्र से ही उनका राष्ट्रीयकरण करने लग पड़े । यही तो वह व्यामोहन है, जिसके कारण प्रतिदिन प्रतिक्षण-प्रतिश्वास-प्रश्वास-भारतीयता-मानवता-राष्ट्रीयता-सहास्तित्त्व-शान्ति-आदि आदि उदात्त घोषणाओं का निनाद करता हुआ भी सत्तातन्त्र इनकी व्यवस्थित आचारपद्धति के सर्जन-व्यवस्थापन में असमर्थ ही प्रमाणित हो रहा है । बड़े बड़े बाँध बँधवा देना, सड़कें बनवा देना, तालाव खुदवा देना, शिक्षा के लिए बड़े बड़े भवन खड़े कर देना, आदि आदि मात्र से ही यदि संस्कृति-शिक्षा-साहित्यादि की समस्याओं का समाधान हो जाता, तो यह पौरुष तो वे वित्तशाली धनिक कभी का कर डालते, जिनके विलासभवनों की तुलना में आजके आयोजनात्मक भवन कुछ भी तो नहीं हैं । यदि अर्थ, और तद्‌द्वारा संग्रहीत भूत-भौतिक-परिग्रहसाधन-मात्रों के कौशलपूर्वक विनास्यासायोजनों से हीं बिना ही मूल-स्वस्थ-तत्त्वचिन्तन-प्रज्ञा के संस्कृति-शिक्षा-साहित्य-धर्म्म-आदि का संरक्षण-विकास-प्रचार-सम्भव बन जाता होता तो, आज से कब के ही विश्व की सम्पूर्ण संस्कृति, सम्पूर्ण शिक्षासूत्र, सम्पूर्ण साहित्य धनपतियों की तिजोरियों में सुगुप्त होगए होते, और साधन विहीन कोई भी प्रज्ञाशील इनका दर्शन भी न कर पाता । अतएव राष्ट्र पर अनुग्रह कर सत्तातन्त्र को, तत्सहयोगी वित्तशालीवर्ग को अपनी इस भूतार्थ भ्रान्ति का अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग कर राष्ट्र के लिए नहीं, तो अपनी वैय्यक्तिक-मानवता के स्वरूपबोध के लिए अपने धनातिमान-एवं सत्तातिमान को एक ओर रख कर प्रणतभाव से उस जनतन्त्र की ही शरण में आजाना चाहिए, अविलम्ब आजाना चाहिए, जहाँ आज के इस साधनहीन-दीन-म्लान व्यक्तित्व के गर्भ में भी उन्हें संस्कृति-साहित्य-शिक्षा-धर्म्म-आदि के वे चिरन्तन स्रोत उपलब्ध हो सकते हैं, होंगे हीं, जिनके प्रत्यंशदानग्रहणमात्र से यी सत्तातन्त्र भारतराष्ट्र को पुनः अतीतभारतवत् जद्दाद्‌गुरुत्व के गरिमामहिमाय सम्मानित हृदयासन पर विराजमान कर सकता है ।

ठीक इसके विपरीत यदि सत्तातन्त्र इस भ्रान्ति में है कि, किसी का सत्ताश्रय के बिना काम चल ही नहीं सकता । अतएव सबको दासभाव से सत्ताद्वार पर पहुँच ही जाना पड़ेगा, जहाँ से धनराशि सामुद्रवारिधारावत् अजस्त्रवेग से प्रतिक्षण प्रवाहित हो रहा है । अवश्य ही इस आकर्षण से सबको सत्ता के प्रति अनिमन्त्रित ही आश्रित होना ही पड़ेगा । और तब सत्ता जैसा जो अंश उचित समझेगी, अपनी बुद्धि, विवेक, से परीक्षा कर, किंवा सत्ताद्वारा क्रीत विशेषज्ञों के द्वारा परीक्षा करा कर कुछ करने के प्रयत्न पर विचार करने मात्र का निःसीम अनुग्रहात्मक वरप्रदान कर संस्कृति-शिक्षा-आदि को धन्य-कृतकृत्या बना देगी, तो कहना पड़ेगा कि, वह सत्तातन्त्र भारतराष्ट्र का सत्तातन्त्र तो नहीं माना जा सकता ।

अवश्य ही ऐसे ही सत्तातन्त्र अतीत भारतराष्ट्र को देखने पड़े हैं, भुगतने भी पड़े हैं। अवश्य ही कुछ एक राष्ट्रद्रोही विद्वानों नें सत्तालोलुपता से उन सत्तातिमानियों के गुणगान से भारतीय पवित्र इतिहास के पृष्ठों को कलङ्कित भी किया है। दम्भ-मद-मान-समन्वित सत्तातन्त्रों की स्तुतियों से संस्कृति धर्म्म-शिक्षा-आदि महती राष्ट्रविभूतियों के समतुलन में उन सत्तासापेक्ष राजभक्त लोकवित्तैषणालिप्सु संस्कृति-धर्म्म शिक्षा-साहित्य-नामधारी नराधमों नें सत्ता-धन-भूतैश्वर्य्य को ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ प्रमाणित करते हुए अपनी वाग्देवी को दग्ध भी किया है *। ततः किं न श्छिन्नम्। क्या बनता, और बिगड़ता है ऐसे विभीषणों से। ऐसे भावुक विद्वान्, एवं ऐसे भावुकों को आश्रय देते रहने वाले सत्तातन्त्र, दोनों हीं भूतैषणाओं में हीं अपना जीवन समाप्त कर लेते हैं।

नैष्ठिक विद्वान् तो कदापि किसी भी अवस्था में अपनी संस्कृति-धर्म्म-शिक्षा-साहित्यादि की नैष्ठिकी स्वानुगता तत्त्वचिन्तनलक्षणा सापेक्षता का स्वप्न में भी परित्याग नहीं किया करते। उनके लिए तो सभी भूत-भौतिक प्रलोभन नगण्य हीं प्रमाणित होते रहते हैं, होते रहे हैं, एवं होते ही रहेंगे=। ऐसे संस्कृतिनिष्ठों के शरीर एवं मनस्तन्त्र अवश्य ही अतीत आसुरसत्ताओं के द्वारा सतत उत्पीड़ित होते रहे हैं। रावण-कंस वेन-वृत्र-नमुचि-विद्युन्माली-तार-तूर-शालकण्टङ्कट-आदि आदि के पुरातन बीभत्स इतिहास, एवं अन्यान्य नवीन आततायी नाराधमों के जघन्य इतिहास साक्षी हैं कि, जब यहाँ के सभी वर्ग संस्कृति-साहित्यादि, से निरपेक्ष बन गए हैं तत्कालीन सत्तातन्त्रों के भय से, तो उन आपत्तिकालों में इस देश के द्विजातिवर्ग नें हीं निद्रा-भूख-प्यास-योग-क्षेम-आदि को जलाञ्जलि समर्पित कर सर्वप्रयत्नों से यहाँ के उन साहित्यिक-सन्देशों को बचाया है, जिन प्रातःस्मरणीय भूसुरों के अनुग्रह से, तत्पथानुगामी स्वतन्त्रताप्रेमी धर्मिष्ठ क्षत्रिय वीरों के अनुग्रह से ही राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतीक भूत साहित्य आज के इस साहित्यान्धकारयुग में भी आस्थाश्रद्धा-शीला संस्कृतिनिष्ठा आर्षप्रजा का पथप्रदर्शन कर रहा है। कदापि वे भूसुर, और वे क्षत्रियवीर सत्ताओं के प्रति सापेक्ष नहीं रहे। तत्कालीन सत्ताओं नें दमन में कोई कमी नहीं की। किन्तु !, अलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेतिवृत्तेन।

---

*-धिगस्त्वेतां विद्यां-धिगपि कवितां-धिक् सुजनताम्।
वयो रूपं धिक्-धिक्-धिगपि च यशो निर्धनवतः॥
असौ जीयादेकः सकलगुणहीनोऽपि धनवान्।
बहिर्य्यस्य द्वारे तृणलवनिभाः सन्ति गुणिनः॥
—चाटुकारोक्तिरनार्षा-भावुकतापूर्णा

=—अधिगतपरमार्थान्-पण्डितान् मामवंस्थ—
तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि।
अभिनवमदलेखा श्यामगण्डस्थलानां—
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम्॥ (भर्तृहरिः)

१६६–तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः' श्रुति का तात्त्विक समन्वय—

निवेदन निष्कर्ष यही है कि, राष्ट्र की वह मौलिकसंस्कृति, वह शाश्वतधर्म्म–वह आर्षअपौरुषेयसाहित्य–वह आर्षशिक्षा, जिसका आधार दिग्देशकालातीत महाकालकालात्मक अव्ययेश्वरब्रह्म है, कदापि किसी की अपेक्षा नहीं रखती। इसी आधार पर–'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः' सिद्धान्त स्थापित हुआ है, जिसका सीधा-सा अर्थ यही है कि—**मूलसंस्कृति–धर्म्म–साहित्य के चिन्तक ब्राह्मण को सत्तानिरपेक्ष ही रहना चाहिए।** ब्राह्मण की सर्वनिरपेक्षतामूला स्वाध्याय–तत्त्वचिन्तननिष्ठा ही राष्ट्र को मानवमात्रहितैषिणी–विश्वशान्ति–स्वस्ति–ऋद्धि–वृद्धि–तुष्टि–तृप्ति–पुष्टि–प्रवर्त्तिका प्रतीक संस्कृति–सभ्यताएँ प्रदान कर सकता है। अतएव प्रतीक संस्कृति–सभ्यता के उत्तरदायित्व का वहन करने वाले सत्तातन्त्र को अपने प्रत्येक लौकिक–प्रतीकभूत–सांस्कृतिक आयोजन–सभ्यता–समारोहादि में तत्त्वनिष्ठ ब्राह्मण की अलौकिकी सांस्कृतिक (प्राणात्मिका) प्रेरणा को ही आधाररूपेण सुप्रतिष्ठित करना चाहिए। जिस प्रकार ब्राह्मण अराजन्य–अर्थात् सत्तानिरपेक्ष रह कर ही संस्कृतिचिन्तन में सफलता प्राप्त कर सकता है, तथैव सत्तातन्त्र ब्राह्मणादेश–प्रेरणा को आधार बना कर ही, ब्राह्मणसापेक्ष बन कर ही स्वराष्ट्रसंचालन–व्यवस्थापन में समर्थ बन सकता।

ब्राह्मणसत्तासापेक्ष बन कर नष्ट हो जाया करता है, तो सत्तातन्त्र ब्राह्मणनिरपेक्ष बन कर विनष्ट होजाया करता है, यही पूर्वोपात्त मैत्रावरुणग्रहश्रुति के अक्षरार्थ प्रसङ्ग से उपस्थित उस प्रतिज्ञात विशेष दृष्टिकोण का प्रासङ्गिक सम्यक्विश्लेषण है, जिस इस श्रौतरहस्य को उपेक्षित कर देने वाले, किंवा दृष्टिपथ से विस्मृत ही कर देने वाले, साथ ही प्रतीकभूता–लोकसंस्कृति–लोकसभ्यता–मतवादात्मकधर्म्मों को ही संस्कृति–धर्म्म मान बैठने वाले–(जिनकाकि उत्तरदायित्व कालानुबन्धिनी लोकसत्ताओं से अनुप्राणित रहा है, इसी दृष्टि से—**'राजा कालस्य कारणम्'** यह ऐतिह्य वचन उद्धृत हुआ है। यहाँ का भावुक विद्वद्वर्ग सत्ताश्रयमूला राजभक्ति में व्यामोहन में आकर सत्तानुगत भूतव्यामोहन से आत्मविस्मृत बन अपनी मूलनिष्ठाओं से पराङ्मुख प्रमाणित होता हुआ अपने सांस्कृतिक स्वरूप से अभिभूत होगया है, एवं ऐसे सत्ताश्रित सांस्कृतिकभावुक विद्वानों के सान्निध्य से सत्तातन्त्र भी भारतराष्ट्र की मौलिक विभूतियों के स्पर्श से वञ्चित रहता हुआ संस्कृति समाश्रय से–धर्म्म से–(आत्मनिष्ठा से) शून्य अपने समस्त आयोजनों में यातयाम ही बनता जारहा है। दोनों ही वर्ग मैत्रावरुणग्रहश्रुति के अनुग्रह से मित्र, और वरुण का स्वरूप समझें, दोनों अपने विभक्त उत्तरदायित्वों पर ही निष्ठापूर्वक आरूढ़ रहें, इस समन्वय के द्वारा राष्ट्र को अभ्युदय–निःश्रेयस पथानुगामी प्रमाणित करें, एकमात्र इसी मङ्गलकामना से संस्कृति, और सभ्यता शब्दों के चिरन्तन–इतिहास प्रसङ्ग में मैत्रावरुणश्रुति की प्रासङ्गिक चर्चा होपड़ी है, जो हम समझते हैं, दोनों शब्दों के चिरन्तन इतिहास का ही समर्थन कर रही है।

१६७–निरपेक्षा–सापेक्षा–संस्कृति के द्वारा भावुक मानवों का उद्बोधन—

संस्कृति और सभ्यता शब्दों के रहस्यार्थात्मक चिरन्तन इतिहास के स्वरूप–विश्लेषण–प्रसङ्ग से मैत्रावरुणग्रहश्रुति के अक्षरार्थसमन्वय द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराया गया। अब हमें संकलनरूप से अब तक के निरूपित इतिहास का सिंहावलोकन कर प्रतिज्ञात 'सांस्कृतिक–आयोजनों' की रूपरेखा

में प्रवृत्त होजाना चाहिए। अत्यन्त अवधानपूर्वक अब तक के दृष्टिकोणों को लक्ष्य बनाने से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि, 'संस्कृति' शब्द की व्याप्ति निरपेक्षासंस्कृति, सापेक्षासंस्कृति भेद से दो स्थानों में विभक्त होरही है। विश्वातीत-अव्ययपुरुषलक्षणा मूलसंस्कृति ही 'निरपेक्षासंस्कृति' है, जो कार्य्य-कारणमर्य्यादाओं से, अतएव अनुशीलन-आचरण-अनुसरण-अनुकरणात्मक प्राकृतिक प्रतीकभावों से सर्वथैव असंस्पृष्टा है। अव्ययपुरुषवत् वृक्षइव स्तब्धा वह विश्वनिरपेक्षा 'अव्ययपुरुषसंस्कृति' ही मानव का सिद्धावस्थापन्न वह परमपुरुषार्थ है, जिसे 'ब्राह्मीस्थिति' कहा गया है, जिसके योगसंसिद्धावस्था में स्वतः उदित होजाने पर मानव 'स्थितप्रज्ञ' बनजाया करता है, एवं जो स्थितप्रज्ञता ही अव्ययात्म-संस्कृतिनिष्ठ द्विजाति मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिस्वरूपा 'विदेहमुक्ति' है। अचिन्त्या है यह निरपेक्षा ब्रह्मसंस्कृति, जिसका केवल जड़-भूत-प्रकृतिवादियों को स्मरणाधिकार भी उपलब्ध नहीं हो सकता है। अतएव जो आत्मवादी-भूतवादी-क्षणिक-शून्यवादी प्राकृतिक-व्यामोहनों को ही मानव की 'संस्कृति' मानते मनवाते हुए स्वयमपि दिग्भ्रान्त बने हुए हैं, एवं प्रत्यक्षभावों से आकर्षितमना भावुकमानवों को भी दिग्भ्रान्त-लक्ष्यविहीन बनाते हुए कल्पित संस्कृति-मानवता-विश्वबन्धुत्व-आदि भारतीय आर्षसंस्कृति के शब्दों के व्यामोहनजाल से अपनी वित्तैषणागर्भिता लोकैषणाओं को चरितार्थ करते हुए निम्नलिखित श्रुतिवचन को अक्षरशः अन्वर्थ बनाते जारहे हैं, जिनकी इस दन्द्रम्यमाण जघन्या मलीमसा दुर्वृत्ति भावुक, किन्तु आस्थाश्रद्धाशील भारतीय आत्मनिष्ठ मानवों के उद्बोधन के लिए ही संस्कृति-सभ्यता शब्दों का चिरन्तन इतिहास यहाँ उपवृत्त हुआ है।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

—उपनिषत्।

१६८-निरपेक्षा संस्कृति के आधार पर सापेक्षा लोकसंस्कृति का वितान—

सिद्धपुरुषार्थलक्षणा-ब्राह्मीस्थितिरूपा-स्थितप्रज्ञतात्मिका-वृक्षइवस्तब्धा--विदेहमुक्ति--स्वरूपा---अव्यय--पुरुषात्मिका इत्थंभूता निरपेक्षा 'शाश्वत-संस्कृति' का न तो कोई अनुशीलनपक्ष ही है, न आचारपक्ष ही, न अनुसरणात्मक अनुकरणपक्ष ही। किसी भी प्रतीकात्मक शरीरानुबन्धी अनुकरण, मनोऽनुबन्धी अनुसरण, बुद्ध्यनुबन्धी आचरण एवं भूतात्मानुबन्धी अनुशीलन से तथाविधा निरपेक्षा संस्कृति का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो अलौकिक-जीवन्मुक्त-अतिमानव के निष्ठाक्षेत्र से ही स्वतः ही समन्विता है, जिस समन्वयानुग्रह-प्राप्ति के लिए निरपेक्ष-संस्कृतिनिष्ठ अतिमानवों (महर्षियों) ने चतुर्विधा प्रकृतिसापेक्षा संस्कृतियों का संस्थापन किया है चतुष्पर्वा लोकमानव के मानवीय चार पर्वों के क्रमिक समन्वय की दृष्टि से, जिस दृष्टि का पूर्व के-'संस्कृति, और सभ्यता शब्दों का पार्थक्य' नामक १०३ वें परिच्छेद में (पृ० सं० ५६) एक विभिन्न दृष्टिकोण से दिग्दर्शन कराया जाचुका है।

१६९-सापेक्षा-लोकसंस्कृति का आचारात्मक स्वरूप—

मानव का भूतात्मा **मोक्षसंस्कृति** से, मानव की बुद्धि **धर्म्मसंस्कृति** से, मानव का मन **'कामसंस्कृति'** से, एवं मानव का शरीर **'अर्थसंस्कृति'** से क्रमशः सुसंस्कृत बन जाया करते हैं। इन चारों प्राकृतिक-मानवीय पर्वों को उस अमानवीया,-किंवा अलौकिक मानवीया, किंवा अतिमानवीया पुरुषार्थलक्षणा निरपेक्षा संस्कृति के अनुरूप बना देने से ही इन चारों लोकपर्वसंस्कृतियों को-प्रकृतिसापेक्षा, विश्वसापेक्षा **'प्रकृत्यर्थ-संस्कृति'** कहा जा सकता है, जबकि एक विशेष दृष्टिकोण से इस चतुर्विधा लोकसंस्कृति को **'पुरुषार्थसंस्कृति'** नाम से भी व्यवहृत कर दिया गया है।

स्वतःसिद्धा पुरुषार्थसंस्कृति के उदयकरा कारण बनीं रहने से ही ये चतुर्विधा प्रकृतिसंस्कृतियाँ भी 'ताच्छब्दन्याय' से पुरुषार्थसाधिका बनती हुईं **'पुरुषार्थसंस्कृति'** नाम से व्यवहृत की जा सकती हैं, की गईं हैं। प्रकृत्यर्थरूपा, विश्वसापेक्षा इन चारों सापेक्षसंस्कृतियों का आचारात्मक-व्यवहारात्मक स्वरूप क्या है !, इस प्रश्न का समाधान ही **'मानवाश्रम'** है। अर्थात् अपने ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासाश्रम-नामक चारों मानवीय आश्रमों में आश्रमजीवनपद्धति से व्यवस्थित रहने वाले द्विजातिमानव की चतुर्विधा शास्त्रविधिसमर्थिता आचारनिष्ठा ही इन चारों संस्कृतियों का आचारात्मक-व्यावहारिक-स्वरूप है, जिनके तथ्यपूर्ण चिरन्तन इतिहासों के समन्वय परिज्ञान के लिए तो शास्त्रस्वाध्याय ही शरणीकरणीय हैं। प्रासङ्गिक समन्वयमात्र की दृष्टि से प्रकृत में इनके आचारपक्ष के सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, सुप्रसिद्ध शास्त्रीय **'कर्म्म[१]-उपासना[२]-ज्ञान[३]-बुद्धि[४]'** नामक चतुर्विध काण्ड ही **'अर्थ[१]-काम[२]-धर्म्म[३]-मोक्ष[४]'** नामकी संस्कृतियों का आचारात्मक स्वरूप है।

१७०-लोकसंस्कृतिमूला-शास्त्रीया-योगचतुष्टयी—

साधनात्मक भूतपरिग्रहों से साध्यरूप भौतिकफल प्राप्ति लक्षण आचारपक्ष ही **'कर्म्मकाण्ड'** है, जिसे यज्ञकाण्ड भी कहा गया है। साधनात्मक भूतपरिग्रहों से साध्यरूप दैविकफलप्राप्तिलक्षण आचारपक्ष ही **'उपासनाकाण्ड'** है। साधनात्मक दैविकपरिग्रहों से सम्पन्न साध्यरूप दैविकफलप्राप्तिलक्षण आचारपक्ष ही **'ज्ञानकाण्ड'** है। एवं साधनरूप दैविक परिग्रहों से सम्पन्न साध्यरूप दैविक परिग्रहानुशीलात्मक पक्ष ही **'बुद्धिकाण्ड'** है। सहजभाषानुसार जिस आचार में साधन, साध्य दोनों आधिभौतिक रहेंगे, उसे **'कर्म्मयोग'** कहा जायगा। जिसमें साधन आधिभौतिक, किन्तु साध्य आधिदैविक रहेंगे, उसे **'भक्तियोग'** माना जायगा। जिसमें साध्य-साधन दोनों ही आधिदैविक आचरणात्मक होंगे, उसे **'ज्ञानयोग'** माना जायगा। एवं जिसमें साध्य-साधनरूप से दैविकयोगों का अनुशीलनमात्र रहेगा, उसे **'बुद्धियोग'** कहा जायगा।

१७१-आचारसंस्कृतियों का तालिकात्मक स्वरूप—

उभयत्र भौतिक स्थूल आचारात्मक कर्म्मयोग ही मानव की शरीरनिबन्धना **'अर्थसंस्कृति'** कहलाएगी एकत्र भौतिक, अन्यत्र दैविक सूक्ष्म आचारात्मक भक्तियोग ही मानव की मनोनिबन्धना **'कामसंस्कृति'**

कहलाएगी। उभयत्र दैविक, सुसूक्ष्म आचरणात्मक ज्ञानयोग ही मानव की बुद्धिनिबन्धना **'धर्म्मसंस्कृति'** कहलाएगी। एवं उभयत्र दैविक सहज-अनुशीलनात्मक बुद्धियोग ही मानव की भूतात्मनिबन्धना **मोक्षसंस्कृति** है। और यों प्राकृतिक-विश्वमापेक्ष-शरीर, मनो, बुद्धि, भूतात्मानुगत चारों योग ही मानव की चतुर्विधा प्रकृतिसंस्कृतियाँ हैं, जिन्हें आश्रमव्यवस्थामूला-आश्रमजीवनव्यवस्था निबन्धना शास्त्रीया **'आचारसंस्कृति'** अभिधा से ही व्यवहृत किया गया है। यही यहाँ के उस आचारधर्म्मात्मक प्रतीकधर्म्म की सहजस्वरूप परिभाषा है, जिससे वर्णाश्रमानुगता भारतीया द्विजातिमानवप्रजा सर्वात्मना सच्छ्रस्का-मर्य्यादिता बनी रहती हुई अभ्युदय-निःश्रेयस् का अर्जन करती रहती है। लक्ष्य बनाइए तालिकारूपेण चतुर्विधा इस मानवीया शास्त्रसापेक्षा लोकसंस्कृति को—

प्रकृतिसंस्कृतिचतुष्टयी-स्वरूपपरिलेखाः-(आचारात्मिका सैषासंस्कृतिचतुष्टयी)

१-मानवस्य भूतात्मा-तदनुगतः-मोक्षः-प्रकृत्यर्थरूपः पुरुषार्थः-स्वायम्भुव (आत्मिकः)।
२-मानवस्य बुद्धिः—तदनुगतः-धर्म्मः-प्रकृत्यर्थरूपः पुरुषार्थः-सौरः (बौद्धिकः)।
३-मानवस्य मनः—तदनुगतः-कामः-प्रकृत्यर्थरूपः पुरुषार्थः-चान्द्रः (मानसिकः)।
४-मानवस्य शरीरम्-तदनुगतः-अर्थः-प्रकृत्यर्थरूपः पुरुषार्थः-पार्थिवः (शारीरिकः)।

——❀——

१-भूतात्मानुगतो मोक्षएव-बुद्धियोगः (शास्त्रीययोगविधिः)-दैविकानुशीलनात्मकः
२-बुद्ध्यनुगतो धर्म्मएव-ज्ञानयोगः (शास्त्रीयज्ञानविधिः)-दैविकसुसूक्ष्माचारात्मकः
३-मनोऽनुगतः कामएव-भक्तियोगः (शास्त्रीयोपासनविधिः)-दैविकभौतिकसूक्ष्माचारात्मकः
४-शरीरानुगतः अर्थएव-कर्म्मयोगः (शास्त्रीययज्ञविधिः)-भौतिकस्थूलाचारात्मकः

——❀——

१-भूतात्मानुगतो बुद्धियोग एव-मानवस्य-'मोक्षसंस्कृतिः'
२-बुद्ध्यनुगतो ज्ञानयोग एव-मानवस्य-'धर्म्मसंस्कृतिः'
३-मनोऽनुगतो भक्तियोग एव-मानवस्य-'कामसंस्कृतिः'
४-शरीरानुगतः कर्म्मयोग एव-मानवस्य-'अर्थसंस्कृतिः'

——❀——

१-भूतात्मानुगता-मोक्षसंस्कृतिरेव-मानवस्य-अनुशीलनलक्षणः-आचारधर्म्मः
२-बुद्ध्यनुगता—धर्म्मसंस्कृतिरेव-मानवस्य-आचरणलक्षणः—आचारधर्म्मः
३-मनोऽनुगता—कामसंस्कृतिरेव-मानवस्य-अनुसरणलक्षणः—आचारधर्म्मः
४-शरीरानुगता—अर्थसंस्कृतिरेव-मानवस्य-अनुकरणलक्षणः—आचारधर्म्मः

——❀——

आचारः परमो धर्म्मः–इत्याहुराचार्य्याः–आचारनिष्ठविद्वांसः

१–अनुशीलनात्मिका–मोक्षसंस्कृतिरेव–वैराग्यबुद्धियोगः (बुद्धियोगो वा)।
२–आचरणात्मिका—धर्म्मसंस्कृतिरेव–ज्ञानबुद्धियोगः (ज्ञानयोगो वा)।
३–अनुसरणात्मिका--कामसंस्कृतिरेव–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः (भक्तियोगो वा)।
४–अनुकरणात्मिका--अर्थसंस्कृतिरेव--धर्म्मबुद्धियोगः (कर्म्मयोगो वा) ❀।

१७२–सिद्धा, एवं साध्या संस्कृति की निरपेक्षता–सापेक्षता का समन्वय—

तदित्थं–सिद्धपुरुषार्थलक्षणा सर्वनिरपेक्षा विश्वेश्वरसंस्कृतिरूपा वृक्ष इव स्तब्धा मूलसंस्कृतिभावात्मिका १ 'अलौकिकसंस्कृति' एवं साध्यपुरुषार्थलक्षणा--प्रकृत्यर्थरूपा--विश्वसंस्कृतिरूपा--शास्त्रीया--चतुर्विधा–२ 'लौकिकसंस्कृति' रूप से संस्कृति के दो मुख्य विवर्त्त होजाते हैं। इन दोनों संस्कृतियों में से विश्वातीता, किन्तु विश्वस्वरूपाधिष्ठात्री अलौकिक–अव्ययात्मसंस्कृति की निरपेक्षता तो सर्वात्मना संसिद्धा है ही। अब प्रश्न शेष रह जाता है चतुर्विधा उस लोकसंस्कृति का, जिसे शास्त्रसापेक्षा बतलाया गया है। क्या यह लोकसंस्कृति–चतुष्टयीलक्षणा शास्त्रीया संस्कृति भी अव्ययात्मसंस्कृतिरूपा मूलसंस्कृति (अलौकिकसंस्कृति) की भाँति सत्तानिरपेक्षा ही है ?, जिस इस प्रश्न का 'हाँ' और 'ना' दोनों ही उत्तर सम्भव होंगे दृष्टिकोणभेद से, जिनका समन्वय कर लेना भी प्रासङ्गिक ही मान लिया जायगा। एवं इस प्रासङ्गिक समन्वय के लिए भी हमें एक श्रौत–सन्दर्भ का ही आश्रय लेना पड़ेगा, जिसका अविकलरूप निम्नलिखित है।

१७३–समन्वयाधारभूत–श्रौतसन्दर्भ—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्–एकमेव। तदेकं सत्–न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत–क्षत्रं, यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि–इन्द्रः, वरुणः, सोमः, रुद्रः, पर्जन्यः, यमः, मृत्युः, ईशानः, इति। तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति। तस्मात्–ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये। क्षत्रऽएव तद्यशो दधाति। सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। तस्मात्–यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैव–अन्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्। य उ एनं हिनस्ति, स्वां स योनिमृच्छति। स पापीयान् भवति, यथा श्रेयांसं हिंसित्वा॥ १॥

स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत्–यान्येतानि देवजातानि गणशः–आख्यायन्ते–वसवः–रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवाः, मरुतः, इति॥ २॥

❀–इन चारों संस्कृतियों के स्वरूपेतिहास के लिए नवखण्डात्मिका गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के कर्म्म–भक्ति–ज्ञान–बुद्धियोग–परीक्षात्मक स्वतन्त्र चार खण्ड हीं देखने चाहिए, जिन की संकलिता पृष्ठसंख्या ३००० (तीन हजार) के लगभग है।

स नैव व्यभवत् । स शौद्रं वर्णमसृजत–पूषणम् । इयं वै (पृथिवी) पूषा । इयं हीदं सर्वं पुष्यति, यदिदं किञ्च ॥ ३ ॥

स नैव व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत–धर्म्मम् । तदेतत्–क्षत्रस्य–क्षत्रं, यद्धर्म्मः । तस्मात्-धर्म्मात्परं नास्ति । अथोऽबलीयान् बलीयांसं–समाशंसते धर्म्मेण, यथा राज्ञा-एवम् । यो वै स धर्म्मः, सत्यं वै । तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः–'धर्म्मं वदति' इति । धर्म्मं वा वदन्तं–'सत्यं वदति' इति । एतद्ध्येवैतत्–उभयं भवति ॥ ४ ॥

तदेतत्–ब्रह्म, क्षत्रं, विट्–शूद्रः । तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माऽभवत्, ब्राह्मणो मनुष्येषु । क्षत्रियेण क्षत्रियः, वैश्येन वैश्यः, शूद्रेण शूद्रः । तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते, ब्राह्मणे मनुष्येषु । एताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माऽभवत् ॥ ५ ॥

—शतपथब्राह्मण १४।४।२।२३ वीं कण्डिका से २७ वीं कण्डिका पर्य्यन्त ।

१७४–श्रौतसन्दर्भ का रहस्यात्मक समन्वय—

प्राकृतिक विश्व के अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण वर्णतत्त्वनिबन्धन–प्राणात्मक–देवताविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले उक्त श्रौतसन्दर्भ के ज्ञानविज्ञानात्मक तात्त्विक समन्वय के लिए तो द्विजातिमानव को वेदस्वाध्यायपथ का ही अनन्यनिष्ठा से अनुगमन करना चाहिए । कदापि कण्डूमात्रनिवारक अक्षरार्थमात्र से श्रौत वचनों का तात्त्विक बोध सम्भव नहीं है । कण्डूशान्तिमात्र के लिए ही अक्षरार्थमात्रसमन्वय के द्वारा हमें मनस्तुष्टि ही कर लेनी चाहिए इसप्रकार कि—

"आज विश्व का जो आकाश--सूर्य्य–चन्द्र–पृथिव्यात्मक स्वरूप दिखलाई पड़ रहा है, वह इस व्यक्त स्वरूप से पूर्व–प्रथमावस्था में, आरम्भदशा में केवल ब्रह्मरूप ही था । अर्थात् आपोमय सुब्रह्म नामक पारमेष्ठ्य–ऋत अथर्व के गर्भ में प्रविष्ट आकाशात्मा स्वयम्भूब्रह्म * की ही व्यक्त–आलोकजगत् से पूर्व प्रधानता थी । वह अव्यक्त स्वयम्भूब्रह्म आरम्भ में एकाकी ही था । अपने इस एकाकी ब्रह्मरूप से स्वयम्भूब्रह्म विश्वविभूतिरूप में परिणत होने में समर्थ न बन सका, सर्वहुतयज्ञात्मक–सर्वमेधयज्ञरूपात्मक–विश्वविवर्त्तरूप में परिणत न होसका । अपनी इस विभूति--कामना को, विश्वैश्वर्य्यकामना को सफल करने के लिए स्वम्भूब्रह्म ने अपने से भी श्रेष्ठ रूप को अपने प्रवर्ग्यभाग से उत्पन्न किया, जो कि श्रेष्ठरूप 'क्षत्र' कहलाया । अर्थात् ब्रह्म ने विश्वविभूति–कामना से क्षत्ररूप ही उत्पन्न किया अपने प्रवर्ग्यभाग से ।

*–ध्यान रहे, सृष्टि का आधारभूत 'ब्रह्म' यहाँ सृष्टि की अपेक्षा कोई लोकातीत ब्रह्म नहीं है । अपितु व्यक्ताधिष्ठाता–क्षरप्रकृतिक–आकाशात्मा–ऋक्सामयजुर्म्मूर्त्ति स्वयम्भू ही यहाँ के 'ब्रह्म' शब्द से परिगृहीत है, जिसे अन्यत्र–'ब्रह्म वै स्वयम्भू तपो ऽतप्यत' रूप से विश्वकर्म्मात्मक तप का सञ्चालक माना गया है । (देखिए शत० १३।७।३।१।) ।

वैदिक-सृष्टिविज्ञानवेत्ता विद्वानों को यह सुविदित ही है कि, स्वयम्भू ब्रह्म ऋक्-साम-यजुः-रूप से त्रयीमूर्त्ति है। इसके ऋक्सामात्मक-वयोनाधरूप छन्दोभाव से छन्दित-सीमित यजुःरूप ब्रह्माग्निभाग यत्रूप प्राणव्यापार से द्रुत होकर आपोमय परमेष्ठीरूप में परिणत हो रहा है, जो परमेष्ठी भृग्वङ्गिरोमय अथर्वब्रह्म कहलाया है। अथर्वब्रह्म उसी यजुर्ब्रह्म का द्रुत-अर्द्ध पत्नीरूप है, एवं स्वयं यजुर्ब्रह्म सत्याग्निरूप पतिभाग है। ब्रह्म स्वयम्भू, एवं सुब्रह्म परमेष्ठीरूप पति-पत्नी का दाम्पत्यलक्षण पूर्णस्वरूप ही 'स्वयम्भूब्रह्म' है। इसप्रकार स्वयम्भूब्रह्म के शुक्रात्मक-वेदाग्नि (यजुराग्नि) बीज का शोणितात्मक-अथर्व में आधान होता है। इसी मिथुनभाव से हिरण्मयाण्डमध्यवर्त्ती सूर्य्यनारायण का आविर्भाव होता है, जिसके आविर्भूत होते ही विश्व में स्वयम्भूब्रह्म का अव्यक्त यश व्यक्तरूप में परिणत हो जाता है। और यही उस ब्रह्मस्वयम्भू का स्वयम्भू-परमेष्ठी के दाम्पत्यभाव से समुद्भूत--ब्रह्मापेक्षया भी (व्यक्त विश्वापेक्षया भूतसमृद्धि की अपेक्षा से) श्रेष्ठ ही रूप माना जायगा। यही विश्व का क्षात्रतेज माना जायगा, माना जा रहा है।

आपोमय परमेष्ठीमण्डल के गर्भ में भृगुसम्बन्ध से अङ्गिरा की चिति के द्वारा स्वायम्भुव ब्रह्मरूप यजुरग्नि की संचिति से आविर्भूत, व्यक्त विश्वापेक्षया अव्यक्त स्वयम्भू ब्रह्म से भी श्रेष्ठ हिरण्मय जो सौर क्षात्र तेज आविर्भूत हुआ, वह क्षत्रतत्त्व परमेष्ठ्यनुगत सौरमण्डलान्तर्भुक्त सौर **इन्द्र**, पारमेष्ठ्य **वरुण**, ब्राह्मणस्पत्य **सोम**, आग्नेय **रुद्र**, आप्यभार्गव **पर्जन्य**, सौर **यम**, मृत्युर्लक्षण **मृत्यु**, एवं पारमेष्ठ्य आपः से समन्वित सौरसाम्बसदाशिवात्मक **ईशान**, इन अवान्तर प्राणदेवताओं की समष्टि ही था। अर्थात् इन प्राणदेवताओं की समन्वितावस्था का नाम ही ब्रह्म से आविर्भूत क्षत्रतत्त्व था।

स्वयम्भू ब्रह्म का पार्थिव सगुणरूप ही ब्राह्मण है, एवं तत्प्रथमसन्ततिरूप क्षत्र का पार्थिव सगुणरूप ही क्षत्रिय है, जैसाकि अन्त में-'**ब्राह्मणो मनुष्येषु०**' इत्यादिरूप से स्वयं श्रुति ही स्पष्ट करने वाली है। प्राणदेवताओं से सम्बन्ध रखने वाले ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र-वर्णों से ही मानवों में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यादि चातुर्वर्ण्य का आविर्भाव हुआ है, जो आगे चलकर प्रकृतितत्त्वरहस्यवेत्ता ऋषियों के द्वारा गोत्र-वर्ण-जाति-रूपेण सुव्यवस्थित होते हुए 'वर्णव्यवस्था' रूप से सामाजिक अनुबन्ध बन गए हैं। न केवल मनुष्यों में हीं, अपितु ब्रह्म-क्षत्रादि प्राकृतिक वर्णतत्त्वों से समुत्पन्न चर-अचर-समस्त प्राणियों, जड़भूतों में भी उसी क्रमानुपात से चातुर्वर्ण्य व्याप्त है, जिस इस प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य को न जानने के कारण ही आजका विकृत्युपासक मानव भारतीया विज्ञानसिद्धा वर्णाश्रमव्यवस्था के उन्मूलन के लिए आतुर बनता हुआ अपने स्वरूप का ही उन्मूलन करता जा रहा है, जैसाकि अन्य सामयिक निबन्ध में दिग्दर्शन करा दिया गया है *।

यजुरूप अव्यक्तमूर्त्ति ब्रह्माग्नि से सम्बन्धित स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि प्राण विभूतिभाव से क्रमशः **अग्नि, सोम, सविता, मित्र, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, सरस्वती**, इन सात विवर्त्तभावों में परिणत होकर ही ब्रह्मात्मक ब्राह्मणवर्ण का आविर्भावक बनता है। अतएव यह सप्तब्रह्म-प्राणदेवता प्रकृति में-'ब्राह्मणदेवता' कहलाए हैं। ब्राह्मणवर्णप्रधान मानव के भूतात्मा में इन्हीं सप्त ब्राह्मणदेवों की प्रधानता रहती है, जबकि क्षत्रियवर्ण-प्रधान मानव में **इन्द्र-वरुण-सोम-रुद्र-पर्जन्य-यम-मृत्यु-ईशान**-इन आठ क्षत्रप्राणदेवताओं की

* देखिए-'**श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश**' नामक सामयिक लघुनिबन्ध।

अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठा रहती है। एवमेव वैश्यमानव में **वसु-रुद्र-आदित्य-विश्वेदेव-मरुत्** नामक पाँच विड्वर्णात्मक प्राणदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं शूद्रमानव में पार्थिव **पूषाप्राणदेवता** की प्रधानता मानी गई है, जैसाकि गीताभूमिका–कर्म्मयोगपरीक्षा के–**'वर्णव्यवस्थाविज्ञान'** नामक अवान्तर परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जाचुका है। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, प्राकृतिक ब्रह्म–क्षत्र–विट्–शूद्र–प्राणदेवों से ही पार्थिव मानवीय वर्णभावों का विकास हुआ है। चारों में अष्टप्राणदेवतात्मक क्षत्र ब्रह्म का श्रेष्ठरूप है। अतएव क्षत्र ही श्रेष्ठरूप मान लिया गया है व्यक्त विश्व की दृष्टि से, जिसका भौतिक स्वरूप सूर्य्य ही है। सूर्य्यसत्ता ही व्यक्त विश्वसत्ता की प्रतिष्ठा है। अतएव ब्रह्म से समुद्भूत क्षत्रसूर्य्य ही उत्कृष्टरूप है। इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है–**'तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति'**।

ब्रह्म से ब्राह्मण मानव का आविर्भाव हुआ है, एवं सौरक्षत्र से क्षत्रिय मानव का आविर्भाव हुआ है। अतएव वर्णमानवों में व्यक्त विश्व की भाँति ब्राह्मणमानव के समतुलन में क्षत्रिय को ही श्रेष्ठ–परम–कहा जायगा। क्षात्रसत्तातेज के इसी श्रेष्ठत्त्व का दिग्दर्शन कराती हुई आगे चलकर श्रुति कहती है कि, क्योंकि ब्रह्म से क्षत्र परम है, श्रेष्ठ है। अतएव राज्याभिषेक के समय ब्रह्म से व्यक्त होने वाला ब्राह्मणमानव सिंहासन से नीचे खड़ा होकर ही क्षत्र से व्यक्त होने वाले, अतएव श्रेष्ठ मूर्द्धाभिषिक्त राजा का अभिषेक करता है। कदापि इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, ब्राह्मण इससे क्षत्रिय से अवरकक्षा में आगया। यह तो ब्राह्मण की ओर से क्षत्रिय में यशोरूप तेज का ही आधान करना है। क्षत्रिय को, सत्तातन्त्र को यह नहीं भुला देना चाहिए कि, यह ब्रह्म तो क्षत्र की योनि है, मूलप्रतिष्ठा है ब्रह्म से ही तो क्षत्र का आविर्भाव हुआ है। यही कारण है कि, व्यक्त भूतैश्वर्य्य की दृष्टि से सत्तातन्त्र भले ही कैसी ही उत्कृष्टता–श्रेष्ठता पर क्यों न पहुँच जाय। अन्ततोगत्त्वा सर्वथा प्रत्येक अवस्था में इसके लिए स्वप्रतिष्ठाभूत ब्रह्मात्मक ब्राह्मण ही शरणी–करणीय बना रहता है, बना ही रहना चाहिए। अपने व्यक्त भूतैश्वर्य्य की परमता के व्यामोहन में आकर जो सत्तातन्त्र राष्ट्र के इस ब्राह्मणवर्ग की उपेक्षा कर देता है, इसे तिरस्कृत–उत्पीड़ित कर देता है, वह अपनी मूलप्रतिष्ठा का ही नाश कर लेता है। ब्राह्मणावमन्ता वैसा सत्तातन्त्र निश्चयेन कालान्तर में उसीप्रकार अधोगति को प्राप्त होजाता है, जैसाकि, **'श्रेयांसं हित्त्वा पापीयान् भवति'** ॥१॥

अपनी विभूतिकामना को सफल बनाने के लिए **अग्नि–सोम–सविता–मित्र–बृहस्पति–ब्रह्मणस्पति–सरस्वती**–इन सात प्राणदेवताओं की समष्टिरूप अव्यक्त–आकाशात्मा स्वयम्भू ने परमेष्ठी के दाम्पत्यभाव से अपने से भी श्रेष्ठरूप **इन्द्र–वरुण–सोम–रुद्र–पर्जन्य–यम–मृत्यु–ईशान**–इन आठ प्राणदेवों की समष्टिरूप सौर क्षत्र को उत्पन्न तो कर लिया। किन्तु एतावतापि ब्रह्म सर्वात्मना विभूतिभाव में परिणत न हो सके–**'स नैव व्यभवत्'**। अपनी इसी न्यूनता की पूर्ति के लिए क्षत्र के अनन्तर ब्रह्म ने **वसु–रुद्र–आदित्य–विश्वेदेव–मरुत्**–भेद से पञ्चधा विभक्त **गणदेवों** की समष्टिरूप, विड्वर्ग को ही उत्पन्न किया, (जिससे वैकारिक जगत् में वैश्यवर्ग का विकास हुआ करता है) ॥२॥

क्या इससे ब्रह्म की विभूतिकामना सर्वात्मना सफल होगई !। नेति होवाच। **'स नैव व्यभवत्'**। अतएव पुनः ब्रह्म को उस शूद्रवर्ग का आविर्भाव करना पड़ा, जिसे पार्थिव **पूषाप्राण** कहा गया है, (एवं जिसकी प्रधानता से विकारजगत् में शूद्रवर्ग व्यवस्थित हुआ करता है)। इस पृथिवी का ही नाम इसलिए

पूषा है कि, पार्थिव जगत् में जो भी विकारभाव हैं, सबका पोषण इस पार्थिव पूषाप्राण से ही होरहा है। इस पुष्टिगुण के कारण ही पार्थिव शूद्रप्राण, को एवं तदभिन्ना पृथिवी को 'पूषा' कह दिया गया है ॥३॥

तदित्थं-विश्ववैभवप्राप्तिकामुक स्वयम्भू ब्रह्म ने क्रमशः क्षत्र-विट्-शूद्र-नामक तीन वर्ण अभिव्यक्त कर लिए। और यों आरम्भ का एकाकी ब्रह्म क्रमधारा के अनुपात से चातुर्वर्ण्यरूप में परिणत होगया। सम्पूर्ण विश्व में चातुर्वर्ण्य का विस्तार होगया। उक्त १-२-३ वचनों का यही समष्ट्यात्मक समन्वय है, जिसका निष्कर्षार्थ है-**पञ्चपर्वात्मक विश्व का आविर्भाव**। **आकाशात्मा ब्रह्मस्वयम्भू**, तथा **वाय्वात्मा सुब्रह्मपरमेष्ठी**, सूर्य्य से ऊपर अवस्थित इन दोनों विश्वपर्वों की समष्टि का तो श्रुति ने यहाँ-'**ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-एकमेव**' इस वाक्य से संग्रह कर लिया है। अब शेष रह जाते हैं **सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी**-नामक तीन पर्व। सूर्य्य ही क्षत्रवर्ण है, चन्द्रमा ही विडवर्ण है, एवं पृथिवी ही शूद्रवर्ण है। परमेष्ठ्यनुगत स्वयं स्वयम्भूब्रह्म **ज्ञानशक्तिघन** है, तद्गर्भीभूत सूर्य्य **क्रियाशक्तिघन** है, तदनुगत चन्द्रमा **अर्थशक्तिघन** है, एवं तदभिन्न भूपिण्ड प्रवर्ग्यभावात्मक **गुणशक्तिमय** है। इसप्रकार **ज्ञान-क्रिया-अर्थ-गुण**-भेद से पारमेष्ठ्य ब्रह्मस्वयम्भू-क्षत्रसूर्य्य-विट्चन्द्रमा--शूद्रभूपिण्ड-इन विश्वपर्वों का समन्वय होरहा है। यही पञ्चपर्वा विश्व की संक्षिप्ततमा रूपरेखा है, जिसके स्वयम्भू-परमेष्ठी के समन्वय से चार भी पर्व मान लिए गए हैं चातुर्वर्ण्य क्रमानुपात से। ये ही तो चारों विश्वपर्व प्राकृतिक विश्व की स्वरूपव्याख्या बने हुए हैं। इन्हीं से तो लौकिक मानव के **आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर**-नामक चारे प्राकृतिक पर्वों का विकास होता है। इन्हीं चारों के आधार पर तो मानवीय शासनतन्त्र क्रमशः ब्रह्मानुगत आत्मभावात्मक **नीतितन्त्र**, क्षत्रानुगत बुद्धिभावात्मक **अनुशासनतन्त्र**, विडनुगत मनोभावात्मक **गणतन्त्र** *, एवं शूद्रानुगत शरीरभावात्मक **प्रजातन्त्र**, इन चार तन्त्रों में यथाक्रम विकसित हुआ है, जिन चारों का मानव की व्यक्तिसंस्था में **आत्मतन्त्र, बुद्धितन्त्र, मनस्तन्त्र, शरीरतन्त्र** रूप से, मानव की परिवारसंस्था में **वृद्धतन्त्र, युवातन्त्र, नारीतन्त्र, बालतन्त्र** रूप से, एवं मानव की समाजसंस्था में **ब्राह्मणतन्त्र, क्षत्रियतन्त्र, वैश्यतन्त्र, शूद्रतन्त्र** रूप से विकास हुआ है। एवं इस अनुपात से मानव की राष्ट्रसंस्था में इन्हीं को **नीति-अनुशासन-गण-प्रजा**-तन्त्र कहा जा सकता है। और यों परमेष्ठ्यनुगत ज्ञानशक्तियुक्त **स्वायम्भुवब्रह्म**, क्रियाशक्तियुक्त **सौरक्षत्र**, अर्थशक्तियुक्त **चान्द्रविट्**, तथा गुणभावयुक्त पार्थिव शूद्र-भावात्मक **विश्वप्रजापति** ही चातुर्वर्ण्यरूप से विभूतिभाव में परिणत होता हुआ वश्वमूर्त्ति प्रमाणित होरहा है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए नीचे लिखे परिलेखों को। एवं तदाधारेणैव समन्वय करने का कष्ट कीजिए ब्रह्ममूलक पञ्चपर्वा, किंवा चतुष्पर्वा विश्वस्वरूप का।

***-स विशमसृजत-यान्येतानि देवजातानि गणशः-गणात्मकान्याख्यायन्ते।**

१–अव्यक्तः स्वयम्भू–ब्रह्म २–अव्यक्तः परमेष्ठी–सुब्रह्म	—ब्रह्म (१)–ज्ञानशक्तिप्रवर्त्तकम् (ज्ञानभावः)
३–व्यक्तः–सूर्य्यः	]—क्षत्रम् (२)–क्रियाशक्तिप्रवर्त्तकम् (क्रियाभावः)
४–व्यक्तः–चन्द्रमाः	]—विट् (३)–अर्थशक्तिप्रवर्त्तकम् (अर्थभावः)
५–व्यक्तः–भूपिण्डः	]—शूद्रः (४)–गुणभावप्रवर्त्तकः (प्रवर्ग्यभावः)

——❀——

१–अग्निः, सोमः, सविता, मित्रम्, बृहस्पतिः, ब्रह्मणस्पतिः, सरस्वती—ब्राह्मणदेवाः
२–इन्द्रः, वरुणः, सोमः, रुद्रः, पर्जन्यः, यमः, मृत्युः, ईशानः —क्षत्रियदेवाः
३–वसवः, रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवाः, मरुतः —वैश्यदेवाः
४–पूषाप्राणः —शूद्रदेवः

——❀——

१–ब्रह्मभावेन–मानव–भूतात्मनः–स्वरूपनिष्पत्तिः (भूतात्मना मानवो ब्राह्मणः)।
२–क्षत्रभावेन–मानव–बुद्धेः—स्वरूपनिष्पत्तिः (बुद्धया मानवः क्षत्रियः)।
३–विड्भावेन–मानव–मनसः—स्वरूपनिष्पत्तिः (मनसा मानवो वैश्यः)।
४–शूद्रभावेन–मानव–शरीरस्य–स्वरूपनिष्पत्तिः (शरीरेण मानवः शूद्रः)।

——❀——

मानवस्य–व्यक्तिसंस्थायां–स्वरूपभावाः–(१)—

१–आत्मतन्त्रानुगतो मानवः–ब्रह्म—भूतात्मनिष्ठः–स एव ब्राह्मणः
२–बुद्धितन्त्रानुगतो मानवः–क्षत्रम्–बुद्धिनिष्ठः—स एव क्षत्रियः
३–मनस्तन्त्रानुगतो मानवः–विट्–मनोनिष्ठः—स एव वैश्यः
४–शरीरतन्त्रानुगतो मानवः–शूद्रः–शरीरनिष्ठः—स एव शूद्रः

——❀——

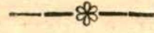
मानवस्य–परिवारसंस्थायां–स्वरूपभावाः–(२)—

१–वृद्धतन्त्रानुगतो मानवः–ब्रह्म—वृद्धमानव एव–ब्राह्मणः
२–युवातन्त्रानुगतो मानवः–क्षत्रम्–युवामानव एव–क्षत्रियः
३–नारीतन्त्रानुगतो मानवः–विट्–नार्य्यनुगतो मानव एव–वैश्यः
४–बालतन्त्रानुगता मानवः–शूद्रः–बालानुगतो मानव एव–शूद्रः

——❀——

मानवस्य-समाजसंस्थायां-स्वरूपभावाः-(३)—

१-ब्राह्मणतन्त्रानुगतो मानवः-ब्रह्म-तत्प्राणप्रधान एव-ब्राह्मणवर्णः
२-क्षत्रियतन्त्रानुगतो मानवः-क्षत्रम्-तत्प्राणप्रधान एव-क्षत्रियवर्णः
३-वैश्यतन्त्रानुगतो मानवः-विट्-तत्प्राणप्रधान एव-वैश्यवर्णः
४-शूद्रतन्त्रानुगतो मानवः-शूद्रः-तत्प्राणप्रधान एव-शूद्रवर्णः



मानवस्य-राष्ट्रसंस्थायां-स्वरूपभावाः-(४)—

१-नीतितन्त्रानुगतो मानवः-ब्रह्म—तद्व्यवस्थानुगतं राष्ट्रं ब्राह्मणराष्ट्रम्
२-अनुशासनतन्त्रानुगतो मानवः-क्षत्रम्-तद्व्यवस्थानुगतं राष्ट्रं क्षत्रियराष्ट्रम्
३-गणतन्त्रानुगतो मानवः-विट्-तद्व्यवस्थानुगतं राष्ट्रं वैश्यराष्ट्रम्
४-प्रजातन्त्रानुगतो मानवः-शूद्रः-तद्व्यवस्थानुगतं राष्ट्रं शूद्रराष्ट्रम्



ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र-रूपात्मक परमेष्ठ्यनुगत **स्वयम्भूब्रह्म-सूर्य्यक्षत्र-चन्द्रविट्-पृथिवीशूद्र-**भाव से ब्रह्म इस चातुर्वर्ण्यरूपा विभूति में परिणत होकर **'विश्वमूर्त्तिप्रजापति'** अभिधा से प्रसिद्ध होगया, जिस प्राजापत्या वर्णविभूति का तीन कण्डिकाओं में स्वरूप विश्लेषण हुआ है। क्या इन चार विभूतिभावों से स्वयम्भूब्रह्म सर्वात्मना वैभवशाली बन गए ? । क्या विश्वस्वरूपसंरक्षण के लिए अपेक्षिता सब कामनाएँ पूरीं होगईं ब्रह्म की इन ब्रह्म-क्षत्रादि चारों पर्वों से ? । इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति पुनः कहती है कि-**स नैव व्यभवत्** । अर्थात् इन चारों वर्णभावों से विश्वस्वरूप में परिणत होकर भी ब्रह्म सर्वात्मना विभूतिभाव से समन्वित न होसके।

अपनी इसी अन्तिम, एवं आवश्यक कामना की पूर्त्ति के लिए ही ब्रह्म को पुनः सर्वान्त में अपने से भी श्रेष्ठरूप 'धर्म्म' का आविर्भाव करना पड़ा-**"तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत-धर्म्मम्"** । यह वह क्षत्र का क्षत्रत्व ही है, जो कि धर्म्म है । अतएव धर्म्म से बढ़कर और कोई भी महान् नहीं है । इसी धर्म्मसूत्र को आगे कर एक निर्बल मानव भी सबल का भी उसीप्रकार से अनुशासन करने लग पड़ता है, कर सकता है, जैसेकि राजा (सत्तातन्त्र) धर्म्म को आगे कर शासन करता रहता है । सो जो कि वह धर्म्म है, वह यह सत्य ही है । अतएव 'सत्य' बोलने वाले के लिए यह कहा जाता है कि-'यह धर्म्म की बात बोल रहा है' । एवं धर्म्म की बात बोलने वाले के लिए यह कहा जाता है कि, 'यह सत्य कह रहा है' । सत्य-धर्म्म-दोनों दोनों के रूप से उपस्तुत हैं-**'एतद्धयेवैतत्-उभयं भवति'** ॥४॥

इसप्रकार स्वयम्भूब्रह्म धर्म्मपूर्वक-ब्रह्म, क्षत्र, विट्, शूद्र, इन चार वर्णभावों में (वर्णात्मक विश्वस्वरूप में) परिणत होगया । वह ब्रह्मस्वयम्भू अपने यजुरग्निरूप से देववर्ग में ब्रह्म (ब्राह्मण) बन गए, मानवों में ब्राह्मणवर्णरूप से अभिव्यक्त हुए । एवमेव क्षत्रियदेवभाव से मानवों में क्षत्रियवर्णरूप से, विश्वेदेवरूप विट्देवों से मानवों में वैश्यवर्णरूप से, तथा पूषारूपेण मानवों में शूद्रवर्णरूप में परिणत होगए । प्राणदेवताओं में अग्नि ही ब्राह्मणात्मक ब्रह्म है, भूतों मे ब्राह्मणमानव ही ब्रह्म है । अतएव देवभावानुगत मानव परलोक में अग्निब्रह्म को प्रधानता देते हैं, एवं इस पार्थिवलोक में ब्राह्मणमानव को प्रधानता देते हैं । तात्पर्य्य-सूक्ष्मजगत् की व्यवस्था का उत्तरदायित्व सोमगर्भित ब्रह्माग्नि पर है, तो स्थूलजगत् की व्यवस्था का उत्तरदायित्व ब्रह्माग्निवित् ब्राह्मणमानव पर अवलम्बित है । सूक्ष्मजगत् में ब्रह्माग्निरूप से, तथा स्थूल-जगत् में ब्राह्मणमानव के रूप से ही स्वयम्भूब्रह्म व्यक्त हुए हैं । अतएव ब्राह्मण को ब्रह्म की सगुणमूर्त्ति माना गया है, जैसाकि स्वयं 'ब्राह्मण' शब्द से ही प्रतिध्वनित है-**'एताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्म-अभवत्'**॥५॥

१७५-तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत-धर्म्मम्—

यह है पञ्चकण्डिकात्मक श्रौतसन्दर्भ का अक्षरार्थसमन्वय, जिसके 'धर्म्म' शब्द की ओर ही पाठकों का विशेषरूप से ध्यान आकर्षित किया जारहा है । पूर्वपरिच्छेदों में संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-आदि की सत्तानिरपेक्षता का स्पष्टीकरण करते हुए पदे पदे यह घोषणा हुई है कि, संस्कृतिवत् धर्म्म भी शाश्वत-सनातन ही है । अतएव अप्राकृत है । स्वयं भगवान् वासुदेव ने भी-**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** इत्यादि रूप से उपक्रम कर **'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य'** रूप से धर्म्म को शाश्वत-नित्य ही बतलाया है । उधर प्रकृत के श्रुतिसन्दर्भ ने-**'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत-धर्म्मम्'** रूप से प्रकृति के सर्वादिभूत आकाशात्मा-स्वयम्भूब्रह्म से उसीप्रकार धर्म्म की उत्पत्ति बतलाई है, जैसेकि ब्रह्म से सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यादि प्राकृतिक भूतभौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं । जो उत्पन्न होता है, वह कदापि शाश्वत-सनातन नहीं होसकता । धर्म्म भी क्योंकि सूर्य्यादि सृष्टपदार्थों की भाँति उत्पन्न हुआ है । अतएव इसे भी कदापि शाश्वत-सनातन, किंवा अप्राकृत नहीं माना जा सकता, जैसाकि पूर्व में यत्रतत्र निरपेक्ष अव्ययात्मसंस्कृति की भाँति धर्म्म को भी हमने सनातन-अप्राकृत कह दिया है ।

१७६-धर्म्मस्वरूपानुगता महती विप्रतिपत्ति—

यही वह महती विप्रतिपत्ति है, जिसका यथावत् समन्वय न करने के कारण हीं वर्त्तमानयुग में ही नहीं, अपितु विगत अनेक शताब्दियों से भारतीय आस्तिकप्रज्ञा भी धर्म्मस्वरूप के निर्णय में दिग्भ्रान्ता ही बनी हुई है । वैदिक तत्त्ववाद के ज्ञानविज्ञानात्मक समन्वय से अपरिचित बने रहना हीं इस दिग्भ्रान्ति का मुख्य कारण है, जिसके निराकरण के लिए तो स्वाध्यायनिष्ठा ही एकमात्र वास्तविक समाधान माना जायगा । प्रकृत में तात्कालिकी मनस्तुष्टिमात्र के लिए 'धर्म्म' शब्द के विभिन्न उन दोनों दृष्टिकोणों को उद्धृत मात्र कर दिया जाता है ।

१७७-निरपेक्ष-अप्राकृत-शाश्वतधर्म्म की परिभाषा—

'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' यह सूक्ति जहाँ धर्म्म को विश्व की मूलप्रतिष्ठा-मूलाधार-बतला रही है, वहाँ-**'यतो धर्म्माणि धारयन्'**-**'असृजत धर्म्मम्'** इत्यादि आर्षवचन धर्म्म को सृष्ट-उत्पन्न-पदार्थ

मान रहे हैं। दोनों ही मन्तव्य यथार्थ बने हुए हैं दृष्टिकोणभेद से। विश्वातीत अव्ययपुरुषात्मलक्षण धर्म्म शाश्वतधर्म्म है, यही अप्राकृत वह सनातनधर्म्म है, जिसके आधार पर प्राकृतिक-वर्णात्मक विश्व प्रतिष्ठित है। विधि-निषेधादि, धर्म्म-अधर्म्मादि प्राकृतिक द्वन्द्वों से अतीत आत्मधर्म्मात्मक विश्वातीत सहज अव्ययधर्म्म ही वह धर्म्म है, जिसकी नचिकेता ने यमराज से **"अन्यत्र धर्म्मात्-अन्यत्राधर्म्मात्, अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्"** रूप से जिज्ञासा की है। एवं समाधान में यमराज ने जिसकी-**'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** रूप से ईश्वरवाचक (अव्ययवाचक) प्रणवोङ्काररूप से तटस्थ व्याख्या की है। वह ईश्वरात्मक स्थाणुधर्म्म ही विश्वाधारभूत शाश्वतधर्म्म है, जिसे हमनें अव्ययात्मसंस्कृतिवत् सर्वथा सर्वनिरपेक्ष धर्म्म ही कहा है पूर्वपरिच्छेदों में।

१७८-सापेक्ष-प्राकृत-धर्म्मात्मक विश्व के १५ मनोताभाव—

अब उस सापेक्षधर्म्म का स्वरूप-समन्वय कीजिए, जिसका सृष्टिमर्य्यादा से सम्बन्ध है, एवं जो सत्तासापेक्ष बनता हुआ शास्त्रसापेक्ष प्रमाणित होरहा है, एव विधि-निषेध के द्वारा जिसकी मानवधर्म्मशास्त्र में स्वरूपव्याख्या हुई है। सुप्रसिद्ध **'मनोताविज्ञान'** के अनुसार विश्व के महान् पर्वरूप स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-इन पाँचों विश्वपर्वों के-'प्रत्येक के-'त्रिःसत्या वै देवाः' के अनुसार हृदयावच्छिन्न मनस्तन्त्रानुबन्धी हृत्प्रतिष्ठालक्षण तीन तीन मनोता मानें गए हैं, जो क्रमशः स्वायम्भुव १-वेद, २-सूत्र, ३-नियति, पारमेष्ठ्य १-भृगु, २-अङ्गिरा, ३-अत्रि,-सौर-१-ज्योतिः, २-गौः, ३-आयुः,-चान्द्र-१-रेतः, २-श्रद्धा, ३-यशः, एवं पार्थिव १-वाक्, २-गौः, ३-द्यौः, इन नामों से प्रसिद्ध है *।

१७९-ब्रह्मौदन-एवं प्रवर्ग्यरूपा-यज्ञप्रणाली, तथा तदनुबन्धी षड्भावविकार—

अव्यक्तमूर्त्ति आकाशात्मा स्वयम्भूब्रह्म के मनोता तथाकथितरूप से **वेद, सूत्र, नियति,** इन नामों से उपश्रुत हैं। इन तीनों में ऋक्-साम-रूप वयोनाध-(छन्द-सीमा-आयतन-आकार) से सीमित यत्-जू-लक्षण यजुर्मूर्त्ति वेदाग्नि ही 'वेद' नामक वह मनोता है, जिससे परमेष्ठी के साथ होने वाले दाम्पत्यभाव के द्वारा चातुर्वर्ण्यरूप विश्व का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। पाँचों विश्वपर्वों के पदार्थ **ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्य** रूप से दो दो अवस्थाओं में परिणत रहते हैं। अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से स्वात्मप्रतिष्ठात्मक स्वस्वरूप के भोग्य बने हुए पदार्थ 'ब्रह्मौदन' कहलाए हैं, जो तत्तत्पदार्थों के आत्मस्थानीय ब्रह्म के ही ओदन-भोग्य-बने रहते हैं। स्वरूपसंरक्षण से अतिरिक्त बचा हुआ भाग तत्पदार्थात्मा छोड़ दिया करता है मलरूप से। वही त्यक्त-प्रवर्ग्य कहलाया है, जो अथर्वपरिभाषा में उच्छिष्ट कहलाया है। यह प्रवर्ग्य ही अन्य का ब्रह्मौदन बनता रहता है। यों सम्पूर्ण भूतभौतिक पदार्थों के प्रवर्ग्य भाग एक दूसरे के ब्रह्मौदन बनते हुए पदार्थों के विस्रस्त-भागों की क्षतिपूर्त्ति किया करते हैं। यही अन्न-अन्नादात्मिका, भोक्तृ-भोग्यात्मिका-आदानविसर्गात्मिका वह यज्ञप्रणाली है, जिससे पदार्थों में षड्भावविकार समन्वित होते रहते हैं।

***-यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमदन्यदस्ति ॥**
यस्तद्वेद, स वेद सर्वं, सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥

—छान्दोग्य-उपनिषत्

१८०–यज्ञाधारभूत सूत्रात्मा—

स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-पाँचों के समष्ट्यात्मक-व्यष्ट्यात्मक पदार्थों का इसी प्रकार परस्पर आदान-विसर्ग हुआ करता है। जिन आधारसूत्रों के आधार पर गमनागमनलक्षण यह यज्ञप्रक्रिया प्रक्रान्त रहती है, वह आधार ही स्वायम्भुव-'सूत्र' नामक द्वितीय मनोता है, जिसके सत्यसूत्र, एवं ऋतसूत्र, भेद से दो स्वरूप माने गए हैं। 'वायुर्वै गौतम ! तत्सूत्रम्' इत्यादि बृहदारण्यकश्रुति से अनुप्राणित पारमेष्ठ्य भार्गव ऋतवायुसूत्र, एवं आङ्गिरस सत्यवायुसूत्र ही स्वयम्भूब्रह्म का 'सूत्र' नामक मनोता है।

१८१–नियतिःसत्यात्मक अन्तर्य्यामी, एवं तद्रूप सत्यधर्म्म—

अब शेष रह जाता है—'नियतिः' नामक मनोता। यही धर्म्मरूप से अभिव्यक्त होता है। अन्तर्य्यामी का ही नामान्तर 'नियति' है। वस्तु का केन्द्रस्थान ही तद्वस्तु का अन्तर्भाग कहलाया है। अन्तर्भाग-सर्वान्तरतम वह सुसूक्ष्म प्राणभाग ही 'हृदयम्' है, जिसकी अन्य सामयिक निबन्धों में स्वरूपव्याख्या की जाचुकी है। हृ-द-यम्-लक्षण आगति-गति-स्थिति-भावात्मक त्र्यक्षरमूर्त्ति एकाक्षर केन्द्रभाव ही 'हृदयम्' है, यह अन्तस्तिष्ठन् पदार्थ के बाह्य भूतों का यथामर्य्यादा नियमन करता हुआ-'अन्तर्य्यामी' कहलाया है, जिसकी नियता-व्यवस्था से ही तत्तत्पदार्थों के बाह्य-भौतिकस्वरूप नियन्त्रणपूर्वक सुव्यवस्थित बने हुए हैं। स्वयं वस्तुपिण्ड सत्याग्नि, ऋतसोमात्मक पृष्ठ्याक्षरमूर्त्ति है। वस्तुकेन्द्र हृ लक्षण-विष्णु,-द लक्षण इन्द्र, एवं यम् लक्षण ब्रह्म नामक त्र्यक्षरमूर्त्ति है। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने हृदयस्थान में प्रतिष्ठित हृ-द-यम्-मूर्त्ति अन्तर्य्यामी की नियति की चर्य्या से ही आचारात्मक स्व-स्व कर्म्मों में प्रतिष्ठित रहता हुआ स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यही 'नियति' नामक अन्तर्य्यामी सत्य केन्द्रावच्छिन्न दशा में 'सत्य' कहलाया है, एवं बाह्य भौतिक आचरणात्मक कर्म्मावस्था में इसी व्यक्त सत्य को 'धर्म्म' कहा गया है।

१८२–'मर्य्यादा' शब्दनिर्वचन, एवं 'धर्म्माणि' रूप धर्म्म का समन्वय—

उक्त नियति-व्याख्या के द्वारा अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, स्वयम्भू ब्रह्म का केन्द्रात्मक अव्यक्तसत्य ही 'नियतिःसत्यम्' नामक सत्यरूप मनोता है। एवं स्वयम्भू ब्रह्म का विश्वव्यापक-व्यक्त विश्व का आचारात्मक वही केन्द्रस्थ सत्यरूप व्यक्तावस्था में आकर-'धर्म्म' कहलाने लगा है। और यही इस नियति-लक्षण-सत्यात्मक-प्रकृतिरूप (अक्षररूप) व्यक्त-विश्वधर्म्म का स्वरूपदिग्दर्शन है, जिससे विश्व के व्यक्त-भौतिक पदार्थ स्व-स्व-स्वरूपों से मर्य्यादित बने हुए हैं। मरणधर्म्मभाव ही 'मर्य्य' है। भौतिकभाव ही 'मर्य्य' है। इसे अपने क्रोड़ में लेकर इसे स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखने वाला केन्द्रस्थ नियतिर्भाव ही-'मर्य्यानादत्ते' निर्वचन से 'मर्य्यादासूत्र' है, और यही प्रतीकधर्म्मात्मक सत्यधर्म्म है, जिसे विश्वधर्म्म भी कहा जासकता है। विश्वाधारभूत अव्ययात्मरूप शाश्वत-अप्राकृत-धर्म्म जहाँ एक है, वहाँ विश्वपदार्थात्मक अक्षरप्रकृतिरूप-स्वस्वरूप से अपरिवर्त्तनीय, किन्तु भूतपरिवर्त्तनापेक्षया परिवर्त्तनशील-प्रतीयमान धर्म्म पदार्थनानात्त्व से अनेकभावात्मक बनता हुआ-'धर्म्माणि' है। धर्म्म ही धर्म्माणि की प्रतिष्ठा है, एवं धर्म्माणि हीं विश्वपदार्थों की स्वरूपप्रतिष्ठा है।

१८३-स्वधर्म्म-परधर्म्म-अधर्म्म-शब्दों का पारिभाषिक समन्वय—

निष्कर्षतः अब सहजभाषा में यों भी उक्त स्थिति का अभिनय किया जासकता है कि, तत्तत्पदार्थों के तत्तद्विभिन्न स्वरूपों का संरक्षक पृथक् पृथक् व्यक्तित्व ही तत्तत्पदार्थों का स्वधर्म्म है, जो अव्यय का परधर्म्म बना हुआ है। यों अपेक्षाभेद से इस प्राकृतधर्म्म के ही आगे चल कर स्वधर्म्म-परधर्म्म-अधर्म्म-आदि आदि अनेक अवान्तर विवर्त्त होजाते हैं, जिनका 'श्वेतक्रान्तिनिबन्ध' में विस्तार से दिग्दर्शन करा दिया गया है। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य--चन्द्रमा-पृथिवी-वायु-अग्नि-जल--ओषधि-वनस्पति-ग्रहोपग्रह-कृमि-कीट-पशु-पक्षी-मानव-यक्ष-राक्षस-गन्धर्व-पिशाच-किन्नर-पितर-आदि आदि यच्चयावत् प्राकृतिक पदार्थ अपने अपने अन्तर्य्यामीरूप निःयतिःसत्यात्मक धर्म्मसूत्रों से ही नियन्त्रित हैं, जिन सम्पूर्ण इन प्राकृत-धर्म्मों का मूलाधार वही विश्वातीत शाश्वत-निरपेक्ष-मूलधर्म्म बना हुआ है।

१८४-अभ्युदय-निःश्रेयस्-साधक कर्म्मात्मक धर्म्म का स्वरूपदिग्दर्शन—

लोकभाषा-दृष्ट्या अब यह भी कहा जा सकता है कि, "भूत-भौतिक पदार्थों के **स्वरूपरक्षक नियम-विधिविधान हीं भूतभौतिक पदार्थों के प्राकृतिक धर्म्म हैं**" जोकि प्रतीकधर्म्म भी कहलाए हैं। इन्हीं प्रतीकधर्म्मों के लिए कहा गया है कि-'**धर्म्मो रक्षति-रक्षितः**'। सत्य इसी का केन्द्रात्मक स्वरूप है, एवं धर्म्म इसीका पृष्ठात्मक स्वरूप है। केन्द्रस्थ सत्य ही पृष्ठानुगत कर्म्मात्मक धर्म्म बना हुआ है। अतएव जैसे **सत्य-धर्म्म**, शब्द अभिन्न हैं, तथैव आस्तिक सनातनजगत् में 'धर्म्म-कर्म्म' भी अभिन्नार्थक बने हुए हैं। सत्य का आचरणात्मकरूप धर्म्म है, धर्म्म का व्यवहारात्मक स्वरूप कर्म्म है, एवं कर्म्म का फलात्मक स्वरूप अभ्युदय-निःश्रेयस् का साधक मान लिया है यहाँ की दार्शनिकप्रज्ञा ने, जैसा कि-'**यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः**' (वैशेषिकदर्शन) इत्यादि कणादसूत्र से स्पष्ट है।

१८५-धर्म्म का प्रतीकभावात्मक क्षात्रतन्त्र (सत्तातन्त्र)—

सत्य धर्म्मरूप से अभिव्यक्त है, धर्म्म कर्म्मरूप से सुसमृद्ध है। सुसमृद्धि ही विश्वविभूति की चरमता है। अतएव सर्वान्त में इस धर्म्मसृष्टि से ही वर्णाध्यक्ष स्वयम्भूब्रह्म की-'**नैव व्यभवत्**' कामना का अवसान सम्भव बन सका। और यों ब्रह्म--क्षत्र--विट्--शूद्र--वर्णात्मक विश्व, एवं विश्वगर्भस्था चर-अचरप्रजा हृदयस्थ अन्तर्य्यामी सत्यात्मक प्राकृतिक-नियमात्मक धर्म्म से सञ्चालित-नियन्त्रित-मर्य्यादित-बनती हुई सुव्यवस्थित होगई। और यहाँ आकर स्वयम्भूब्रह्म की विभूतिप्राप्तिकामना सर्वात्मना उपशान्त हुई। यही प्रकृत के सापेक्ष प्राकृत-धर्म्म के स्वरूप का किञ्चिदिव समन्वय है, जिसे आधार बनाकर ही अब हमें तत्सम्बन्ध में सत्तातन्त्र की सापेक्षता, निरपेक्षता की मीमांसा करनी है। श्रौतसन्दर्भ के दो वाक्यों को विशेषरूप से लक्ष्य बनाकर ही हमें इस मीमांसा में प्रवृत्त होना चाहिए। प्रथम कण्डिका में यह कहा गया है कि,-"**ब्रह्म ने अपने से भी श्रेष्ठरूप क्षत्र को उत्पन्न किया। अतएव चारों में क्षत्र ही महान् है (तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति)**" तदनन्तर उत्पन्न होने वाले विट्, तथा शूद्र के साथ श्रेष्ठतानुबन्ध स्वीकार नहीं किया श्रुति ने। अपितु इन दोनों के लिए तो-'**स विशमसृजत**'-'**स शौद्रं वर्णमसृजत**' इत्यादिरूप से सामान्य ही सर्जन व्यक्त किया। युक्तं चैतत्। इसलिए युक्तं कि, आत्मा, बुद्धि,मन, शरीर-स्थानीय ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र-भावों में मनःशरीरानुबन्धी-भूतभौतिक-मृत्युप्रधान-विट्-शूद्र-तो सृष्टिमात्र के सामान्य ही अनुबन्ध बने हुए हैं। विशेषता का उदय तो बुद्धिविकासात्मक क्षत्रभाव से, एवं आत्मनिष्ठात्मक ब्रह्मभाव से ही हुआ

करता है। इन दोनों में भी व्यक्त–व्यावहारिक–जगत् की दृष्टि से बुद्धिलक्षण–क्षत्र ही आत्मलक्षण ब्रह्मापेक्षया परम, किंवा महान् माना जायगा। अतएव व्यक्तदृष्ट्या चारों में से एकमात्र 'क्षत्र' को ही 'परम' कहा जायगा, जैसाकि–**'सर्वत्र क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत्'** इत्यादि अन्य श्रुतिवचन से भी प्रमाणित है। और यही है वह प्राकृतिक दृष्टिबिन्दु, जिसके द्वारा भारतीय सम्राट धर्म्मराज युधिष्ठिर के प्रति विश्वधर्म्म की मीमांसा उपस्थित करने वाले प्राकृत–विश्वधर्म्मरहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म ने–**'राजा कालस्य कारणम्'** कहते हुए प्राकृतिक धर्म्म को सत्तातन्त्रसापेक्ष ही माना है, जैसाकि मानना ही चाहिए था।

१८६–'तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति' का समन्वय—

चारों वर्णों में व्यक्त–विश्व की दृष्टि से क्षत्र ही सर्वश्रेष्ठ है। इन चारों के अनन्तर स्वयम्भूब्रह्म ने अपने अन्तर्य्यामी 'हृदयसत्य' को व्यक्त करते हुए जो श्रेष्ठ आचारात्मक रूप व्यक्त किया, वही–'धर्म्म' कहलाया, जिसका **'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत–धर्म्मम्'** वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है। **'योग्यं योग्याय दातव्यम्'** इस प्रकृतिसिद्धा मर्य्यादा के अनुसार अब यह आवश्यक हो गया कि, ब्रह्म से भी श्रेष्ठ इस धर्म्म का उस वर्ण के साथ ही सम्बन्ध माना जाय, जो चारों वर्णों में ब्रह्म से भी श्रेष्ठ हो। ऐसा था एकमात्र क्षत्र (सत्तातन्त्र)। अतएव ऋषि ने उसी के साथ परम स्थानीय विश्वधर्म्म का योग कर दिया, और यों सर्वश्रेष्ठ धर्म्म सर्वश्रेष्ठ क्षत्र से ही सापेक्ष बना दिया गया, किंवा प्रकृत्या ही बना हुआ है। अतएव इसी अनुरूप सम्बन्ध के कारण ही धर्म्मसृष्टि के अनन्तर ही श्रुति को यह कहना पड़ा कि–**'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं–यद्धर्म्मः। तस्मात् धर्म्मात् परं नास्ति'**। और यों धर्म्म की परमता के साथ पूर्व के–**'तस्मात् क्षत्रात् परमं नास्ति'** इस वाक्य का अनुरूप सम्बन्ध प्रकृत्यैव समन्वित हो गया।

१८७–'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं–यद्धर्म्मः' का तात्त्विक समन्वय—

क्या अर्थ निकला इस समन्वय का ?, प्रश्न का अब आप अपनी सहज धर्म्मनिष्ठा से समाधान कीजिए। जिन प्राकृतिक विधि–विधानों–आचार–पद्धतियों–आदर्श–व्यवहारों से जिन वर्णों का स्वरूप सुरक्षित रहता है, वे विधिविधान ही उन वर्णों के धर्म्म हैं। इन्हें ही स्वरूपसंरक्षकत्वेन स्वधर्म्म कहा गया है, जिनके वर्णभेद से ब्राह्मणधर्म्म, क्षत्रियधर्म्म, वैश्यधर्म्म, शूद्रधर्म्म, आदि आदि अवान्तर असंख्य विशेषधर्म्म होजाते हैं। देशधर्म्म, कुलधर्म्म, राजधर्म्म, स्त्रीधर्म्म, आश्रमधर्म्म, आदि आदि का भी इसी कोटि में अन्तर्भाव माना गया है। ऐसी स्थिति में धर्म्मसृष्टि के अनन्तर श्रुति को कहना तो यह चाहिए था कि **'ब्रह्मणो ब्रह्म–यद्धर्म्मः, वैश्यस्य विट्–यद्धर्म्मः, शूद्रस्य शौद्रं–यद्धर्म्मः'**। किन्तु अन्य किसी वर्ण के साथ धर्म्म का सम्बन्ध न करते हुए श्रुति ने केवल–**'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं–यद्धर्म्मः'** इत्यादि रूप से केवल क्षात्र–सत्तातन्त्र के साथ ही धर्म्म का सम्बन्ध क्यों माना, जबकि इतर तीनों वर्णों के साथ भी धर्म्म का सम्बन्ध लगाना ही चाहिए था ?, प्रश्न जितना कठिन है, उत्तर उतना ही सरल है।

१८८–'तदेतत्–ब्रह्मणो ब्रह्म–यद्धर्म्मः' अपेक्षा का निराकरण—

ब्रह्म का प्रतीकभूत ब्राह्मण भूतात्मनिष्ठ बनता हुआ स्वयं अपनी निष्ठा से ही जागरूक है। अतएव संस्कृतिनिष्ठ–तत्त्वचिन्तक, सहजरूपेणैव आत्मबुद्धिनिष्ठ, अतएव सर्वात्मना धर्म्मनिष्ठ ब्राह्मण के साथ धर्म्म

सम्बन्ध बतलाना तो ब्राह्मण के अन्तर्निष्ठ ब्रह्मस्वरूप का अपमान ही करना है । **'ब्राह्मणो जायमानो हि मूर्त्तिधर्म्मस्य शाश्वती'** (मनुः) के अनुसार ब्राह्मण तो स्वयं अपने ही रूप से धर्म्ममूर्त्ति बना हुआ है । स्वतएव धर्मशील बने रहने वाले ब्राह्मण के साथ प्रतीकधर्म्म का सम्बन्ध व्यक्त करना सर्वथा यातयाम ही है । अतएव श्रुति ने–'तदेतत् ब्रह्मणो ब्रह्म–यत्–धर्म्मः' कहने की आवश्यकता ही अनुभूत न की ।

१८९–सत्तातन्त्र की सापेक्षता से ब्राह्मण की दासभाव में परिणति, एवं धर्म्म का अभिभव—

अब शेष रह गए मनोनिबन्धन वैश्य, तथा शरीरनिबन्धन शूद्र । चान्द्रमन स्वभावतः चलित-स्खलित-अमर्य्यादितप्रज्ञ है, तो पार्थिव शरीर स्वभावतः जड़-स्तब्धप्रज्ञ है । अतएव दोनों हीं वर्ण स्वयं अपनी आत्म-बुद्धिनिष्ठा से स्व–स्व आचारधर्म्मों के अनुगमन में तबतक उपेक्षा ही करते रहते हैं, जबतक कि भौतिक सत्ता-तन्त्र का प्रचण्ड शासक नियन्त्रणपूर्वक इन दोनों को स्व–स्व धर्म्म में नियन्त्रित नहीं रख लेता । स्पष्ट ही इन दोनों वर्णों की मनः, शरीरमूला चञ्चला, तथा जड़ा प्रज्ञा स्व–स्वातन्त्र्य से कदापि स्व–स्व वर्णधर्म्मों का अनुगमन तबतक कर ही नहीं सकती, जबतक कि, नियन्ता के नियन्त्रण से ये सञ्चालित नहीं किए जाते । क्या संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण इन्हें स्वधर्म्म में नियन्त्रित नहीं कर सकता ?, कदापि नहीं । ब्राह्मण जहाँ अपने अन्तर्जगत् की दृष्टि से नैष्ठिक है, वहाँ बाह्य व्यावहारिक जगत् की दृष्टि से यह भावुक ही बना रहता है । बाह्य–भौतिक तन्त्रों की जघन्या प्रतारणाओं से सर्वथा अपरिचित रहने वाले, परिचित दशा में भी इनसे स्वभावतः ही ग्लानि करने वाले ब्राह्मण के द्वारा इन दोनों भूतवर्णों का नियन्त्रण कदापि शक्य नहीं है । यदि दया–करुणा–वश–ब्राह्मण इनको धर्म्म में नियन्त्रित करने की भूल कर बैठता है, तो कालान्तर में ये अपनी भूतबाधाओं के व्यामोहनपाश से बहिर्भावुक–लोकभावुक ब्राह्मण का ही ये नियन्त्रण कर डालते हैं, जिस नियन्त्रण का अन्तिम परिणाम माना गया है–दासभाव में परिणति, जिसका प्रत्यक्ष निदर्शन (सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता से) आजका ब्राह्मणवर्ग बना हुआ है ।

१९०–वणिक्तन्त्र की सापेक्षता से राष्ट्रीय संस्कृति, एवं धर्म्म का आत्यन्तिक अभिभव-

वणिक्, तथा शूद्रप्रज्ञाओं के समन्वित रूपात्मक अर्थतन्त्रों से नियन्त्रित आज का वित्तशालीवर्ग अपनी अर्थगरिमा के द्वारा एक ओर जहाँ धर्म्मनिरपेक्षसत्तातन्त्र को व्यामोहन में डाले हुए है, तो वहाँ दूसरी ओर अर्थकण–दानपाशबन्धन से ब्राह्मणप्रज्ञा को परतन्त्र कर यही वर्गद्वयी राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना को भी अभिभूत किए हुए है । यों वित्तशाली विड्वर्ण के नियन्त्रण से नियन्त्रित धर्म्मवञ्चित सत्तातन्त्र, एवं संस्कृतिचिन्तन–वञ्चित ब्राह्मणवर्ण–राष्ट्र के दोनों हीं रक्षकवर्ग सर्वात्मना अरक्षित बनते हुए न केवल राष्ट्रक्षोभ के ही, अपितु विश्वक्षोभ के कारण प्रमाणित होते जारहे हैं, किंवा प्रमाणित कर दिए गए है उसी अनियन्त्रिता मनः–शरीरप्रधाना वर्गद्वयी के द्वारा । एकमात्र धर्म्मसापेक्ष–सत्तातन्त्र ही इस वर्गद्वयी को स्वधर्म्मोचित–स्व–धर्म्मों में नियन्त्रित–व्यवस्थित कर सकता है । अतएव इन दोनों वर्णों के लिए भी श्रुति ने–**'तदेतत्–विशः–विट्त्वं–यद्धर्म्मः,–शूद्रस्य–पौष्णत्त्वम्–यद्धर्म्मः'** इत्यादि कहना उचित न समझा । ब्राह्मणधर्म्म का

उत्तरदायित्व श्रुति ने ब्राह्मण से अनुप्राणित मान लिया, एवं वैश्यधर्म्म, तथा शूद्रधर्म्म, दोनों के धर्म्म का उत्तरदायित्व इन दोनों पर छोड़ देना न केवल निरर्थक ही, अपितु विश्वक्षोभकर मानते हुए इन्हें स्वतन्त्र रूप से इस उत्तरदायित्व से वञ्चित कर दिया श्रुति नें। अतएव पारिशेष्यात् अब धर्म्म के धर्म्मत्त्व का समस्त उत्तरदायित्व एकमात्र सत्तातन्त्र पर ही एकान्तनिष्ठ प्रमाणित होगया । इसीलिए केवल-'तदेतत् क्षत्रस्य-क्षत्रं-यद्धर्म्मः' ही उचित पक्ष प्रमाणित होगया, जिस का अर्थ हुआ-**"क्षत्रियधर्म्म, वैश्यधर्म्म, शूद्रधर्म्म, एवं धर्म्मवञ्चित ब्राह्मण का धर्म्म, चारों के धर्म्म का नियन्त्रण सत्तातन्त्र पर ही अवलम्बित है"** ।

१९१–वणिक्तन्त्र के प्रति श्रद्धाञ्जलिसमर्पण—

अर्थप्रधानात्मक आज के वणिक्-युग में सम्भव है उक्त श्रौतसमन्वय से राष्ट्र के वित्तबन्धु रुष्ट बन जाने का अभिनयमात्र करने लग पड़ें । और अपने ये उद्गार व्यक्त कर बैठें कि, **"यह व्याख्या तो केवल कल्पनाप्रसूता ही है । वस्तुतः वैश्य ही तो राष्ट्र के धर्म्म-कर्म्म-व्यवसाय-सत्ता-आदि का एकमात्र परिपोषक बना हुआ है" । सुस्वागतं वो महाभागा भलन्दनवंशजाः !** राष्ट्र को कृतज्ञताञ्जलि हीं समर्पित करनी चाहिए उस वित्तशालीवर्ग के प्रति, जिसके अनुग्रह से ही आज के युग में भी पूजन-पाठ-विश्वशान्तियज्ञ-कीर्त्तन-आदि आदि जैसे महत्पुण्यकर्म्म प्रक्रान्त सुने जारहे हैं । और सम्भवतः इन्हीं पुण्य-संस्कारों के बल से भारतराष्ट्र तो अनुदिन सुखी-शान्त-समृद्ध होता ही जा रहा है । साथ ही इन के वित्त से होने वाले विश्वशान्तियज्ञों से ही मानों सम्पूर्ण विश्व भी आज अणुपरीक्षण जैसे शान्तिसन्देशों से सदा के लिए सुशान्त बन जाने के लिए व्यग्र ही होपड़ा है । क्यों ?, ठीक है न ? । यही है न इस पुण्य-धर्म्म-शान्ति का चरम परिणाम ? ।

१९२–सत्तातन्त्र, एवं वणिक्तन्त्र का सखाभाव, तथा संस्कृति का पराभव—

जिस प्रकार विगत द्वि-त्रिः-सहस्राब्दियों से सत्तातन्त्र की सापेक्षतामूला लोकैषणाप्रधाना राजभक्ति ने राष्ट्र की सांस्कृतिक-चेतना का उत्तरोत्तर अभिभव किया है, एवमेव सत्तातन्त्रों की मतवादासक्तियों के कारण सच्छिद्र बन जाने वाले सांस्कृतिक क्षेत्रों में राष्ट्र के वित्तशाली-व्यवसायनिष्ठ विड्वर्ग को भी सुविधापूर्वक प्रवेश करते रहने के सुअवसर मिलते रहे हैं । एवं दुर्भाग्यवश सत्तातन्त्रों के सर्वथा तटस्थ-बन जाने के कारण राष्ट्र की ब्राह्मणसंस्कृति को, तदनुप्राणित प्रतीकधर्म्मों को भी एकमात्र इस विड्वर्ग के ही आश्रयग्रहण करते रहने के लिए विवश बना रहना पड़ा है । अवश्य ही इस अर्थाश्रय से राष्ट्र में राजभवनों की तुङ्गशृङ्गता को भी धूलिधूसरित कर देने वाले मठ-मन्दिरों का भी प्रचुरता से निर्म्माण होता रहा, दानकणों के भक्षण से सञ्चालित संस्कृतविद्यालय भी प्रक्रान्त बनते रहे, पूजन-पाठ-हवन-यज्ञ-समारोह कीर्त्तन-आदि आदि किसी में भी कोई त्रुटि न आंने दी इन व्यवसायनिष्ठों नें । किन्तु परिणाम, किंवा घोरघोरतम दुष्परिणाम संस्कृतिप्रतिष्ठावञ्चित इन सभी अकाण्ड-ताण्डवों का वही होता रहा, जो आज भी होरहा है । और भविष्य में भी यों हीं होता ही रहेगा तबतक, जबतक कि राष्ट्रीय सांस्कृतिक-चेतना का जागरण नहीं होजायगा ।

सुनते हैं-गुप्तों के शासनकाल में भारतराष्ट्र सब क्षेत्रों में समृद्धि की चरम दिशा में पहुँच गया था। भारतराष्ट्र के व्यवसायनिष्ठ वैश्यबन्धु सामुद्रव्यापार से समस्त विश्व की सम्पत्ति का दोहन कर राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाए हुए थे। उस गुप्तकाल में होनें वाले सप्तसमुद्रदानों से भारतधरित्री धन्या-कृतकृत्या बन गई थी, जिन इन घटनाओं का साटोप वर्णन करते हुए आज के पुरातत्त्ववेत्ता गद्गद् होपड़ते हैं। उस युग की काव्यधाराएँ राष्ट्र में नवजीवन का सञ्चार कर रहीं थीं। राजाओं की सामूहिक-वसन्तोत्सवादि परम्पराएँ उस युग की समृद्धि का सगुण-शरीर हीं बनीं हुईं थीं। और यों············आलप्यालम् । यतो हि-कथापि खलु पापानां-अलमश्रेयसे'।

ज्ञानविज्ञानमूला मूलसंस्कृति का जब आत्यन्तिक अभिभव होजाता है, तभी इसप्रकार से राष्ट्र विलासलीलाओं में उन्मत्त-प्रमत्त-हुआ करता है, जिसका सगुणस्वरूप अवश्य ही था यह गुप्तकाल, जो मानों ज्ञानविज्ञानात्मिका मौलिक आर्षसंस्कृति, आर्षधर्म्म, आर्षसाहित्य, आदि आदि आर्षपरम्पराओं का अपनी शृङ्गारप्रधाना कविता-परम्पराओं से उपहास ही कर रहा था। कभी कविता के द्वारा, कभी मन्दिर-मठों के द्वारा, कभी विश्वशान्तियज्ञों के द्वारा, कभी समुद्रदानों के द्वारा, तो कभी धर्म्मशालाओं के विजृम्भणों के द्वारा, येन केनरूपेण वित्तशाली विड्वर्ग के द्वारा, एवं तदाधार पर जीवित रहने वाले सत्तातन्त्रों के द्वारा राष्ट्र की संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-आदर्श-आचारपद्धति-आदि आदि आर्षविभूतियों का उत्तरोत्तर अभिभव ही प्रक्रान्त रहा है, जिसके प्रमाण के लिए विगत शताब्दियों से भुक्त-प्रक्रान्त-इतिहास ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा।

१९३--काममय अर्थ, तथा भूतमय श्रम के द्वारा क्रान्तिबीज का आधान एवं उससे विश्व में क्षोभ का आविर्भाव—

काममय अर्थ, एवं भूतमय श्रम, दोनों स्वतन्त्र बन कर कालान्तर में अनर्थ, और क्रान्ति के ही सर्जक बन जाया करते हैं, यह प्राकृतिक नियम है। अतः क्षात्रसत्ता के धर्म्मसूत्रात्मक नियन्त्रण से ही राष्ट्र की काममयी अर्थशक्ति, तथा भूतमयी श्रमशक्ति की व्यवस्था होनीं चाहिए। दोनों के प्रतीक वर्ण माने गए हैं विट्महाभाग, एवं शूद्रमहाभाग। दोनों स्व-स्व वर्णधर्म्मनिबन्धन शास्त्रीय कर्म्मों में धर्म्मपूर्वक सत्ता के द्वारा ही सुप्रतिष्ठित रहने हीं चाहिएँ। इस में स्वयं इनका भी अभ्युदय है, एवं राष्ट्र की भी स्वस्ति। ठीक इसके विपरीत इन दोनों के स्वैराचारपरायण बन जाने से निश्चयेन तदनुगता कामप्रवर्द्धिका वित्तैषणा, एवं अन्यानुगता श्रमप्रतिफलैषणा क्रमशः क्षोभ, और क्रान्ति की जननी बन जाया करती है। यह हमारी कल्पना के प्रसून नहीं हैं। अपितु यह तो उस मानवधर्म्मशास्त्र के प्रकृतिसिद्ध सिद्धान्त का अनुवादमात्र है, जिस मानवधर्म्मशास्त्र के प्रति हमारा धर्म्मिष्ठ वैश्य समाज तो निश्चयेनैव पूर्ण आस्था-श्रद्धा व्यक्त करता चला आरहा है। लक्ष्य बनाइए राजर्षि के उस सिद्धान्त वचन को, एवं तदाधारेणैव अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा निश्चित कीजिए!

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्।
तौ हि च्युतौ स्वकर्म्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्॥
—मनुः ८।४१८।

१६४–श्रमाध्यक्ष वणिक्तन्त्र के द्वारा सत्तासहयोग से विश्वक्षोभ की प्रवृत्ति—

जिस राष्ट्र का काममय अर्थबल, एवं भूतमय श्रमबल, दोनों धर्म्ममयी सत्ता के नियन्त्रण से पृथक् हो जाते हैं, अवश्य ही ऐसे स्वतन्त्र कामार्थश्रम स्वराष्ट्रक्षोभ के द्वारा परम्परया सम्पूर्ण विश्व को ही क्षुब्ध कर दिया करते हैं। धर्म्ममूलक अर्थ–काम हीं विश्वशान्ति के प्रवर्त्तक माने गए हैं, जब कि अधर्म्ममूलक, किंवा धर्म्मनिरपेक्ष कामार्थ लोकैषणात्मिका वित्तैषणा को निःसीम बनाते हुए सचमुच विश्व को सक्षुब्ध ही कर दिया करते हैं। धर्म्म के नियन्त्रण से पृथक् हो जाने वाले कामार्थ ही वस्तुगत्या धर्म्मसूत्रसञ्चालक सत्तातन्त्र को भी इसी ऐषणा की ओर आकर्षित कर लेते हैं। और यह कहा जा सकता है कि, जिन वर्गों में कामार्थ स्वतन्त्र बन गए हैं, सहजभाषानुसार व्यवसायनिष्ठ, श्रमानुगत जो वर्ग धर्म्मनिरपेक्षतापूर्वक स्वच्छन्दरूप से कामार्थों में प्रवृत्त हो गए हैं, हो रहे हैं, होते रहेंगे, वस्तुतः उनके अनुग्रह से ही तद्युगानुगत सत्तातन्त्र भी धर्म्मनिरपेक्ष बन जाया करते हैं। मूलतः सत्तातन्त्र धर्म्मसापेक्ष ही है। केवल इस संगदोष से ही वे भी अर्थकामासक्त बन कर धर्म्मनिरपेक्ष बन जाया करते हैं। इस धर्म्मनिरपेक्षता-दशा में सत्तातन्त्र भी उन अर्थकामासक्त वर्गों के नियन्त्रण में असमर्थ हो जाते हैं।

१६५–"कुतस्तत्र प्रतीकारः–रक्षको यत्र भक्षकः" का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

यों अर्थकामानुगत व्यवसायनिष्ठ–श्रमनिष्ठ–वर्गों के धर्म्मनिरपेक्ष बनते ही तद्राष्ट्र के सत्तातन्त्रों को भी विवशतापूर्वक धर्म्मनिरपेक्ष ही बन जाना पड़ता है। एवं उस भयावहा अवस्था, किंवा घोरघोरतमा दुरवस्था में राष्ट्र का वित्तशाली विड्वर्ग, श्रमशाली शूद्रवर्ग, एवं धर्म्मसूत्रसञ्चालक सत्तावर्ग, तीनों हीं वर्गों की एकमात्र आराध्या अर्थ–कामादिमूला एषणा ही बन जाती है। समानशीलव्यसननिष्ठ इनके सहसौख्य से राष्ट्र का मध्यमवर्गात्मक जनतन्त्र सर्वथा ही शोषण का केन्द्र बन जाता है, जिसका सीधा सा प्रकार यही रहता है कि,–सत्तातन्त्र पूँजीवाद की विभीषिका उत्पन्न करता हुआ जनतन्त्र का शोषण करता है, एवं व्यवसायतन्त्र आर्थिक प्रलोभन–कौशलों के द्वारा जनतन्त्र का शोषण करता है। इन उभयशोषणों का जो परिणाम होना चाहिए, वही होता है, जिसका राजर्षि नें–'क्षोभयेतामिदं जगत्' रूप से दिग्दर्शन कराया है, जिसकी विस्पष्ट व्यवञ्जना यही है कि, जिस राष्ट्र के कामार्थश्रमसञ्चालक वर्ग स्वनियत कर्म्मों से स्खलित हो कर स्वतन्त्र–उन्मर्य्याद–उच्छृङ्खल–धर्म्मघोषणा करते हुए भी तत्त्वतः धर्म्मनिरपेक्ष बन जाते हैं, उस राष्ट्र का सत्तातन्त्र भी धर्म्मनिरपेक्ष ही बन जाता है। ऐसा धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र भी कालान्तर में स्वरक्षाकर्म्म से विमुख–उदासीन–पराङ्मुख बनता हुआ–'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः' को चरितार्थ करता हुआ अर्थकामासक्तियों में आसक्त–व्यासक्त बनता हुआ, राष्ट्रीयकरणात्मक छल से अपनी प्रवृद्धा अर्थकामवासनाओं की पूर्त्तिमात्र में भगीरथ प्रयत्न करता हुआ राष्ट्र के केन्द्रभूत जनतन्त्र के महान् संक्षोभ का ही कारण बन जाता है।

१६६–भावुक–भारतीय जनतन्त्र की वणिक्तन्त्रानुगता महती भ्रान्ति—

विगत शताब्दियों से भावुक–भारतीय-जनतन्त्र इस भ्रम का अनुगामी बना हुआ है कि, "जिस युग से भारतराष्ट्र में विदेशी सत्ताओं का आक्रमण आरम्भ हुआ था, उस युग से आरम्भ कर आजतक भारतवर्ष

में संस्कृति-धर्म्म-साहित्यादि का जो कुछ थोड़ा बहुत स्वरूप शेष रहा है, उसका प्रधान श्रेय राष्ट्र के उस वित्तशाली धर्म्मिष्ठ विड्वर्ग को ही है, जिसने सत्तातन्त्रों से न केवल उपेक्षित ही, अपितु उत्पीड़ित इस राष्ट्र के संस्कृति-धर्म्म-साहित्यनिष्ठ ब्राह्मणवर्ग को आश्रय प्रदान कर येनकेनरूपेण भारतीय धर्म्म का संरक्षण कर लिया है"।

१६७-प्रतिदानकामनात्मिका वणिक्तन्त्रसापेक्षता, एवं धर्म्म की दासता—

अवश्य ही जिस सीमापर्य्यन्त 'भावुकता' का साम्राज्य है, उस सीमापर्य्यन्त तो जनतन्त्र की इस मान्यता का स्वागत ही किया जायगा। किन्तु जब निष्ठादृष्टि से हम तथ्य के अन्वेषण में प्रवृत्त होते हैं, तो जनतन्त्र का यह भ्रम भी शरदभ्रवत् विलीन ही होजाता है। महत्सौभाग्य से भारतीय जनतन्त्र सहजरूप से संस्कृति-धर्म्म के प्रति आस्थित है, श्रद्धालु है। आगन्तुक परसत्तातन्त्रों नें जब जब भी इसकी संस्कृति-धर्म्म-निष्ठाओं पर आक्रमण किया, तब तब ही इसने आश्रयभूमियों का अन्वेषण किया। इस अवसर से लाभ उठाने वाला वर्ग वही वित्तशाली वर्ग बना। और एकमात्र अपनी वित्तैषणा को सफल बनाने के लिए ही उस व्यवसायी वर्ग ने उन संक्रमणकालों में संस्कृति-धर्म्म को प्रश्रय प्रदान करने का अभिनय आरम्भ कर दिया।

१६८-सत्ताश्रय की प्रतिदाननिरपेक्षता, एवं तद्द्वारा अंशतः धर्म्मसंरक्षण—

यह तथ्य अविस्मरणीय है कि, सत्तातन्त्र भले ही कैसा भी हो, उसमें एक स्वाभाविक वैसा ऐश्वर्य्य प्रच्छन्नरूप से विद्यमान रहता ही है, जो अमुक-सीमापर्य्यन्त प्रतिदान नहीं चाहा करता। सत्तातन्त्र का सहयोग अधिकांश में प्रतिदानकामना से असंस्पृष्ट ही रहा करता है। यही कारण था कि, परसत्तायुगों में भी यहाँ की संस्कृति-धर्म्म निष्ठाओं को गतानुगतिकरूप से सत्तातन्त्रों के तद्युग के भारतीय सामन्तों से ज्ञात-अज्ञात-रूप से जो सहयोग मिलते रहे, उन में क्योंकि प्रतिदान की भावना नहीं थी। अतएव तथाविध सत्तासहयोगों में संस्कृति-धर्म्म अंशतः अभिव्यक्त बनते रहे। मुगलसत्तापर्य्यन्त संस्कृति और धर्म्म क्षेत्र गच्छतः-स्खलनरूप से येनकेनरूपेण सामन्तसत्ताओं का सहयोग प्राप्त करते रहे। यही नहीं, स्वयं मुगलशासकों में भी कितनें एक उदार शासकों नें मुक्तहृदय से इस कार्य्य में योगदान किया। इस सहयोगानुग्रह से ही तच्छासनयुगपर्य्यन्त भारतीय व्यवसायनिष्ठवर्ग का यहाँ की संस्कृति, यहाँ के धर्म्मक्षेत्रों में साक्षात्रूप से प्रवेश न होसका। परिणामस्वरूप सांस्कृतिक-साहित्य की दृष्टि से वह परसत्तायुग भी विशेष रूप से घातक न बन सका।

१६६-ब्रिटिशसत्ता की घातक घोषणा से भारतीय संस्कृति-धर्म्म का लोकतन्त्र से सम्बन्ध-विच्छेद—

आगे चल कर महान् नैष्ठिक ब्रिटिशसत्तायुग का उपक्रम हुआ, जिसका पहिला पुरुषार्थ था-धर्म्म का लोकक्षेत्रों से पार्थक्य। 'हम कदापि भारतीय धर्म्म में हस्तक्षेप नहीं करेंगे'-साम्राज्ञी विक्टोरिया

की इस घोषणा का सीधा सा अर्थ था–भारतीय संस्कृति, तदनुगत धर्म्म–साहित्यादि को सत्तासहयोग से वञ्चित कर देना। तद्युग के नितान्त भावुक राजभक्त विद्वानों नें सर्वस्वघातिका उस ब्रिटिशघोषणा का मुक्तहृदय से यशोगान करते हुए अपनी प्रज्ञाशून्यता का ही नग्नस्वरूप सत्ता के सम्मुख रख दिया। ब्रिटिशतन्त्र की दासता में दीक्षित यहाँ का सामन्ततन्त्र-राजतन्त्र भी इसी पथ का अनुगामी बन गया। प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष में यहाँ के सामन्तराजाओं नें भी बड़े गौरव से दासपञ्जिका में नामोल्लेख कराते हुए इंग्लैण्ड को ही अपना धर्म्मक्षेत्र बना लिया, एवं भारतीय धर्म्म–सांस्कृतिक क्षेत्र इन राजभक्त सामन्तों की दृष्टि से भी निरपेक्ष बन गए। और यों ब्रिटिश सत्तायुग में संस्कृति–धर्म्म सर्वात्मना अरक्षित ही बन गए।

२००–ब्रिटिशसत्ता की धर्म्मनिरपेक्षा घोषणा के अनुग्रह से वणिक्तन्त्र का धर्म्मक्षेत्र में आधिपत्य, एवं उसके दुष्परिणाम—

और यही वह सुअवसर एतद्देशीय व्यवसायनिष्ठों की व्यवसायात्मिका बुद्धि का आराध्य अवसर बन गया। जनतन्त्र की सहजसिद्धा संस्कृति–धर्म्मनिष्ठा को यों सत्तातन्त्र से उपेक्षित देख सुनकर व्यवसायनिष्ठों नें इसे आश्रय दे डालने का महान् अनुग्रह कर ही तो डाला। तत्कालीन संस्कृति–धर्म्मभक्त राष्ट्र के राजभक्त वे विद्वान् ब्राह्मण (जिन्हें ब्रिटिशदासकर्म्मों में प्रवेश का अवसर नहीं मिल सका था), एवं सामान्यरूप से पठित, किन्तु जनतन्त्र की श्रद्धा के सदा से ही केन्द्र बने रहने वाले सामान्य ब्राह्मण, दोनों हीं इस नवीन आश्रयक्षेत्र में (संस्कृति–धर्म्म–रक्षा के व्यामोहनाकर्षण से) सोल्लास समाविष्ट हो ही तो गए। और यों ब्रिटिशसत्तायुग ही प्रधानरूप से भारतीय संस्कृति–धर्म्म–साहित्यादि क्षेत्रों को विड्वर्ग के प्रति सापेक्ष बनाने का गौरव प्राप्त कर बैठा।

सहजभाषा में–इस युग से ही सत्तासापेक्षा संस्कृति, सत्तासापेक्ष धर्म्म व्यवसायनिष्ठाक्षेत्रों के प्रति सर्वात्मना आश्रित बन गया। इसी आधार पर कृतज्ञताभिव्यक्ति में सर्वाग्रणी यहाँ के जनतन्त्र का इसी युग से यह उद्घोष प्रक्रान्त होपड़ा कि,–"**आजके विदेशी सत्तायुग में तो राष्ट्र के श्रेष्ठिवर्ग के अनुग्रह से ही संस्कृति और धर्म्म का संरक्षण होरहा है**"। इसी कृतज्ञता के फलस्वरूप राष्ट्र के प्रत्येक सांस्कृतिक–धार्म्मिक क्षेत्रों का आधिपत्य इसी वर्ग के प्रति समर्पित कर दिया यहाँ के संस्कृति–धर्म्म–भक्त–भावुक ब्राह्मणों नें। सभा सनातनधर्म्म की, तो सभापति तद्ग्राम–नगर के सम्पन्न सेठ महाभाग। संस्थानों के नाम ऋषिकुल–गुरुकुल–संन्यासाश्रम–आदि आदि, किन्तु सर्वत्र सूत्रधार धनपति कुबेर ही। धर्म्मावतार-धर्म्मरक्षक-धर्म्मसंस्थापक जैसी ईश्वरीय उपाधियों के एकमात्र **असमान** अधिकारी ये ही मान लिए गए, किंवा अर्थदान के द्वारा विवशतापूर्वक मनवा लिए गए। नाम शिक्षापरिषत्, किन्तु उसके अध्यक्ष-अधिपति-परामर्शदाता, सभी कुछ निरक्षरमूर्द्धन्य वित्तेश।

२०१–शासन, एवं व्यवसाय के सन्दंश (सण्डासी) से धर्म्म का कण्ठावरोध—

क्या परिणाम हुआ इस विडाश्रयग्रहणता का ?। वही हुआ, जो प्रकृतिसिद्ध ही था। ब्रिटिशसत्ता भी सत्तातन्त्र न होकर 'वणिक्तन्त्र' ही था, जिसने अपनी व्यवसायनिष्ठा को इस धर्म्मशील राष्ट्र में सफल बनाने के लिए एक ओर पूर्वोक्त धर्म्मनिरपेक्षता की घोषणा से यहाँ की धर्म्मभावुकता को संरक्षण प्रदान किया, तो

दूसरी ओर यहाँ की धर्म्मभावुकता को इसाई-मतवाद से आकर्षित कर तन्माध्यम से अमुक वर्ग को प्रतिक्रिया-वादी बनाना आरम्भ कर दिया। स्वयं भारतराष्ट्र के वणिकतन्त्र नें सामान्य जनतन्त्र की धर्म्मभावुकताओं के माध्यम से अपनी व्यवसायनिष्ठाओं के प्रचार-प्रसार का श्रीगणेश आरम्भ कर दिया। दो दो वणिकतन्त्रों के सन्दंश (सण्डासी) में पतित राष्ट्र की धर्म्मभावना अपनी सांस्कृतिक-चेतना से सर्वथा ही अभिभूत होगई।

२०२–व्यवसायोपयोगी धर्म्म का धर्म्मत्त्व, एवं तत्प्रेमी वणिकतन्त्र के द्वारा धर्म्म का व्यवसायात्मक मूल्याङ्कन—

वणिक् निष्ठा प्रत्येक कार्य्य का, सहयोग का प्रतिदान चाहती है, फिर वह प्रतिदान व्यावसायिक हो, अथवा तो धार्म्मिक। उसकी दृष्टि में संस्कृति-धर्म्म का एकमात्र सीधा-साधा यही अर्थ है कि, वह इससे अपने कामार्थों में उत्तरोत्तर विकास करता जाय। उसका पूजन-पाठ-दान-आदि सभी कुछ वित्तैषणात्मिका-लोकैषणाओं के लिए ही सुरक्षित है। यदि किसी ब्राह्मण से दुर्गापाठ कराते हुए भी उसका व्यवसाय में पराभव हो जाता है, तो वह उसी क्षण से पाठकर्त्ता के साथ साथ स्वयं सप्तशती ग्रन्थ, और दुर्गाभगवती के प्रति भी उदासीन-तटस्थ ही बन जाया करता है। व्यवसायनिष्ठा की सफलता ही इसकी दृष्टि में संस्कृति-धर्म्म की एकमात्र उपयोगिता है। अनुपयोगिता में ये सब ब्राह्मणों के ढोंगमात्र ही प्रमाणित हो जाते है प्रतिदान-कामुक इन आश्रयदाताओं की दृष्टि में।

२०३–ब्रिटिशसत्तायुगीय वणिकतन्त्र के द्वारा गच्छतः स्खलनरूप से धर्म्म को आश्रय-प्रदान, किन्तु वर्त्तमान सत्तायुग में तत्प्रति भी सर्वथा निरपेक्षता—

ब्रिटिशसत्तायुग में अवश्य ही धर्म्मपथ इनका आश्रय प्राप्त करता रहा अमुक-ज्ञात अज्ञात अर्थ-तान्त्रिक कौशलों के अनुग्रह से। किन्तु वर्त्तमानसत्तातन्त्र के उदित होते ही इनका यह अनुग्रह भी समाप्त हो गया। क्यों ?, का उत्तर स्पष्ट है। सत्ता आज स्वयं उस जनतन्त्र की, अपने ही घर की है, जिससे यहाँ का सांस्कृतिक-धार्म्मिक-व्यावसायिक-कोई सा भी इतिहास छिपा हुआ नहीं है। परसत्ताओं की आखों में धर्म्मनाम-व्यामोहन से धूलिप्रक्षेप सम्भव था, तद्व्याज से अपने व्यवसायकौशलों की गच्छत: स्खलनरूप से सफलता भी सम्भव थी। किन्तु-'घर का भेदी लङ्का ढावे' न्यायानुसार अब वह धूलिप्रक्षेप भी सम्भव न रहा। और सत्तातन्त्र के साथ साथ ही कल का वही धर्म्ममूर्त्ति-धर्म्मरक्षक भी धनपति आज सत्ता से भी कहीं अधिकवेग से अपने आपको धर्म्म निरपेक्ष प्रमाणित करता हुआ सत्ताभक्त ही बन गया।

२०४–वणिकतन्त्र की सत्ताभक्ति का नग्नस्वरूप—

'सत्ताभक्त बन गया'–कहने सुनने मात्र से ही आज के धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र ने इस वर्ग को सत्ताभक्त बना लिया, किंवा बना लेगा, यह कल्पना तो सर्वथा भावुकतापूर्णा ही मानी जायगी। क्योंकि ब्रिटिशसत्ता के द्वारा निर्द्धारित संविधानों के आंशिक अनुकरणभावों को ही अपनी नीति का एकमात्र आधार मान बैठने वाला धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र भी आज उसी वासना को लक्ष्य बनाए हुए है, जो वासना व्यवसायनिष्ठ वणिक्-तन्त्र की मानी गई है। समानस्वार्थों में समवेत दो वर्गों में संघर्ष तो होसकता है, किन्तु भक्तिमूलक आश्रित-आश्रयभाव कदापि शक्य नहीं है। लोकैषणात्मिका वित्तैषणा जहाँ वणिक् का आराध्य

है, वहाँ * वित्तैषणात्मिका लोकैषणा धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र का लक्ष्य बना हुआ है। दोनों तन्त्रों की लक्ष्यभूमि थोड़े परिवर्त्तन के साथ जब एक ही है, तो दोनों में भक्तिसम्बन्ध तो कदापि स्थापित नहीं हो-सकता। और आज दोनों हीं तन्त्र अपने अपने स्वार्थसाधन के लिए व्यग्र बने हुए है, जिनमें सफलता विशेष-रूप से वणिक्तन्त्र को ही इसलिए मिल रही है कि, वह इस लक्ष्य को सफल बनाने के लिए लोकतान्त्रिक प्रकारों में जहाँ परम्परया अभ्यस्त है, वहाँ धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र के सञ्चालक सदस्य महानुभाव इस महती-विद्या के रहस्यों से अद्यावधि भी अनभिज्ञ ही हैं, एवं तबतक अनभिज्ञ ही बनें रहेंगे, जबतक कि ये संस्कृति-मूलक धर्म्म को सापेक्ष नहीं बना लेंगे।

प्रत्यक्ष सूर्य्यवत् यह सर्वात्मना विस्पष्टतम है कि, वर्त्तमान सत्तातन्त्र की जीवनप्रतिष्ठा व्यवसायनिष्ठों की कृपा पर ही अवलम्बित है। निर्वाचन की सफलता का एकमात्र अवलम्ब यही वर्ग बना हुआ है, जिस तथ्य के साथ कदापि गजनिमीलिका नहीं जा सकती। सत्तातन्त्र की कौन कहे, जनतन्त्र के एकमात्र प्रतीकभूत समाचारपत्र भी आज तो इन व्यवसायनिष्ठों के द्वारा ही स्वायत्तीकृत हैं, जिनमें इनके तन्त्र के विरुद्ध एक अक्षर भी लिख डालने की मूर्खता करने वाला सम्पादक स्मृतिगर्भ में हीं विलीन कर दिया जाता है। अतएव कदापि जनतन्त्र को इस भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिए कि, वणिकतन्त्र सत्तातन्त्र का भक्त बन गया है। अपितु ठीक इसके विपरीत यह कहा नहीं, तो माना तो अवश्य ही जा सकता है कि, सत्तातन्त्र व्यवसायकुशल नितान्त नैष्ठिक वणिकतन्त्र का प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से अवश्य ही भक्त बना हुआ है आज।

२०५–सत्तातन्त्र की वणिक्तन्त्र के प्रति सापेक्षता, एवं तदनुग्रहेणैव सत्तास्वरूपसंरक्षण–

क्या परिणाम होगा इस भक्ति का ?, प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट है। अग्नीषोमात्मिका–अन्नादान्नलक्षणा प्रकृति का ऐसा सुसूक्ष्म विधान है कि,–'**जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसे खाकर ही समृद्ध-पुष्ट बनता है। पञ्चमहाभूतों से उत्पन्ना चर–अचर–पार्थिव प्रजा पञ्चपार्थिवभूतों को अन्न बना कर ही स्वस्वरूपसंरक्षण में समर्थ बना करती है**, इस निरपवाद प्राकृतिक सिद्धान्त के अनुसार कामार्थपरायण वणिकतन्त्र के सहयोग से प्रसूत सत्तातन्त्र वणिकतन्त्र को अन्न बनाकर ही तो समृद्ध बन सकता है। और वैसा ही तो कुछ घटित विघटित होता जारहा है आज के वणिक्तन्त्र के लिए, जैसाकि इसके विकम्पन से प्रमाणित होरहा है। सचमुच आज दोनों के लिए दोनों हीं अन्नाद, और अन्न बनते हुए '**यो मा ददाति-स इ देवमावत–अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि**' इत्यादि प्राकृतिक श्रौत सिद्धान्त को ही अक्षरशः चरितार्थ बनाते जारहे हैं, जिस चरितार्थता की पर्य्यवसानभूमि बन जाया करता है अन्ततोगत्वा सुप्रसिद्ध **सुन्दोपसुन्दन्याय**। अमर्य्या-दित अन्न–अन्नादभाव (भोग्य–भोक्तृभाव) एक दूसरे से परस्पर विनष्ट ही हो जाया करते हैं, और यही 'सुन्दोपसुन्दन्याय' का फलितार्थ है, जो दुर्भाग्यवश आज सांस्कृतिक–धार्मिक भी पावन भारतराष्ट्र में आशङ्कित हो पड़ा है।

*** नामख्याति से युक्ता धनसंग्रह की इच्छा (लोकैषणात्मिका वित्तैषणा)–वणिक्तन्त्रेच्छा**
धनसंग्रह से युक्ता नामख्याति की इच्छा (वित्तैषणात्मिका लोकैषणा)—सत्तातन्त्रेच्छा

२०६–सत्ता–सम्पत्ति–सेवा–नुगत शासन–अर्थ–और श्रम—

सांस्कृतिक धर्म्मसूत्र ही वह मर्य्यादासूत्र है, जिससे क्षत्र–विट्–शूद्र–लक्षणा सत्ता–सम्पत्ति–सेवा–तीनों से अनुप्राणित शासन–अर्थ–श्रम–एक सीमा में व्यवस्थित रहते हुए केवल प्रवर्ग्यभागों से ही अपने अपने ब्रह्मौदन की क्षतिपूर्त्ति किया करते हैं। तीनों के प्रवर्ग्यभागों के आदान–प्रदान से तीनों की क्षतिपूर्त्ति भी होती रहती है, एवं तीनों मर्य्यादित–व्यवस्थित–रूप–से सुसमृद्ध भी बनते रहते हैं। अतएव भारतराष्ट्र की ऋषिप्रज्ञा ने 'तस्मात्–धर्म्मं परमं वदन्ति' रूप से धर्म्मसूत्र का ही प्राधान्य आवश्यक माना है, जिसका उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र को ही समर्पित किया गया है। एवं इस परम–(महान्) धर्म्मसूत्र के कारण ही कामार्थश्रमतत्त्वों के नियामक सत्तातन्त्र को धर्म्मवत्–'तस्मात्–क्षत्रात्परं नास्ति' रूप से महान् सम्मान से समलङ्कृत किया गया है।

२०७–धर्म्मनिरपेक्ष–क्षत्र–विट्–पौष्ण के द्वारा विश्वप्रजा में आत्यन्तिक क्षोभ का उदय–

निश्चय ही बिना धर्म्मसूत्रनियमन के सर्वप्रथम सत्तातन्त्र का स्खलन होता है। इस स्खलन से सत्तातन्त्र ही सर्वप्रथम अर्थकामासक्त बनकर रक्षण के स्थान में भक्षण का ही अनुवर्त्मा बन जाता है। इसका अनुकरण कर कालान्तर में कामार्थ के पारम्परिक आचार्य्य वैश्यवर्ग का स्खलन होजाता है। स्खलित अमर्य्यादित–वैश्यवर्ग–कालान्तर में धर्म्मशून्य सत्तातन्त्र को अपने प्रभाव में ले लेता है। वणिक्तन्त्र के प्रभाव से सञ्चालित सत्तातन्त्र आरम्भ में तो जनतन्त्र का शोषण करने लग पड़ता है। तत्क्षयानन्तर वणिक्–तन्त्र का शोषण आरम्भ हो जाता है सत्ताबल के द्वारा। उधर वणिक्तन्त्र भी प्रत्येक उपाय से सत्ता को स्ववशवर्त्ती बनाने के कुचक्रों का विस्तार करता रहता है। अन्ततोगत्त्वा इन धर्म्म–संस्कृतिशून्य–अमर्य्यादित भक्षण–कर्म्मों से राष्ट्र की सम्पूर्ण समृद्धियों का आत्यन्तिक विनाश ही हो जाया करता है। और यों संस्कृति–धर्म्म से निरपेक्ष बन जाने वाले क्षत्र–और विट् विश्वक्षोभ का कारण बन जाते हैं। दोनों में विशेष अपराध विट् का इसलिए माना गया है कि, कामार्थों की एषणा का जन्मदाता यही माना गया है, यही सत्तातन्त्र को, एवं जनतन्त्र को अर्थैषणा की ओर आकर्षित करता रहता है प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से। अतएव विश्वक्षोभ का प्रधान उत्तरदायित्व इस पर, एवं तत्सहयोगी श्रमवर्ग पर ही मान लिया है–राजर्षि ने, जैसाकि उनके–'क्षोभयेतामिदं जगत्' वचन से स्पष्ट है।

२०८–धर्म्मदण्डप्रवर्त्तक भारतीय सत्तातन्त्र के द्वारा राष्ट्र का संरक्षण—

उक्त विवेचन से अब हमें सहजरूप से ही इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना चाहिए कि, सत्तातन्त्र की धर्म्मनिष्ठा से ही कामार्थश्रमों की एषणाओं का व्यवस्थितरूप से वैसा नियन्त्रण सम्भव है, जिससे ये उन्मर्य्यादित बन कर विश्वक्षोभ के भी कारण नहीं बनने पाते, एवं मर्य्यादित बनकर स्व–स्व–स्वरूपसमृद्धि-पूर्वक राष्ट्रसमृद्धि के भी कारण प्रमाणित होते रहते हैं। यों धर्म्मनिष्ठ सत्तातन्त्र ही लोकसमृद्धि, राष्ट्रसमृद्धि का अधिष्ठाता–प्रवर्त्तक–संरक्षक बनता हुआ विश्वशान्ति का सफल सन्देशवाहक बन जाता है, निश्चयेन बन जाता है। इसीलिए भारतीय सत्तातन्त्र को एकमात्र धर्म्मदण्ड का ही प्रवर्त्तक माना गया है, जैसाकि निम्नलिखित कतिपय मानवीय वचनों से प्रमाणित है—

कार्य्यं सोऽवेच्य शक्तिं च देश-कालौ च तत्त्वतः ॥
कुरुते धर्म्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥१॥
तस्माद्धर्म्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ॥
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु, तं धर्म्मं न विचालयेत् ॥२॥
तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्म्ममात्मजम् ॥
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्वमीश्वरः ॥३॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥
भयाद्भोगाय कल्पन्ते, स्वधर्म्मान्न चलन्ति च ॥४॥
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ॥
चतुर्णामाश्रमाणाञ्च धर्म्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥५॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्द्धरश्चाकृतात्मभिः ॥
धर्म्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥६॥

—मनुः ७ अध्याय

२०६–धर्म्मस्वरूपव्याख्याता संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण, एवं धर्म्मस्वरूपप्रवर्त्तक सभ्यतानिष्ठ-सत्तातन्त्र, तथा धर्म्म का प्रथम क्रमात्मक-क्रम–(१)

संस्कृति का आचारात्मक-वर्णानुगत-कर्त्तव्यकर्म्मात्मक-लौकिक-प्रतीकरूप ही यहाँ वह 'धर्म्म' है, जिसे आधार बनाकर सत्तातन्त्र राष्ट्रव्यवस्था में सफलता प्राप्त करता है। अतः इस प्रतीकधर्म्मात्मक लोकधर्म्म के आधार पर ही हमें 'धर्म्माधिकारसमर्पणक्षेत्र' का समन्वय करना चाहिए। श्रुति-स्मृति-सिद्ध धर्म्म का व्यावहारिक स्वरूप है विधि, और तत्पूरक निषेध। प्रकृति-सिद्ध-विभक्त-वर्णानुगत कर्त्तव्य ही विधि है, जिनका विधान हुआ है। प्रकृतिविरुद्ध उत्पन्न काल्पनिक अकर्त्तव्यात्मक असत्कर्म्म ही निषेधकोटि में अन्तर्भुक्त हैं, जिनका शास्त्र में निषेध हुआ है। विधि-निषेधात्मक धर्म्म का एक स्वरूप है-'आदेश'। राजा को यही अधिकार दिया गया है। राजा अपने दण्डभय से विधि-निषेधात्मक आदेशधर्म्म पर ही प्रजा को नियन्त्रित रखता है। यही आदेश मीमांसादर्शन के शब्दों में-'नोदना' (प्रेरणा-अनुज्ञा-आदेश) कहलाया है। अतएव तत्र धर्म्म का लक्षण हुआ है-'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः' (पूर्वमीमांसासूत्र)।

'स्वधर्म्मे निविशेत वै' का अर्थ-'स्वकर्त्तव्यकर्म्मणि-निविशेत वै' ही है। राष्ट्र का मनोमय कामानुगत वैश्यवर्ग, शरीरमय श्रमानुगत शूद्रवर्ग, दोनों वर्ग इसी कर्म्म ही इस धर्म्म की स्वरूपव्याख्या है। आदेशनात्मक धर्म्म की सीमा में अन्तर्भुक्त हैं। धर्म्म की मौलिकता, रहस्यज्ञान का इन दोनों वर्गों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं माना है शास्त्र ने इसलिए कि, अर्थकाम में सहजरूप से प्रकृत्या ही आसक्त ये दोनों वर्ग

धर्म्म के रहस्यज्ञान के समन्वय में सर्वथा अनधिकारी ही बने रहते हैं। 'इदं कर्त्तव्यम्-इदं न कर्त्तव्यम्' यही इन की स्वरूपरक्षा का एकमात्र आधारबिन्दु है। और इन आदिष्ट धर्म्मों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त रहने मात्र में ही इनका अभ्युदय-निःश्रेयस् सुरक्षित है। इसी मान्यता की दृष्टि से वैशेषिकदर्शन के शब्दों में धर्म्म का यही लक्षण हुआ कि-**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः-स धर्म्मः'** (वै० सू०)। **"शास्त्र जो कहता है-वही धर्म्म है, एवं धर्म्माचरण से इस लोक में समृद्धि, एवं परलोक में शान्ति मिलती है"** बस दोनों वर्गों के लिए धर्म्म की यही स्वरूपव्याख्या पर्य्याप्त है, जिस व्याख्या का विस्तार **पुराणशास्त्र** में हुआ है। आदेश शरीरनिबन्धन है, तत्प्रतिपादक शास्त्र **स्मृतिशास्त्र** है। उपदेश मनोनिबन्धन है, तत्प्रतिपादकशास्त्र **पुराणशास्त्र** हैं। दोनों के आधार पर मनः-शरीरप्रधान दोनों वर्गों की धर्म्मश्रद्धा की इयत्ता विश्रान्त है। आदेशोपदेशानुसार कर्त्तव्यकर्म्म करते जाना ही इस इयत्ता की स्वरूपव्याख्या है, जिसका व्याख्याता बनता है-ब्राह्मण, एवं नियन्ता बनता है-सत्तातन्त्र।

२१०-धर्म्मानुगत रहस्यज्ञान, एवं धर्म्म का दूसरा 'अभिक्रमा'त्मक क्रम (२)-

दूसरा प्रक्रम है धर्म्म के **रहस्यज्ञान** का, जिसका अनुशासनात्मिका बुद्धि से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। एवं उसमें सामान्यरूपेण अधिकृत माना गया है क्षात्रसत्तातन्त्र। सत्तातन्त्रानुगत क्षात्र शासक है, बुद्धिपूर्वक अनुशासनकर्त्ता है। अनुशासन के सम्बन्ध से ही इसे 'शासक' कहा गया है। सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न शासक कदापि वैय्यक्तिक एषणामूला अर्थकामासक्तियों में आबद्ध नहीं होसकता। जो हो सकता है, होता है, हो पड़ता है, वह कदापि भारतीय दृष्टि से शासक तो नहीं बन सकता, तन्त्रबुद्ध्या शासकपद प्राप्त करके भी वह बुद्धिपूर्वक अनुशासन तो नहीं कर सकता, जिस अनुशासन के गर्भ में दण्डभय जागरूक बना रहता है। जहाँ अर्थकामासक्ति है, वहाँ तो उपदेशगर्भित आदेशात्मक धर्म्म का ही व्यवहार होता है। कदापि वहाँ धर्म्मरहस्यज्ञान पुष्पित-पल्लवित नहीं हो सकता। पुष्पित-पल्लवित क्या नहीं हो सकता, धर्म्मरहस्यव्याख्या-श्रवणमात्र से मनःशरीरधर्म्मा महानुभाव निद्रातन्द्रा के क्रोड़ में ही आश्रयग्रहण करने लग पड़ते हैं। बुद्धिपूर्विका जागरूकता तभी रह सकती है, जबकि मानववर्ग अर्थकामों में आसक्तव्यासक्तमना नहीं बना करता। तत्रैव रहस्यव्याख्या-फलितार्था बनती है। एवं वैसा सामान्यपात्र माना गया है बुद्धिनिष्ठ-धर्म्मिष्ठ-धर्म्मप्रवर्त्तक-कर्त्तव्य संरक्षक-स्वयं कर्त्तव्यपरायण-बुद्धिपूर्वक सतत जागरूक, अतएव अनुशासक-अतएव च वैय्यक्तिक अर्थकामैषणाओं से असंस्पृष्ट सत्तातन्त्र। यही धर्म्म का धर्म्मरहस्यज्ञाननिबन्धन दूसरा अनुशासनात्मक दूसरा प्रक्रम है, जिसका-**'अथातो धर्म्मानुशासनम्'** रूप से यशोगान हुआ है, जिसका राजर्षि ने इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

"अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते"
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥

—मनुः २।१३

२११-धर्म्मानुगत तात्त्विक चिन्तन, एवं धर्म्म का तीसरा 'अभिक्रमा'त्मक क्रम (३)-

तीसरा अभिक्रम है-धर्म्म के धर्म्मत्त्व का तात्त्विक चिन्तन, जिसका ब्राह्मण की स्वाध्यायनिष्ठा से ही सम्बन्ध माना है राजर्षि ने। वेदस्वाध्यायरूप महान् तप ही धर्म्म के धर्म्मत्त्व का तात्त्विक चिन्तन माना गया है। यों चिन्तनात्मक वेदस्वाध्यायरूप अभिक्रम, धर्म्मरहस्यविश्लेषणात्मक प्रक्रम, एवं धर्म्मादेशात्मक क्रम, तीन संस्थानों में विभक्त धर्म्मतत्त्व क्रमशः ब्राह्मणतन्त्र-क्षत्रियतन्त्र-एवं शूद्रानुगत विट्तन्त्र-इन तीन तन्त्रों का संग्राहक बना हुआ है। तीनों के मध्य में आचारात्मक परमधर्म्म * के प्रवर्त्तक क्षात्रसत्तातन्त्र का ही लोकदृष्ट्या महत्त्व माना गया है। वणिक्तन्त्रसापेक्ष आचारधर्म्म कदापि सुव्यवस्थित नहीं रह सकता। जो ब्राह्मण सत्ता के स्थान में धनिकवर्ग को धर्म्म के प्रति सापेक्षता प्रदान कर देते हैं, उन्हें स्वयं भी कालान्तर में अर्थकामासक्त बन कर धर्म्माचरण से वञ्चित ही हो जाना पड़ता है। इन सब प्राकृतिक तथ्यों को अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ बनाकर ही अब हमें उस प्रश्नमीमांसा में प्रवृत्त होना चाहिए, जिसकी पूर्व में उत्थानिका हुई है, एवं जिसकी मूलोपक्रमभूमिका की दृष्टि से ही तथाकथित धर्म्म की तीनों संस्थाओं का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन हो पड़ा है।

२१२-क्रमत्रयानुगत-विट् क्षत्र-ब्रह्म-भावों के साथ त्रिविध धर्म्म का समन्वय—

प्रश्नमीमांसा की पूर्व में जो उत्थानिका हुई है (पृ० सं० ९९), उसका अब यों सर्वात्मना सुसमन्वय हो जाता है कि, प्रतीकात्मक-आचरणात्मक-क्षत्रियधर्म, अनुसरणात्मक वैश्यधर्म्म, एवं अनुकरणात्मक शूद्रधर्म्म इन तीन वर्णधर्म्मों को तो धर्म्मिष्ठ-सत्तातन्त्र के प्रति ही सापेक्षता है, एवं तन्मूला बुद्धिसंस्कृति-मनःसंस्कृति-शरीरसंस्कृति-रूपा लोकसंस्कृतित्रयी के प्रति भी सत्तातन्त्र को ही सापेक्षता है। और इस लोकप्रतीकात्मक लोकसंस्कृतिसमन्वित-लोकधर्म्म के प्रति सत्तातन्त्र का ही उत्तरदायित्व माना गया है-भारतीयशास्त्र में। प्रश्न शेष रह जाता है-ब्राह्मणानुगता-भूतात्मसंस्कृति का, एवं तदनुगत-प्रतीकभूत अनुशीलनधर्म्म का। सामान्यरूपेण इसके प्रति भी सत्तातन्त्र को ही जागरूक बना रहना पड़ता है, जिससे अन्तर्निष्ठ भी ब्राह्मण युगधर्म्मानुगता बहिर्भावुकताओं के व्यामोहन में पड़ कर कहीं अनुशीलनधर्म्म से पराङ्मुख न बन जाय।

२१३-लोकसंस्कृति, एवं प्रतीकधर्म्मचतुष्टयी की सापेक्षता का आंशिक समर्थन—

तदित्थं-सामान्यरूपेण प्रतीकभूता लोकसंस्कृतिचतुष्टयी, एवं लोकधर्म्मचतुष्टयी-दोनों सत्तासापेक्ष ही मानीं गईं हैं, जिसके मूल में संस्कृतिमूलक सत्यात्मक धर्म्मदण्ड ही व्यवस्थित है। और इस दृष्टि से चारों ही वर्णों को सत्तातन्त्र के प्रति ही अपनी निष्ठाएँ समर्पित कर देने के आदेश दिए हैं-शास्त्र ने। किस सत्तातन्त्र के प्रति ?, जो सत्यधर्म्म को आधार बना कर धर्म्मदण्ड को प्रवृत्त रखता है। क्या स्वरूप है उस सत्यधर्म्म का ?, वह स्वरूप है सत्यधर्म्म का, जिसका पुराण में कथारूप से, स्मृति में विधिरूप से, एवं वेद में रहस्यरूप से विश्लेषण हुआ है। श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित सत्यधर्म्म का प्रवर्त्तक-व्यवस्थापक सत्तातन्त्र ही भारतीय

---

* आचारः परमो धर्म्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः॥
—मनुः १।१०८।

परिभाषा में भारतीय संस्कृति–सभ्यता–धर्म्म–आदर्श–नीति–आदि का सञ्चालक धर्म्मसापेक्ष सत्तातन्त्र है। और–'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' के अनुसार अवश्य ही ऐसा धर्म्मिष्ठ सत्तातन्त्र ईश्वर का प्रतिनिधि ही बना हुआ है, जो कि 'ईश्वरीय–नियतिः सत्यात्मक–प्राकृतिक–विभक्त कर्त्तव्य–कर्म्मों' को सुव्यवस्थित बनाए रखता हुआ राष्ट्र को अभ्युदय–निःश्रेयस् से समन्वित रखता है।

२१४–भारतराष्ट्र की राजभक्ति–सत्ताभक्ति का मूलाधार—

वैराग्यबुद्धियोगात्मक **योग**, ज्ञानबुद्धियोगात्मक **ज्ञान**, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका **भक्ति**, एवं धर्म्मबुद्धि-योगात्मक **कर्म्म**, रूप **मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थात्मक**–चारों लोकसंस्कृति–लोकधर्म्मों का संरक्षक देशाधिपति–राष्ट्रपति अवश्यमेव संस्कृति–सभ्यताओं का अपेक्षात्मक आधार बना रहता है, बनता आया है–परम्परया, बना ही रहना चाहिए इसे परम्परया सदा ही। यही भारतराष्ट्र की राजभक्ति–सत्ताभक्ति–सत्ताश्रय–का वह मूलाधार है, जिससे आज भी सत्तातन्त्र लाभ तो उठा ही रहा है। एवं प्रजा भी अपने सनातन-संस्काराकर्षणों के प्रति वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र के प्रति भी आस्था–श्रद्धा समर्पित करना अपना नैष्ठिक कर्त्तव्य मान ही रही है, मानना ही चाहिए।

२१५–विदेशी सत्तातन्त्र के द्वारा प्रवृत्त सर्वस्वघातक शिक्षायन्त्र का भारतीय सत्तातन्त्र के द्वारा अन्धानुकरण, एवं उसके भीषण परिणाम—

क्या ऐसा मानना–मनवाना भावुकता न होगी ?। होगी, और अवश्य ही होगी। क्या ऐसा होना उत्तम पक्ष माना जायगा ?, अवश्य ही उत्तम पक्ष ही माना जायगा। क्यों ?, और किस आधार पर ?।

यों, और इस आधार पर कि, वर्त्तमान सत्तातन्त्र कोई पारम्परिक सत्तातन्त्र नहीं है। नापि विदेशी-सत्तातन्त्र। अपितु जनतन्त्र के प्रतिनिधि ही आज के सत्तातन्त्र की स्वरूपव्याख्या है। भारतराष्ट्र का वर्तमान सत्तातन्त्र किसी अज्ञातलोक से अकस्मात् अवतीर्ण हो पड़ने वाला कोई अज्ञाततन्त्र नहीं है। अपितु यह तो स्वयं राष्ट्रीय–प्रजा की ही पारम्परिक, एवं प्रत्यक्षा इच्छा से स्वयं प्रजावर्ग में से ही संकलित उन मेधावी प्रज्ञाशील देशभक्त मानवों का ही संकलितरूप है, जिनकी अध्यवसायपूर्णा–कष्टसाध्या–तपोनिष्ठा से ही राष्ट्र आज अपने मानसिक, तथा शारीरिक अनुबन्धों से सम्बन्ध रखने वाले पारतन्त्र्य से विमुक्त हो कर स्वातन्त्र्य–सुख अनुभूत करने लग पड़ा है। इन तपोनिष्ठ देशभक्तों की सुसंघठिता प्रयासपरम्पराओं से ही परसत्तातन्त्र (ब्रिटिश-सत्तातन्त्र) के सर्वस्वघातक उस वारुणपाश से भारतराष्ट्र उन्मुक्त हो सका है, जो विदेशी सत्तातन्त्र सचमुच ही भारतराष्ट्र की संस्कृति–सभ्यता–धर्म्म–आदर्श–आचार–नीति–आदि आदि के प्रति न केवल सर्वथा निरपेक्ष ही था। अपितु अपने घातक शिक्षायन्त्र के द्वारा जिसने भारतश्री का सब ओर से अभिभव ही कर रक्खा था।

२१६–अनुकरणात्मक भारतीय–गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र के प्रति श्रद्धार्पण—

अपने भौतिक सुखों को बलिदान की पवित्र वेदि पर सोल्लास समर्पित करने वाले स्वनामधन्य संस्मरणीय महात्मा तिलक, गोखले, चित्तरञ्जन, सुभाष, मालवीय, गांधी, नेहरू, लाजपतराय आदि आदि महानात्माओं के

प्रचण्ड संघर्ष से ही ब्रिटिशसिंहासन विकम्पित हुआ। एवं इन महाप्राण मानवश्रेष्ठों के अनुग्रह से ही इनकी सन्ततियों नें ही उस सत्तातन्त्र का सङ्कलन किया, जो **'गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र'** नाम से आज भारतीय प्रजा का शासन कर रहा है। ऐसे इस अपने हीं सत्तातन्त्र के प्रति अपनी कृतज्ञताएँ समर्पित करना हीं तो भारतीय प्रजा का एकमात्र राष्ट्रीय कर्त्तव्य माना जायगा, माना जाना ही चाहिए। यदि ब्रिटिशसत्तायुग में, उस ब्रिटिशसत्तायुग में, जिसमें कि भारतीयों का सब कुछ दासतारूप में हीं परिणत हो गया था, राष्ट्रीय प्रजा तत्सत्ता के प्रति यदि अपनी राजभक्ति समर्पित कर सकती है, ब्रिटिशसत्ता के यशोगान से अपने आपको यदि धन्य कृतकृत्य-बना सकती है, तो क्या आज वही प्रजा अपने हीं सत्तातन्त्र के प्रति अपनी आस्था-श्रद्धाएँ समर्पित नहीं कर देगी ?, अवश्य ही कर देगी, कर देना ही चाहिए।

२१७–भारतीय संविधान की धर्म्मनरपेक्षता, एवं हमारा भावुकतापूर्ण प्रमाद—

विगत अनेक शताब्दियों से परसत्तातन्त्रों के वारुणपाश से आबद्ध बने रहने वाली भारतीय प्रजा की दासता उस सीमा पर पहुँच गई है कि, जिससे वह आज के स्वतन्त्रतायुग में भी सर्वात्मना अपना परित्राण नहीं कर सकी है। मनसा, शरीरेण कहने सुनने मात्र के लिए स्वतन्त्र कही-मानी जाने वाले भी प्रजा तत्त्वतः आज भी आत्मना-बुद्धया सर्वात्मना, एवं मनसा-शरीरेणापि अंशतः परतन्त्र ही बनी हुई है। अतएव जैसी **स्वात्मनिष्ठा**, जैसा **बौद्धिक अध्यवसाय**, जैसा **मानसिक चिन्तन**, एवं जैसा **शारीरिक श्रम** एक स्वतन्त्र मानव में होना चाहिए, उसका आज भीं अभाव ही है भारतीय मानव में, विशेषतः अपने आपको 'राष्ट्रीय-मानव' नाम से सामान्य प्रजावर्ग से पृथक् वत् अनुभूत करने वाले विशेष मानववर्ग में। और इसी निर्बलता से आज हमारा राष्ट्रीय सत्तातन्त्र भी अपने विधि-विधानों, समाजपद्धतियों, शिक्षापद्धतियों, सांस्कृतिक आयोजनों, आदि आदि में सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेननैव ऐसे प्रमाद कर सकता है, जिनका भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति से न कोई सम्बन्ध ही है, अपितु जो प्रमाद भारतराष्ट्र की इस प्राप्त स्वतन्त्रता को किसी भी दिन पुनः पारतन्त्र्यरूप में भी परिणत कर सकता है, जिन प्रमादों में से महान् प्रमाद माना जा सकता है–**'संविधान की धर्म्मनिरपेक्षिता'**।

२१८–विश्व के सत्तातन्त्रेतिहासों में प्रथम परीक्षणात्मिका धर्म्मनिरपेक्षता—

जिस दिन से मानव ने अपना सांस्कृतिक स्वरूप पहिचाना है, उस दिन से आरम्भ कर ब्रिटिशसत्तायुग पर्य्यन्त के लाखों वर्षों के सत्ताकालात्मक विभिन्न सत्तायुगों में सम्भवतः आज विश्व में यह पहला ही सत्तायुग है, जिसमें महद्दुर्भाग्य से उस भारतराष्ट्र ने हीं परीक्षणबुद्धया ही मानो 'धर्म्मनिरपेक्षसत्तातन्त्र' का संस्थापन कर डाला है, जिस भारतराष्ट्र ने हीं सम्पूर्ण विश्व में प्रथम बार धर्म्मसंस्थापनपूर्वक सत्तातन्त्र का उपक्रम किया था सभ्यता के आरम्भयुगों में। धर्म्म का विरोध करने वाली सत्ताओं का आविर्भाव तिरोभाव तो सुना गया है इतिहास के पृष्ठों के द्वारा। किन्तु कोई सत्ता धर्म्म से

निरपेक्षा रही हो, तटस्थ रही हो, यह तो आज तक नहीं सुना गया। जिस अमेरिका के गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र के केवल गणतन्त्रभाव के आंशिक अनुकरणमात्र का, एवं जिस इङ्गलैण्ड के प्रजातन्त्र का आंशिक अनुकरणमात्र कर भारत का जो गणतन्त्रीय प्रजातन्त्रात्मक संविधान बना है, उसके आधारभूत वे विदेशी तन्त्र भी यों धर्म्मनिरपेक्ष तो नहीं हैं। अपितु अपनी ईसायत की निष्ठा उन प्रजातन्त्रीय गणतन्त्रों में भी यथापूर्व सुरक्षित है उनके संविधानों में। तब फिर सत्तातन्त्रों के इतिहास में पहिली बार, सो भी धर्म्म के प्रथम संस्थापक पवित्र भारतवर्ष की आस्थाश्रद्धाशीला जनता के द्वारा ही 'धर्म्मनिरपेक्षसत्तातन्त्र' कैसे आविर्भूत हो पड़ा ?, सचमुच यह अनतिप्रश्नात्मक वैसा दुरधिगम्य ही प्रश्न माना जायगा, जिसका समाधान भारतीय संस्कृति–साहित्य में हीं क्या,–विश्व की किसी भी संस्कृति, किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सकता, नहीं हो रहा।

२१६–परदर्शनमूलक–अन्तर्राष्ट्रीय व्यामोहन, एवं तन्मूला सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता–

क्यों, कैसे, किस आधार पर सत्तातन्त्र से ऐसा प्रमाद हो पड़ा ?, इस प्रश्न का उत्तर जबतक नहीं ढूँढ़ लिया जायगा, तबतक कदापि इस प्रमाद से सत्तातन्त्र का परित्राण नहीं हो सकेगा। एवं बिना इस प्रमाद के परित्याग के भारतवर्ष में तो ऐसा सत्तातन्त्र प्रजानुरञ्जन के अन्य सहस्र प्रयत्न करता हुआ भी स्वस्तिभाव स्थापित नहीं कर सकेगा, नहीं कर सकेगा। प्रश्न जितना दुरधिगम्य है, उत्तर उतना हीं सरल है। और वह है संविधाननिर्म्माताओं की 'धर्म्मभक्ति', रूपा–'धर्म्मभावुकता' ही, जिसे निष्ठा की भाषा में–'**धर्म्मभीरुता**' ही कहा गया है। भारतराष्ट्र के जिन महामेधावी प्रज्ञाशील मानवश्रेष्ठों नें संविधान का निर्म्माण किया है, यदि हम समझने में प्रमाद नहीं कर रहे, तो उनमें से अधिकांश मानवश्रेष्ठ धर्म्म के प्रति अपने अन्तर्जगत् में श्रद्धा को सुरक्षित ही किए हुए थे। किन्तु इनकी यह धर्म्मश्रद्धा सांस्कृति की तत्त्वनिष्ठा के आधार से वञ्चित होती हुई केवल 'श्रद्धा' ही बनी हुई थी, जिस केवल धर्म्मश्रद्धा को–'धर्म्मभावुकता' लक्षणा धर्म्मभीरुता ही कहा गया है। **'यदि हम संविधान में धर्म्म को स्थान देदेंगे, तो दूसरे धर्म्मावलम्बी क्या कहेंगे ? क्या दूसरों को आलोचना का अवसर देना अच्छा होगा ?, क्यों नहीं धर्म्म को निरपेक्ष–तटस्थ ही मान लिया जाय आज के संघर्षात्मक–वातावरण की दृष्टि से''** बस एकमात्र इस धर्म्मभावुकता–लक्षणा परप्रत्ययात्मिका–परदर्शनात्मिका–धर्म्मभीरुता ने हीं संविधान को धर्म्मनिरपेक्ष बना डाला, जबकि संविधाननिर्म्माता स्वयं भी न तो धर्म्म के प्रति निरपेक्ष ही थे, एवं न संविधान के अनुसार शासन करने वाले आज के शासक ही सर्वात्मना धर्म्मनिरपेक्ष।

२२०–संघर्षवञ्चिता–अनुकूलतात्मिका भावुकता के दुष्परिणाम, एवं सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता—

"सर्वत्र संघर्षों से आत्मत्राण करते रहना, सर्वत्र अनुकूलताओं की–सुखसुविधाओं की खोज करते रहना, कहीं भी अपना उत्तरदायित्व अनुभूत न करना, आत्मविश्वासात्मिका निष्ठा से किसी भी मन्तव्य-कर्त्तव्य में योगदान देने के साहस से वञ्चित बने रहना" आदि आदि दोष ही वह 'भावुकता'–'भीरुता' दोष माना गया है, जिसने अनेक शताब्दियों की दासता से मानव को, तत्रापि भारतीय मानव को, तत्रापि हिन्दू मानव को, तत्रापि सर्वोपरि धर्म्मभक्त आस्तिक हिन्दूमानव को सर्वथा निष्ठाविगलित ही कर दिया है। जिस प्रकार एक उत्पीड़ित दास सदा दूसरों से विकम्पित रहता है, सहमा सहमा सा रह कर ही प्रगति करता है, ठीक वही स्थिति आज उस आस्तिक मानव की हो रही है, जो अपने अन्तर्जगत् में धर्म्म के प्रति सर्वात्मना सापेक्ष बना रहता हुआ भी परदर्शनात्मक–भावुकता–क्षेत्रों में–भावुकतावश अपने आपको धर्म्मनिरपेक्ष ही कह पड़ने लगा है।

२२१–भावुकतामूलक नवग्रहग्राहवाद, एवं संस्कृति का तद्द्वारा अभिभव—

आत्यन्तिकरूप से धर्म्मनिष्ठ भी आस्तिक मानव धर्म्मभावुक–धर्म्मभीरु क्यों, और कैसे बन गया ?, प्रश्न का प्रकृत में समाधान सम्भव नहीं है। परसत्ताओं की आक्रमणमूला दासता ही इस भावुकता का एकमात्र कारण नहीं है। अपितु-प्रत्यक्ष–पर–दर्शनमूलक **दर्शनवाद, धर्म्मवाद, निबन्धवाद, सम्प्रदायवाद, शास्त्रवाद, उपदेशवाद, भक्तिवाद, सुधारवाद,** आदि आदि नववादात्मक नवग्रहों की अनुकम्पा से भी (जो कि वाद स्वयं इसी की उपज हैं)-इसकी धर्म्मनिष्ठा सहस्राब्दियों से विगलित ही होती आरही है। ऐसी उपज हो ही क्यों पड़ी, जबकि यह मूलतः नैष्ठिक ही था ?, प्रश्न का उत्तर एकमात्र उस 'मूलसंस्कृतिनिष्ठा' से ही सम्बन्ध रखता है, जिसके चिरन्तन इतिहास की पावनगाथा के संस्मरण के लिए ही प्रकृत निबन्ध उप-निबद्ध है। ज्ञानविज्ञानसमन्विता मूलसंस्कृति की उपेक्षा नें ही भारतीय मानव को भावुक बनाया। इस भावुकता से ही इसनें नवग्रहात्मक वादों का आविर्भाव कर डाला।

२२२–वादमूला–भावुकता, एवं तदनुग्रह से संस्कृति–धर्म्म–क्षेत्रों में निरपेक्षता का जन्ममहोत्सव,–इति नु–अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

वादमूला–संस्कृतिनिष्ठाशून्या–परदर्शनप्रभावात्मिका भावुकता ने ही इसे संघर्षात्मिका, श्रमपरिश्रमा-त्मिका–आश्रमजीवनपद्धतिमूला अध्यवसायनिष्ठा से तो कर दिया पराङ्मुख, एवं मनोमूला भावुकता से बन गया यह अनुकूलता का प्रेमी। इसी अनुकूलता ने इसे कालान्तर में उस सीमापर्य्यन्त शिथिल–निस्तेज–संघठनवञ्चित–दीन–हीन––उदासीन––कल्पितवेदान्तनिष्ठ–जगन्मिथ्यात्मवादी भ्रामक मानव बना डाला, जिस विषमता में कोई भी इसे सहजरूप से ही दास बना सकता था। वही हुआ। संस्कृतिनिष्ठावञ्चित ऐसे धर्म्मभीरु-भावुक भारतीय मानव से आक्रान्ताओं का निरोध न होसका। परसत्ताएँ प्रतिष्ठित होगईं। उन्होंनें इसकी

भावुकता से सर्वात्मना लाभ उठाया, और यह भावुकतापूर्ण आतिथ्यधर्म्म में ही मनोविभोर बना रहता हुआ मुक्तहृदय से अपना सभी कुछ लुटाता हुआ कहता यही रहा कि–**'हमारा क्या बिगड़ गया। हमनें तो अपना धर्म्म निभाया है'**। इसी परम्परा से यह कालान्तर में दासता की उस चरमसीमा का महान् आचार्य्य बन गया, जिस आचार्य्यपद पर पहुँचने के अनन्तर 'शून्यं शून्यम्' का ही उपदेश शेष रह जाया करता है। यही है धर्म्मभावुक–धर्म्मभीरु–संस्कृतिस्वरूपप्रोभवञ्चित उस भावुक भारतीय हिन्दूमानव की भावुकता का संक्षिप्त इतिहास, जिसकी प्रेरणा से ही आज पुनः यह धर्म्मभीरु–**'दूसरे क्या कहेंगे'** एकमात्र इस परदर्शनात्मक–व्यक्तिप्रतिष्ठालक्षण–महान्व्यामोहन से ही स्वदर्शन से पराङ्मुख होता हुआ संविधान को धर्म्मनिरपेक्ष घोषित करने जैसा महान् प्रमाद कर बैठा। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

२२३–परोक्षरूपेण प्रमादनिराकरणचेष्ट, एवं सत्तातन्त्र के प्रति तटस्था सापेक्षता—

प्रमाद तो हो पड़ा, जैसाकि हो पड़ना शताब्दियों से भावुक बने हुए इस मानव के कृत्रिम स्वभाव के अनुबन्ध से कोई विशेष अपराध नहीं माना जासकता। स्वयं अपने रूप से इससे यह भूल नहीं हुई है। हृदय तो वही है, जो युगों पूर्व था। केवल भावुकतावश–दासता के अभ्यासवश–ऐसा हो पड़ा है, जिसकी आलोचना–प्रत्यालोचना में न पड़ कर राष्ट्रीय प्रजा को इस प्रमाद के परोक्षरूपेण निवारण में हीं निष्ठादृष्टि से प्रवृत्त होजाना चाहिए, अविलम्ब प्रवृत्त होजाना चाहिए सत्तातन्त्र के प्रति पूर्ण आस्था–श्रद्धा रखते हुए ही। **'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'**।

२२४–सौम्य, अतएव भावुक नारीतन्त्र, एवं सौम्य बालवृन्द का स्वरूप परिचय–

प्रमादोपशम का वह परोक्षरूप क्या होगा!, प्रश्न का भी दो शब्दों में समन्वय कर लेना चाहिए। भावुक मानव को ऋषिभाषा में–**'सौम्य मानव'** कहा गया है, जिसका लौकिक अर्थ है–**'भोला मानव'**। इन्द्रियानुगत–भास्वरसोममय–इन्द्रियमन ही 'सौम्यमन' है। और जिस परदर्शनप्रभावमूला 'भावुकता' का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है, उस भावुकता का आवास–निवासक्षेत्र यह सौम्य–इन्द्रियमन ही बना रहता है। तत्प्रधान मानव ही–'सौम्यमानव' कहलाया है, जिस सौम्यमन की–चान्द्र–सोमप्राणप्रधाना नारी में, तथा षोडशवर्षपर्य्यन्त के बालमानव में प्रधानता मानी गई है। अतएव नारी को **'सौम्या'**, एवं बालक को **'सौम्य'** शब्दों से ही व्यवहृत किया है ऋषिप्रज्ञा ने। दोनों प्रकृत्या ही भावुक हैं, परदर्शन से तत्काल प्रभावित हो पड़ने वाले हैं, एवं इसी तात्कालिक प्रभाव के कारण देखा देखी अनुकरण करने लग पड़ जाना दोनों का ही सहज स्वभाव है।

नारीहठ, एवं बालहठ सुप्रसिद्ध है। सोम ऋततत्त्व है, जिसकी मूलोपनिषत्–मूलप्रतिष्ठा–**'नेति'** ही मानी गई है। निषेधात्मक नास्तित्त्व ही सोमरूप अन्न का सहज स्वरूप है। प्रत्यक्षप्रभावमूलक ऐन्द्रियक आवेश का ही नाम 'अभिनिवेश' है, जिसके द्वारा नारी और बालक की सौम्या मनोवृत्ति में एकप्रकार का जिज्ञासात्मक अभिनिवेश, एवं ऋतात्मक निषेधभाव प्रतिष्ठित रहता है, जिसका लौकिक–**'क्यों'**, और **'नहीं'**, इन दो शब्दों से अभिनय किया जासकता है। **क्यों करें, और नहीं मानते**, ये दो सौम्यधर्म्म सहजसिद्ध हैं नारी

में, और बालवृन्द में। अतएव कहा जासकता है कि, 'किं', और न, दोनों इनकी ही प्रातिस्विक सम्पत्तियाँ हैं, जिनका अपहरण इन्हें कदापि सह्य नहीं होता। जो मानव नारी, और बालक का उद्‌बोधन-क्यों-और-'न' से कराना चाहता है, वह स्वयमपि इसी कोटि में अन्तर्भूत होरहा है। अस्तित्त्व ही, स्वीकृति ही इन दोनों के उद्‌बोधन का एकमात्र राजपथ है। भावुका नारी, भावुक बालक क्यों, न--रूप आवेश से सहजरूप से ही आविष्ट रहते हैं। इनकी इस भावुकता का संरक्षण करते हुए ही इन्हें परोक्षरूप से ही निष्ठापथ की ओर शनैः शनैः आकर्षित किया जासकता है, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है।

२२५-निषेधमूला अनुकरणप्रवृत्ति, एवं तत्र मनोराज्य का प्राधान्य—

शताब्दियों से भावुक बनता हुआ भारतीय मानव दुर्भाग्यवश आत्मबुद्धिमूला अन्तर्निष्ठा से पराङ्-मुख बन कर आज मनोनिबन्धना-प्रत्यक्ष-प्रभावमूला-अनुकरणात्मिका भावुकता के क्षेत्र का ही परमाचार्य्य प्रमाणित हो रहा है। इसी भावुकता के कारण निष्ठापूर्वक बुद्धिस्थिरता से किसी भी मन्तव्य-विचार-आस्था-का समन्वय न कर यह एकहेलया सौम्या मनोवृत्ति के कारण-**"नहीं मानते, क्यों करें, कुछ भी तथ्य नहीं है इन धर्म्म-कर्म्म के ढोंगों में"** इत्यादिरूप से सभी अस्तित्त्व क्षेत्रों में निषेधात्मक 'क्यों' को ही समाधान मान बैठता है। वही स्थिति आज सत्तातन्त्र में भी प्रविष्ट है, जोकि धर्म्मभीरुतामूला-भावुकता का ही प्रसाद है, किंवा प्रमाद है, जिसका प्रधान पुरुषार्थ माना गया है पूर्वकथानुसार-'अनुकरण'। अनुकरण भी बुद्धिपूर्वक नहीं, अपितु मनमाने ढँग से ही, पूर्वापरविवेक के, स्थिति परिस्थिति के चिन्तन के बिना हीं।

२२६-सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता का भावुकतासंरक्षणात्मक समाधान-

'धर्म्मनिरपेक्षा' किसका अनुकरण है ?, प्रश्न का उत्तर भी स्पष्टतम है। दुर्भाग्यवश भारतीय मौलिक संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली पद्धतियों के अभिभूत होजाने से आज भारत की प्रज्ञा को प्रत्यक्ष में वैसी कोई पद्धति प्रतीत नहीं होरही, जिसके आधार पर भारतीयता की दृष्टि से संविधान का निर्म्माण सम्भव बन जाता। इसीलिए भारतीय वर्त्तमान अभिनव सत्तातन्त्र को ब्रिटिश-अमेरिकन्-आदि सत्तातन्त्रों का ही भावुकतावश अनुकरण कर लेना पड़ा। ब्रिटिशसत्तायुग में साम्राज्ञी विक्टोरिया के व्याज से धर्म्म के सम्बन्ध में जिस घातक-घोषणा का उद्‌घोष हुआ था वहाँ के चाणाक्ष-चतुर-नैष्ठिक-राजनैतिकों के द्वारा, उस-**'हम भारतीय धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे'** इस घोषणा का अनुकरणात्मक स्वरूप ही है भारतीय संविधान की धर्म्मनिरपेक्षता। जैसा उन्होंनें कह दिया था, उनके संविधान के अनुकरण के साथ साथ भावुकतावश उस घोषणा का भी अनुकरणमात्र हो पड़ा है हमारे यहाँ के भावनाप्रधान विधाननिर्म्माताओं के द्वारा, जिसका अर्थ भी वही समझा, और समझाया जारहा है प्रजा को, जो ब्रिटिशसत्ताधीशों नें समझा रक्खा है। धर्म्मनिरपेक्षता का अर्थ कदापि धर्म्म की उपेक्षा नहीं है। अपितु-**"सबको अपनी अपनी मान्यता के अनुसार अपने अपने धर्म्म के प्रचार प्रसार की पूर्ण स्वतन्त्रता है। सत्ता इन मान्यताओं में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी"** यही धर्म्मनिरपेक्षता की व्याख्या हुई है-संविधान में, जिसका सभी धर्म्म-प्रेमी निश्चयेन हृदय से अभिनन्दन ही करेंगे।

२२७-मतवादात्मक सभी धर्म्मों के प्रति हमारे सत्तातन्त्र का उदारतापूर्ण व्यवहार—

व्याख्यानुसार ही सत्तातन्त्र का व्यवहार भी उदारतापूर्ण ही देखा-सुना जा रहा है धर्म्मों की मान्यताओं के प्रति। मुहम्मदीय धर्म्म (मत) के अनुगामी **मुसलमान**, ईसायत के अनुगामी **ईसाई**, जरथुस्त्र के अनुगामी **पारसी**, गुरुमतानुयायी **सिक्ख**, **जैन-बौद्ध**, आदि आदि सभी को स्व स्व मतवादों के प्रचार प्रसार की आज पूर्ण स्वतन्त्रता है। सभी स्व-स्व-मतनिष्ठाओं का स्वच्छन्दतापूर्वक विस्तार करते जा रहे हैं। और अवश्य ही मतवादात्मक इन अवान्तर धर्म्मों के प्रति सत्तातन्त्र न केवल निरपेक्ष ही बना हुआ है, अपितु परोक्ष रूप से इनका परिपोषण भी कर रहा है। अवश्य ही सत्तातन्त्र का यह महान् उत्तरदायित्त्व है कि, किसी की मान्यता में हस्तक्षेप न करते हुए उन मान्यताओं के संरक्षण में तटस्थ सहयोग प्रदान करता रहे। और इस दृष्टि से अपने महान् उत्तरदायित्त्व का सर्वात्मना-सोल्लास-निर्वाह करता हुआ हमारा धर्म्मनिरपेक्ष भी सत्तातन्त्र कहने-सुनने मात्र के लिए-'**धर्म्मनिरपेक्ष**' बना रहता हुआ भी अपने कर्त्तव्यात्मक आचार से सर्वथा 'धर्म्मसापेक्ष' ही प्रमाणित हो रहा है, जिसके लिए सत्तातन्त्र का जितना भी अभिनन्दन किया जाय, कम है।

२२८-भारतीय-सनातन-हिन्दूधर्म्म के प्रति हमारे मान्य सत्तातन्त्र का प्रचण्ड आक्रोश, एवं संस्कृति के प्रतीक 'हिन्दू' शब्द श्रवणमात्र से भी तन्मनोराज्य का विकम्पन—

सर्वमपि सुस्थम्। किन्तु ?। इस भावुकतापूर्ण किन्तु-परन्तु का इसलिए विवश बनकर आज हमें आश्रय लेना पड़ रहा है कि, प्रधानरूप से जिस हिन्दू की ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति-अर्थशक्ति-के प्रवर्ग्यदान से जिस भारतीय स्वतन्त्रता ने जन्म लिया है, जिसके सर्वस्व सहयोगदान से ही जिस नवीन सत्तातन्त्र का निर्म्माण हुआ है, जिसके प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष अनुदान से ही सत्तातन्त्र आज जिस ऐश्वर्य्य का भोक्ता बन रहा है, सर्वस्व प्रदाता उसी हिन्दू को आज भावुकतावश प्रतिक्रियावादी घोषित करते हुए इसकी ओर से सर्वथा न केवल निरपेक्ष बने रहना ही पर्याप्त माना जा रहा। अपितु प्रत्येक सम्भव-असम्भव उपाय से इसकी आस्थाओं पर प्रहार करते रहना ही आज मानो सत्तातन्त्र का महान् पुरुषार्थ बना हुआ है। 'हिन्दू' नाममात्रश्रवण से आज के राष्ट्रीय सत्ताधीश अपनी भृकुटी तान लेते हैं। '**काशीहिन्दूविश्वविद्यालय**' वाक्य में से-'**हिन्दू**' शब्द का बहिष्कार कर-'**काशीविश्वविद्यालय**' लिखने में आजके हिन्दूसंस्कृतिप्रचारक विद्वान् भी लज्जा का अनुभव नहीं कर रहे। जैन-बौद्धादि मतवादों के यशोगान में अपनी सांस्कृतिक निष्ठा (वस्तुतः भावुकता) का सर्वस्वार्पण करने वाले आजके संस्कृतिप्रचारक हिन्दूविद्वान् भी बुद्ध-महावीर का यशोगान तो कर सकते हैं। किन्तु इन्हें 'हिन्दू' कहने-कहलवाने में लज्जा का अनुभव हो रहा है।

२२९-धर्म्मनिरपेक्ष भी सत्तातन्त्र के द्वारा धार्म्मिक जयन्तियों का घटाटोप आयोजन—

और धर्म्मनिरपेक्ष--सत्तातन्त्र ?। सुनते हैं बड़े ही समारोह से लाखों रुपये की आहुति प्रदान कर धर्म्मनिरपेक्ष ? सत्तातन्त्र ने जिस उल्लास से बुद्धजयन्ती-महोत्सव मनाया, और मनवाया है प्रान्तीय सत्तातन्त्रों से भी आग्रहपूर्वक, वैसा स्वयं बुद्धभक्तों नें भी कभी न मनाया, और मनवाया होगा। अमुक युग के लिए

महान् सन्देशवाहक श्रीबुद्ध की जयन्ती मनाने का स्वागत करता हुआ भी जब हिन्दू इसी धर्म्मप्रेमी सत्तातन्त्र को रामकृष्णपरशुरामवसिष्ठभरद्वाजअङ्गिरादि संस्कृतिसन्देशवाहकों--धर्म्मसंस्थापकों के प्रति प्रतिक्रियावादी देखता, सुनता है, तो यह स्तब्ध ही बना रह जाता है। दोनों में कौन वास्तविक प्रतिक्रियावादी है ?, प्रश्न का समाधान तो स्वयं मुकुलितनयन बनकर सत्तातन्त्र को ही करना चाहिए वक्षस्थलोपरि हस्तनिधान--मुद्रया अपने अन्तर्जगत् में हीं।

२३०-प्रमादी हिन्दू की भावुकता, और उसका महान् प्रमाद—

पुनः हिन्दू होने के नाते हम भी प्रमाद कर बैठे। "हिन्दू, और सत्तातन्त्र, दोनों में कौन प्रतिक्रियावादी है" कह डालना भावुकतामूलक प्रमाद ही तो माना जायगा हमारा। क्या सत्तातन्त्र हिन्दुत्व की सीमा से पृथक् है ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! सत्तातन्त्र के जिन महारथियों ने 'बुद्धजयन्ती' की कल्पना की थी, उनमें प्रधानता तो हिन्दूसदस्यों की ही थी। होनी ही चाहिए थी। क्योंकि जो हिन्दू अपनी सहज उदारता विश्वबन्धुत्त्व–सर्वभूतहितरति आदि मानवीय महान् गुणों के आकर्षण से बुद्ध को 'अवतार' मानता हुआ चौबीस अवतारों में इन्हें प्रतिष्ठित कर सकता है, वही तो बुद्धजयन्ती का भी संकल्प कर सकता है। जिसने बुद्ध को 'अवतार' जैसे सर्वोच्च सम्मान से सुविभूषित कर देने में क्षणमात्र भी विलम्ब न किया हो, उस हिन्दू को भावुकतावश एक हिन्दू के द्वारा ही प्रतिक्रियावादी जैसी जघन्या उपाधि से समन्वित कर देना क्या मानवता है ?। हिन्दूसंस्कृति ही वह उदारसंस्कृति है, रामकृष्ण की भूमि ही वह उदारभूमि है, जिसके क्रोड़ में सभी विचारकों नें सम्मानपूर्वक आश्रय प्राप्त किया है। अतएव वह आज यदि बुद्धजयन्ती मनाता है, तो यह भी उसकी वही उदारमनोवृत्ति ही मानी जायगी। एवं प्रत्येक हिन्दू सत्तातन्त्र की इस मनोवृत्ति का हृदय से अभिनन्दन ही करेगा। करना ही चाहिए।

२३१-प्रान्तीय सत्तारूढ मान्य महानुभाव की जिज्ञासा, एवं तत् समाधानचेष्टा—

कुछ ही समय पूर्व राजस्थानसत्ता के मन्त्रित्त्वपद को समलङ्कृत करने वाले एक सम्मान्य आत्मवादी मित्र का मन्दस्मित-मुद्रा से 'बुद्धजयन्ती' का यशोगान करते हुए हमसे यह प्रश्न कर डालने का निःसीम अनुग्रह हो पड़ा था कि-"बुद्ध को तो आपने भी अवतार माना है। ऐसी स्थिति में इनकी जयन्ती मनाना आप भी ठीक ही समझ रहे होंगे ?"। इन आस्तिक हिन्दू मन्त्री महाभाग के इस काकुभावपूर्ण व्यञ्जनात्मक प्रश्न का उत्तर देना हमारे लिए कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव ही तो था। इनकी संविधाननिष्ठा तो इसी उत्तर के लिए हमें प्रेरित कर रही थी कि,-"श्रीमन् ! आप तो उस धर्म्मनिरपेक्ष-संविधान के संरक्षक हैं, जिसमें सभी धर्म्मों के प्रति निरपेक्ष बने रहना हीं संविधानमर्य्यादा का संरक्षण माना गया है। और इसीलिए तो आप ब्राह्मणसंस्कृति-वेदसंस्कृति-हिन्दूसंस्कृति-सनातनसंस्कृति-रामकृष्णसंस्कृति-आदि से सम्बन्ध रखने वाली प्राच्यसंस्कृति के प्रति यथावसर-यथाप्रसङ्ग अपनी तटस्थता ही प्रमाणित करते आये हैं। फिर आज धर्म्मनिरपेक्षता-सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत क्षणिकवाद के प्रति, शून्य-स्वलक्षण-दुःखवादात्मक, अतएव अस्तप्राय बुद्धवाद के प्रति यह

आकस्मिक आकर्षण क्यों-कैसे सहसा आविर्भूत होपड़ा ?'', इस महान् प्रश्न का एकमात्र उत्तर हिन्दू की सहज उदारता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? । अतएव मान लेना पड़ेगा कि, हिन्दू कभी प्रतिक्रियावादी बन ही नहीं सकता, चाहे वह जनतन्त्रीय हिन्दू हो, अथवा सत्तातन्त्रीय हिन्दू । यही तो इसकी वह परम्परासिद्धा सहज-उदारनिष्ठा है, जिसने इसे-सदा से ही 'सनातन' प्रमाणित कर रक्खा है ।

२३२-मतवादनिरपेक्ष--विश्वसंस्कृतिनिष्ठ--आत्मनिष्ठ हिन्दू की, तत्संस्कृति की, तद्धर्म्म की उपेक्षा, एवं धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र का विडम्बनापूर्ण पथ--

एवंविधा सनातननिष्ठा का मूल क्या है ?, प्रश्न का एकमात्र समाधान है प्रजापतिशास्त्रोपवर्णिता, अव्ययपुरुषात्मनिबन्धना, निरपेक्षा आत्मसंस्कृति, जिसे हमने पूर्व में निरपेक्षसंस्कृति कहा है, जिसे सापेक्षा चतुर्विधा हिन्दूसंस्कृति का, एवं तदनुगत प्रतीकधर्म्म का मूलाधार कहा गया है । वह संस्कृतिनिष्ठा ही हिन्दू के हिन्दुत्त्व की एकमात्र मूलव्याख्या है । इस निष्ठा को सुरक्षित रखता हुआ ही हिन्दू हिन्दू माना जायगा । ऐसा संस्कृतिनिष्ठ आत्मनिष्ठ हिन्दू ही-**'आत्मवत्सर्वभूतेषु'** घोषणा कर सकेगा । इस घोषणा के माध्यम से ही हिन्दू रामकृष्णादिवत् बुद्ध-महावीरादि की जयन्तियाँ मनाना भी अपना लोकसंग्राहक कर्म्म मानता रहा है । यदि हिन्दू की इस मूलसंस्कृतिनिष्ठा पर ही सत्तातन्त्र आक्रमण कर बैठने की भयानक भूल कर बैठेगा, तो हिन्दू अपने हिन्दुत्त्व से पराङ्मुख बनकर एक सम्प्रदायवादी मतवादाभिनिविष्ट वैसा केवल प्रतिक्रियावादी ही बना रह जायगा, जिस प्रतिक्रियावादिता के कारण ही स्वयं इसी के प्राङ्गण में अनेक वैसे मतवाद-सन्तवाद-भक्तिवादादि प्रादुर्भूत हो पड़े हैं, जिनसे हिन्दुत्त्व का उत्तरोत्तर ह्रास ही हो रहा है । वही भूल यदि सत्तातन्त्र ने भी कर डाली, तो वह भी अपनी उदारता से हाथ धो बैठेगा, और उस अवस्था में कदापि वह किसी की भी जयन्ती न मना सकेगा, जिस उत्साह से आज वह भावुकतासंरक्षण के लिए बुद्धादि की जयन्तियाँ मना रहा है । क्या किसी बुद्धमतानुयायी ने रामकृष्णादि की जयन्ती मनाई है ? । क्या किसी अन्य मतानुयायी नें हिन्दू की आस्था-श्रद्धा-निष्ठाओं से सम्बन्ध रखने वाले अवतारों की जयन्तियाँ मनाई है ?। क्या सत्तातन्त्र यह चाहता है कि, हिन्दू भी आत्मसंस्कृति से पराङ्मुख बन कर इसी सीमित-मतवाद-श्रेणि में अपना नाम लिखाले ? । और अपने आपको एक मतवादी ही उद्घोषित करदे ? ।

२३३-नितान्त भावुकतापूर्ण-रामराज्यवाद, हिन्दूसभावाद, जनसंघवाद, आदि आदि विविध वाद, एवं तद्द्वारा सत्तातन्त्र में प्रतिक्रिया का आविर्भाव--

वर्त्तमान आपद्धर्म्म को देखते हुए पक्ष तो यही समीचीन प्रतीत हो रहा है । इससे अधिक भयावह आपत्तिकाल हिन्दू की प्राच्य--सनातन प्राच्य-ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा-वैदिक-संस्कृति के लिए और क्या होगा कि, जहाँ भारतराष्ट्र में इतर मतवादात्मक सभी अवान्तर-धर्म्म धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र से परोक्ष-प्रत्यक्ष-रूप से सर्वथा स्वतन्त्रतारूप से पुष्पित-पल्लवित होते जारहे हैं, वहाँ एकमात्र उस प्राच्य हिन्दू मानव की प्राच्यसंस्कृति ही सत्तातन्त्र के द्वारा न केवल निरपेक्षिता-उपेक्षिता ही बन गई है, अपितु प्राच्यसंस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित, प्रकृतिसिद्ध सनातनविधि-विधानात्मक श्रौत-स्मार्त्त सनातनधर्म्म की मूलभूता आचारात्मिका पद्ध-

तियों पर ही बिना इनके मौलिक-रहस्यों को समझे-समझाए ही-(विविध नवीन विधानों का निर्म्माण कर तद्द्वारा) कुठाराघात ही किया जा रहा है। यों केवल सनातन हिन्दूधर्म्म पर आज स्वयं उसी के सत्तातन्त्र के द्वारा चतुर्दिक् से आक्रमण करते रहना ही मानों उस आस्थाश्रद्धापरायण हिन्दू का महान् पुरस्कार बन रहा है, जिस हिन्दू के सर्वस्वदान से ही वर्त्तमान सत्तातन्त्र का निर्म्माण हुआ है, एवं जिसके अनुदान से ही सत्तातन्त्र जीवनधारण किए हुए है।

कोटि-कोटि-आस्तिक हिन्दूमानवों की आस्था-श्रद्धा के विपरीत सत्तातन्त्र उसी के धर्म्म-सांस्कृतिक-आचारों पर क्यों आक्रमण कर रहा है ?, जबकि इतर सीमित मतवादों को वही सत्तासन्त्र उत्साह प्रदान कर रहा है !, प्रश्न का समाधान स्पष्ट है। अन्यान्य मतवाद जहाँ तत्काल प्रतिक्रियावादी बन कर सत्तातन्त्र को विकम्पित कर सकते हैं, करते रहते हैं-करते ही रहेंगे-सम्पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त करते हुए भी। वहाँ आत्मनिष्ठ हिन्दूमानव कदापि ऐसी युगधर्म्मानुगता तात्कालिकी प्रतिक्रियाओं के प्रति कोई भी आस्था नहीं रखता। सांस्कृतिक-हिन्दू के नाममाध्यम से प्रतिक्रियावादी रामराज्यवाद, जनसंघवाद, सनातनधर्म्मवाद, आदि आदि मतवादात्मक वाद आज जो सत्तातन्त्र का विरोध कर रहे हैं, उन्हें कदापि सांस्कृतिक हिन्दू नहीं कहा जासकता। क्योंकि सांस्कृतिक हिन्दू कदापि किसी के भी प्रति प्रतिक्रियावादी बन ही नहीं सकता। ऐसे निम्न धरातलों का नामग्रहण भी यह अपनी आत्मसस्कृति के विरुद्ध ही मानता है। इतिहास साक्षी है कि, पुरायुगों में जब जब भी संस्कृतिविरोधी असुर राक्षस-आततायीवर्ग-आदि आदि से निर्म्ममरूप से हिन्दूसंस्कृति उत्पीड़ित हुई, तब तब ही इसने सम्पूर्ण उत्पीड़नों को सहते हुए केवल अपने अन्तर्य्यामी से ही निष्ठाबल की कामना व्यक्त की। कदापि यह प्रतिक्रियानुगामिनी न बनी किसी भी सत्तातन्त्र के प्रति। फिर आज के उस सत्तातन्त्र के प्रति तो यह प्रतिक्रियावादी बन ही कैसे सकता है, जब कि यह अपने सांस्कृतिक-विवेक के आधार पर यह जान रहा है, अनुभव कर रहा है अपने अन्तर्जगत् में यही कि, **हिन्दूसंस्कृति की इस दुरवस्था का सत्तातन्त्र कदापि साक्षात्-रूप से अपने रूप से निमित्त नहीं है।**

२३४-चाणाक्षचतुर ब्रिटिशसत्तातन्त्र की कुटिल नीति, और राष्ट्र का सांस्कृतिक पराभव-

यह तो उस चाणाक्षचतुर-कुटिल राजनीतिविशारद प्रतीच्य ब्रिटिशसत्ता की ही देन का सुपरिणाम ? है, जिसने शिक्षायन्त्र के माध्यम से भारतीय हिन्दूमानव को स्वसंस्कृति के मर्म्म से पृथक् ही कर दिया है। दुर्भाग्य से सत्तातन्त्र के प्रमुख पदों पर अधिक संख्या में वे प्रतीच्यशिक्षाविशारद ही आज सुप्रतिष्ठित हैं, जिन्हें भारतीय प्राच्य-संस्कृति के मौलिक स्वरूप के दर्शन करने का भी अवसर ही नहीं मिला है। अपितु ठीक इसके विपरीत हिन्दूसंस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले जो भी वर्ग इस सत्तातन्त्र के सम्मुख समय समय पर समु-पस्थित होते रहते हैं, वे स्वयं भी इसके मूलस्वरूप से वञ्चित रहते हुए अपने सम्प्रदायवादात्मक-प्रतिक्रियात्मक-स्वार्थसंसाधक-मतवादों का ही बाना पहिने हुए हैं। जो न तो संस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप की व्याख्या उपस्थित करने की ही क्षमता रखते, न आचारपद्धति का ही सामयिक समन्वय उन प्रतिनिधियों के द्वारा सम्भव। ऐसी स्थिति में परिणाम ठीक उलटा ही होरहा है। सत्तातन्त्र सहयोग के स्थान में अधिकाधिकरूप में प्रतिक्रियावादी ही बनता जारहा है इस संस्कृति-धर्म्म के प्रति।

२३५–परभावुकतानुगत, अतएव स्वसंस्कृति–स्वधर्म्म निष्ठावञ्चित भारतीय जनतन्त्र का आत्यन्तिक पराभव—

सत्तातन्त्र पर्य्यन्त अनुधावन क्यों किया जाय, जबकि स्वयं जनतन्त्र ही आज हिन्दूसंस्कृति–तद्धर्म्म के तथाकथित साम्प्रदायिक–मतवादात्मक–नग्न स्वरूप के प्रति सर्वथा प्रतिक्रियावादी ही बन चुका है। नवीन शिक्षा की बात भी जाने दीजिए। परिचित हैं हम उन प्राच्य (संस्कृत) शिक्षा–दीक्षित विद्वानों से भी। जो स्वयं भी आज इस संस्कृति–धर्म्म के प्रति इसलिए शनैः शनैः निरपेक्ष ही बनते जारहे हैं कि, जिन्हें इसके द्वारा कुछ भी अभ्युदय–निःश्रेयस् उपलब्ध नहीं हो रहा। बात है भी कुछ ऐसी ही। व्याकरण–न्याय–साहित्यादि–को ही संस्कृति–धर्म्म की इयत्ता मान बैठने वालों की परिणाम में यही तो दशा, किंवा दुर्दशा होनी ही चाहिए थी, जोकि हो रही है, और भलीभांति हो रही है। ऐसे विद्वान् हीं जब हमारी संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहे हों, तो आज वह शिक्षितवर्ग कैसे उनके अनर्गल मत्त प्रलापों–के द्वारा संस्कृति, धर्म्म के प्रति आस्थित–श्रद्धालु बना रह सकता था?। ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्वचिन्तन से एकान्ततः असंस्पृष्ट, केवल मनोविनोदात्मक नामसंकीर्त्तनादि का नाम ही तो संस्कृति, किंवा धर्म्म नहीं है। ऐसे स्वरूपों से जनतन्त्र को कबतक आस्थित रक्खा जा सकता था। यों प्रायः सभी तो एक प्रकार से आज संस्कृति–धर्म्म के प्रति उदासीनवदासीन ही बनते जारहे हैं। ऐसी स्थिति में सत्तातन्त्र के प्रति तत्सम्बन्ध में आक्रोश व्यक्त करना कोई भी तो अर्थ नहीं रखता।

२३६–प्रमादपूर्णा भावुकता की सर्वव्याप्ति, एवं तन्निराकरणार्थ अपेक्षिता पारस्परिक–समन्वयानिवार्य्यता

कहते हैं–जिस ग्राम के कूप में विजया (भाँग) डाल दी जाती है, वह ग्राम का ग्राम ही उन्मत्त–प्रमत्त हो जाता है, जिसके आधार पर राजपत्तन में यह सूक्ति प्रचलित हो पड़ी है कि–'कुए भाँग पड़ गई'। ऐसा ही कुछ घटित–विघटित हो रहा है आज भारतीय संस्कृति, एवं धर्म्म के मौलिक–स्वरूप के सम्बन्ध में। अनेक शताब्दियों से प्रक्रान्त रहने वाले विजया–स्थानीय–साम्प्रदायिक व्यामोहन से सभी मानव उन्मत्त–प्रमत्त बने हुए हैं। इस प्रमाद के कारण हीं हिन्दूसंस्कृति–धर्म्म का बाह्य स्वरूप आज प्रमादी बन गया है। अतएव इसके भक्त भी इसके प्रति प्रतिक्रियावादी ही बनते जा रहे हैं। अतएव किसी को भी दोष देना अपने आपको ही दोषी प्रमाणित करना है। कदापि आवेशाविष्ट बन कर आपद्धर्म्म के व्याज से किसी को किसी के प्रति प्रतिक्रियावादी नहीं बनना है। अपितु सर्वप्रथम शान्त मस्तिष्क से इस संस्कृति के मूलस्वरूप के चिन्तन में हीं प्रवृत्त हो जाना है जनतन्त्र को भी, एवं तदभिभावक सत्तातन्त्र को भी। यह असंदिग्धरूप से सत्य है कि, संस्कृति के आंशिक स्वरूपबोध से भी हमारी भ्रान्तियाँ पलायित हो सकतीं हैं, निश्चयेन पलायित हो सकतीं हैं। स्वयं सांस्कृतिक–ज्ञानविज्ञानात्मक–चिरन्तन इतिहास में हीं वैसा बल है, जो अपने जनतन्त्र, एवं सत्तातन्त्र को ही नहीं, अपितु समस्त विश्व के मानवतन्त्र को अपने प्रति गौरव के साथ आकर्षित करने की क्षमता रख रहा है। एकमात्र इसी कामना से संस्कृति, और सभ्यता–शब्दों का यह चिरन्तन इतिहास आज के प्रज्ञाशील मानवों के प्रति उपस्थित हुआ है, जिसमें 'प्रतिक्रिया' जैसे असांस्कृतिक शब्द का प्रवेश भी निषिद्ध है।

२३७–'अभयं वै ब्रह्म, मा भैषीः' मूलक सांस्कृतिक सन्देश के आधार पर संस्कृति-अनुग्रह प्राप्ति के लिए सर्वनिरपेक्षतात्मिका सर्वसापेक्षता की अनिवार्य्यता—

'अभयं वै ब्रह्म, मा भैषीः' ही यहाँ की संस्कृति का मूलाधार है। किसी से मत डरिए, किसी को मत डराइए। अपितु सहयोगपूर्वक तत्त्वचिन्तन के आधार पर युगधर्म्म का समादर करते हुए मूलनिष्ठाओं के आधार पर नवीन युगों का निर्म्माण करते जाइए। यही संस्कृति का राजपथ है, जिसकी ज्ञानविज्ञानात्मिका व्याख्या ही संस्कृति का चिरन्तन इतिहास है। यदि सत्तातन्त्र धर्म्मनिरपेक्ष है, तो इसकी इस निरपेक्षता का भी स्वागत ही कीजिए। यदि जनतन्त्र भी आज धर्म्म के प्रति उदासीन है, तो उसे उदासीन ही बना रहने दीजिए। आपतो केवल निरपेक्षरूप से संस्कृति के मूलस्वरूपाध्ययन में प्रवृत्त हो जाइए। तदनुपात से निरपेक्षरूप से वह सांस्कृतिक बीज भारतीय मानव के उर्वर-प्रज्ञाक्षेत्र में डाल मात्र दीजिए। और तटस्थ बनकर उसके परिणामों की प्रतीक्षा कीजिए। सब कुछ श्वः श्वः (उत्तर-उत्तर) श्रेयान्-वसीयान् ही होता जायगा। इसी तत्त्वचिन्तननिष्ठा से तो आपकी संस्कृति का सनातनत्त्व अक्षुण्ण रहा है। और निश्चयेन भविष्य में भी अक्षुण्ण ही रहेगा हो। जो मतवाद व्यग्र हैं सत्तासापेक्षता के लिए, उन्हें व्यग्र बने रहने दीजिए। क्योंकि व्यग्रता के माध्यम से युगधर्म्मानुगत तात्कालिक लाभ उठा लेना हीं इनके स्वरूप की इयत्ता है। आपको तो सत्तानिरपेक्ष रह कर, साथ ही जो जनतन्त्र आत्मविस्मृत बन चुका है, तत्प्रति भी निरपेक्ष ही रह कर स्वयं अव्ययेश्वर की सापेक्षता के आधार पर ही स्वसंस्कृति के चिन्तन में अनन्य निष्ठा से प्रवृत्त रहना है। यही एकमात्र वह निदान है आजके आपद्धर्म्मात्मक-युग में भारतीय-संस्कृति, एवं तदभिन्न धर्म्म से अनुग्रह प्राप्त करते रहने का। 'अन्या वाचो विमुञ्चथ !'।

२३८-दृष्टिकोणभेद से लोकसंस्कृति की सत्तासापेक्षता–निरपेक्षता का समन्वय—

मानवधर्म्मशास्त्र ने 'सत्तातन्त्र' की जो स्वरूपव्याख्या की है, उसके प्रति लोकसंस्कृति–चतुष्टयी, एवं प्रतीकधर्म्म–चतुष्टयी को सापेक्ष ही बना रहना चाहिए। सामान्यरूपेण चारों हीं वर्णों को, विशेषरूपेण क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र वर्णों को। इस सापेक्षता की स्वरूपव्याख्या यही होगी कि, वेदतत्त्वार्थवित् संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण शास्त्र के चिन्तन–द्वारा जो विधि–विधान व्यवस्थित कर देगा, धर्म्मदण्डप्रवर्त्तक सत्तातन्त्र साम-दाम-दण्ड-भयादि नीतिपथों के माध्यम से उन व्यवस्थित कर्त्तव्यकर्म्मों का प्रजापवर्ग के द्वारा नियमपूर्वक सञ्चालन कराता रहेगा।

सही सत्तातन्त्र की सापेक्षता मानी जायगी। जहाँतक नीतिनिर्द्धारण का सम्बन्ध है, कर्त्तव्यव्यवस्था का प्रश्न है, तत्प्रति तो सत्तातन्त्र को निरपेक्ष ही माना जायगा। कदापि योग-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-लक्षणा संस्कृतियाँ, तदाचारपद्धतिरूप-प्रतीकधर्म्मों के स्वरूपव्यवस्थापन से सत्तातन्त्र का कोई सम्बन्ध न माना जायगा। स्वरूपानुगत आचरणलक्षण कर्म्म के प्रति जागरूकतापूर्वक प्रहरी बने रहना हीं सत्ता की सापेक्षता का अर्थ होगा। एवं इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकेगा कि-सांस्कृतिक-स्वरूपव्यवस्थापनदृष्ट्या जहाँ सत्तातन्त्र इस संस्कृतिचतुष्टयी, एवं प्रतीकधर्म्मचतुष्टयी के प्रति निरपेक्ष रहेगा, वहाँ इनके प्रजा-द्वारा पालन-अनुगमन में प्रहरीमात्र बने रहने की दृष्टि से इन्हें 'सत्तासापेक्ष' कहा जायगा। अतएव इस प्रश्नमीमांसा का उत्थान करते हुए पूर्व में हमें यह स्पष्ट कर देना पड़ा है कि-**"हाँ, और ना दोनों ही उत्तर सम्भव होंगे दृष्टिकोणभेद से, जिनका समन्वय कर लेना भी प्रासङ्गिक ही मान लिया जायगा"** (देखिए पृष्ठ सं० ८६)।

उसी प्रासङ्गिक समन्वय के लिए-**'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-एकमेव'** इत्यादि श्रौतसन्दर्भ उपस्थित करना पड़ा। एवं तदक्षरार्थमात्र-समन्वय के प्रसङ्ग से ही अवान्तर उन अनेक प्रसङ्गों का विहङ्गमदृष्ट्या दिग्दर्शन करा देना पड़ा, जिनके बिना वस्तुस्थिति का, सर्वोपरि सत्तातन्त्रानुबन्धी-सापेक्ष, निरपेक्ष-भावों का समन्वय सम्भव ही न था।

२३९-ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-नियन्त्रक प्रकृतिधर्म्म की परमता, एवं तत्प्रवर्त्तकत्त्वेन सत्तातन्त्र की तत्प्रति अनिवार्य्या सापेक्षता—

एकाकी ब्रह्म नें विभूति-कामना से क्रमशः **क्षत्र-विट्-पौष्ण**-भाव उत्पन्न कर अपने आपको चातुर्वर्ण्यरूप में परिणत कर लिया। इन चारों को सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए मर्त्तान्त में प्रजापति ने 'धर्म्म' उत्पन्न किया, जो कि प्रतीकात्मक धर्म्म प्राकृतिक नियम-विधि-विधानात्मक ही था, जिसका कि दिग्दर्शन पूर्व में यत्र तत्र कराया जाचुका है। धर्म्माधारभूत शास्त्र ही संस्कृति का प्रतीकात्मक स्वरूप है। शास्त्रीया संस्कृतिचतुष्टयी, एवं तदाचाररूप धर्म्म, दोनों अभिन्न हैं। ये अपने स्वरूप से जहाँ आत्मसंस्कृति (अव्ययसंस्कृति-एवं अव्ययधर्म्म) वत् सत्तानिरपेक्ष, किन्तु ब्राह्मणसापेक्ष हैं, वहाँ व्यवस्था-नियन्त्रणदृष्ट्या उस सत्ता के प्रति यह सापेक्ष भी है, जिस सत्तातन्त्र का आविर्भाव ही एकमात्र धर्म्मचक्रप्रवर्त्तन के लिए ही हुआ करता है। धर्म्मसापेक्ष सत्तातन्त्र के प्रति ही धर्म्म को सापेक्षता है, जैसाकि-**'धर्म्मो रक्षति रक्षितः'** इत्यादि वचन से स्पष्ट है। तदित्थं-स्वरूपतः लोकसंस्कृति-धर्म्मचतुष्टयी भी तद्विज्ञ ब्राह्मण के लिए तो सापेक्ष, किन्तु सत्ता के लिए निरपेक्ष ही है। एवं व्यवहारसंरक्षणदृष्ट्या इसे सत्तासापेक्ष भी कहा जासकता है। एवं सापेक्षता के कारण-**'तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति'** रूपेण सत्तातन्त्र को सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया है श्रुति ने, इति नु सर्वं सुस्थम, समन्वितञ्च।

२४०-वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र, और तत्प्रति भावुकतापूर्ण, किन्तु निष्ठागर्भित अवधेय समाधान—

अब प्रश्न रह जाता है वर्त्तमान भारतीय सत्तातन्त्र का, जो कि अनुकरणधिया आज अपने आपको धर्म्मनिरपेक्ष मान बैठा है, सो भी केवल हिन्दूधर्म्म के लिए ही, जैसाकि उनकी इतरमतसापेक्षता से स्पष्ट

है। ऐसी स्थिति में भारतीय लोकसंस्कृति, एवं प्रतीकात्मक लोकधर्म्म को आचारसंरक्षणदृष्ट्या भी सत्तासापेक्ष माना जाय, अथवा नहीं ? । इस प्रश्न के सम्बन्ध में यद्यपि भावुकता की दृष्टि से तो यही उत्तर समीचीन प्रतीत हो रहा है कि,—

जो सत्तातन्त्र भारतीय संस्कृति-धर्म्म के प्रति न केवल निरपेक्ष ही बना हुआ है । अपितु परप्रत्ययनेयतामूला भावुकता के आकर्षण से जो इसे उत्तरोत्तर अभिभूत करने के लिए ही आवेश-पूर्वक सन्नद्ध हो रहा है, उसे तो सर्वात्मना निरपेक्ष ही मान लेना चाहिए । कदापि ऐसे सत्तातन्त्र से भारतीय-संस्कृति-धर्म्म का किसी भी दृष्टि से स्वरूपसंरक्षण सम्भव ही नहीं है । अतएव जैसे धर्म्मविरोधी पूर्व के सत्तायुगों में भारतीय ब्राह्मणप्रज्ञाओंनें सत्ताद्वारा घटित-विघटित होते रहने वाले सम्पूर्ण उत्पीड़नों को अपनी संस्कृति-धर्म्मनिष्ठा का पुरस्कार ही मानते हुए सब ओर से निरपेक्ष बनकर एकमात्र ईश्वरीय आस्था के बल पर गुहानिहित-वृत्या एकान्तनिष्ठापूर्वक लोकसंस्कृति-एवं लोकधर्म्म-परम्पराओं का संरक्षणमात्र कर लिया था, एवमेव आज के युग में भी उसी प्रकार सर्वथा सत्तानिरपेक्ष बन कर ही ब्राह्मण भारतीय संस्कृति के संरक्षण में सफलता प्राप्त कर सकता है । यदि प्रचारव्यामोहन में पड़कर इसने आज के सत्तातन्त्र का आश्रय ग्रहण करने की भ्रान्ति भी कर डाली, तो सत्तासापेक्षा संस्कृति अपने सांस्कृतिक स्वरूप से अभिभूत होकर केवल सत्तानुरञ्जन का ही साधन बन जायगी । एवमेव अपनी धर्म्मश्रद्धा के उद्घोष से नभोमण्डल को भी विकम्पित करते रहने में कुशल अर्थकामासक्त वणिक्तन्त्र को भी अविलम्ब निरपेक्ष ही बना लेना चाहिए वहिर्भावुक भूसुर को इसलिए कि, इस वणिक्सा-पेक्षता में तो संस्कृति के और भी अधिक पराभूत होने की आशङ्का है । अतएव कहा, और माना सकता है कि, सर्वतन्त्र-निरपेक्षा बन कर ही लोकसंस्कृति, एवं लोकधर्म्म एकमात्र ब्राह्मण की स्वाध्यायनिष्ठा से ही आज के भयावह युग में अपना स्वरूप येनकेनरूपेण सुरक्षित रख सकता है" ।

२४१–वर्त्तमान सत्तातन्त्र के प्रति अपेक्षित परोक्ष आत्मीयभाव—

क्या उक्त उत्तर भावुकतापूर्ण माना जायगा । हाँ । इसलिए कि, न तो वर्त्तमान सत्तातन्त्र ही कोई 'आसुरसत्तातन्त्र' हैं, एवं न वर्त्तमान वणिक्तन्त्र ही सर्वात्मना श्रद्धाशून्य है । दोनों हीं वर्ग उसी सनातन-संस्कृति के परोक्षरस से ही अभिव्यक्त हुए हैं । अतएव कदापि केवल 'धर्म्मनिरपेक्ष' उपाधिमात्र से न तो सत्तातन्त्र को हीं पराया माना जासकता, नापि वाणिग्बन्धुओं को ही श्रद्धाशून्य कहा जासकता । अवश्य ही निष्ठा की दृष्टि से वर्त्तमान सत्तातन्त्र के प्रति, एवं तत्सखा वणिक्तन्त्र के प्रति भी संस्कृतिनिष्ठों को एकविशेष प्रकार से अपनी भक्ति-समर्पित कर ही देनी चाहिए, जो विशेषप्रकार पूर्व में **'परोक्ष'** नाम से व्यवहृत हुआ है (देखिए पृ० सं० ११७+ परिच्छेद २२३) ।

२४२–सापेक्षतानुबन्धी परोक्षभाव की स्वरूपव्याख्या—

दो शब्दों में इस **'परोक्षता'** का भी समन्वय कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा । **'भावुकता-संरक्षणपूर्वक निष्ठादृष्टि का प्रसार ही वह परोक्षता'** है, जिसका मर्म्म वैखरी वाणी के द्वा । कदापि

व्यक्त नहीं किया जासकता। 'मनसा पृच्छतेदु' रूपेण अन्तर्जगत् में हीं संस्कृतिनिष्ठों को इस 'परोक्षता' का समन्वय कर लेना चाहिए, जिसका लौकिक समन्वय नारीवृद्ध–एवं बालवृद्ध की भावुकता संरक्षण के प्रसङ्ग में पूर्व में किया जाचुका है (देखिए पृ०सं० ११७-११९)। सत्तातन्त्र, किंवा वणिक्तन्त्र तभी वित्तैषणात्मिका लोकैषणा के व्यामोहन की ओर आकर्षित होकर संस्कृति को अभिभूत करने में प्रवृत्त हुआ करता है, जबकि संस्कृतिसन्देशवाहक द्विजाति प्रत्यक्षरूप से दोनों में से किसी तन्त्र के प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर देता है।

'प्रत्यक्षरूप' का अर्थ है–सत्ता के बाह्य ऐश्वर्य्य से, भूतैश्वर्य्य से प्रभावित होकर अपनी निष्ठा से विगलित हो जाना। इस प्रत्यक्षप्रभाव में आकर संस्कृति के वास्तविक सत्यस्वरूप को परोक्ष बनाकर सत्ता की मनोनिबन्धना मान्यताओं के अनुरूप संस्कृति की व्याख्या करने लग पड़ना सत्तानुग्रहकामनाकर्षण से, जिस अनुग्रहकामना के गर्भ में प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से संस्कृतिनिष्ठ की भी मनोनिबन्धना वित्त–लोकैषणा ही अज्ञातरूप से प्रतिष्ठित हो जाती है। यही स्थिति वणिक्तन्त्र के सहयोग से समन्वित है सत्तापेक्षयाऽपि विशेषरूपेण। इसलिए विशेषरूपेण कि–सत्तातन्त्र का बाह्य प्रभाव एक विशेष व्यक्तित्व को आधार बनाए रहता है। अतएव इच्छा रहते भी वह वित्त–लोककामना स्पष्टरूपेण व्यक्त नहीं कर पाता तदिच्छुक भावुक संस्कृतिभक्त। उधर वणिक्तन्त्र की सुप्रसिद्धा बाह्य ऋजुता तत्काल ही इसके सन्निकट ला खड़ा कर देती है इसके प्रति प्रत्यक्षरूपेण सापेक्ष बन जाने वाले संस्कृतिभक्त को। और यहाँ सत्तातन्त्रापेक्षया अधिक भय उत्पन्न होजाता है अर्थकामासक्ति में आबद्ध हो जाने का। अतएव अत्यन्त अवधानपूर्वक–कटुतापूर्वक वणिक्तन्त्र के प्रति, एवं सामान्य अवधानपूर्वक (नम्रतापूर्वक) सत्तातन्त्र के प्रति परोक्षरूपेणैव संस्कृति को सापेक्ष बनाने में प्रवृत्त होना चाहिए। इस परोक्षता का मूलाधार है निम्नलिखित आर्षवचन—

> नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्–न चान्यायेन पृच्छतः।
> जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत् ॥

२४३-सत्तासापेक्षता–निरपेक्षता के प्रासङ्गिक इतिवृत्त का उपराम—

परोक्षता का इससे अधिक प्राकृतिक–समन्वय और क्या होगा। आर्षप्रज्ञा हमें आदेश दे रही है कि, वेदादि–शास्त्रमर्य्यादासम्मता जिज्ञासात्मिका प्रश्नमर्य्यादा से जबतक कोई जिज्ञासु प्रश्न न करे, तबतक स्वयं अपनी ओर से कदापि किसी भी तत्त्वचर्चा का प्रसङ्ग उपस्थित ही नहीं करना चाहिए। यदि कोई विवेकशून्य अपने स्वार्थविशेष के परिपोषण के लिए छलपूर्वक प्रश्न करे, तो तत्रापि तटस्थ ही बन जाना चाहिए। ऐसे अवसरों में जड़तापूर्वक लोकानुरञ्जन करते रहने में हीं संस्कृति का स्वरूप-संरक्षण सम्भव है। तात्पर्य्य–आस्था–श्रद्धा–पूर्वक–न्यायबुद्ध्या–यदि सत्तातन्त्र, किंवा वणिक्तन्त्र जिज्ञासा व्यक्त करे, तो तत्सम्मुख तत्प्रज्ञायोग्यतानुबन्ध से तद्विषय का स्पष्टीकरणमात्र कर पुनः तत्स्थलों से अविलम्ब तटस्थ ही बन जाना चाहिए। यही परोक्षता की रूपरेखा है। इस परोक्षभावात्मिका–सापेक्षता से अवश्य ही सत्तातन्त्र का क्रमशः उद्बोधन सम्भव बन जाता है। एवं वणिक्तन्त्रादि भी इसी पद्धति से अभ्युदय–निःश्रेयस् पथ के अनुगामी बन जाते हैं। स्वयं अपनी ओर से सत्तादितन्त्रों के प्रति सापेक्ष बन जाने के लिए आतुर हो पड़ना कदापि

संस्कृति के स्वरूपसंरक्षण का निमित्त नहीं बन सकता। यही वह नैष्ठिक राजपथ है, जिसका आपद्धर्म्मदृष्टया आज संस्कृतिनिष्ठों को बड़े अवधानपूर्वक लोकसंस्कृति-लोकधर्म्मों के रक्षणात्मक-प्रचारात्मक दूसरे दृष्टिकोण की सफलता के लिए तटस्थरूप से सत्तातन्त्र को भी सापेक्ष बना लेना है। और वणिकूतन्त्र में भी यदि अपवादरूपेण जागरूक श्रद्धा उपलब्ध हो सके, तो उसे भी सापेक्ष बना लेना है। किन्तु कदापि किसी भी तन्त्र को वित्तैषणात्मिका लोकैषणा के लिए तो 'संस्कृति' के नाम माध्यम से सापेक्ष बनाने की भूल नहीं हीं करनी है। इससे संस्कृति का तो अभिभव है ही। साथ ही अपेक्षा रखने वाले संस्कृतिभक्त का भी स्वरूप-विनाश निश्चित बन जाता है इस एषणा के निग्रह से। और यही उस सापेक्षता-निरपेक्षता की प्रासङ्गिक चर्चा का सम्पूर्ण इतिवृत्त है, जिसका हाँ, और ना के रूप में पूर्व में उपक्रम हुआ था। अलमतिपल्लवितेन-प्रासङ्गिकेतिवृत्तेन।

२४४-प्रासङ्गिकेतिवृत्त का निष्कर्षार्थ—

भूतात्मा-बुद्धि-मनः-शरीरनिबन्धना-स्वायम्भुवी-सौरी-चान्द्री-पार्थिवी-मोक्ष-धर्म्म-काम-अर्थात्मिका-योग-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-समन्विता-प्रकृतिसंस्कृति, एवं तदाचारात्मक प्रतीकात्मक-प्राकृतिक धर्म्म, दोनों का स्वरूपव्यवस्थापक शास्त्रनिष्ठ द्विजाति ही है। अतएव इत्थंभूता लोकसंस्कृतिचतुष्टयी को, एवं तद्भिन्ना धर्म्मचतुष्टयी को स्वरूपव्यवस्थापकापेक्षया माना तो जायगा **ब्राह्मणतन्त्रसापेक्ष** ही। और इस दृष्टि से मूलसंस्कृतिधर्म्म (अव्ययात्मसंस्कृति-अव्ययधर्म्मरूप अप्राकृता संस्कृति एवंअप्राकृत धर्म्म) वत् इसे भी तत्त्वतः कहा तो जायगा सत्तानिरपेक्ष ही। तथापि केवल व्यावहारिक-लोकसंरक्षणोत्तरदायित्वमात्र की अपेक्षा से इसे सत्तातन्त्रसापेक्ष भी माना जासकेगा, यही अबतक के प्रासङ्गिकेतिवृत्त का निष्कर्षार्थ है।

२४५-रहस्यपूर्ण, अतएव दुरधिगम्य पुरुष-प्रकृति-विवर्त्त, एवं तन्मूलक निरपेक्ष-सापेक्ष-सांस्कृतिक विवर्त्त—

बड़ा ही रहस्यपूर्ण, अतएव अत्यन्त ही दुरधिगम्य है संस्कृति-सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिहास, जिसके **'पुरुष-प्रकृति'** तन्त्रभेद से अबतक दो विवर्त्तों का ही दिग्दर्शन कराया गया है। लोकातीत अव्यय-पुरुष ही पुरुष है, लोकात्मिका पञ्चावयवा विश्वात्मिका कृति ही प्रकृति है। **'प्रकृतिं-पुरुषं चैव-विद्धयनादी उभावपि'** सिद्धान्तानुसार अमृतरसात्मक पुरुष, तदभिन्ना बलात्मिका प्रकृति, दोनों हीं आत्मशाश्वततापेक्षया (रसापेक्षया) सनातन है। अतएव सनातन-शाश्वत-संस्कृति-धर्म्ममूर्ति अव्ययपुरुष से अभिन्ना लोकसंस्कृति-लोकधर्म्मात्मिका प्रकृतिसंस्कृति, एवं प्रतीकधर्म्म भी सनातन ही है। दोनों सनातन भावों के माध्यम से ही सांस्कृतिक धर्म्म के-दोनों विवर्त्त व्यवस्थित हो रहे हैं। परिलेखों के द्वारा पूर्व में निर्दिष्ट (पृ० सं० ८८) इन दोनों विवर्त्तों को अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ बनाकर ही अत्र आगे के विवर्त्तों को लक्ष्य बनाना है।

२४६-ब्राह्मण के द्वारा नियन्त्रिता सत्ता का ही संस्कृति के प्रति सापेक्षत्व समन्वय—

ठहरिये। अभी एक समस्या वह और शेष रह गई है, जिसके प्रासङ्गिक समन्वय के बिना शास्त्रीया लोकसंस्कृति, एवं शास्त्रीय लोकधर्म्म का सापेक्ष-निरपेक्षानुबन्धी इतिवृत्त अपूर्ण ही बना रह जाता है। 'हाँ'-'ना' का समन्वय करते हुए यह निवेदन किया गया है कि, जहाँ तक संस्कृति-धर्म्म की स्वरूपव्याख्या-

स्वरूपनिर्णय—का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो सत्तातन्त्र निरपेक्ष ही माना गया है संस्कृति, एवं धर्म्म के प्रति। सत्तातन्त्र सापेक्ष केवल उस सीमा में ही है, जिस सीमा का सामान्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इस चातुर्वर्ण्य-प्रजा के संस्कृत्यनुगत आचरणधर्म्मों के साथ सम्बन्ध माना गया है। वेदवित्–शास्त्रमर्म्मज्ञ–अनूचान्–ब्राह्मण के द्वारा निर्णीत–व्यवस्थित धर्म्म–कर्म्म ही चातुर्वर्ण्यप्रजा का एकमात्र अनुष्ठेय कर्म्म माना गया है, जैसाकि निम्नलिखित उपनिषद्वचन से प्रमाणित है—

"ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः-युक्ता अयुक्ताः, अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः"। (तै० उप०)।

यों तत्त्वतः ब्राह्मणसापेक्ष बना हुआ शास्त्रीय प्रतीक धर्म्म केवल बाह्य–नियन्त्रण–सीमादृष्टि से ही सत्तासापेक्ष माना जा सकता है, माना गया है। इसलिए माना जाना चाहिए कि, अपनी गुहानिहिता एकान्त-चिन्तनलक्षणा स्वाध्यायनिष्ठा में अन्तर्मुख बना हुआ ब्राह्मण लोकतन्त्र का कदापि नियन्त्रण नहीं कर सकता। नियन्त्रणसूत्र है तो धर्म्म ही। किन्तु बिना बाह्य भौतिक नियन्त्रण के माध्यम के साक्षात् रूप से केवल ब्राह्मण को छोड़कर स्वेच्छा से कोई भी वर्ण इस पर प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। एकमात्र इसी कमी की पूर्ति के लिए सत्तातन्त्र को सापेक्ष मान लेना अनिवार्य्य बन जाता है। सत्तातन्त्र का यह नियन्त्रण–सामर्थ्य क्या सत्तातन्त्र का अपना कौशल है ?। नहीं। अपितु–'**क्षत्रे एव तद्यशो दधाति**' इत्यादि श्रुति के अनुसार सत्तातन्त्र में यह नियन्त्रण–कौशल भी परोक्षरूप से शास्त्रवित्-ब्राह्मण के अनुग्रह से ही विकसित हुआ है।

२४७–'स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः' का समन्वय—

अतएव अब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, अपने शासनतन्त्र के प्रत्येक अङ्ग के सञ्चालन के लिए सत्तातन्त्र को सदा तत्त्वज्ञ–प्रकृतिरहस्यवेत्ता–वर्णधर्म्म–तत्त्वसमन्वयकर्त्ता ब्राह्मण का ही अन्ततोगत्वा आश्रय ग्रहण करते रहना अनिवार्य्य बन जाता है। सर्वालोकाधिपत्य की विशेष योग्यता तो ब्राह्मण की प्रज्ञा में ही निहित है *। इसी आधार पर-'**एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः**' इत्यादि रूप से राजर्षि मनु की दृष्टि में धर्म्म–कर्म्म का मूलनिर्णायक वेदवित् ब्राह्मण हीं बना हुआ है, '**राजा कालस्य कारणम्**' कहने वाले महाभारत ने भी इसी आधार पर–'**स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः**' (म० अश्वपति-राक्षससंवाद) यह उद्घोष किया है। वास्तविक सत्ता तो प्रकृतिसिद्ध रहस्यों के आधार पर नीति व्यवस्थित करने वाले ब्राह्मण की ही मानी गई है। **शासन करना** सत्तातन्त्र का काम है, तो सत्ता का अनुशासन करना तत्त्वज्ञ ब्राह्मण का उत्तरदायित्व है। **नीति ब्राह्मण की, नीति का प्रसार–संरक्षण करना सत्तातन्त्र का कर्त्तव्य**। इसी आधार पर यह व्यवस्था व्यवस्थित हुई है सत्तातन्त्र के लिए कि—

*** सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥
—मनुः १२।१००**

ब्राह्मणान् पर्य्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥१॥
वृद्धाँश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन् ।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥२॥

—मनुः ७।३७,३८।

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसम्मतम् ॥३॥
नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्य्याणि निक्षिपेत् ।
तेन सार्द्धं विनिश्चित्य ततः कर्म्म समारभेत् ॥४॥

—मनुः ७।५८,५९।

२४८–'ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति' का तात्त्विक समन्वय—

युक्तं चैतत् । जिस यशोलक्षण महान् सत्तातन्त्र के महान्-परम-उत्तरदायित्व का नियन्त्रणसूत्र शासक के हाथ में समर्पित किया जाता है, वह यदि सर्वात्मना स्वतन्त्र ही छोड़ दिया जायगा, तो निश्चयेन लोकैषणानुगामी बनता हुआ वह भी शान्ति-व्यवस्था के स्थान में अशान्ति-अव्यवस्था का ही सर्जक बन जायगा अतएव एक ओर जहाँ इसे यह सर्वोच्च सम्मान दिया जायगा, वहाँ दूसरी ओर इस सम्मान को ब्राह्मणप्रज्ञा से नियन्त्रित भी कर दिया जायगा । यदि दुर्भाग्यवश सत्तातन्त्र इस प्रज्ञातन्त्र की उपेक्षा कर अपने भूततन्त्र-प्रचार-प्रसार में स्वतन्त्र बन जाता है, तो प्रज्ञा-धर्म्म के नियन्त्रण से पराङ्मुख बन जाने वाला सत्तातन्त्र निश्चयेन राष्ट्रपतन के साथ साथ स्वयं भी पतित बन जाता है । इसी आधार पर परम धर्म्मसूत्र सञ्चालन का महान् उत्तरदायित्व देते हुए ऋषि ने सत्तातन्त्र को यह भी उद्बोधन प्रदान करना आवश्यक ही माना कि–"तस्मात्–यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम् । य उ एनं हिनस्ति, स्वां स योनिमृच्छति । स पापीयान् भवति-यथा श्रेयांसं हिंसित्वा" ।

२४९–'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्'–लक्षण सत्ताधर्म्म—

अतएव अब यही कहा जायगा कि, शास्त्रीया लोकसंस्कृति, शास्त्रीय-लोकधर्म्म का वास्तविक प्रतिनिधि तो ब्राह्मण ही है । अतएव इसे ब्राह्मणसापेक्ष ही कहा जायगा, एवं यों सत्तातन्त्र तत्त्वतः इस प्रकृति-संस्कृति, प्रकृतिधर्म्म के प्रति भी निरपेक्ष ही कहा जायगा । तभी तो शासनतन्त्र के वारुणपाश-बन्धनों से ब्राह्मण को पृथक् ही माना है धर्म्माचार्य्यों नें । इसी अभिप्राय से **'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्'** रूप से अर्थकामश्रमानुगत विट्-पौष्ण-वर्ग के साथ ही सत्ता के नियन्त्रण का प्रधान-सम्बन्ध व्यक्त किया है राजर्षि नें । प्रश्न रह जाता है–'ब्राह्मण' का । वह अनियन्त्रित बनकर भी उस सीमा पर्य्यन्त कदापि उद्दण्ड बन ही नहीं सकता, जो सीमा क्षोभ उत्पन्न कर दिया करती है । अनियन्त्रित–अमर्य्यादित–

ब्राह्मण स्वयं अवश्य क्षुब्ध-लक्ष्यहीन बन सकता है, बना हुआ है-आज। किन्तु जिसप्रकार आजका अनियन्त्रित धनशाली कामपरायण-विट्, एवं अर्थलिप्सु-श्रमानुगत चतुर्थ वर्ण विश्वक्षोभ का कारण प्रमाणित हो रहा है, वैसे क्षोभ की कल्पना भी ब्राह्मण से नहीं की जासकती। इसकी इसी उदारता का तो आज इसे दण्ड मिल रहा है। सम्पूर्ण राष्ट्र में आज एकमात्र ब्राह्मण ही सम्पूर्ण उत्पीडनों, अपमानों, तिरस्कारों, लाञ्छनों का केन्द्र माना-मनवाया जा रहा है। ब्राह्मणविरोध ही आजके राष्ट्रजागरण का एकमात्र महान् कर्त्तव्य बना हुआ है, जिसका सीधा सा अर्थ है-प्रज्ञाविरोध।

२५०-ब्राह्मणप्रज्ञा का विरोध, और राष्ट्र का अधःपतन—

विरोध होना भी चाहिए ही। क्योंकि जिस आज के युग में प्रायः सभी वर्ग 'युगधर्म्म' में प्रवाहित होकर अपनी मूलसंस्कृति-मूलधर्म्म-निष्ठाओं से पराङ्मुख बनते हुए, अपने आपको सर्वतन्त्रस्वतन्त्र मानते हुए संस्कृति-धर्म्म-सदाचार-आदर्श-आदि को 'रूढ़ि' कहकर उपेक्षित करते जा रहे हैं, वहाँ एकमात्र ब्राह्मण ही यदा कदा इस दिशा में अपनी पीड़ा व्यक्त करता रहता है। इसी अभिव्यक्ति से इसे ही आज प्रतिक्रियावादी माना-मनवाया जा रहा है, जो कि इसका पुरस्कार ही माना जायगा। **'ब्राह्मण सावधान !'** रूप से आज इसे ही आजका बुद्धिवादी मानो चेतावनी दे रहा है, और इस काकूपूर्ण चेतावनी से मानो यह इसे यही कह रहा है कि, **"यदि इसने अब भी हमारा साथ न दिया, तो इसे सदा के लिए स्मृतिगर्भ में ही विलीन कर दिया जायगा"**। बुद्धिवादियों के साथ साथ इतर मतवाद भी ब्राह्मणधर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र की कृपाभिक्षा से उद्दण्ड बनते हुए आज विस्पष्ट रूप से ब्राह्मण को अपमानित करने में सर्वात्मना जागरूक बने हुए हैं *। और सत्ता की भावुकता से लाभ उठाने के लिए आतुर मृतप्राय वे मतवाद आज मानो इसके लिए प्रतिज्ञात हो बन गए हैं कि, मानो ये ब्राह्मण का मूलोच्छेद ही कर डालेंगे।

२५१-सर्वस्वप्रदाता-सर्वस्वसंरक्षक ब्राह्मण के प्रति राष्ट्र की कृतघ्नता—

विगत तीन हजार वर्षों से जितने भी तात्कालिक मतवाद भारत में आविर्भूत-तिरोभूत हुए, सभी को प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से ब्राह्मण की प्रज्ञा का ही अनुदान मिला। ब्राह्मणप्रज्ञा ने ही संस्कृतभाषा के माध्यम से तत्तत्-मतवादों के साहित्यिक-कलेवरों का निर्म्माण किया। और यों सभी मतवाद ब्राह्मणप्रज्ञा से कृतशरीरी बनकर ही अपना भौतिक स्वरूप व्यक्त करते रहने में सक्षम बनते रहे, बन रहे हैं आज भी। जाइए, और सन्निकट से देखने का अनुग्रह कीजिए मतवादों के ध्वंसावशेषों को। सर्वत्र किसी न किसी रूप में आज भी ब्राह्मणप्रज्ञा की ही प्रमुखता उपलब्ध होगी आपको। नाम मतवाद-सञ्चालक आचार्य्यों का, प्रज्ञात्मक कर्म्म सर्वत्र ब्राह्मणों का ही। यही तो भारत के ब्राह्मण का वह ब्रह्ममित्रात्मक 'मित्र' स्वरूप है, जिसके आधार पर

---

* भारतसरकार से संरक्षणप्राप्त **'साहित्य-अकादमी'** के द्वारा प्रकाशित **'भगवान् बुद्ध'** नामक पुस्तक पर दृष्टिपात का अनुग्रह कीजिए, स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जायगा।

इसे श्रुति ने 'मित्र' कहा है *, एवं स्मृति ने ÷ 'मैत्र' कहा है, जिसका कि पूर्व की मैत्रावरुणग्रह-श्रुति के द्वारा दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

२५२–मैत्रब्राह्मण की सर्वभूतहितरति, एवं अनुगृहीतों की कदर्य्यता—

किसी को पीड़ा न पहुँचाना, किसी के लिए अनिष्ट की कल्पना न करना, सर्वोपरि सभी के कार्य्यों में यथाशक्ति सहयोग प्रदान करते रहना हीं तो ब्राह्मण का ब्रह्मत्त्व है। यदि ब्रह्मानुग्रह से विश्व में कोई वञ्चित नहीं है, तो तत्प्रतीकभूत मित्रब्राह्मण के सहयोग से कोई कैसे वञ्चित रह सकता है ?। इसी सर्वभूतहितरतिधर्म्म से यह–'मैत्र' कहलाया है, जो महान् गुण ही लोकनिष्ठ–तन्त्रायी महानुभावों की दृष्टि में ब्राह्मण का महान् दोष ही बना हुआ है।, जिसके लिए आज सभी वर्ग इसे चारों ओर से व्यष्टया-समष्टया (एकाकीरूपेण, एवं सम्मिलित रूपेण दोनों प्रकारों से) सावधान करने के लिए आतुर ही बने हुए हैं। न केवल आतुर ही बन कर चुप बैठे हैं। अपितु प्रत्येक सम्भव–असम्भव–प्रकारों से सभी वर्ग इस महान् मित्र के सहयोग से वञ्चित ही हो जाना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे सर्वात्मना सब क्षेत्रों से निरपेक्ष ही बना देना चाहते हैं। किन्तु वर्ग यह भूल जाते हैं कि, यह तो अपने स्वरूप मे प्रकृत्या ही निरपेक्ष है। निरपेक्षता ही तो इसके–'मैत्र' स्वरूप की मूल-प्रतिष्ठा है। निरपेक्षता के अनुग्रह से ही तो–किसी भी युगधर्म्मानुगत प्रभाव में न आकर यह मित्रबुद्धया सभी के उद्बोधन में प्रवृत्त हो जाता है यह जानता हुआ भी कि, इस उद्बोधन–प्रदान से इसे पुरष्कार में उत्पीड़न ही उपलब्ध होगा। इन उत्पीड़न- परम्पराओं–अपमानपरम्पराओं का स्वागत करते हुए ही तो इसने शत–शत–सहस्राब्दियों से अपने सांस्कृतिक–धार्म्मिक सन्देश को अद्यावधि सुरक्षित रक्खा है।

२५३–सङ्गदोषजनिता-भावुकतामूला ब्राह्मण की दासता —

अवश्य ही सङ्गदोष से कुछ समय से राष्ट्र का ब्राह्मण सापेक्ष बन गया है। अपनी योगक्षेमव्यवस्था से उत्पीड़ित हो जाना हीं इसकी तात्कालिकी सापेक्षता का एकमात्र कारण है। किन्तु कदापि यह इसका अपराध नहीं माना जा सकता। यह ठीक है कि, इन अपेक्षाओं के कारण ब्राह्मण आज अपनी–**'अदीनाः–स्याम शरदः'** लक्षणा निष्ठा को विस्मृत कर दीन–हीन–याचक–बन कर–**'मा च याचिष्म कञ्चन'** आदर्श को अभिभूत ही प्रमाणित कर चुका है। इसी अभिभूति के कारण आज यह अर्थकामासक्त बन कर ही अपना मैत्रभाव अभिव्यक्त करते रहने की भ्रान्ति में आबद्ध हो रहा है, किंवा हो चुका है। किन्तु अपराध है यह उस सत्तातन्त्र का, जिसने ब्राह्मणप्रज्ञा को यों दीन-हीन बना दिया है। अपराध है यह उस वणिक्तन्त्र का, जिसने इसे 'महाराज–गुरुजी–कह कर भी इसे अर्थविभीषिका से उत्पीड़ित करते रहने में यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव नहीं किया। इसी दासवृत्ति ने आज इसकी निष्ठा को विगलित कर दिया है।

---

* **"सर्वस्य वा अयं ब्राह्मणो मित्रम्। न वाऽअयं कञ्चन हिनस्ति"**
(शत० ब्रा० २।३ २।१२)।

÷ **जप्येनैव तु संसिद्धयेत्–ब्राह्मणो नात्र संशयः।**
कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥
(मनुः २।८७)।

२५४–ब्राह्मणविकम्पनात्मक प्रज्ञाविकम्पन से विश्व का विकम्पन—

क्या ऐसा हो जाने से ब्राह्मणत्त्व उच्छिन्न होगया, किंवा होजायगा ?। नेति होवाच। जिस दिन ब्राह्मणत्त्व उच्छिन्न हो जायगा, उस दिन तत्त्वण ही ब्रह्ममूलक विश्व ही उच्छिन्न हो जायगा। आज ब्राह्मणत्त्व विकम्पित है, तो विश्व भी विकम्पित है। अवतारवादसिद्धान्त के मर्म्मज्ञ जानते हैं कि, ज्ञान-प्रतीकात्मक ब्राह्मण, एवं अर्थप्रतीकात्मक गौपशु, ये दो ही भारतराष्ट्र के तो अवश्य ही मूलाधार हैं। जब भारतराष्ट्र का ब्राह्मणवर्ग, एवं गौवर्ग विकम्पित हो जाता है, तो भगवान् को अवतार लेना पड़ता है–'**गो-ब्राह्मण-हिताय च**' घोषणा सुप्रसिद्ध है, जिसका मर्म्म विस्मृत करने वाले वर्त्तमान राष्ट्र ने प्रज्ञाप्रदाता ब्राह्मण-वर्ग को अवमानित कर, एवं अर्थप्रदात्री गौमाता को विकम्पित कर, दूसरे शब्दों में भारतीय संस्कृति के महान्-सगुण-प्रतीकभूत इन दोनों को उत्पीड़ित-उपेक्षित-अवमानित कर सचमुच विश्वविकम्पन को ही आमन्त्रित कर लिया है। प्रत्यक्ष-भूतदृष्टि कदापि इस प्राकृतिक रहस्य का समन्वय नहीं कर सकती, नहीं कर सकती।

२५५–काल्पनिक ब्राह्मणवाद के आविर्भावद्वारा ब्राह्मणप्रज्ञा की अवहेलना—

भारतीय ब्राह्मण का यों यशोगान करते हुए क्या हम आज के बुद्धिवादियों के शब्दों में किसी सीमित वर्गात्मक 'ब्राह्मणवाद' जैसे सम्प्रदायविशेष के लिए आतुर हैं ?। कदापि नहीं। ब्राह्मण केवल 'ब्राह्मण' है, ब्राह्मण ही रहेगा। वादों का तो उस संघ-संगठन-स्तूप-राशि-ढेर-समूह से ही सम्बन्ध है, जो केवल भूतों का ही हुआ करता है। प्रज्ञातन्त्र तो स्वयं अपने में ही परिपूर्ण है। सम्भवतः इसी आधार पर '**ब्राह्मणामसांहत्यम्**' इस भावुकतापूर्ण सूक्ति का आविर्भाव हो पड़ा है *। तत्त्ववाद का प्रेमी ब्राह्मण कदापि भौतिक-शरीरसमूहात्मक ब्राह्मणसंघवाद की तो कल्पना भी नहीं कर सकता, जिसकी निष्ठा का आरम्भ ही–'**अरतिर्जनसंसदि**' से हुआ है। संगठन-द्वारा किसी भौतिक-सत्ता-समाजादि तन्त्रों की एषणा का निर्वाह कदापि ब्राह्मण से तो सम्भव ही नहीं है। कल की ही तो घटना है। अपने प्रज्ञाबल से नवनन्दों के महान् साम्राज्य को धूलिधूसरित कर देने वाले भारतवर्ष के एक ब्राह्मण ने ही तो नवीन साम्राज्य का निर्म्माण कर तत्सिंहासन पर तो समासीन कर दिया था सेल्यूकसविजेता महान् चन्द्रगुप्त को, एवं अमात्यपद पर प्रतिष्ठित कर दिया था नन्दसाम्राज्य के भूतपूर्व राक्षस महामन्त्री को। एवं स्वयं ········ने कौनसा पद प्राप्त कर लिया था इस साम्राज्य के द्वारा ?, प्रश्न का उत्तर आज के उन बुद्धिवादीयों से ही पूँछना चाहिए, जो ब्राह्मण को किसी वादविशेष का सर्जक मानने की भ्रान्ति कर बैठे हैं।

२५६–युधिष्ठिर-भीष्म-संवादरूप इतिवृत्त के द्वारा ब्राह्मणस्वरूप की सत्यानिबन्धना–पतनपरम्पराओं का स्वरूपविश्लेषण, एवं तद्द्वारा ब्राह्मण के मौलिक स्वरूप का परिचय—

प्रत्यक्षरूपेण दृष्ट-श्रुत-उपवर्णित, एवं सर्वात्मना प्रमाणित है कि, अन्यवर्गीय व्यक्ति जहाँ सूचि-प्रवेशमात्र से तन्त्रबुद्धि के द्वारा बिना योग्यता के भी लोकतन्त्रों में प्रमुखता प्राप्त कर लेते हैं, वहाँ ब्राह्मण

***-सिंहानां महदालस्यं, सर्पाणाञ्च महद्भयम्।**
ब्राह्मणानामसांहत्यं तेन जीवन्ति जन्तवः॥

भावुकतावश तन्त्रों में प्रविष्ट हो जाने पर भी पुष्करपलाशवन्निर्लेप ही बना रहता है। इसकी प्रज्ञा से जहाँ तन्त्रायी लाभ उठा जाते हैं, वहाँ स्वयं यह इन तन्त्रों से उत्पीड़न का ही अनुभव करता रहता है। कदापि इस प्रमाणित तथ्य के साथ कोई भी बुद्धिवादी आज के तन्त्रयुग में तो गजनिमीलिका नहीं कर सकता। हाँ, ब्राह्मणप्रज्ञा पर यह अभियोग अवश्य ही लगाया जा सकता है कि, यह विगत तीन सहस्र वर्षों से अपनी मूलसंस्कृति–मूल–धर्म्म–मौलिक साहित्य के प्रति तो बना रहा निरपेक्ष, एवं मनःशरीरानुबन्धी–युगधर्म्मानुगत मतवादात्मक धर्म्मों–साहित्यों का बना रहा प्रतिनिधि अपनी सहजसिद्धा मैत्रीवृति के आकर्षण से। इसी परानुगता भावुकतापूर्णा मैत्रीवृति के कारण सभी वर्गों के प्रति अपना सर्वस्व अर्पण करता हुआ भी स्वयं यह पुरस्कार में अपना ब्रह्मत्त्व अभिभूत ही कराता रहा, जिसका प्रधान उत्तरदायी कौन है ?, प्रश्न की मीमांसा का समन्वय हम अपनी ओर से नहीं करना चाहते, नहीं ही करना चाहिए। **'राजा कालस्य कारणम्'** कहने वाले युगधर्म्मरहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म, एवं धर्म्मराज–किन्तु धर्म्मभावुक युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तरविमर्शप्रसङ्ग के द्वारा ही तथाविध समन्वय की ओर बुद्धिवादियों का ध्यान आकर्षित कर देते हैं। श्रूयताम् !

शरशय्यासीन महात्मा भीष्म से ब्राह्मणों के श्रेणिविभाग के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए युधिष्ठिर जिज्ञासा कर रहे हैं कि, भगवन् ! कितने एक ब्राह्मण तो अपने शास्त्रविहित कर्म्मों में निष्ठापूर्वक संलग्न हैं। कितनें एक ब्राह्मण शास्त्रविरुद्ध–अविहित–विकर्म्मों (विरुद्धकर्म्मात्मक कर्म्मों) के अनुगामी बने हुए हैं। ऐसा क्यों होता है ?। एक ही ब्राह्मणवर्ग में ऐसा कर्म्मपार्थक्य कैसे, क्यों होजाता है ?। हे पितामह ! कृपा कर मेरी इस जिज्ञासा का समाधान करने का अनुग्रह कीजिए ×।

युधिष्ठिर की उक्त जिज्ञासा का समाधान करते हुए पितामह भीष्म कहने लगे कि, हे युधिष्ठिर ! (कर्म्मों के तारतम्य से ही एक ही ब्राह्मणवर्ग में **ब्रह्मब्राह्मण, देवब्राह्मण, क्षत्रियब्राह्मण, वैश्यब्राह्मण, शूद्रब्राह्मण, चाण्डालब्राह्मण,** इत्यादिरूप से अनेक वर्ग सम्भव है, जिनका क्रमशः यही स्वरूप–दिग्दर्शन है कि)–क्षरविद्यात्मक ऋग्–यजुः–सामाथर्वादि अपरा वेदविद्या के चिन्तन के आधार पर स्वतः एव अव्ययात्मानुग्रह से अभिव्यक्ता–अक्षरविद्यात्मिका–पराविद्यालक्षणा–'विद्या' (निरपेक्षा अव्ययात्मसंस्कृति, तदभिन्न अव्ययात्मधर्म्मरूप–अप्राकृत–शाश्वतधर्म्म) से सम्बन्ध रखने वाले सहज आत्मलक्षणों से सम्पन्न–सिद्धावस्थात्मिका–ब्राह्मीस्थितिरूपा–स्थितप्रज्ञता से युक्त, अतएव इसी के अनुग्रह से सर्वत्र आत्मदर्शनात्मक समदर्शन में प्रतिष्ठित, ब्रह्म की सगुणमूर्तिरूप ऐसे अलौकिक ब्राह्मण हीं–'**'ब्रह्मब्राह्मण'** कहलाए हैं–(जिनके दर्शनमात्र से मादृश प्राकृत जीवों में सत्त्वभाव उदित हो जाता है) ।* २ ॥

अपराविद्यात्मिका ऋग्यजुःसामाथर्वादि लक्षणा मन्त्रब्राह्मणरूपा वेदविद्या (शब्दशास्त्रात्मिका–नामविद्या (देखिए–सनात्कुमार–नारदसंवाद छां० उप० ७।१।१) के मर्म्मज्ञ, शास्त्रविधि के अनुसार (पूर्व–

×–युधिष्ठिर उवाच–स्वकर्म्मण्यपरे युक्ताः, तथैवान्ये विकर्म्मणि ॥
तेषां विशेषमाचक्ष्व ब्राह्मणानां पितामह ! ॥१॥

***–भीष्म उवाच–विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्रसमदर्शिनः ॥**
एते 'ब्रह्मसमा' राजन् ! ब्राह्मणाः परिकीर्त्तिताः ॥२॥

प्रतिपादिता वर्णसंस्कृति–वर्णधर्म्मात्मक–प्रतीकधर्म्मात्मक)-कर्त्तव्यकर्म्मों में–यथाविधि व्यवस्थित रहने वाले आचारनिष्ठ ऐसे ब्राह्मण हीं '[१]**देवब्राह्मण**' कहलाए हैं, (जो वेद–लोक में–'अथ-ये **शुश्रुवांसोऽनूचाना–स्ते देवा ब्राह्मणादेवाः'–'भूदेवाः'** कहलाए हैं) ।।=२।।

आस्था–श्रद्धा–से समन्वित धर्मशील–त्रैवर्णिक–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य–महा–भागों के द्वारा अनुष्ठेय महारम्भ यज्ञों में प्रभूत दक्षिणाद्रव्याकर्षण से आध्वर्य्यव–हौत्र-औद्गात्र–ब्राह्म–नामक आर्त्विज्य पदों में अधिष्ठित '**ऋत्विक् ब्राह्मण**', त्रैवर्णिकों की याजमानवृति से सम्बन्ध रखने वाले '**पुरोहित–ब्राह्मण**', सत्ता–सामन्तादि–तन्त्रों में मन्त्रित्त्व के उत्तरदायित्व से समन्वित '**मन्त्रीब्राह्मण**', स्वराष्ट्रीय, एवं अन्तर्राष्ट्रीय–प्रान्तीय, तथा बहिःसत्ताओं के सम्बन्ध–संस्थापक ('राजदूत' नाम से प्रसिद्ध) '**दूतब्राह्मण**', सत्तातन्त्रानुगत-गुप्तमन्त्रणाओं के महान् उत्तरदायित्व से समन्वित–गुप्तचर–विभागाध्यक्ष-'**वार्त्तानुकर्षक–ब्राह्मण**' इत्यादि सभी ब्राह्मणश्रेणियों को–'[३]**क्षत्रियब्राह्मण**' कहा गया है ◡ ।।४।।

अपनी व्यवसायनिष्ठाओं से प्रभूत–सम्पत्ति का अर्जन करने वाले अश्वारोह–गजारोह–रथी-पदाति–आदि विविध वर्गों में विभक्त, अश्व–(घोड़े)–गज–(हाथी)–रथ-आदि भौतिक–परिग्रह–ऐश्वर्य्यों से सम्पन्न, इनके रहने पर भी अपनी सहज कृपणता से पदाति–दशा में भी सन्तुष्ट रहने वाले–ऋणदानादि–उत्तमर्ण–अधमर्ण–व्यवसायों (लेनदेन–सूदखोरी) के अनुगामी–वर्ग ही–'[४]**वैश्यब्राह्मण**' कहलाए हैं ।।५*।।

प्रकृतिसिद्ध–ब्राह्मणकुलोत्पन्न–जन्मभाव को विस्मृत कर देने वाले, शरीरभावानुबन्ध से स्वयं अपने आप को ही शरीरधर्म्मामात्र मानते रहने वाले, इसी भ्रान्ति से वर्णात्मक जन्मभाव के विपरीत कर्म्मों का अनुगम करते रहने वाले, यों जन्म–और कर्म्म–दोनों ब्राह्मण्य–धर्म्मों से पराङ्मुख बन जाने वाले, अपनी इसी हीनता से सर्वथा कदर्य्य–दीन–हीन–दासभाव में परिणत हो जाने वाले, लोक में–'**ब्रह्मबन्धु**' (ब्राह्मण के सम्बन्धी ही 'ब्रह्मबन्धु' का अर्थ है जो कि एक प्रकार का अपमानात्मक ही सम्बन्ध है, ऐसे–केवल जात्युपजीवी–कर्म्मविहीन ब्राह्मण–क्षत्रि–वैश्यों को ही शास्त्र में–'**द्विजबन्धु**' नाम से भी व्यवहृत किया गया है । स्त्री–शूद्रवत्–ऐसे नाममात्र के पतितसावित्रीक द्विजातियों को भी वेदस्वाध्याय से वञ्चित कर दिया है, जैसाकि–'**स्त्री-शूद्र–द्विजबन्धूनां–त्रयी न श्रुतिगोचरा**' इत्यादि से

=–ऋग्यजुःसामसम्पन्नाः स्वेषु कर्म्मस्ववस्थिताः ।।
एते देवसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत ।।३।।

◡ ऋत्विक्–पुरोहितो–मन्त्री–दूतो–वार्त्तानुकर्षकः
एते 'क्षत्रसमा' राजन्! ब्राह्मणानां भवन्त्युत ।।४।।

*–अश्वारोहा–गजारोहा–रथिनोऽथ–पदातयः ।।
एते वैश्यसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत ।।५।।

स्पष्ट है)। ऐसे जन्मकर्म्मविहीन कदर्य्य ब्रह्मबन्धु ब्राह्मण हीं-'शूद्रब्राह्मण' कहलाए हैं। निष्कर्षतः-वेद-स्वाध्यायविहीन, अन्यान्य दासकर्म्मों में दीक्षित जातिमात्रोपजीवी ब्राह्मण राजर्षि मनु के शब्दों में तो अपने वंशसहित ही शूद्रकोटि में आजाता है, जैसाकि इस वचन से स्पष्ट है ॥६) ॥÷

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्त्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ —मनुः

इष्ट-आपूर्त्त-दत्त नामक विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्मों को 'पुण्य-शुभ-कर्म्म' कहा गया है, जिनका फल माना गया है-पितृस्वर्गावाप्ति। इस कर्म्मविभागत्रयी का जो अन्तिम 'दत्त' विभाग है-उसे ही 'खैरात' कहा गया है, जिस में विश्व के मानवमात्र अधिकृत है, जब कि विद्यासापेक्ष यज्ञ-तप-दान-रूप सत्कर्म्म-(शास्त्रीयकर्म्म) के दानकर्म्म का अधिकार एकमात्र शास्त्रविद्यानिष्ठ द्विजाति को ही है। विद्यानिरपेक्ष दत्तविभाग ही सत्तातन्त्र में-'पुण्यार्थविभाग' कहलाया है, जिसे-'धर्म्मार्थविभाग' भी कहा गया है। यही आज की 'चेरेटी' है, जिसके साथ 'दानधर्म्म' का कोई सम्बन्ध नहीं है। दान में जहाँ दाता का आसन निम्न, एवं गृहीता का आसन उच्च है, वहाँ 'दत्त' (खैरात-चेरेटी) में दाता का आसन उच्च, गृहीता का आसन निम्न है। दान में जहाँ योग्यपात्र-व्यवस्थित है, वहाँ दत्त में पात्रापात्र वे सभी दरिद्री असमर्थ संगृहीत हैं, जो रोगाक्रमण के कारण, जराजीर्णता के कारण स्वयं अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ हैं। ऐसे दत्तविभाग के अधिकारी-धर्म्माधिकारी-(चेरेटी विभाग के व्यवस्थापक) ब्राह्मण को ही-'आह्वायकाः' कहा गया है, जिसका यह उत्तरदायित्त्व रहता है कि, जो तथाविध असमर्थ दीन-दरिद्री पात्र हैं, उनका आह्वान-कर-बुला बुला कर उनके भरण पोषण की सत्तातन्त्र के तद्विभाग से व्यवस्था करता रहता है। यही इस कर्म्म की 'पुण्यता' है, जिस में असमर्थों को आशा प्रतीक्षा में खड़ा नहीं रहना पड़ता। दुर्भाग्यवश सत्तातन्त्र का विभाग तो आज इस 'आह्वान' रूप पुण्योत्तरदायित्त्व को विस्मृत कर चुका है, जब कि संस्कृति के सौभाग्य से श्रद्धाशील धार्म्मिक मानव आज भी बुला-बुला कर, तथाविध असमर्थों के स्थान में स्वयं जाकर अयाचित रूप से ही 'दरिद्रनारायणयज्ञों' का सञ्चालन करते रहते हैं।

सत्तातन्त्रद्वारा, किंवा समर्थ श्रीमन्तों के द्वारा सञ्चालित देवमन्दिरों में वेतनग्रहणद्वारा पूजनार्च्चनकर्म्म में नियुक्त ब्राह्मण हीं 'देवलकाः' हैं। तिथि-वार-नक्षत्र ग्रह गणितादि वर्णन में निपुण पञ्चाङ्गप्रदर्शक ज्यौतिषी ही-'नाक्षत्राः' हैं, जिसकी एक भारतीय स्वात्माभिमानी कवि ने भी उपेक्षा की है *। साधारण ग्रामीण जनता के ग्रामजीवन की धर्म्मश्रद्धा के संरक्षण के उत्तरदायित्त्व से अनुप्राणित-सामान्यरूपेण शिक्षित-वे ब्राह्मण, जो समूहरूप से ग्रामाध्यक्षों (पञ्च-चौधरियों) के द्वारा तद्ग्राम के पौरोहित्य-पद के लिए निर्वाचित हो जाते हैं, जिन्हें कि प्रमाण के लिए-'ताम्रपत्र' दे दिया जाता है, अतएव जो ग्रामीणभाषा

÷-जन्म-कर्म्म-विहीना ये कदर्य्या ब्रह्मबन्धवः ॥
एते शूद्रसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥६॥

* **वयं नो ते विप्राः प्रतिगणितनक्षत्र, तिथयो-**
धनं ये माचन्ते प्रतिदिवसमासाद्य कृपणान् ॥ (कविसूक्तिः)।

में-'तामड़ायत' कहलाते हैं--हीं-'ग्रामयाजकाः' हैं । पाँचवाँ विभाग उन महाब्राह्मणों का है, जो महापथ के पथसाक्षी होने से-'**महापथिकाः**' कहलाए हैं । हमारी दृष्टि में-'**महापथिकाः**' का यही समन्वय अनुरूप है, जब कि महाभारत के व्याख्याकार श्रीनीलकण्ठ महाभाग नें समुद्रयात्रापथिकों के करगृहीता को महापथिकाः माना है । तदित्थं-**आह्वायक-धर्म्माधिकारी, वेतनभोगी पुजारी, ज्यौतिषी, गाँव के पण्डित, एवं महाब्राह्मण**, ये पाँचों हीं एकप्रकार से तमोगुणान्विता लोकवृत्तियों से ही क्योंकि अपना जीवन-यापन करते हैं । अतएव इन्हें-'**चाण्डाल ब्राह्मण**' कहा है भीष्म ने ॥ ७ * ॥

तदित्थं-भीष्म नें युधिष्ठर के सम्मुख **ब्रह्मब्राह्मण, देवब्राह्मण, क्षत्रियब्राह्मण, वैश्यब्राह्मण, शूद्रब्राह्मण, चाण्डालब्राह्मण**, ये ६ ब्राह्मण विभाग उपस्थित कर अन्त में यह भी स्पष्ट कर देना अपना आवश्यक कर्त्तव्य माना कि, ब्राह्मण का वृत्ति के लिए यों विकर्म्मस्थ बन जाने में एकमात्र तत्कालीन सत्तातन्त्र ही अपराधी है । सत्ता की उपेक्षा से ही ब्राह्मणों को वृत्तिमात्राकर्षण से ही क्षत्रियादि भावों में परिणत होना पड़ता है । यही नहीं, इन्हें विवश बन कर उस जघन्य स्तेयकर्म्म का भी अनुगामी बन जाना पड़ता है, जिसके लिए कदापि ब्राह्मण को अपराधी नहीं माना जा सकता । देखिए !

ब्राह्मणानां च ये केचित्-विकर्म्मस्था भवन्त्युत ॥
विकर्म्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन ॥७॥
नियम्याः-संविभज्याश्च धर्म्मानुग्रहकारणात् ॥८॥
यस्यस्म विषये राजन् ! स्तेनो भवति वै द्विजः ॥
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः ॥९॥
अवृत्त्या यो भवेत् स्तेनो वेदवित्स्नातकस्तथा ॥
राजन् ! स राज्ञा भर्त्तव्य- इति वेदविदो विदुः ॥१०॥

—महाभारत शा० राज० ७६ अध्याय

स्मरण रहे, भीष्म की भाषा इतिहास की भाषा है, जो '**धर्म्मभाषा**' से सर्वथा पृथक् ही मानी गई है । धर्म्मभाषा में कदापि ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-चाण्डाल-आदि शब्दों का समावेश नहीं हो सकता । शिष्टजनसम्मता आदर्शभाषा ही धर्म्मभाषा है, जिसका इतिहासभाषा में इसलिए सर्वात्मना संरक्षण सम्भव नहीं है कि, इतिहासलेखक के प्रज्ञाक्षेत्र को सभी-सत्-असद्-पात्रों, घटनाओं को 'इति-ह-आस' (निश्चयेन ऐसा ही था) लक्षण 'इतिहास' शब्द की मर्य्यादा का ही अनुगामी बनाए रखना पड़ता है । उदाहरण के लिए ब्राह्मणश्रेणिविभाग को ही लक्ष्य बनाइए । जब यह स्पष्ट है कि, ब्राह्मण की-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-चाण्डालादि भावों में परिणति का उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र पर है, तो इसके लिए ब्राह्मण को

***-आह्वायकाः- देवलकाः-नाक्षत्राः-ग्रामयाजकाः ॥**
एते ब्राह्मणचाण्डाला महापथिकपञ्चमाः ॥७॥

क्यों दोषी ठहराया जाय ? । ब्राह्मण तो अपने रूप से सदा ब्राह्मण ही है, ब्राह्मण ही रहेगा, भले ही वह पठित हो, अथवा अपठित । अपठितता का भी उत्तरदायित्त्व सत्तातन्त्र से ही तो अनुप्राणित माना जायगा । धर्म्म की भाषा में अधिक से अधिक इसे 'जातिमात्रोपजीवी' कह दिया जायगा । अतएव धर्म्माचार्य्य राजर्षि मनु के द्वारा ब्राह्मणविभागों में इतिहास के तथाकथित शब्दों का संस्पर्श भी नहीं हुआ है । अपितु **यथाजातब्राह्मण, विद्वानब्राह्मण, मर्म्मज्ञब्राह्मण, आचारनिष्ठब्राह्मण,** एवं **ब्रह्मवेदीब्राह्मण** रूप से ये पाँच विभाग ही मानें हैं राजर्षि ने अपनी धर्म्मभाषा में । क्या यथाजात-अपठित ब्राह्मण को निन्दा के शब्दों से व्यवहृत किया है इस प्रसङ्ग में राजर्षि ने ? । नहीं । जिस ब्राह्मण की प्रकृति में ब्रह्मात्मक प्राणदेव जन्मना प्रतिष्ठित है, उस शरीरी ब्राह्मण के लिए भी अपशब्द-क्षुद्रशब्द का उच्चारण धर्म्मभाषा में सम्भव ही कैसे है । वही तो धर्म्मभाषा-परम्परा आज भी प्रचलित है । सत्तातन्त्रानुगत युगधर्म्मदोष से ब्राह्मण आज पाचक बन गया है, किन्तु व्यवहार में शिष्ट धार्म्मिक प्रजा इसे भी कहती-**'महाराज'** ही है । धर्म्मभाषा ही तो मानव को अभ्युदय की ओर आकर्षित करने की क्षमता रखती है । इसी लोकशिक्षण के लिए ही तो-**'अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः'** यह धर्म्मभाषा विनिःसृत है । **'ब्राह्मणो जायमानो हि मूर्त्तिधर्म्मस्य शाश्वती'** (मनुः) कहने वाले मनु की भाषा के द्वारा धर्म्मभाषा का गम्भीरत्त्व भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है । यही नहीं, धर्म्मभाषा से पराङ्मुख बन जाने वाले आज के जो बुद्धिवादी अभिनिवेश में आकर **'ब्राह्मण सावधान'** ! रूप से मूलतः-जन्मतः-मैत्र ब्राह्मण के प्रति रूक्षा-कर्कशा भाषा का व्यवहार करने लग पड़े हैं, सम्भवतः ऐसे दिग्भ्रान्त बुद्धिवादियों के उद्बोधन के लिए ही राजर्षि को यह कहना पड़ा है कि —

विधाता-शासिता-वक्ता-मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
तस्मै नाकुशलं ब्रूयात्-न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥

—मनुः ११।३५।

धर्म्मभाषा के महान् आचार्य्य मनु सर्वसामान्य नर-मानवों की अपेक्षा उस ब्राह्मण-मानव को श्रेष्ठ बतला रहे हैं, जो केवल जन्मतः-वर्णतः ब्राह्मण है-**'नरेषु ब्राह्मणाः-स्मृताः'** (श्रेष्ठाः स्मृताः) । इन की अपेक्षा शब्दशास्त्र के विद्वान् ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं-**'ब्राह्मणेषु च विद्वांसः'** । तदपेक्षया बुद्धिपूर्वक शास्त्ररहस्यवेत्ता ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं-**'विद्वत्सु कृतबुद्धयः'** । तदपेक्षया स्वरहस्यज्ञान के अनुसार आचारनिष्ठा में प्रवृत्त ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं-**'कृतबुद्धिषु कर्त्तारः'** । एवं सर्वापेक्षया वे श्रेष्ठ माने गए हैं, जिन्होंनें ब्रह्मवित्-स्थितप्रज्ञ बन कर अनुकरणादि प्रतीक धर्म्मों को भी अव्ययात्मा में समर्पित कर दिया है-**'मामेकं शरणं व्रज'** के अनुसार । यही वह धर्म्मभाषा है, जिसकी उपेक्षा कर आज केवल नरकोटि में प्रतिष्ठित-बुद्धिवादी- 'अमुक पढ़ा नहीं, अमुक केवल शब्दमात्र का पण्डित है, अमुक-केवल जानता है-करता नहीं,- अमुक स्थितप्रज्ञता का ढोंग कर अकर्म्मण्य बना हुआ है, अमुक का बाजार भाव क्या है, यह हम जानते हैं"- इत्यादिरूपेण मैत्र ब्राह्मणों के प्रति अकुशल, शुष्क-उद्वेगकरी-वाणी बोलता हुआ अपने सर्वनाश का ही आमन्त्रण कर रहा है । ऐसे बुद्धिवादियों से सर्वथा निरपेक्ष बन कर ही आज ब्राह्मण कृच्छ्ररूपेण संस्कृति के स्वरूप की आराधना में सफलता प्राप्त कर सकता है ।

भीष्म ने युधिष्ठिर की जिज्ञासा का तथाकथित रूप से समाधान कर इसी सम्बन्ध में आगे चलकर अश्वपतिकेकयराज, एवं कबन्ध-अथर्वा की सवादभाषा से जो तत्त्व अभिव्यक्त किया है, हम आग्रह करेंगे सभी से, विशेषतः-धर्म्मनिरपेक्ष--सत्तातन्त्र के वर्त्तमान भावुक-भक्तों से कि, वे एकबार अनुग्रह कर तदैतिहासक-आख्यान पर अवश्य ही दृष्टिपात का अनुग्रह करलें, जिसका उपसंहार राक्षसराज के द्वारा, एवं भीष्म के द्वारा निम्न लिखित उद्बोधनसूत्रों से ही हुआ है कि--

राक्षस उवाच—यस्मात् सर्वास्ववस्थासु धर्म्ममेवान्ववेक्षसे ॥
तस्मात् प्राप्नुहि केकैय ! गृहं, स्वस्ति, व्रजाम्यहम् ॥१॥
येषां गो-ब्राह्मणं रक्ष्यं, प्रजा रक्ष्याश्च केकय ॥
न रक्षोभ्यो भयं तेषां कुत एव तु पावकात् ॥२॥
येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्मपरं बलम् ॥
अतिथिप्रियास्तथापौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥३॥

भीष्म उवाच—तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत, ते हि रक्षन्ति रक्षिताः ॥
आशीरेषां भवेद् राजन् ! राज्ञां सम्यक् प्रवर्त्तताम् ॥४॥
तस्माद्राज्ञा विशेषेण विकर्म्मस्था द्विजातयः ॥
नियम्याः संविज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥५॥

—म० शा० राज० ७७ अ० ।

आगे चल कर युधिष्ठिर ने भीष्म से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न और किया है, जिसकी रूपरेखा यही है कि, "परम-महान्-धर्म्म के उत्तरदायित्व से सर्वथा निरपेक्ष-तटस्थ-बन जाने वाले सत्तातन्त्र के कारण जब राष्ट्र का धर्म्म-संस्कृति-सन्देशवाहक ब्राह्मण (प्रज्ञाबलप्रतीकभूत ब्राह्मणवर्ण) प्रज्ञाविरोधियों से, साथ ही धर्म्मनिरपेक्ष, अतएव दोषयुक्त सत्तातन्त्र से भी चारों ओर से उत्पीड़ित-अवमानित हो पड़े, तो उस भयावह प्रज्ञाविरोधी धर्म्मनिरपेक्षयुग में ब्राह्मण की प्रज्ञा का संरक्षक तो कौन ?, एवं ऐसे आपत्तिकाल में ब्राह्मण की धर्म्मनिष्ठा की रक्षा का क्या उपाय ?, किंवा ब्राह्मण की कौन सी वह आश्रयभूमि (परायण), जिसे अवलम्ब बना कर ऐसे आपद्धर्म्मयुग में यथाकथञ्चित्-रूपेण यह संस्कृति, और धर्म्म के संरक्षण में समर्थ बने ? ❀ ॥१॥

क्षात्रतेजोमय (अनुशासनानुगत शासनदण्डमय) सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता से उत्पीड़ित हो जाने वाले धर्म्मप्रवर्त्तक ब्राह्मण का, एवं धर्म्म का रक्षक कौन ?, युधिष्ठिर के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न से यह भी

❀-युधिष्ठिर उवाच—अथ चेत् सर्वतः क्षत्रं प्रदुष्येद् ब्राह्मणं प्रति ॥
कस्तत्र ब्राह्मणस्त्राता, को धर्म्मः, किं परायणम् ॥१॥

स्पष्टरूप से प्रतिध्वनित है कि, धर्म्मनिरपेक्षता कोई नवीन हीं प्रयोग नहीं है। तटस्था-लक्षणदृष्टि से भले ही इसे विश्वेतिहास में प्राथमिक प्रयोग कह दिया जाय, जैसा कि पूर्व में कह दिया गया है। किन्तु धर्म्म-ग्लानि-धर्म्मविरोध-धर्म्मापमान-रूपा धर्म्मनिरपेक्षता की दृष्टि से तो आज से पूर्व युगों में भी सत्तातन्त्रों नें अपनी इस निरपेक्षता का परिचय दे डालने में कोई कमी नहीं की है। यही क्यों, ब्राह्मण को तो संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-के लिए आज से भी कहीं वैसे घोर-घोरतम समय देखने पड़े हैं, भोगने पड़े हैं, जिन धर्म्म-विप्लवयुगों के प्रवर्त्तक सत्ताधीशों के-'न होतव्यम्--न यष्टव्यम्' इत्यादि नियन्त्रणोद्घोष आज भी हृत्कम्प उत्पन्न कर देते हैं। जब जब धर्म्म का सांस्कृतिक-मौलिक-ज्ञानविज्ञानात्मक-सम्प्रदायवादनिरपेक्ष तात्त्विक स्वरूप अनेक कारणों से अभिभूत होता रहा है, तब तब ही सत्तातन्त्र धर्म्मनियन्त्रण से पृथक् होकर ब्राह्मणप्रज्ञा के दमन में तत्पर होगया है। इसी सामान्य-स्थिति के आधार पर युधिष्ठिर ने प्रश्न उपस्थित किया है, जिसका महात्मा भीष्म ने बड़े विस्तार से समाधान किया है। प्रकृत में तत्समाधान-सन्दर्भ में से केवल एक दो सूत्र ही प्रसङ्गसमन्वयदृष्ट्या उपस्थित कर दिए जाते हैं।

भीष्म समाधान करते हैं कि, जब राष्ट्र का ब्राह्मणत्त्व चारों ओर से संकटग्रस्त-संत्रस्त-संक्षुब्ध बन जाय, तो उस भयावह युग में ब्राह्मण का सब से प्रमुख यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह गुहानिहित-तपोयोग (अनन्य-अध्यवसाय) पूर्वक ब्रह्मचर्य्य का (वेदस्वाध्याय का) ही अनुगामी बन जाय। यही इसका वह महान् तप है, जिसके बल पर धर्म्मनिष्ठाएँ व्यवस्थित रहा करतीं हैं। धर्म्म के मौलिक रहस्य-ज्ञानाभाव से ही सत्तातन्त्र निरपेक्ष बना करते हैं धर्म्म के प्रति, एवं तत्स्वरूपव्याख्याता ब्राह्मण के प्रति। अतः सर्वप्रथम इस रहस्यान्वेषणकर्म्म में हीं ब्राह्मण को प्रवृत्त हो जाना चाहिए। इसे यह भुला देना चाहिए कि, केवल आदेशमात्र से, वचनमात्र से ही धर्म्म की ओर सत्तातन्त्र सापेक्ष बन जायगा। हाँ धर्म्म की वेदरहस्यानुगता तत्त्वव्याख्या में अवश्य ही वैसा बल है, जिससे शीघ्र-किंवा देर से सत्तातन्त्र को अपना अभिनिवेश छोड़ ही देना पड़ता है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि-ब्राह्मण की स्वाध्यायनिष्ठा के शिथिल हो जाने से जब धार्म्मिक आदेशों का कारणात्मक समाधान उपलब्ध नहीं होता, तो शनैः शनैः शास्त्रभक्ति-अभिभूत होती रहती है, जिसका अन्तिम परिणाम धर्म्मनिरपेक्षता ही मानी गई है। अतः ब्राह्मण को तपोयोगानुगता वेदस्वाध्यायात्मिका रहस्यनिष्ठा के तटस्थ-निरपेक्ष विश्लेषणों के द्वारा ही सत्तातन्त्र का परोक्ष विधि से ही शनैः शनैः नियन्त्रण करना चाहिए। तात्पर्य्य-सत्तातन्त्र से निरपेक्ष रहते हुए राष्ट्र में जनतन्त्र के माध्यम से वैसा तत्त्ववाद प्रस्फुटित कर देना चाहिए, जिस ज्ञान-विज्ञानात्मक*-सांस्कृतिक-तत्त्ववाद की सत्यता-त्रिकालाबाधितता के अनुबन्ध से जनतन्त्र के द्वारा ही कालान्तर में सत्तातन्त्रको भी संस्कृति-धर्म्म-सापेक्ष बन हीं जाना पड़ता है, निश्चयेन बन हीं जाना पड़ता है, जैसाकि-**'सत्यमेव जयते-नानृतम्'** इस प्राकृतिक सिद्धान्त से स्पष्ट प्रमाणित है।

---

*-ज्ञानविज्ञानात्मक-सोपपत्तिक-सृष्टिरहस्य का स्वरूप-विश्लेषण ही आपद्धर्म्म-युगों के लिए संस्कृति, तथा धर्म्म के स्वरूप-संरक्षण का महान् राजपथ माना गया है भारतीय तत्त्वज्ञों के द्वारा। यह सर्वथा असंदिग्ध है कि, जब जब संस्कृति, एवं धर्म्म की सृष्टिस्वरूप-विज्ञानात्मिका व्याख्याओं का अभिभव हुआ है, तब तब ही बुद्धिवादी व्यामुग्ध मानवों नें सांस्कृतिक-धर्म्म की विज्ञानसिद्धा भी आचारपद्धतियों के प्रति भावुक-

इस आर्ष उपाय के अतिरिक्त क्षत्रियप्रवर भीष्म ने इतिहास की भाषा में जो अन्य उपाय बतलाए हैं, उनका वैसे महान् आपद्धर्म्म से ही सम्बन्ध है, जिनका धर्म्मविरोधी-आसुरयुगों से ही सम्बन्ध माना जायगा। 'शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं-धर्म्मो यत्रोपरुध्यते' इत्यादि आपद्धर्म्मानुगत स्मार्त्त आदेश के अनुसार जब आसुर-सत्ताओं के द्वारा हिंसादि जघन्य कर्म्मों से धर्म्म उत्पीड़ित होने लग पड़े, तो वैसे भयावह युग में 'आपत्तिकाले मर्य्यादा नास्ति' के अनुसार अपने ब्राह्मणधर्म्म के विरुद्ध भी ब्राह्मण को शस्त्रग्रहण कर

पृष्ठ १४० की टिप्पणी का शेषांश—

जनमानस को प्रतिक्रियावादी बना डालने में आंशिक सफलता प्राप्त करली है। विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय संस्कृति, एवं धर्म्म का जो उत्तरोत्तर अभिभव होता आरहा है, इस के अन्यान्य ज्ञात-अज्ञात-कारणों में से सर्वप्रमुख एक यह भी कारण रहा है कि, वैदिक विज्ञान की रहस्यपूर्ण परिभाषाओं के बोध से पराङ्मुख बन जाने वाले भारतीय ब्राह्मणविद्वान् प्रकृतिवादी बुद्धिवादी महानुभावों के तर्क-युक्ति-हेत्वाभासादि का सृष्टिविज्ञान-सम्मत समाधान करने में सर्वथा असमर्थ ही बने रह गए हैं।

यह सर्वथा ठीक है कि स्व-सांस्कृतिक-धार्मिक-सत्तायुगों में ऐसे वैज्ञानिक-समाधानों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। जनता स्वतः ही केवल धर्म्मादेशों से ही सन्तुष्ट होकर धर्म्माचरण में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त रहती है। किन्तु धर्म्मविप्लवात्मक अश्रद्धायुगों में केवल 'शब्दप्रमाणभक्ति' तबतक सर्वथा निरर्थक बनी रह जाती है, जबतक कि इसके मूल में सृष्टिविज्ञान प्रतिष्ठित नहीं कर दिया जाता। अतएव सांस्कृतिक धार्मिक विप्लव-युगों में शब्दप्रमाणभक्ति के साथ साथ शब्दाधारभूत 'सृष्टिविज्ञान' का भी प्रतिष्ठापन अनिवार्य्य बन जाता है। प्रस्तुत प्रकरण के द्वारा महात्मा भीष्म उस 'विज्ञान' की ओर ही संकेत कर रहे हैं, जिसका उसी महाभारत में एक दूसरे रूप से यों स्पष्टरूप से विश्लेषण हुआ है —

युधिष्ठिर उवाच—**संप्रदीप्तेषु देशेषु, ब्राह्मणे चातिपीड़िते ॥**
अवर्षति च पर्जन्ये, मिथो भेदे समुत्थिते ॥१॥
सर्वस्मिन् दस्युसाद्भूते पृथिव्यामुपजीवने ॥
केनस्विद्ब्राह्मणो जीवेत्-जघन्ये काल आगते ॥२॥
भीष्म उवाच—**"विज्ञानबलमाश्रित्य जीवितव्यं तदा भवेत्" ॥३॥**

राष्ट्र के सम्पूर्ण प्रान्त सत्तातन्त्र के अविवेक से जब त्रिविध-सन्तापों से सन्तप्त होजायँ, ब्राह्मण (प्रज्ञाबल) अत्यधिकरूप से उत्पीड़ित होजाय, समय पर वृष्टि न हो, परस्पर जनता कलह में प्रवृत होजाय, सर्वत्र चोर-उचक्के-डाकू-छली-धूर्त्त-मायावी-तन्त्रायी जघन्य-नराधमों का प्रभुत्त्व स्थापित हो जाय, उस भीषण-जघन्य समय के उपस्थित होजाने पर ब्राह्मण कैसे अपनी सांस्कृतिक-जीवनपद्धति का रक्षण करे?, युधिष्ठिर के इस प्रश्न पर भीष्म ने जो उत्तर दिया है, वही प्रकृत स्थल में स्पष्ट हुआ है।

लेना चाहिए । मायावी-मायाचारकुशल-आसुर-सत्तातन्त्रों के उद्बोधन के लिए-**'मायाचारो मायया बाधितव्यः'-'शाठ्यं सदा दुर्जने'-'ये यथा मां प्रपद्यन्ते-तांस्तथैव भजाम्यहम्'** इत्यादि रूप से माया-छल-कपट-शाठ्य-आदि उपायों को भी साधन बना लेने में कोई आपत्ति नहीं है ।

हम समझते हैं, और ठीक समझते हैं कि, जनतन्त्रात्मक वर्त्तमान सत्तातन्त्र हमारा अपना ही सत्तातन्त्र है, जिसने धर्म्मरहस्यज्ञान से अपरिचित रहने के कारण हीं भारतीय संस्कृति-धर्म्म के प्रति अपने आपको निरपेक्ष घोषित कर दिया है, जिसके प्रति अमुक सीमापर्य्यन्त स्वयं ब्राह्मण को भी दोषी माना जायगा, जिसने वेदस्वाध्याय का परित्याग कर अन्यान्य मतवादों की भाँति भारतीय संस्कृति-धर्म्म को भी गतानुगतिकन्यायेन-भावुकतावश-सम्प्रदायवाद के रँग से ही रञ्जित कर डाला है। यह हमारी आस्था है कि, जिस दिन भी ब्राह्मण वेदस्वाध्यायनिष्ठा के द्वारा संस्कृति,-एवं धर्म्म का वास्तविक-ज्ञानविज्ञानात्मक-स्वरूप जनतन्त्र के सम्मुख रख देगा, तत्क्षण स्वयं जनतन्त्र ही अपने सत्तातन्त्र को सांस्कृतिक सिंहासन पर समासीन कर देगा । अतएव आज तो भीष्म के द्वारा प्रदर्शित उपायों में से-**'तपसा ब्रह्मचर्य्येण-(वेदस्वाध्यायेन) नियन्तव्यं तदा भवेत् क्षत्रम्'** इस प्रारम्भिक उपाय को ही (सत्तातन्त्र से सर्वथा निरपेक्ष रहते हुए ही) कार्य्यरूप में परिणत कर देना चाहिए । एकमात्र इसी उपाय से राष्ट्र पुनः अपने विलुप्त सांस्कृतिक-धार्मिक गौरव के संस्मरण-आचरण में प्रवृत्त हो सकता है ।

हाँ, जनतन्त्रात्मक सत्तातन्त्र के अतिरिक्त अन्य जो भी कोई प्रतिक्रियावादी-धर्म्मद्वेषी-ब्राह्मणत्त्व-विरोधी, अतएव राष्ट्रीय मूलसंस्कृति के विरोधी तत्त्व ब्राह्मणत्त्व की उदासीनता से राष्ट्र की निगमागमपुराणसंस्कृति के ही सत्य-अहिंसा-अस्तेय-दया-करुणा-मानवता-विश्वशान्ति-विश्वबन्धुत्त्व-आदि आदि सांस्कृतिक शब्दों के व्याजमाध्यम से 'हितशत्रुता' का अभिनय करते हुए राष्ट्र की प्राणप्रतिष्ठा को शिथिल करते रहने के जघन्य प्रयत्नों में तल्लीन हैं, उनसे जनतन्त्र को अवश्य ही जागरूक बना देना है-शिष्टता-सम्मत प्रत्येक सम्भव उपाय से । यदि सम्भव उपायों से भी उनका मायाचार अवरुद्ध न होगा, तो फिर प्रकृति के दण्ड से तो अपने आपको कौन बचा सका है ?। आज से पूर्वयुगों में, जबकि सत्ता भी मायाचारियों की ही थी, उन युगों में भी जब ये अपना अस्तित्त्व स्थापित न कर सके, तो आजके सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-जनतन्त्रात्मक स्वच्छन्द वातावरण में तो कदापि गुप्त मायाचारों को पुष्पित-पल्लवित होने का अवसर ही नहीं मिल सकता।भगवदनुग्रह से जब भी जनतन्त्र भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक सांस्कृतिक स्वरूप से अंशतः भी परिचित हो जायगा, सभी मायाचर क्षणमात्र में शरदभ्रवत् विलीन हो जायँगे । हाँ, तो लक्ष्य लक्ष्य बनाइए उन उपायसूत्रों को, एवं यथाकाल-यथायुग-यथापात्र-दृष्टि से समन्वय कीजिए उनका, जिनका इतिहासभाषा में स्पष्टी-करण हुआ है महात्मा देवव्रत के द्वारा—

भीष्मउवाच—

तपसा ब्रह्मचर्य्येण-,शस्त्रेण च, बलेन च ।
अमायया, मायया च नियन्तं तदा भवेत् (क्षत्रम्) ॥२॥
क्षत्रियस्यातिवृत्तस्य ब्राह्मणेषु विशेषतः ।
ब्रह्मैव संनियतृस्यात्-क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥३॥

अद्भ्योऽग्नि, ब्रह्मतः क्षत्रं, अश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥४॥
यदा छिनत्त्ययोऽश्मानं अग्निश्चापोऽभिगच्छति ।
क्षत्रं च ब्राह्मणं द्वेष्टि, तदा नश्यन्ति ते त्रयः ॥५॥
तस्माद् ब्रह्मणि शाम्यन्ति क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ! ।
समुदीर्णान्यजेयानि तेजांसि च बलानि च ॥६॥
ब्रह्मवीर्य्ये मृदुभूते क्षत्रवीर्य्ये च दुर्बले ।
दुष्टेषु सर्ववर्णेषु–'ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः' ॥७॥
ये तत्र–युद्धं कुर्वन्ति, त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।
ब्राह्मणान् परिरक्षन्तो, धर्म्मं, मात्मानमेव च ॥८॥
मनस्विनो मन्युमन्तः पुण्यश्लोका भवन्ति ते ।
ब्राह्मणार्थं हि सर्वेषां शस्त्रग्रहणमिष्यते ॥९॥
तेभ्यो नमश्च भद्रं च ये शरीराणि जुह्वते ।
ब्रह्मद्विषो नियच्छन्तस्तेषां नोऽस्तु सलोकता ॥१०॥
ब्राह्मणस्त्रिषु कालेषु शस्त्रं गृहणन्न दुष्यति ।
आत्मत्राणे–वर्णदोषे–दुर्द्दम्यनियमेषु च ॥११॥
नित्यं यस्तु सतो रक्षेत्–असतश्च निवर्त्तयेत् ।
स एव राजा कर्त्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥१२॥

—म० शा० राज० ७८ अ० ।

२५७–सिंहावलोकनन्यायेन पुरुषलक्षणा निरपेक्षा संस्कृति का समन्वय—

लोकातीत–विश्वातीत–पञ्चकल–अव्ययतत्त्व ही पुरुष है, जो अपने पराप्रकृतिरूप पञ्चकल अक्षर, एवं अपराप्रकृतिरूप पञ्चकल क्षर से समन्वित होता हुआ अत्यनपिनद्ध परात्परभावानुबन्ध से–'षोडशीपुरुष' कहलाया है । त्रिपुरुषात्मक इस विश्वाध्यक्ष पुरुष को ही तथाकथित सोलह कलाओं के सम्बन्ध से–'षोडशकलप्रजापति' कह दिया जाता है । सर्वत्र सब पदार्थों के केन्द्र में अणोरणीयान्‌रूप से, महिमामण्डल में महतोमहीयान् रूप से यही षोडशीप्रजापति साक्षीरूप से प्रतिष्ठित है, जिसका–'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि रूप से उपवर्णन हुआ है । 'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वैतत्' रूपेण भी इसी का यशोगान हुआ है । एवं इसी के सम्बन्ध में लोकात्मक पदार्थों को समष्ट्या–व्यष्ट्या–उभयथा षोडशकल कहा गया है, जैसा कि–'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' इत्यादि शांखायन–वचन से प्रमाणित है । पुरुषाव्ययात्मप्रधान–सर्वव्यापक–इस साक्षी–षोडशी–षोडशकल ईश्वरप्रजापति की इसी व्याप्ति

से अपने सनातन-सांस्कृतिक-आत्मनिष्ठानुग्रह से समन्विता भारतीय-सांस्कृतिक-प्रजा अपने आराध्य भगवान् की सोलह कलाओं के रूप से ही स्तुति करती रहती है। सोलहकलाविभूतिरूप-लोकाध्यक्ष-लोकसाक्षी त्रिपुरुषपुरुषात्मक-अव्ययेश्वर * भगवान् से अभिन्ना मानसीसृष्टिरूपा भावसृष्टिलक्षणा-असृष्टि ही भगवान् की अपनी 'आत्मकृति' है। स्वयं भगवान् समब्रह्म है। इनकी भावसृष्टि ही इनकी अपनी निरपेक्षा कृति है। और यही ईश्वराव्ययात्मिका समब्रह्म की आत्मकृतिरूपा वह 'मूलसंस्कृति' है, जिसका निबन्धारम्भ में हीं-'संस्कृति' शब्द का निर्वचन करते हुए यशोगान किया जा चुका है। यही वह निरपेक्षा संस्कृति है, जिसका महर्षिगण अपने भावजगत् में-'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु'-'मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वः' इत्यादि रूप से अनुध्यानमात्र करते हुए अपने आपको धन्य कृतकृत्य बनाते रहते हैं. जिस इस भावात्मिका निरपेक्षा अव्ययपुरुषात्मसंस्कृति के सूक्ष्मतम-भावात्मक-आचारपक्ष की शब्द के द्वारा कदापि व्याख्या सम्भव नहीं है। अपितु इसके स्मरणमात्र से मानवीय मनोबुद्धि-वाग्व्यापार सर्वथैव अभिभूत हो जाते हैं। लोकसर्जक वेद इसकी स्वरूपव्याख्या करने में असमर्थ है। वेदस्रष्टा विधि (स्वयम्भू ब्रह्मा) इसके लोकातीत स्वरूप के अनुध्यानमात्र का ही अधिकार रखते हैं। तद्गर्भीभूत पारमेष्ठ्य महान् विष्णु इसके विश्वानुबन्धी सगुण स्वरूप को गर्भ में धारण करते हुए भी इसके यथार्थस्वरूप से तटस्थ ही बने रहते हैं। अतएव श्रुति को कहना पड़ा है इस निरपेक्षसंस्कृतिरूपा पुरुषसंस्कृति के लिए यही कि—

संविदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

२५८-सिंहावलोकनन्यायेन प्रकृतिलक्षणा सापेक्षा संस्कृति का समन्वय—

निरपेक्ष-आत्मसंस्कृतिरूप-त्रिपुरुषपुरुषात्मक-षोडशीपुरुष के अधिष्ठानात्मक अव्यय के आधार पर असमवायीकारणात्मक-(निमित्तकारणात्मक)-पराप्रकृतिरूप-अक्षर के द्वारा समवायीकारणात्मक (उपादानकारणात्मक) आत्मक्षर से जो सर्वप्रथम पञ्चतन्मात्रारूप-'गुणभूत' नामक पाँच विकार उत्पन्न होते हैं, उन्हीं की समष्टि 'विश्वसृट्' कहलाई है, जिसकी पाँचकलाएँ क्रमशः **प्राणः-आपः-वाक्-अन्नम्-अन्नादः**-नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों के पञ्चीकरण से अभिव्यक्त-**पुरञ्जन**, इनके पञ्चीकरण से अभिव्यक्त **पुरञ्जन**, ही क्रमशः वेद-लोक-देव-पशु-भूत-नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। पञ्चपञ्चीकृत-रेणु-अणुभूतात्मक-इन पांचों

*-द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥
—गीता १५।१६, १७,।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥३॥
—गीता १८।६१

पुरञ्जनों से ही क्रमशः आरडवृत्तरूप-प्राणभूतात्मक-छन्दोरूप (नतु महाभूतात्मक) जो सुसूक्ष्म पाँच विश्वपुर अभिव्यक्त हुए है (जिनका कि प्रत्यक्षदृष्ट महाभौतिक भूः-चन्द्र-सूर्य्य-पिण्डादि से कोई सम्बन्ध नहीं है), वे ही क्रमशः स्वयम्भु-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इनके उत्तरभावी महाभौतिक स्थूलरूप ही क्रमशः आकाश-वायु-जल-तेज-मृत्-नाम से व्यवहृत हुए हैं, और यही प्रकृतिमूला * गुण-विकारात्मिका भूतभौतिकी सृष्टि का अथ से इति पर्य्यन्त का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिस इतिवृत्त को ही वैज्ञानिक महर्षि-'विश्व' कहा करते हैं। यही वह 'लोक' है, जिसका साक्षी विश्वाध्यक्ष षोडशीपुरुष बना हुआ है। इसी के लिए-'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे' कहा गया है। यही विश्व अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-भेद से तीन विवर्त्त भावों में परिणत रहता है, जिन अमृत-मृत्युमय तीनों संस्थानों का पूर्व में यथास्थल दिग्दर्शन कराया जा चुका है। (देखिए पृ० सं० ५१-५२)। इन तीनों संस्थानों में अध्यात्मसंस्था-लक्षणा प्राणी-संस्था में मनु के सर्वात्मना व्यक्तरूप बने हुए 'मानव' को आधार बनाकर ही प्रवृत्त-प्रस्तुत निबन्ध में मानव की, (विशेषतः आत्मनिष्ठ-लोकनिष्ठ-भारतीय आस्तिक मानवश्रेष्ठ की) संस्कृति, और सभ्यता का ही चिरन्तन इतिहास प्रतिपाद्य-विषय बन रहा है, जिसके सम्बन्ध में अबतक अनेक दृष्टिकोणों से दिग्दर्शन-स्पष्टीकरण का प्रयास हुआ है। तथोपवर्णित पञ्चपर्वा विश्व के प्रवर्ग्य भागों से मानव का विश्वात्मक व्यक्तरूप सुव्यवस्थित बना है, जिसके भूतात्मा-बुद्धि-मन-शरीर इन चारों स्वरूपों का पूर्व में अनेकधा समन्वय किया जा चुका है।

२५६-संस्कृति का आचरण, एवं सांस्कृतिक भावों का आयोजन—

उक्त चारों पर्व ही लोकमानव के लौकिक विश्वानुबन्धी व्यक्त पर्व हैं, जिनके आधार पर मानव की चतुर्विधा लोकसंस्कृतियों का, एवं चतुर्विध सांस्कृतिक-लोकधर्म्मों का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। यही सापेक्षा संस्कृति का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसे शास्त्रीय-संस्कृति-शास्त्रीय धर्म्म कहा गया है, जिनका 'आयोजन' कदापि सम्भव नहीं है। अपितु जिनका अनुशीलन-आचरण-अनुसरण-अनुकरणात्मक-चतुर्विध-आचरण ही हुआ करता है। अतएव इन्हें कदापि भारतीय 'सांस्कृतिक-आयोजनों' की सीमा में अन्तर्भुक्त नहीं माना जा सकता। आचारात्मिका यही संस्कृति सापेक्षा संस्कृति है, जिसे पूर्व की पुरुषसंस्कृति की अपेक्षा से 'प्रकृतिसंस्कृति' ही कहा जायगा। और यों विश्वात्मा षोडशीपुरुषात्मक निरपेक्षपुरुष, एवं पञ्चपर्वा, किंवा चतुष्पर्वा षोडशकलात्मगर्भिता-सापेक्षा विश्वरूपा प्रकृति, दोनों विवर्त्तों के सम्बन्ध से भारतीय आर्षमानव की संस्कृतियों के दो विभिन्न विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका अबतक यशोगान हुआ है। इस यशोगान को अवधान-पूर्वक लक्ष्य में आरूढ करके ही हम आगे की उन संस्कृतियों का समन्वय कर सकेंगे, जिनका भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों से ही सम्बन्ध माना गया है।

२६०-पुरुष-प्रकृति-के ६ विवर्त्त, एवं तदनुगता संस्कृति, और सभ्यता—

प्राकृतिक विश्व का आगे जाकर प्रकृति, विकृति इन दो विवर्त्तभावों में वितान होता है। एवं विकृतिपर्व का अन्ततोगत्वा विकृति, विकार रूप से दो विभावों में आतान होता है। यों अव्ययपुरुष से

---

* प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभोवपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ (गीता १३।१६)।

आरम्भ कर वैकारिक विवर्त्तपर्य्यन्त तीन विवर्त्त हो जाते हैं-जिनके आधार पर संस्कृति, सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिहास त्रिसंस्थ बना हुआ है। **पुरुष-प्रकृति-विवर्त्त, प्रकृति-विकृति-विवर्त्त, विकृति-विकार-विवर्त्त,** तीनों विवर्त्तों में पूर्व पूर्व विवर्त्त सर्वत्र **'पुरुष'** अभिधा से, एवं उत्तर उत्तररूप सर्वत्र **'प्रकृति'** अभिधा से व्यवहृत होगा। पूर्व-पूर्वरूपानुबन्धी 'पुरुष' विवर्त्त सर्वत्र (तीनों संस्थानों में) **'संस्कृति'**-विवर्त्त कहलाएँगे, एवं उत्तर-उत्तर रूपानुबन्धी 'प्रकृति' विवर्त्त सर्वत्र 'सभ्यता' विवर्त्त माने जायँगे। यह स्मरण रखिए कि, पुरुष-प्रकृति के विस्तार का इतिवृत्त इन तीन विवर्त्तों पर ही कदापि विश्रान्त नहीं है। यदि सूक्ष्म-दृष्ट्या विचार किया जाता है, तो इनके अवान्तर अनेक विवर्त्त हो जाते हैं, जिनमें से कतिपय विवर्त्तों का **'श्वेतक्रान्तिनिबन्ध'** में दिग्दर्शन कराने की चेष्टा हुई है। संस्कृति, एवं सभ्यता-शब्दों के चिरन्तन-इतिहास-प्रसङ्ग में क्योंकि सामान्यदृष्ट्या तीन विवर्त्तों से ही स्थिति का येनकेन रूपेण निर्वाह हो जाता है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में तीन विवर्त्तों का ही ग्रहण सामयिक मान लिया गया है।

प्रथमसंस्थानम्	१-पुरुषः (क्षराक्षरप्रकृतिविशिष्टः-षोडशकलोऽव्ययपुरुषः-षोडशी)	पुरुषः (संस्कृतिः)	१
	२-प्रकृतिः (स्वयम्भु-परमेष्ठि-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवि-पुरात्मकं विश्वममूर्त्तम्)	प्रकृतिः (सभ्यता)	
द्वितीयसंस्थानम्	१-प्रकृतिः (स्वयम्भु-परमेष्ठि-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवि-पुरात्मकं-विश्वममूर्त्तम्)	पुरुषः (संस्कृतिः)	२
	२-विकृतिः (आकाश-वायु-तेज-जल-मृदात्मकं-विश्वं-मूर्त्तम्)	प्रकृतिः (सभ्यता)	
तृतीयसंस्थानम्	३-विकृतिः (आकाश-वायु-तेज-जल-मृदात्मकं-विश्वं-मूर्त्तम्)	पुरुषः (संस्कृतिः)	३
	४-विकाराः (कृमि-कीट-पक्षि-पशु-नरादि-प्राणिनः)	प्रकृतिः (सभ्यता)	

१	१-पुरुषः-तदनुगता-निरपेक्षा संस्कृतिः-संस्कृतिरेव-सर्वाधिष्ठात्री
	२-प्रकृतिः-तदनुगता-सापेक्षा संस्कृतिः-स्वपूर्वरूपापेक्षया तु सभ्यता, उत्तररूपापेक्षया तु सैव संस्कृतिः
२	१-प्रकृतिः-तदनुगता-सापेक्षा संस्कृतिः-पूर्वरूपापेक्षया तु सैव सभ्यता
	२-विकृतिः-तदनुगता-सापेक्षा-सभ्यता-उत्तररूपापेक्षया तु सैव संस्कृतिः
३	१-विकृतिः-तदनुगता-सापेक्षा-सभ्यता, उत्तररूपापेक्षया तु सैव संस्कृतिः
	२-विकाराः-तदनुगता-सापेक्षा-सभ्यता-सर्वात्मना-सर्वरूपा

२६१–मानव समाज के विभिन्न तीन वर्ग, एवं तदनुबन्धिनी संस्कृतियाँ—

उक्त तीन संस्थानों के माध्यम से ही भारतीय मानव के तीन वर्ग माने जायँगे। माने नहीं जायँगे, प्रकृत्या हैं हीं तीन वर्ग, जिन के नाम क्रमशः **आत्मनिष्ठ अलौकिक मानव, विश्वनिष्ठ लौकिक मानव, जगदासक्त यथाजातमानव** हैं। इन्हीं तीनों के लिए क्रमशः **कृतात्मा-विधेयात्मा-अकृतात्मा**-ये तीन पारिभाषिक नाम प्रयुक्त हुए हैं गीताशास्त्र में। सिद्धावस्थापन्न आरूढ युक्तात्मा-अलौकिक मानव ही **'कृतात्मा'** है, जो कि सम्पूर्ण कामनाओं से अतिमुक्त है * । बुद्धियोगात्मक योग की परिभाषा में यही **'आरूढ-युक्त-योगी'** कहलाया है, जो स्थितप्रज्ञ मानवश्रेष्ठ ब्राह्मीस्थिति को चरितार्थ करता रहता है। साध्यावस्थापन्न-आरुरुक्षु-शास्त्रविधिनिष्ठ-लौकिक-स्वच्छन्दस्क (मर्य्यादित) मानव ही **'विधेयात्मा'** कहलाया है। एवं शास्त्रविधि से तटस्थ-यथाजात-संस्कारशून्य-लोकप्रवाहपतित-मानव ही-**'अकृतात्मा'** माना गया है। भारतीय शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायाचार्य्यों नें अपनी साम्प्रदायिक दृष्टि के पोषणमात्र के लिए इन्हीं तीनों वर्गों का **पुष्टजीव-मर्य्यादिक-जीव-प्रावाहिकजीव** भेद से तीन विवर्त्त मान लिए हैं अपने भावुक भक्तों की भावुकता के संरक्षणमात्र के लिए, जिनका शास्त्रीय निष्ठाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये ही तो वे साम्प्रदायिक-व्यामोहकसूत्र हैं, जिनसे भावुक जनता वारुणपाशवत् आबद्ध होती हुई आर्षनिष्ठाओं से पराङ्मुख बन गई है। निवेदन प्रकृत में यही करना है कि, पुरुष-प्रकृति के तीन संस्थानों के आधार पर ही भारतीय मानव की संस्कृति, और सभ्यता के तीन विभिन्न क्षेत्र बन गए हैं, जिनका **अलौकिक-लौकिक-यथाजात** भेद से त्रेधा वर्गीकरण प्रकृतिसम्मत ही माना जायगा।

२६२–संस्कृति के तीन विभिन्न संस्थान, एवं तदधिकारीवर्ग—

आत्मनिष्ठ बनकर लोकसंग्रहदृष्ट्या शास्त्रीय आचारानुसार वर्णानुगत कर्त्तव्य कर्म्मों में निष्कामबुद्धया व्यवस्थित रहने वाले मानवश्रेष्ठ ही पुरुष-प्रकृति-रूप प्रथमविवर्त्त के लक्ष्य हैं। शास्त्रविधि के अनुसार शास्त्रीय कर्त्तव्य-कर्म्मों में जागरूकता से व्यवस्थित रहने वाले, साथ ही शास्त्र सम्मत-(शास्त्रविहिताप्रतिषिद्ध भी) लौकिक आयोजनों में भी लोकसंग्रहदृष्ट्या सहयोगी बने रहने वाले मानव ही प्रकृति-विकृतिरूप-द्वितीय विवर्त्त के लक्ष्य हैं। एवं केवल मानसिक-विनोदमात्र के लिए लौकिक-आयोजनों को ही जीवन का सर्वस्व मान बैठने वाले-कामार्थ-परायण-निर्लक्ष्य-स्वस्वरूपबोधवञ्चित-उदरम्भरि लक्ष्यभ्रष्ट प्राकृत मानव ही विकृति-विकाररूप तृतीय विवर्त्त के लक्ष्य हैं। इन तीनों विवर्त्तों में से प्रथम विवर्त्त का चिरन्तन इतिहास ही अबतक के संस्कृति-सभ्यता शब्दों के इतिहास के द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा हुई है। अब क्रमप्राप्त प्रकृति-विकृतिरूप-द्वितीय विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाली संस्कृति (लोकसंस्कृति), एवं सभ्यता (लोकसभ्यता) से सम्बन्ध रखने वाले शब्दों के इतिहास की ओर ही आयोजनप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

२६३–ईश्वर की सभा, सभा के सदस्य, प्रधानामात्य, और तन्मन्त्रणा—

संस्कृतिप्रेमियों को स्मरण होगा कि, हमनें सभ्यता के पूर्व, एवं उत्तररूपों का नाम हीं क्रमशः सापेक्षा संस्कृति, एवं सापेक्षा सभ्यता कहा है (देखिए पृ० सं० २३, परिच्छेद ५० वाँ)। पुरुषात्मिका निरपेक्षा

---

* कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।

संस्कृति के आधार पर व्यक्त होने वाला प्रकृतिरूप पञ्चपर्वा विश्व ही व्यक्त-मूर्त्त विश्व है, यही वह सभा है, जिसके सभापति हैं षोडशी प्रजापतिरूप अव्ययपुरुषेश्वर, जो तटस्थरूप से इस विश्वसभा के प्रति निरपेक्षरूपेण साक्षीमात्र बने हुए हैं। सभा के प्रधान मन्त्री हैं वे परोरजामूर्त्ति स्वयम्भू ब्रह्मा, जो नियतिःसत्यात्मक धर्म्म-दण्ड से विश्वप्रजा का सफल सञ्चालन करते रहते हैं। विश्व के प्राणात्मक लोकी देवता इस सभा-समिति के सदस्य हैं, जो अपने त्रिवृद्भावापन्न त्रैलोक्य-त्रिलोकी रूप नवलोकों की व्यवस्था के लिए विश्वव्याप्ता स्वायम्भवी उस वाक् के साथ मन्त्रणा करते रहते हैं उस परमाकाशात्मक स्वायम्भुव-द्युपृष्ठ में, जो वाग्देवी ही शासननीति का मूलसूत्र मानी गई है, जिसका निम्नलिखित रूप से अस्यवामीयसूक्त में यशोगान हुआ है—

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेकं ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्" ॥

—ऋक्संहिता १६४।१०।

२६४-ईश्वरीया सभा के विधि-विधान और सभ्यता—

प्राणदेवतारूप सभ्यों-सदस्यों से समन्विता, स्वयम्भूविश्वकर्म्मा-रूप प्रधान मन्त्री से सञ्चालिता, स्वयम्भु-परमेष्ठ्यादि पाँच अमूर्त्त-प्राणात्मक-पुरों से कृतरूपा विश्वप्रकृति ही निरपेक्ष-तटस्थ-साक्षी-सभापति विश्वेश्वर अव्ययपुरुषेश्वर की वह व्यक्ता सभा है, जिसके नियतिःसत्यलक्षण ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-भावसञ्चालक-नियामक विधिविधिनात्मक नियमोपनियम हीं 'सभ्यता' है। और यही 'पूर्वसभ्यता' है, जिसके आधार पर आगे चल कर विकृतिरूपा उत्तर-सभ्यता का विकास हुआ है। यह पूर्वसभ्यता ही अपने ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-भावों से मोक्ष-धर्म्म-काम-अर्थ-रूपा चतुर्विधा लोकसंस्कृतिरूप में, एवं अनुशीलन-आचरण-अनुसरण-अनुकरणरूप-चतुर्विध लोकधर्म्मों के रूप में परिणत हो रही है, जिसका क्रमशः मानव के प्राकृत स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले भूतात्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-इन चार पर्वों से क्रमिक सम्बन्ध बतलाया गया है। प्रकृति के अव्यक्त-सूक्ष्मप्राण ही यहाँ गृहीत हैं, जिनका व्यक्त-भौतिक जगत् से पार्थक्य ही माना गया है। अतएव तदनुगता संस्कृति, एवं धर्म्म अपने इस प्राणधर्म्म से ही-'अदृष्ट' कहलाए हैं। यही शास्त्रीया संस्कृति, एवं शास्त्रीय प्रतीक धर्म्म है। प्राणनिबन्धनता से विश्वरूपा भी इस सभ्यता को आत्मप्रधानत्त्वेन कहा जायगा संस्कृति ही। अतएव पूर्व-सभ्यतारूपा प्रकृति को लोकसभ्यता न कह कर माना जायगा लोकसंस्कृति ही, जैसाकि पूर्व की तालिकाद्वयी में स्पष्ट कर दिया गया है (देखिए पृ० सं० १४६)।

२६५-पूर्वसभ्यतारूपा-संस्कृति—

पूर्वसभ्यतारूपा प्रकृतिरूपा सापेक्षसंस्कृति आचारप्रधाना है यह अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है, जिनका आयोजनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस पूर्वसभ्यतात्मिका संस्कृति से अनुप्राणित अदृष्ट मोक्षादिधर्म्मं का, शास्त्रीय योग-ज्ञान-भक्ति-कर्म्मों-का आचारनिष्ठा से ही सम्बन्ध है। एवं द्विजाति-मानव ही इसमें अधिकृत है। अतएव लोकतन्त्रानुगत आयोजनों का तो इसके सम्बन्ध में प्रश्न हीं खड़ा नहीं होता।

२६६-उत्तरसभ्यतारूपा सभ्यता—

अब उत्तरसभ्यता से सम्बन्ध रखने वाली उस लोकसभ्यता को लक्ष्य बनाइए, जिसके आधार पर ही आयोजनात्मिका लोकसंस्कृति के स्वरूप का हमें अन्वेषण करना है। वह उत्तररूप हो-'विकृति' कहलाया है।

जिस पञ्चमहाभूतात्मक-प्रत्यक्षदृष्ट-आकाश-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-आदि का हम अपनी इन्द्रियों से साक्षात्कार कर रहे हैं, वही उस प्राणप्रधाना विश्वप्रकृति का 'विकृति' लक्षण उत्तररूप है, जिसे समझने-समझाने के लिए हम मर्त्य-भौतिक-जगत् कह सकते हैं। भौतिक जगत् का परिवर्त्तन होता है, किन्तु प्राणजगत्-प्रकृति-जगत्-इसकी अपेक्षा परिवर्त्तन से पृथक् ही माना गया है। विकृति यदि विकारानुगता है, तो इसका संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। यदि यही विकृति-प्रकृति के अनुसार सञ्चालित है, तो इसका सभ्यतात्मक स्वरूप भी सांस्कृतिक बन जाया करता है। सहजभाषा में-प्राणरूपदेवता ही प्रकृति की स्वरूपव्याख्या है। **'देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः'** इत्यादि मानवीय सिद्धान्त के अनुसार प्राणदेवात्मिका प्रकृति से ही बल-चितियों के ग्रन्थिबन्धनतारतम्य से भूतात्मक भौतिक स्थावर-जङ्गम पदार्थों का आविर्भाव हुआ है। प्रकृति ही विकृति की प्रतिष्ठा है। प्राण ही भूत का आधार है। इसी आधार पर मानवीया सभ्यता (बहिर्भावानुगता लोकजीवनपद्धति) को ऋषिप्रज्ञा ने देवप्राणात्मिका प्रकृति के आधार पर ही व्यवस्थित कर इसके सम्मुख ये उद्बोधनसूत्र रक्खे हैं—

यद्वै देवा अकुर्वन्-तत्करवाणि
देवाननुविधा वै मनुष्याः
प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या

इसी अनुग्राह्य-अनुग्राहक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण करते हुए प्रकृतिसाक्षी अव्ययावतार भगवान् वासुदेव ने कहा है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु नः ॥
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ १ ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ॥
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ २ ॥

—गीता ३।११,१२।

२६७-सभ्यतायोजनात्मक सांस्कृतिक आयोजन—

लौकिक-भौतिक-यच्चयावत् कर्म्मों को प्रकृति के अनुरूप व्यवस्थित कर देना ही इन्हें सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान कर देना है। 'संस्कृति' की मूलव्यञ्जना है ईश्वरीय भावना, आत्मभावना, जिसका प्रकृतिमण्डल में देवप्राणरूप से समन्वय हुआ है। देवप्राण अव्ययेश्वर की ही प्राकृतिक विभूतियाँ हैं। अतएव देवप्राणोपासना से परम्परया अव्ययपुरुष भी उपास्य मान लिए जाते हैं *। जिस प्रकार देवभाव के

* **येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।**
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥
—गीता ९।२३।

माध्यम से अव्ययात्मानुग्रह गतार्थ बन जाता है, अतएव प्राणदेवरूप-पूर्वसभ्यतात्मक प्रकृतिलक्षण शास्त्रीय-देवकर्म्म भी सांस्कृतिक-कर्म्म बन जाता है, एवमेव मानव के वे समस्त भूतभौतिक प्रधान-उत्तरसभ्यतात्मक-विकृति-लक्षण-लौकिक-भौतिक-सांसारिक कर्म्म भी देवप्राणरूपा प्रकृति के मूलाधार से परम्परया सांस्कृतिक कर्म्म ही बन जाते हैं, जिन्हें श्रद्धात्मिका धर्म्मभाषा में-'**सांस्कृतिक-आयोजन**' कहा गया है। और यही आयोजनात्मक-सांस्कृतिक उन लोकानुबन्धों का मूलोपक्रम है, जिन्हें विकृतिसम्बन्ध से जहाँ-'**सभ्यता के आयोजन**' माना जायगा, वहाँ प्रवणदेवात्मिका प्रकृति के सम्बन्ध से '**सांस्कृतिक आयोजन**' भी कहा जा सकेगा, जिनके आयोजनात्मक-व्यावहारिक स्वरूपों का ही मर्म्म अन्वेष्टव्य है श्रद्धापूर्वक।

२६८-'सांस्कृतिक- आयोजनों' की भारतीयता—

आयोजनों के सम्बन्ध में आयोजन के प्रधानपात्र, आयोजनों के अवसर, आयोजनों की पद्धति, आयोजनों का नियन्त्रण, आदि अनेक प्रश्न समुपस्थित हो सकते हैं, जिनका मानव को अपनी लोकप्रज्ञा से ही यथावसर-यथाकाल समन्वय करते रहना चाहिए। क्योंकि विकृतिभावानुबन्ध से सर्वथा सत्तासापेक्ष बनते हुए सभ्यतानुगत ये सांस्कृतिक-आयोजन देश-काल-पात्र-द्रव्य श्रद्धादि के परिवर्त्तनानुपात से उसी प्रकार बदलते रहते हैं, जैसे कि-परिवर्त्तनशील सत्तातन्त्रों के अनुबन्ध से दैशिक सभ्यताओं में युगधर्म्मानुसार परिवर्त्तन होता रहता है। अतएव कदापि सांस्कृतिक आयोजनों की भी कोई सुनिश्चितता पद्धतियाँ नहीं रहा करतीं। अपितु देशधर्म्म-जातिधर्म्म-कुलधर्म्म-समाजधर्म्म-राजधर्म्म-सर्वोपरि युगधर्म्म के अनुपात से एक ही प्रकार के भी सांस्कृतिक आयोजनों के अनुष्ठान-प्रकार (मानने के प्रकार) एक ही युग में भी भिन्न भिन्न हो जाया करते हैं। इन परिवर्त्तनभावों के रहने पर भी ऋषिप्रज्ञा ने इन्हें-'**सभ्यता के आयोजन**' न कह कर-'**सांस्कृतिक आयोजन**' क्यों कह डाला !, जबकि 'संस्कृति' शब्द आत्मदेवानुबन्धी-अपरिवर्त्तनीय भावों के साथ ही समन्वित रहा करता है !, इस प्रश्न का समाधान प्राप्त कर लेना हीं तो '**सांस्कृतिक-आयोजनों**' की **भारतीयता** का जान लेना माना जायगा। तो आइए ! सर्वप्रथम इसी प्रश्न के समाधान का अवधान-पूर्वक अन्वेषण कर लिया जाय।

२६९-निरपेक्षा संस्कृति का सिंहावलोकन—

निरपेक्षा संस्कृति का सिंहावलोकनदृष्ट्या समन्वय करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है, कि स्व परा-प्रकृतिरूप अक्षरपुरुष, स्व अपराप्रकृतिरूप क्षरपुरुष, एवं परात्पर समन्वित अव्ययपुरुष, इस त्रिपुरुषपुरुषात्मक षोडशकल, अतएव 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध विश्वसाक्षीरूप विश्वातीत-विश्वात्मा-विश्वकर्त्ता अव्ययेश्वर ही 'सम' ब्रह्म है, जिसके लिए गीताचार्य्य नें-'**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्**' यह सिद्धान्त स्थापित किया है। इस समब्रह्म की भावात्मिका-मानसिक-आत्मकृति ही-इसकी-'संस्कृति' है। एवं यही निरपेक्षा अव्ययसंस्कृति हैं (देखिए पृ० सं० १४४, परिच्छेद सं० २५७)। निरपेक्षसंस्कृतिरूप षोडशीपुरुषेश्वर पर ध्यान देने का अनुग्रह कीजिए।

२७०-अव्ययानुगत ब्रह्म-देव-भूत-सत्यों का समन्वय, और संस्कृति—

सर्वबलविशिष्ट रसमूर्त्ति निष्कल परात्पर का मायी रूप ही पञ्चकल अव्ययपुरुष है, जिसे 'श्वोवसीयसब्रह्म' भी कहा गया है। यही वह श्वोवसीयस् नामक काममय 'अव्ययमन' है, जिसके कामात्मक रेत से ही सम्पूर्ण सृष्टियों

का विकास हुआ करता है, जैसाकि-'**कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्**' (ऋक्सं० १०।१२६।४।) इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है। परात्पराभिन्न मनोमूर्ति यह अव्ययपुरुष ही '**सत्यस्य सत्यम्**'-**ज्योतिषां ज्योतिर्लक्षण** '**ब्रह्मसत्य**' है। इस ब्रह्मसत्यमूर्त्ति अव्ययात्मसत्य की पराप्रकृति ही **अक्षर है**, जो प्राणमय है। यही '**देवसत्य**' कहलाया है। एवं अव्ययात्मसत्य की अपराप्रकृति ही क्षर (आत्मक्षर) है, जो वाङ्मय है। यही '**भूतसत्य**' कहलाया है।

तात्पर्य्य यही है कि, विश्व में जितनें भी भूत-भौतिक पदार्थ हैं, उन सबका उक्थ (प्रभव)-ब्रह्म (प्रतिष्ठा)-साम (परायण) लक्षण आत्मा (मूलाधार) अपराप्रकृतिरूप क्षर ही बना करता है। इसी आधार पर भूताधारभूत-भूतेशरूप-क्षर का भगवान् ने-'**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' इत्यादिरूप से क्षर नाम से ही ग्रहण कर लिया है। अतएव इसे-'**भूतसत्य**' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। विश्व में ऋषि-पितर-असुर-देव-गन्धर्व-आदि-आदि जितनें भी प्राणरूप देवता हैं, उन विधर्त्ता यच्चयावत् प्राणदेवों का उक्थ-ब्रह्म-साम-रूप आत्मा पराप्रकृतिरूप अक्षर ही माना गया है। क्षरभूतपरमाणुओं का एकसूत्र में जिस प्राण-शक्ति के द्वारा विग्रहण-संघठन-राशिकरण-हुआ करता है, क्षरकूटाधिष्ठाता वह देवप्राणात्मक अक्षर ही कूटस्थ कहलाया है, जैसाकि-'**कूटस्थोऽक्षर उच्यते**' इत्यादि गीतावचन से प्रमाणित है। अतएव इस अक्षर को-'**देवसत्य**' कह दिया जाता है। प्राणियों के महानात्मा में प्रतिबिम्बित जितनें भी चिदाभासलक्षण आत्म-भाव हैं, सबकी उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षणा मूलप्रतिष्ठा महद्गर्भीभूत 'चिदात्मा' नामक अव्ययपुरुष ही बने हुए हुए हैं। अतएव इन्हें-'**ब्रह्मसत्य**' नाम से व्यवहृत कर दिया गया है।

यों त्रिपुरुषात्मक पुरुषेश्वर ही अव्ययरूप से मनोरूप चिदात्मभावों का, अक्षररूप से प्राणदेवभावों का, एवं क्षररूप से वाङ्मय भूतभावों का सर्वस्व बना हुआ है। **उपदानकारणात्मक क्षर की दृष्टि से वही भूतपति है, विश्वमूर्त्ति है। निमित्तकारणात्मक अक्षर की दृष्टि से वही प्राणपति है, विश्वकर्त्ता है। एव अधिष्ठानकारणात्मक स्वयं अपनी (आपकी) दृष्टि से वही चित्पति है, विश्वसाक्षी विश्वेश्वर है।** ब्रह्मसत्यरूप-विश्वाधिष्ठान-विश्वेश्वर वही प्रजापति अपने अव्ययरूप से मनोमयी भावसृष्टि * का प्रवर्त्तक बना हुआ है। देवसत्यरूप-विश्वकर्त्ता-वही प्रजापति अपने पराप्रकृतिरूप अक्षर से प्राणमयी '**गुणसृष्टि**' ÷ का प्रवर्त्तक बना हुआ है एवं भूतसत्यरूप-विश्वात्मा-वही प्रजापति अपने अपराप्रकृतिरूप क्षर से-**विकारसृष्टि**'×

÷-प्रकृतिः-पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥
—गीता १३।१६।

*-भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥ (श्वे० उप० ५।१४।)।

×-महर्षयः सप्त पूर्वे-चत्त्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥
—गीता १०।६।

का प्रवर्त्तक बन रहा है। यों अपने ही मनोमय अव्यय, प्राणमय अक्षर, वाङ्मय-क्षररूपों से सर्वस्व बना रहता हुआ निरपेक्ष संस्कृतिरूप षोडशी प्रजापति ही **भाव-गुण-विकार-सर्गों** के द्वारा सब कुछ बने हुए हैं। अतएव गीता ने कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

—गीता

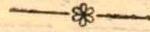
आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयअव्यय का आनन्दविज्ञानमनोमय रूप मुक्तिसाक्षी (रसप्रधान) है, एवं मनःप्राणवाङ्मय रूप सृष्टिसाक्षी (बलप्रधान) है। सृष्टिसाक्षी अव्यय का मनोमयरूप ही भावसर्गकर अव्यय है, इसी का प्राणमय रूप ही गुणसर्ग का अक्षर है, एवं इसी का वाङ्मयरूप ही विकारसर्ग का क्षर है। यों मनःप्राणवाङ्मय एक ही अव्ययात्मा + मनसा अव्ययात्मा, प्राणेन अक्षरात्मा, एवं वाचा क्षरात्मा बनता हुआ ब्रह्म-देव-भूत-भावत्रयी में परिणत हो रहा है। और-'**ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**'-'**आत्मैवेदं सर्वम्**'-'**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**' इत्यादि श्रुतियों का यही रहस्यात्मक समन्वय है। इसी आधार पर भारतीय संस्कृति का वह ईश्वरात्म-व्याप्तिसिद्धान्त-स्थापित हुआ है, जिसका-'**ईशावास्यमिदं सर्वं-यत्किञ्च जगत्यां जगत्**'-'**पूर्णमदः पूर्णमिदम्**'-इत्यादि वचनों से स्पष्टीकरण हुआ है। अतएव आत्मसंस्कार से संस्कृत भारतीय मानव की दृष्टि में सर्वत्र-सभी में आत्मभाव ही प्रधान बना हुआ है, जो कि आत्मभाव मूलतः अव्ययात्मक ही है। अतएव सर्वत्र ईश्वरात्मा-अव्ययात्मा को, किंवा तद्विभूतिरूप-अक्षररूप सूर्य्य-इन्द्र-अग्नि-वरुण-आदि प्राणदेवों को, किंवा तदवताररूप-राम-कृष्ण-आदि अवतारपुरुषों को, किंवा तत्प्रतिमानरूप भगवद्विग्रह-देवविग्रहों को साक्षी बना कर ही अपने लौकिक विधि-विधानों की इतिकर्त्तव्यता सम्पन्न करना अपना महान् सांस्कृतिक कर्त्तव्य मानता रहता है। कहीं भी यह आत्मदेव को विस्मृत नहीं करना चाहता। यही इसकी सांस्कृतिकता है, जिसके स्मरणमात्र का भी अधिकार उन जड़वादियों को तो कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता, जो केवल वैकारिक भौतिक-जगत् को ही मानव का सर्वस्व-स्वरूप मानते हुए इसे पशुश्रेणि का भी अतिक्रमण नहीं करने देते। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइये निम्नलिखित परिलेखों को, एवं तदाधारेण समन्वय करने का अनुग्रह कीजिए आत्मनिष्ठ-लोकसंग्राहक-भारतीयमानव के आराध्य निरपेक्ष संस्कृतिमूर्त्ति-विश्वेश्वर के समन्वय पर दृष्टिपात का। अवश्य ही इस अनुग्रहदृष्टिमात्र से द्रष्टाओं के सभी वाग्विजृम्भण परिसमाप्त हो जायँगे।

१-परात्पराभिन्नः-पञ्चकलोऽव्ययपुरुषः-विश्वस्य अधिष्ठानम् (पुरुषरूपः)	-षोडशीप्रजापतिः
२-अव्ययाभिन्नः-पञ्चकलोऽक्षरपुरुषः--विश्वस्य निमित्तकारणम् (पराप्रकृतिरूपः)	
३-अक्षराभिन्नः--पञ्चकलः-क्षरपुरुषः--विश्वस्य उपादनकारणम् (अपराप्रकृतिरूपः)	

——※——

+-**स वा एष आत्मा वाङ्मयः-प्राणमयो-मनोमयः।**
—बृहदारण्यक-उपनिषत्।

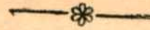
१–पुरुषात्मकः पुरुषः——–अव्ययो मनोमयः–काममयः–ब्रह्मसत्यात्मा (ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः)	–त्रिसत्यमूर्त्तिरात्मा ईश्वरः	
२–पराप्रकृतिरूपः पुरुषः——अक्षरः–प्राणमयः–तपोमयः–देवसत्यात्मा (देवसत्यमूर्त्तिः)		
३–अपराप्रकृतिरूपः पुरुषः——क्षरः–वाङ्मयः—श्रममयः–भूतसत्यात्मा (भूतसत्यमूर्त्तिः)		



१–ब्रह्मसत्यात्मकेनाऽव्ययेन–मनसा–भावसृष्टिः––(स एव–चिदात्मनां–उक्थब्रह्मसामलक्षणः–आत्मा) ।

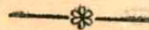
२–देवसत्यात्मकेनाक्षरेण––प्राणेण–गुणसृष्टिः––(स एव–प्राणदेवानां–उक्थब्रह्मसामलक्षणः–आत्मा) ।

३–भूतसत्यात्मकेन क्षरेण—वाचा––विकारसृष्टिः–(स एव–भूतभौतिकानां–उक्थब्रह्मसामलक्षणः–आत्मा) ।



स एषः–संस्कृतिरूपः–षोडशी–अव्ययेश्वरः—

१–भावसर्गाध्यक्षोऽव्ययः––विश्वसाक्षी–चित्पतिः––साक्षी विश्वस्य	—ऐतदात्म्यमिदं–सर्वम्
२–गुणसर्गाध्यक्षोऽक्षरः––विश्वकर्त्ता–प्राणपतिः–कर्त्ता विश्वस्य	
३–विकारसर्गाध्यक्षः–क्षरः––विश्वमूर्त्तिः–भूतपतिः–भर्त्ता विश्वस्य	



२७१–'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' का समन्वय, और संस्कृति—

ऐतदात्म्यरूप यही अव्ययेश्वर सुप्रसिद्धा त्रिवृत्करणप्रक्रिया के अनुसार अपने महिमात्मक विस्तारभाव में आता हुआ त्रिवृद्भाव में परिणत हो जाता है। इसके इस त्रिवृद्भाव का अर्थ है–तीन संस्थानों का त्रिः–त्रिः–भावों में परिणत हो जाना । तात्पर्य्य निवेदन का यही है कि–१–विश्वातीत अलौकिकभाव, २–प्राणात्मक–अमूर्त्त–विश्वात्मक–लौकिकभाव, तथा ३–भूतात्मक–मूर्त्त–विश्वात्मक–भौतिकभाव भेद से सम्पूर्ण महिमाविवर्त्त को तीन विवर्त्तभावों में विभक्त किया जा सकता है, किया गया है त्रिवृद्भाव के माध्यम से। अलौकिकभाव में अव्ययपुरुष की प्रधानता है, लौकिकभाव में अक्षरपुरुष की, एवं भौतिकभाव में क्षरपुरुष की प्रधानता है । तीनों में त्रिवृद्भावानुबन्ध से है यद्यपि अव्ययाक्षरात्मक्षर–तीनों हीं। तथापि गौण–प्राधान्यभाव से तीनों ताच्छब्द्यन्याय से मान लिए गए हैं–क्रमशः अव्यय–अक्षर–क्षरात्मक हीं।

२७२–अव्ययसंस्कृति के विभिन्न तीन संस्थान, और संस्कृतित्रयी—

अलौकिक भावात्मक भावसर्गात्मक–मनःप्रधान–प्रथम संस्थान में अक्षर–क्षर–दोनों गौण बनते हुए अव्यय के गर्भ में प्रविष्ट हैं । अतएव अक्षर–क्षर–गर्भित–अव्ययप्रधान वह अलौकिक संस्थान अव्यय की प्रधानता से कहलाया है–'**अव्ययसंस्थान**' ही । अव्यय ही वास्तव में मायापुरोऽवच्छिन्न–पुरि शेते–लक्षण 'पुरुष' है । अतएव इसे '**१–पुरुषसंस्थान**' भी कहा जा सकता है । लौकिक भावात्मक–गुणसर्गात्मक–प्राण–प्रधान–द्वितीय संस्थान–में अव्यय, और क्षर दोनों गौण बनते हुए अक्षर के गर्भ में समाविष्ट हैं । अतएव अव्यय–क्षर–गर्भित-अक्षरप्रधान वह लौकिक संस्थान पराप्रकृतिरूपेण–'प्रकृति' लक्षण बनता हुआ–'**२–प्रकृति-संस्थान**' कहलाया है । भौतिकभावात्मक–विकारसर्गात्मक–वाक्प्रधान–तृतीय संस्थान में अव्यय, और अक्षर, दोनों गौण बनते हुए क्षर के गर्भ में समाविष्ट हैं । अतएव अव्ययाक्षरगर्भित–क्षरप्रधान–वह भौतिकसंस्थान–अपराप्रकृतिरूपेण–विकारसर्गप्रवर्त्तकत्त्वेन च 'विकृति' लक्षण बनता हुआ '**३–विकृतिसंस्थान**' कहलाया है । यों त्रिवृत्करण से एक ही षोडशीपुरुष **त्रिमूर्त्ति अव्ययपुरुष, त्रिभवात्मिका–अक्षरप्रकृति, त्रिरूपा क्षर–विकृति-रूप** से '**पुरुष–प्रकृति–विकृति**' भावनिबन्धनत्त्वेन–अलौकिक–लौकिक–भौतिकरूप ब्रह्म–देव–भूतसत्यभावों में परिणत होता हुआ सर्वस्व बना हुआ है, जैसाकि त्रिवृद्भावात्मक निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट हो जाता है—

अव्ययः १
- १–अव्ययः (मनः–ज्ञानम्–ब्रह्म)–ब्रह्म
- २–अक्षरः (प्राणः-क्रिया-क्षत्रम्)-देवाः
- ३–क्षरः (वाक्–अर्थः–विट्)-भूतानि

—अक्षराक्षरगर्भितोऽव्ययपुरुषः–षोडशी

अक्षरः २
- १–अक्षरः–प्राणः–क्रिया–क्षत्रम्)–देवाः
- २–क्षरः—वाक्—अर्थः–विट्)–भूतानि
- ३–अव्ययः-मनः—ज्ञानम्–ब्रह्म)–ब्रह्म

—क्षराव्ययगर्भितोऽक्षरपुरुषः–षोडशात्मकः

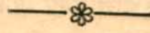
क्षरः ३
- १–क्षरः (वाक्—अर्थः–विट्)–भूतानि
- २–अक्षरः (प्राणः–क्रिया–क्षत्रम्)–देवाः
- ३–अव्ययः (मनः–ज्ञानम्–ब्रह्म)–ब्रह्म

—अक्षराव्ययगर्भितः क्षरपुरुषः–षोडशकलः

१-षोडशी—-अव्ययपुरुषः-एव-पुरुषः--अलौकिकसंस्थानम्-अमृतात्मसंस्थानम्

२-षोडशात्मा-अक्षरपुरुषः--एव-प्रकृतिः-लौकिकसंस्थानम्—अमूर्त्तविश्वसंस्थानम्

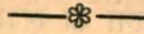
३-षोडशकलः-क्षरपुरुषः—-एव-विकृतिः-भौतिकसंस्थानम्—मूर्त्तविश्वसंस्थानम्



१-अलौकिकसंस्थानाध्यक्षः-ब्रह्मसत्यात्मा--पुरुषः-पुरुषसंस्कृतिर्निरपेक्षा

२-लौकिकसंस्थानाध्यक्षः—देवसत्यात्मा-प्रकृतिः-प्रकृतिसंस्कृतिः सापेक्षा

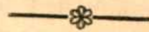
३-भौतिकसंस्थानाध्यक्षः—-भूतसत्यात्मा-विकृतिः-विकृतिसंस्कृतिराश्रिता



१-पुरुषः
२-प्रकृतिः } पुरुषः (२)—आत्मसंस्कृतिः-अनुध्यानात्मिका (१)

१-प्रकृतिः
२-विकृतिः } प्रकृतिः (२)—देवसंस्कृतिः—आचारात्मिका (२)

१-विकृतिः
२-विकाराः } विकृतिः (२)—भूतसंस्कृतिः—आयोजनात्मिका (३)



२७३-संस्कृति के उत्तम-मध्यम-प्रथम-अधिकारी—

उक्त विवेचना को आधार बनाए रहिए। एवं अब इस आधार के माध्यम से तीन नवीन वाक्यों को लक्ष्य बनाइए, जो क्रमशः **संस्कृतिनिष्ठा, सांस्कृतिक आचार, सांस्कृतिक आयोजन,** इन नामों से व्यवहृत होंगे। अव्ययपुरुष के माध्यम से संस्कृतिक-निष्ठा का समन्वय होगा, अक्षरप्रकृति के माध्यम से सांस्कृतिक-आचार का समन्वय होगा, एवं क्षरविकृति के माध्यम से सांस्कृतिक-आयोजन का समन्वय सम्भव

होगा। तीनों के अधिकारी क्रमशः उत्तमाधिकारी–मध्यमाधिकारी–प्रथमाधिकारी इसलिए कहे और मानें जायँगे कि, तीनों का क्रमशः उत्तमपुरुष (अव्यय)-मध्यमपुरुष (अक्षर) एवं प्रथमपुरुष (क्षर) से क्रमिक सम्बन्ध है।

२७४–संस्कृतिनिष्ठा, सांस्कृतिक आचार, एवं सांस्कृतिक आयोजन—

उत्तमाधिकारी–अव्ययनिष्ठ–अलौकिक–अतिमानव–हीं संस्कृतिनिष्ठ कहलाएँगे। मध्यमाधिकारी–अक्षरनिष्ठ–लौकिक–मानवश्रेष्ठ ही सांस्कृतिकआचारनिष्ठ मानें जायँगे। एवं प्रथमाधिकारी क्षरनिष्ठ–मौतिक–मानव ही सांस्कृतिक-आयोजननिष्ठ कहें जायँगे। और यों 'संस्कृति' शब्द अव्यय–अक्षर–क्षर–भेद से तीन क्षेत्रों में समन्वित किया जा सकेगा। इस समन्वयत्रयी का मूलाधार शब्द होगा 'संस्कृति'। 'संस्कृति' का मौलिक अर्थ होगा–'आत्मनिष्ठा'। फलतः जिन आचारों, आयोजनों में ईश्वराव्ययरूपेण, किंवा देवरूपेण, किंवा निदानरूपेण आत्मभावना की प्रधानता रहेगी, उन्हीं आचरणों को सांस्कृतिक आचरण कहा जायगा। एवं उन्हीं मौतिक आयोजनों को सांस्कृतिक आयोजन माना जायगा।

२७५–आत्म–देव–भावशून्य आयोजनों का पश्वायोजनों से समतुलन—

ठीक इसके विपरीत जो भौतिक आयोजन आत्म–देव–रूपा संस्कृतिभावना से न केवल तटस्थ ही रहेंगे, अपितु दोनों का विरोध व्यक्त करेंगे, वैसे संस्कृति–धर्म्मनिरपेक्ष–आत्मदेवभावनाविरोधी, किंवा आत्मदेवभावनामूला आस्थाश्रद्धा से पराङ्मुख सभी आयोजन कदापि भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजन तो कदापि नहीं मानें जा सकेंगे, नहीं मानें गए पूर्वयुगों में भीं तथाविध नास्तिकताभावानुगत–शून्यात्मक–आयोजन। तद्दशामें तो उन्हें केवल युगाधर्म्मात्मिका सभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले मनःशरीरमात्रनिबन्धन–कामार्थलिप्सामात्र के पूरक–अतएव पश्वायोजनात्मक–जड़–आयोजन ही कहा जायगा, जिनका भारतीय सांस्कृतिक प्राङ्गण में संस्मरण भी पातक का कारण माना गया है। यही है उस पूर्वप्रश्न के समाधान की संक्षिप्ता रूपरेखा, जिसके द्वारा यह जिज्ञासा व्यक्त हुई थी कि, परिवर्त्तनात्मक सभ्यतायुगों से अनुप्राणित, अतएव परिवर्त्तनात्मक भी भौतिक आयोजनों को **सभ्यता के आयोजन** न कह कर अपरिवर्त्तनीय–आत्मदेवभावानुबन्धिनी–संस्कृति से सम्बन्ध रखनें वाले **सांस्कृतिक–आयोजनों** के नाम से इन्हें क्यों कैसे व्यवहृत कर दिया ऋषिप्रज्ञा ने? (देखिए पृ० सं० १४६)।

२७६–भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों का पारम्परिक सनातनत्त्व—

प्रकार अवश्य सभ्यतानुबन्धी परिवर्त्तनों के अनुपात से बदलते रहते हैं। अतएव इस दृष्टि से सभ्यतायोजन बनते हुए भी इनका मूलाधार आत्मदेव (अव्ययाक्षर) मूला संस्कृतिनिष्ठा, एवं सांस्कृतिक आचार ही बने रहते हैं। एकमात्र इस आत्मदेवभावना से ही इन भारतीय–भौतिक–सभ्यतायोजनों को भी सांस्कृतिक आयोजन कह दिया जाता है। इस सन्दर्भ के द्वारा ही अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि, सिद्धावस्थापन्न अलौकिक अतिमानवों की निरपेक्षा अव्ययसंस्कृति की साक्षी में व्यवस्थित–द्विजाति–मानवों के शास्त्रीय–आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्म हीं **'सांस्कृतिक–आचार'** है। एवं शास्त्रस्वाध्याय से विमुख एवं शास्त्राचरण में अनधिकृत द्विजबन्धु, लौकिक प्राकृत यथाजात भारतीयमानव, नारीवर्ग, बालवृन्द, आदि की परम्परासिद्धा संस्कृतिमूला–धर्म्मनिष्ठा के संरक्षण के एकमात्र अवलम्बभूत, आत्म–देव–निदान–

भावात्मक संस्कृतिभावों से समन्वित भौतिक आयोजन हीं भारतीय सांस्कृतिक आयोजन हैं, जिनका चिरन्तन इतिहास तथाविध सांस्कृतिक आयोजनों के बाह्य-भौतिक-स्वरूपों-आयोजनपद्धतियों के रक्षक-धर्म्मसंस्कृतिनिष्ठ भारतीय सत्तातन्त्र ही बनते आए हैं। जब जब भी सत्तातन्त्र शिथिल हुए हैं, तब तब ही इन भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों का बाह्य स्वरूप अभिभूत होता रहा है, जबकि जनतन्त्र की परम्पराश्रिद्धा सांस्कृतिक प्रज्ञा नें विपरीत सत्तायुगों में भी इनके मौलिक स्वरूपों का यथाशक्य आजतक संरक्षण ही किया है, जिस आस्थाश्रद्धाशील-जनतन्त्र के निःसीम अनुग्रह से ही इस सांस्कृतिक-धार्मिक-पावन भारतराष्ट्र में आज भी (दुर्भाग्यवश सत्तातन्त्र के धर्म्म-संस्कृति-निरपेक्ष भी बन जाने पर) राष्ट्रीय सांस्कृतिक आयोजन मानें, और मनवाए ही जा रहे हैं। यही तो भारतीय संस्कृति की परम्परा का वह सनातनत्त्व है, जो प्रत्येक सत्-असत्-युग में येनकेन रूप से अपने मौलिक स्वरूप से अपना स्वरूप सुरक्षित ही बनाती आरही है, बनाती ही रहेगी शाश्वतीभ्यः समाभ्यः। 'याथातथ्येनार्थान्-व्यदधात्-शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' (ईशोपनिषत्) का मर्म्म समझने वाली भारतीय हिन्दूप्रजा की इस शाश्वत-सांस्कृतिक-निष्ठा का आजतक कोई भी तो अभिभव नहीं कर सका है, नहीं कर सकेगा यावाचन्द्रदिवाकरौ-लक्षण इस प्रकान्त मन्वन्तर में तो कदापि।

२७७-भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों के जीवित सन्देश—

तुलसी-गङ्गा-शालग्राम-यमुना-बट-बिल्व-हिमालय-कावेरी-नर्म्मदा-सरयू-चन्द्रभागा-विन्ध्याद्रि-कुरुक्षेत्र-प्रयाग-वाराणसी-काञ्ची-गोदावरी-उज्जैन-पुष्कर-बद्रीनाथ-जगदीश-गया-आदि-आदि महामहिम-प्रतीक जिस संस्कृति के जीवित सन्देशवाहक बने हुए हों, उनकी विद्यमानतामें किस का यह साहस है कि, वह भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों की सनातन परम्पराओं की ओर भ्रूविक्षेप भी करले ! । आज के धर्म्मनिरपेक्ष युग में भी जाइए उन कुम्भपर्वों पर, जहाँ बिना किसी सूचना के, नोटिस वितरण के-पब्लिसिटी के भी लक्ष-लक्ष सांस्कृतिक मानव यथाकाल-यथापर्व पहुँच ही जाते हैं, जब कि समस्त सत्ताबल का प्रयोग करने में समर्थ सत्तातन्त्र के महारथी लाखों रुपय्या केवल पब्लीसिटी में व्यय करते हुए भी सभ्यतानुबन्धी-आत्मदेवभावों से असंस्पृष्ट अपने वार्षिक आयोजनों में अपने भक्तों के संघठन-प्रयास में भी सफल नहीं बन पाते। क्यों ?। इस क्यों ? का उत्तर तो सत्तातन्त्र की लोकनिष्ठा से ही पूँछना चाहिए। हम तो इसे पराधिकारचर्चा मानते हुए इस सम्बन्ध में कुछ भी निवेदन करना उचित सांस्कृतिक-पक्ष नहीं मान रहे। आलम्यालम।

२७८-संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों के चिरन्तन इतिहास का उपराम—

विषय विस्तृत होता जा रहा है। साथ ही हमें अभी उदाहरण रूप से एक दो सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा का भी दिग्दर्शन कराना है। अतएव संस्कृति, एवं सभ्यता-शब्दों के चिरन्तन इतिहास-प्रकरण को अब यहीं उपसंहृत कर देना समीचीन प्रतीत हो रहा है। यह सर्वथा विश्वसनीय है कि, भारतीय जीवन के मूलाधारभूत-संस्कृति शब्द का, एवं लोकव्यवस्थापक सभ्यता शब्द का चिरन्तन-ज्ञानविज्ञानात्मक इतिहास कदापि प्ररोचनात्मक-कण्डूमात्रनिवारक इत्थंभूत भाषामय-सामयिक-निबन्धों से यथाक्रम सुसमन्वित नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। इसके लिए तो तज्जिज्ञासु को एकान्तनिष्ठापूर्वक अपने समस्त जीवन को तत्स्वाध्याय के प्रति ही अनिवार्य्यरूपेण समर्पित कर देना होगा। राष्ट्र का एक स्वतन्त्र नैष्ठिकवर्ग

(ब्राह्मणवर्ग) एकमात्र इसी के समन्वय के लिए तो स्वतन्त्र रूप से नियत हुआ था ऋषिप्रज्ञा के द्वारा, जिसकी कि स्वतन्त्रता-संरक्षण का महान् उत्तरदायित्त्व सौंपा गया था सभ्यतासंरक्षक भारतीय धार्मिक सत्तातन्त्र को। उस के लक्ष्यहीन बन जाने से जिसदिन से राष्ट्र का संस्कृतिस्वरूपचिन्तक ब्राह्मण अरक्षित बन कर वृत्तिमात्र-चिन्ता से समाकुलित हो कर सत्ता को आश्रय प्रदान करने के स्थान में स्वयं सत्ताश्रित, तो कभी तदुपेक्षित बन कर वणिकतन्त्राश्रित बन जाने लग पड़ा, तभी से वह चिन्तनपरम्परा अभिभूत हो गई। फलस्वरूप राष्ट्र की सांस्कृतिक-उद्बोधनपरम्परा उत्तरोत्तर विगलित ही बनती गई। तद्दुष्परिणामस्वरूप ही आज सभी अपनी कल्पनामात्र से संस्कृति-सभ्यता शब्दों के कल्पित इतिहासों का सर्जन करते हुए, किंवा भूतवादी-अनात्मवादी-प्रतीच्य विद्वानों की सरणि को ही आप्तवाक्य मानने की भयावह भूल करते हुए उनकी खोज के आधार पर ही भारतीय संस्कृति-सभ्यता के चिरन्तन-इतिहासों को समन्वित करने के लिए आकुल-व्याकुल बनते हुए भारत की मौलिक चिन्तन-धाराओं को स्मृतिगर्भ में विलीन कर डालने के लिए ही कटिबद्ध हैं। इससे अधिक इस राष्ट्र की सांस्कृतिक-प्रज्ञा का और क्या पतन होगा ?।

संस्कृति, और सभ्यता शब्दों के चिरन्तन-इतिहास के दिग्दर्शन की भी योग्यता न रखने वाले आज के युग के अन्नदान से ही परिपालित, अतएव अन्नदोष से सर्वथैव सांस्कृतिक-प्रज्ञा से वञ्चित इस व्यक्ति के द्वारा एकमात्र जनतन्त्र की परम्परासिद्धा सनातन-संस्कृति के अवशेषरूप आचारों के अनुग्रह से गच्छतः-स्खलन रूप से जो कुछ निवेदन कर डालने का असम-साहस, किंवा दुःसाहस हो पड़ा है, तदर्थ सांस्कृतिक-जगत् से हम क्षमाप्रार्थी हैं। **'ममाप्येषस्तोत्रे हरनिरपवादः परिकरः'** इस श्रद्धासूत्र के माध्यम से सूर्य्य को श्रद्धापूर्वक दीपदान की धृष्टता भी क्षम्य ही तो मान ली गई है-सांस्कृतिक-जगत् में। इसी क्षमाभावपूर्वक चिरन्तन-इतिहास का यह स्खलितरूप सांस्कृतिक-देवता के पावन चरणों में श्रद्धाप्रसून-रूप से आस्थापूर्वक समर्पित करता हुए यह व्यक्ति मनस्तुष्टि का ही अनुभव कर रहा है।

उपरतञ्चेदं चिरन्तेनिवृत्तम्-संस्कृतेः, सभ्यतायाश्च

———❀———



श्री:

'संस्कृति–सभ्यता–शब्दों का चिरन्तन इतिहास'

नामक

प्रथम–प्रकरण–उपरंत

१

श्रीः

भारतीय-'सांस्कृतिक-आयोजनों' की रूपरेखा

नामक-द्वितीय-प्रकरण

२



श्री:

भारतीय–'सांस्कृतिक–आयोजनों' की रूपरेखा

नामक--द्वितीय--प्रकरण

२



१–सुख, और दुःख–शब्दों की तात्त्विक परिभाषा—

निबन्ध के प्रथम प्रकरण में **संस्कृति**, और **सभ्यता**, शब्दों के चिरन्तन इतिहास की रूपरेखा स्पष्ट करने की चेष्टा की गई। अब प्रस्तुत द्वितीय प्रकरण में संक्षेप से उन भारतीय–**'सांस्कृतिक–आयोजनों'** के मौलिक आधार–दिग्दर्शन की चेष्टा की जा रही है, जिनके आधार पर भारतीय लोकजीवन अपनी सच्चिदानन्द-ब्रह्ममयी आत्मसंस्कृति (निरपेक्षसंस्कृति) का स्मरण करता हुआ तदभिन्न सांस्कृतिक आयोजनों से सदा ही आनन्दमय बना रहता है।

सुखी बने रहना एक पक्ष है, आनन्दमय बने रहना एक पक्ष है। एवं भारतीय ज्ञानविज्ञानदृष्टि से दोनों पक्षों में अहोरात्रवत् महान् अन्तर है। अपनी ऐन्द्रियक–इन्द्रियमनोऽनुगता क्षणिक वासना को इन्द्रियगम्य-बाह्य–भौतिक विषयों के तात्कालिक सम्बन्ध से तत्कालमात्र के लिए विद्युद्रेखावत् उद्भूता मनस्तुष्टि से तुष्ट मान लेने मात्र की भ्रान्ति कर बैठने का नाम ही सुख है, जिसका–**'सुष्ठु–ख'** रूप से 'ख' रूप इन्द्रियविवरों की तात्कालिक पूर्त्ति पर विश्राम हो रहा है। पूर्त्ति के अनन्तर ही पुनः इन्द्रियविवररूप 'ख' भाव अपूर्ण बन जाता है। वही रिक्तता 'दुर्' भाव है–'ख' का। एवं यही 'दुःख' शब्द का तात्त्विक निर्वचन है। अतएव जिसे इन्द्रियारामवादी भूतासक्त मानव 'सुख' कहता है, उसे भारतीय आत्मनिष्ठ–प्रज्ञा ने 'सुख' न कह कर–**'अनुकूलवेदना'** (सुहाता हुआ दुःख) ही कहा है, जब कि दुःख के लिए–**'प्रतिकूलवेदना'** शब्द नियत है। 'वेदना' दुःख की अनुभूति का ही नाम है। अतएव दुःखानुभूतिवत् सुखानुवेदना भी तत्क्षणानन्तर ही उपरत हो जाने वाली अपनी नश्वरता से तत्त्वतः 'वेदना' के क्षेत्र में ही अन्तर्भूत है। अतएव उसे भी 'अनुकूलवेदना' नामक 'दुःख' नाम से व्यवहृत करना हीं अनुरूप बन रहा है।

२–दरिद्री, और सम्पन्न–मानवों का समान–धरातलत्त्व—

एक शान्त सरोवर में आप लोष्ठ–पाषाणादि फैंकिए। तत्काल उसमें कम्पनात्मिका वीची–(लहर) उत्पन्न हो जायगी। कुछ समयानन्तर वीची पुनः शान्त हो जायगी। यही क्षणिक आनन्द का निदर्शन है, जो कभी स्थायी नहीं रहा करता। यह अशाश्वतता ही इसकी दुःखैकसारता है। अतएव वैषयिक–भौतिक–ऐन्द्रियक–अनुकूलवेदनात्मक–दुःखैकसार सुखों को–**'क्षणभङ्गुर'** कहा गया है। इसी आधार पर अनात्मवादी केवल भूतवादियों को अपनी महती ? तत्त्वदृष्टि से सर्वत्र क्षणिकं–क्षणिकं–अतएव शून्यं–शून्यं, अतएव च दुःखं दुःखं, अतएव च स्वलक्षणं–स्वलक्षणं ही उपलब्ध हुआ है। और इसी उपलब्धि ? को उन्होंनें अन्ततो-

गत्वा 'निर्वाणसुख' नाम दे डाला है। ऐन्द्रियक सुखदृष्टि से जो सुख एक कोट्यधिपति वित्तशाली को है, वही सुख रूक्ष-भोजनप्रिय एक दरिद्री को है। दोनों का मनस्तन्त्र स्वस्वक्षेत्रों में उपशान्त है। सम्भव है-दरिद्री लाख रुपये प्राप्त कर क्षणमात्र के लिए मनसा सुखी बन जाता हो, एवमेव कोट्यधिपति भी अर्बुद रुपये प्राप्त कर सुख आ अनुभव करने लग पड़ता हो। किन्तु कब तक ?, कितने समय पर्य्यन्त ?। प्रश्न का उत्तर उस दरिद्री लक्षाधिपति से पूछिए, जो अपने में कोई विशेषता अनुभव नहीं कर रहा है। उस कोट्यधीश-अर्बुदपति से पूछिए, जिसमें इस आगन्तुक द्रव्य से-सिवाय तात्कालिक-क्षणिक-उछाल के और कोई स्थायीभाव उदित नहीं हुआ है।

३-पुरुषार्थसिद्धि के अन्यतम साधक सांस्कृतिक आचार, एवं सांस्कृतिक आयोजन—

नागरिक सभ्यताओं के अभिशापरूप होटलों में अपने मित्रगणों के साथ अमर्य्यादित ऐन्द्रियक-मनोविनोद-अट्टाट्टाहास करते हुए हमारे वे आत्मबन्धु विविध प्रकार के पेय-चोष्य-लेह्य-चर्व्य-खाद्य-अखाद्य-द्रव्यों को चक्षुरिन्द्रियाकर्षण से समुत्तेजित रसनेन्द्रिय की लिप्सा-लालसा से गलाधःकरणानुकूलव्यापार का अनुगामी बनाते हुए क्या शपथपुरस्सर यह नहीं मान लेंगे कि, इन तात्कालिक क्षणिक-ऐन्द्रियक-सुखों से कदापि वे उस मनस्तुष्टि का तो अनुभव नहीं कर पाते, जो मनस्तुष्टि गृहणी के द्वारा सम्पादित चाकचिक्य-विरहित गृहस्थ के दैनंदिनीय भोजनकर्म्म से मिला करती है। अतएव सर्वात्मना प्रमाणित है कि, मानवीय सुख की पर्य्यवसान भूमि इन्द्रियारामता-तात्कालिक-अमर्य्यादित-भोगसुख ही नहीं है। इन सभी ऐन्द्रियक-भावों में तत्काल सुखानुभूति, पुनः पूर्वापेक्षयापि अधिक उदासीनता, म्लानभाव, दयनीयावस्था। कदापि भारतीय दृष्टि से मानव का यह परमपुरुषार्थ ही क्या, सामान्य लौकिक पुरुषार्थ भी नहीं माना जा सकता। मानव की इस पुरुषार्थसिद्धि के लिए ही ऋषिप्रज्ञा ने **सांस्कृतिक-आचार,** एवं **सांस्कृतिक-आयोजन** ये विभिन्नपथ व्यवस्थित किए हैं, जिनके सम्बन्ध में हीं आज हमें दो शब्द निवेदन करने हैं।

४-सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा का स्वरूपदिग्दर्शन—

* अष्टाक्षरा गायत्री, एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्, द्वादशाक्षरा जगती नाम की आग्नेयी-ऐन्द्री-आदित्या-प्राणशक्तियों से जन्मना-प्रकृत्या ही अन्तर्य्याम-सम्बन्ध स्थापित रखने वाले, एवं अपनी प्राकृतिक आयु के क्रमशः ८ वें, ११ वें १२ वें वर्षों में इन छन्दोदेवताओं के द्वारा स्व प्राकृतिक वर्णों से व्यक्त हो जाने वाले, इस द्वि-जन्म-प्रवृत्ति के कारण हीं-'द्विजाति' नाम से प्रसिद्ध द्विजन्मा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-मानव आचार्य्यकुलों में तत्त्वशिक्षा प्राप्त कर-गृहस्थाश्रम का यथाशास्त्रविधि निर्वाह करते हुए, तदनन्तर वानप्रस्थाश्रमानुगामी बनते हुए, अन्ततोगत्वा उस तुरीय-सन्यासाश्रम के द्वारा मोक्षरूप परमपुरुषार्थ को संसिद्ध कर लेते हैं, जो कि मानव-जीवन का एकमात्र महान्-परम-अन्तिम-लक्ष्य माना गया है। यही इस द्विजातिमानव की शास्त्रविधि-समन्विता कर्त्तव्य-कर्म्मात्मिका वह आचारनिष्ठा है, जिसमें—**'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'** (गीता) इत्यादि के अनुसार मर्य्यादिता-सच्छन्दस्का-जीवनपद्धतियों में अनुष्ठानकाल में कठिनता के विद्यमान रहते हुए भी परिणाम में अमृतानन्दलक्षण ब्रह्मानन्द ही सुनिश्चित बना रहता है।

---

*-गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम्। न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत्।

ऐसे मर्य्यादित–सच्छन्दस्क–द्विजातिमानव की निष्ठा के आधारबिन्दु मानवीय चार पर्वों में से केवल बुद्धयनुगत आत्मतन्त्र (भूतात्मा) ही बना रहता है। शरीरानुगत मनस्तन्त्र इस द्विजातिवर्ग के लिए प्रधान नहीं बनता। इसकी क्षतिपूर्त्ति साक्षीमात्र से–तटस्थरूप से–परोक्षरूप से ही करनी पड़ती है मोक्षकामुक–आत्मबुद्धिनिष्ठ द्विजातिमानव को। यही इसकी शास्त्रीया सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा का स्वरूपदिग्दर्शन है, जिसका पूर्वप्रकरण में हमने प्रकृत्यनुबन्धिनी लोकसंस्कृतिचतुष्टयी, एवं तदनुगत प्रतीकधर्म्मचतुष्टयीरूप से विश्लेषण किया है। तत्रैव यत्रतत्र सांस्कृतिक–आचारनिष्ठाओं का सोदाहरण दिग्दर्शन भी कराया जा चुका है।

५–सांस्कृतिक–आचारपथानुगामी ब्रह्म–क्षत्र–विट्–वर्ग, एवं इनकी आचारनिष्ठाओं में क्रमिक तारतम्य—

यद्यपि तीनों हीं वर्ण इस में समानरूप से अधिकृत हैं। तथापि आचारनिष्ठात्मिका संस्कृति का प्रधान उत्तरदायित्व भूतात्मप्रधान–ब्राह्मण से ही माना गया है। अतएव बुद्धयनुबन्धी त्रैष्टुभ क्षत्रिय, तथा मनोऽनुबन्धी जागत वैश्य, ये दोनों वर्ण सामान्यरूपेणैव सांस्कृतिक–आचारनिष्ठाओं के पथवर्त्मा बने रहते हैं। विशेषरूपेण भौतिक–व्यक्त–मूर्त्तजगत् ही इन दोनों को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। अतएव आचारपथानुगामी तीनों द्विजातिवर्गों के लिए क्रमशः तीन जीवनपद्धतियों की उपलब्धि हो रही है शास्त्र में, जो क्रमशः **'गुहानिहित–सौर्य्यमारुतिक–वातातपिक'** कहलाईं हैं। युक्तं चैतत्। ज्ञानशक्तिप्रधान ब्राह्मण अपनी ज्ञानप्रधाना–तत्त्वचिन्तनात्मिका सांस्कृतिक–आचारनिष्ठा में तभी सफलता प्राप्त कर सकता है, जब कि वह–**'अरतिर्जनसंसदि'** सिद्धान्तानुसार एकान्तनिष्ठ बन कर–लोक–समाजादि के व्यक्त–आयोजन–व्यासङ्गों से यथाशक्य बचता हुआ, (साथ ही लोकसंग्रह का भी अपने कौशल से संरक्षण करता हुआ, सामाजिक–बुद्धिभेद न करता हुआ) गुहानिहितरूप से ही व्यवस्थित रह सकेगा। उधर समाज के पौरुषरूप व्यक्त उत्तरदायित्व से समन्वित क्रियाशक्तिप्रधान क्षत्रिय गुहानिहित बन कर कदापि अपने इस उत्तरदायित्व–निर्वाह में सफल न हो सकेगा। अपितु इसे तो प्रत्यक्ष–प्रचण्ड सूर्य्य, और प्रवहणशील वायु की भाँति सौर्य्यमारुतिकरूपेण व्यक्तजीवनपद्धति का ही अनुगामी बना रहना पड़ेगा। एवमेव समाज के आर्थिक–उत्तरदायित्व से समन्वित–अर्थशक्तिप्रधान वैश्य का भी 'घरघुसड्डू' बना रहना कदापि क्षम्य नहीं माना जायगा। अपितु–व्यक्त–हवा–धूप–की भाँति–**'सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्'** के अनुसार इसे भी व्यक्त ही बना रहना पड़ेगा। निश्चयेन इत्थंभूता व्यक्तजीवनपद्धति का अनुसरण करने वाले क्षत्रिय, और वैश्य के लिए कदापि गुहानिहित बने रहना सम्भव न होगा। एवं तत्स्थिति में एकान्तनिष्ठा–साध्या आचारनिष्ठा का प्रधान उत्तरदायी इन दोनों को नहीं माना जा सकेगा। कृच्छ्रसाध्य–सामाजिक–व्यक्त–भावों से तटस्थ–अत्यन्त मर्य्यादापाश से आबद्ध–गुहानिहित–भाव ही ब्राह्मण की आचारनिष्ठा–सफलता का मूलाधार माना जायगा। इसीलिए तो पर्वततटवर्त्ती–नदीसंगमात्मक–जनरव-विवर्जित–शान्त स्थल ही ब्राह्मणप्रज्ञा के विकास के अनुरूप मानें हैं वेदमहर्षि नें *। अतएव कहा गया है इस तपस्वीवर्ग के लिए यही कि—

---

*–उपह्वरे गिरीणां–सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥

—ऋक्संहिता ८।६।२८।

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते ॥
इह क्लेशाय तपसे, प्रेत्यच्चनुपमं सुखम् ॥ ÷ १ ॥

संपतन् देहजालानि कदाचिदिद मानुषे ॥
'ब्राह्मण्यं' लभते जन्तुस्तत् पुत्र ! परिपालय ॥२॥
—म० शा० मो० ३२१ अ० । २२, २३ श्लो० ।

६–आत्मनिष्ठ ब्राह्मण की अभिभूति, एवं राष्ट्र की आचारनिष्ठा का पराभव—

चतुष्पर्वा–मानव के भूतात्मा, बुद्धि, मन, शरीर, इन चार पर्वों से ही क्रमशः मानव की सामाजिक–व्यवस्था में ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–वीर्य्यदेवों के द्वारा ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–भावों का व्यक्तीभाव हुआ है। चारों में भूतात्मा का प्रतिनिधि ब्राह्मण समाज का अन्तर्गर्भित गुहानिहित × 'आत्मा' है। अतएव इसे ही सांस्कृतिक–आचारनिष्ठा का प्रधान उत्तरदायी माना है शास्त्र ने। अतएव जब ब्राह्मण अपनी सांस्कृतिक–निष्ठा से पराङ्मुख बन जाता है, तो सम्पूर्ण राष्ट्र की सांस्कृतिक–चेतना अभिभूत हो जाया करती है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण वर्त्तमान भारतराष्ट्र बना हुआ है।

७–आचारनिष्ठामूलक सांस्कृतिक–आयोजनों का प्रतिष्ठापन—

मानवीया बुद्धि का प्रतिनिधि क्षत्रिय ही समाज का कारणशरीर माना गया है। मानवीय मन का प्रतिनिधि वैश्य ही समाज का सूक्ष्मशरीर है। एवं मानवीय शरीर का प्रतिनिधि पौष्णवर्ग ही समाज का स्थूलशरीर है। यों राष्ट्र का ब्राह्मणेतर प्रजावर्ग, तदनुगामी नारी–बाल–सेवकादिवर्ग, सब की समष्टि ही राष्ट्र का सामाजिक–व्यक्त–मूर्त्त–स्वरूप है, जो सांस्कृतिक–आचारनिष्ठा का यथावत्–अनुगमन करते रहने में प्रायः असमर्थ ही बना रहता है। ऐसे लोक–समाज–वर्ग की सांस्कृतिक–निष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ऋषिप्रज्ञा की ओर से जो सांस्कृतिक–पथ निर्दिष्ट हुआ है, वही व्यवहारभाषा में **'सांस्कृतिक–आयोजन'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके कतिपय पावन–सस्मरणों से ही आज हम अपने प्राकृत–मनस्तन्त्र को पूत बनाने जारहे हैं।

८–सच्चिदानन्दब्रह्म की पूर्णविभूति मानव, एवं इस की नित्यानन्दरसैकप्रवणता—

अव्ययपुरुष ही 'संस्कृति' का मूलाधार है, यह पूर्वप्रकरण में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। साथ ही तत्प्रकरण में हीं अव्ययपुरुष की आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाक्–इन पाँच कलाओं का भी

÷–ब्राह्मणस्य च देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चैव प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥

×–आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्, तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः।
—उपनिषत्

दिग्दर्शन करा दिया गया है। आनन्द **आनन्द** है, विज्ञान ही '**चित्**' है, एवं मनःप्राणवाक् की समष्टि ही '**सत्**' है। तथा आनन्द-चित् (विज्ञान)-सत् (मनःप्राणवाक्संघात) की समष्टि ही-'**सच्चिदानन्दअव्ययब्रह्म**' है, जो परिपूर्ण है। सत्ता-चेतना-आनन्दघन-परिपूर्ण ब्रह्म की पूर्णा सच्चिदानन्दरूपा प्राणिविभूति का नाम हीं-'**मानव**' है, जैसा कि-'**पूर्णमदः पूर्णमिदम्**'-'**यदेवेह-तदमुत्र**'-'**पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्**'-'**अहं सूर्य्य इवाजनि**'-'**अमृतस्य पुत्रा अभूम**', इत्यादि मन्त्रब्राह्मणश्रुतियों से उद्घोषित है। नित्य अस्तिता, नित्य विज्ञानैकप्रवणता, एवं नित्यानन्दरसैकप्रवणता ही उस सच्चिदानन्दघन पूर्णेश्वर अव्ययब्रह्म के लोकरूप मानव का स्वरूपधर्म्म है, इसी आधार पर श्रुति को कहना पड़ा है कि—

"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। आनन्दमित्युपास्व"

—तै० उप०पनिषत

९-दुःखात्यन्तनिवृत्तिमूलक स्वरूपबोध—

परिपूर्ण आत्मानन्द ही मानव की केन्द्रप्रतिष्ठा है, जोकि मानव का शाश्वत-आनन्द माना गया है। बिना इसे आधार बनाए कदापि मानव सर्वात्मना तुष्ट-तृप्त नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, जिसकी मूलप्रतिष्ठा स्वस्वरूपात्मक इस अव्ययस्वरूपबोध पर ही अवलम्बित है, जिस बोध का क्रमसिद्ध शास्त्रीय उपाय ही "**सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा**" माना गया है। इसी आत्मबोध से मानव की दुःखात्यन्तनिवृत्ति सम्भव बना करती है, जैसाकि श्रुति ने कहा है—

यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

१०-ऐन्द्रियक सुख की स्वरूपमीमांसा,-एवं आयोजनों की आत्मरूपता—

प्रकरण का उपक्रम करते हुए हमनें सुख-दुःख-की परिभाषा की थी, जिसकी इसी दृष्टि से यहाँ उपयोगिता है। क्या ऐन्द्रियक-भौतिक-विषयों के परित्याग से आत्मानन्दबोध प्राप्त होगा?, प्रश्न का 'ओम्' (हाँ) रूप से ही समाधान किया है यहाँ के जगन्मिथ्यात्ववादी वेदान्तभक्तों नें, जिसके नीरक्षीरविवेक का यहाँ अवसर नहीं हैं। प्रकृत में आनन्दघन अव्ययब्रह्म से समुद्भूत विश्व को आनन्दमय मान कर ही (जैसा कि-आनन्दमय ही है यह विश्व), सत्य मान कर ही हमें उस ऐन्द्रियक सुख के तथ्य का परीक्षण करना है, जिसे क्षणभङ्गुर बतलाते हुए पूर्व में हमनें शून्यवादी, किंवा जगन्मिथ्यात्ववादियों की भाँति उपेक्षणीया-त्याज्या-कोटि में हीं ला खड़ा किया था।

परीक्षण अन्य निबन्धों में विस्तार से किया जा चुका है। जिसका निष्कर्षार्थ यही है कि, अव्ययात्म-ब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित विश्व, एवं विश्व का प्रत्येक पदार्थ भी सच्चिदानन्दमय ही है। यदि अव्ययात्मा

को आधार बना कर (जैसा कि वही सर्वाधार है)–मानव अपने भूत–भौतिक–आयोजनों में प्रवृत्त होता है, तो आत्मानन्दमय बनते हुए वे ही पदार्थ ऐन्द्रियक–कोटि से बहिर्भूत होते हुए आत्मानन्दकोटि मे हीं प्रविष्ट हो जाते हैं।

११–आनन्दमय आत्मा की सर्वव्याप्ति, एवं भूतजगत् का आनन्दमयत्त्व—

यही वह आत्मनिष्ठा, एवं तदनुगता देवनिष्ठा है, जिससे आस्तिक–आस्थाश्रद्धाशील–भारतीय–आत्मनिष्ठ देवनिष्ठ मानव के यच्चयावत् भौतिक–व्यावहारिक विवर्त्त–भूतानुगता जड़ता से पृथक् होकर सर्वथा आत्म–देवभाव में हीं परिणत होगए हैं। अतएव यह आत्मा से अतिरिक्त और कुछ मानता ही नहीं। उदाहरण के लिए उस नितान्त भौतिक चतुर्विध अन्न को ही लीजिए, जिसे भारतेर देशों के समस्त मानव जहाँ केवल चर्वण–भक्षणमात्र के साथ समन्वित मान रहे हैं, वहाँ भारतीय मानव परिपाक होते ही इसे भावना के द्वारा भगवान् के अर्पण कर देता है। स्वयं श्रुति ने–**'अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व'** कह कर अन्न में ब्रह्मत्त्व का आधान किया है। आधान नहीं किया है, अपितु स्वत:सिद्ध ब्रह्मका स्पष्टीकरणमात्र किया है। अन्न का विशकलन कीजिए, पार्थिव रूपमें इसकी परिणति हो जायगी। पृथिवी के ग्रन्थिबन्धन तोड़ डालिए,इसकी जलरूप में,तद्ग्रन्थिविमोक से इसकी तेजोरूप में, तेज की वायुरूप में, वायु की आकाशरूप में, एवं सर्वग्रन्थिविमोक से अन्ततोगत्वा आकाश की आत्मरूप में परिणति सुनिश्चित है प्रतिसर्गात्मक–प्रतिसञ्चरक्रम में। सर्गात्मक सञ्चरपक्ष में * आकाश ही वायु है, वायु ही तेज है, तेज ही जल है, जल ही पृथिवी है, पृथिवी अन्न है। वही तो सञ्चर–दृष्ट्या यह अन्न है। प्रतिसञ्चरदृष्ट्या अन्न ही तो ब्रह्म है। ज्ञानात्मा ही तो विज्ञानात्मा है बलदृष्ट्या, एवं विज्ञानात्मा हीं तो ज्ञानात्मा है रसदृष्ट्या। यही तो–**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'–'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'–नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। आनन्दं ब्रह्मणो व्यजानात्, न बिभेति कुतश्चन। अभयं वै ब्रह्म'** इत्यादि वचनों का सांस्कृतिक (अव्ययात्मानुबन्धी) महान् महित्त्व है, जिसे केवल भूतविज्ञानवादी कदापि अपने सुसूक्ष्म जड़यन्त्रों से समन्वित नहीं कर सकता, नहीं कर सकता।

१२–'आत्मवत् सर्वभूतेषु' मूलक सर्वव्यापक देवभाव—

प्राणात्मक–देवतारूप अमूर्त्त–विश्व ही भूतात्मक–भौतिक–मूर्त्त–जगत्–रूप में परिणत हुआ है बलग्रन्थितारतम्य से। अतएव **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है। पञ्चमहाभूतात्मक–प्रत्यक्षदृष्ट परिवर्त्तनशील जगत् आत्मब्रह्म का ही तो विराट् शरीर है, जिस से प्रजापति ब्रह्मा सप्तवितस्तिकाय कहलाए हैं। तदंशरूप प्रत्येक–भूतभौतिक पदार्थ तद्रूप ही तो मानें जायँगे, जैसाकि–**'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं–यदिदं किञ्च'–'सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः'** इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। भोग्य–भौतिक अन्न तो

***–तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्यामोषधयः (अन्नानि)।**

—तैत्तिरियोपनिषत्।

उदाहरणमात्र है । शय्या–वस्त्र–प्रासाद–खट्वा–पात्र–आभूषण–वन–उपवन–उद्यान–समुद्र–सागर–नद––नदी–कूप––वापी––ओषधि––वनस्पति–धातु––रस––विष–आदि आदि यच्चयावत् भौतिक पदार्थ (जो अनात्मवादियों की दृष्टि में केवल जड़ हैं) सर्वथा ब्रह्मात्मक हैं, देवभावात्मक हैं । बिना देवभावना के सांस्कृतिक भारतीय मानव तो किसी भी भूत को अपने व्यवहार में लाना हीं उचित नहीं मानता । निर्म्मित भवन में तबतक वह आवास––निवास ही नहीं करता, जबतक कि उस में 'वास्तुशान्ति' रूप प्राणप्रतिष्ठापन–कर्म्म से यह देवभाव के दर्शन नहीं कर लेता । भवन उसकी दृष्टि में देवता है, अन्न देवता है, पात्र देवता है । कौन देवता नहीं है ? यह जब स्वयं आत्मदेवमूर्त्ति है, तो इस की दृष्टि में कोई भी देवभाव से पृथक् नहीं है ।

१३–लोकमानव की आत्मानन्दानुग्रहप्राप्ति–कामना, और तत्साधक सांस्कृतिक-आयोजन–

'देवो भूत्वा देवं भावयेत्' ही इस देवभावना का आधार है । यही इसकी सांस्कृतिक–भावना है । इसी आत्मभावना से सब को इसने आत्मानन्दमय बना डाला है । बना नहीं डाला है । स्वतःसिद्ध आनन्दमयत्त्व को अपनी आनन्दमयता से पहिचानमात्र लिया है । इसी परिचिति से ऐन्द्रियक विषय यथाकाल–स्वत: आते जाते भी न इसे हर्षविभोर करते, न म्लान कर पाते । यों अपनी आत्मनिष्ठा से इसने सर्वत्र–सब विषयों में आनन्द का सञ्चय, आनन्द की उपासना करते हुए अपना आत्माधिपत्य स्थापित कर रक्खा है । यह विषयों पर आरूढ है, विषय इस पर आरूढ नहीं हैं । यही–**'न त्वहं तेषु-ते मयि'** इस गीतावचन का रहस्यात्मक समन्वय है । विषय, तद्रूप भौतिक ऐश्वर्य्य सदा ही **'सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति'** रूपेण इसकी कामना किया करते हैं, इसकी ओर अनुगत बनते रहते हैं । यह कदापि विषयकामुक नहीं बना करता । यही इसकी शाश्वत–आनन्दता है, जिसका कदापि भाषात्मक–निबन्धों से स्वरूपविश्लेषण सम्भव नहीं है ।

प्रकृत में तो इस आनन्दसन्दर्भ से निवेदन हमें यही कर देना है कि, जो वर्ग शास्त्रीय–सांस्कृतिक–आचाररूप–कर्त्तव्यकर्म्मों से इस आत्मानन्दसरणि पर चलने में अक्षम हैं, किन्तु कामना रखते हैं आस्था––श्रद्धापूर्वक आत्मानन्दानुग्रहप्राप्तिपूर्वक जीवनयात्रा के अनुगमन की—

उन्हीं पर अनुग्रह कर भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने आत्मदेवानन्द से परिप्लुत उन **'सांस्कृतिक–आयोजनों'** का संस्थापन किया है, जिनका व्याख्यारूप, इतिहासरूप शास्त्रविभाग ही इतिहास (महाभारत–वाल्मीकि–रामायण), एवं पुराण नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इतिहास–पुराणनिबन्धन–समस्त–**स्वस्त्ययनकर्म्म, तीर्थाटन–व्रत–उपवास–पर्व–उत्सव–समारोहादि ही** सांस्कृतिक–आयोजनों के उपबृंहित स्वरूप हैं, जिनमें अथ से इतिपर्य्यन्त–स्वस्ति–शान्ति–स्मृद्धि–ऋद्धि–पुष्टि–तुष्टि–आदि भावसंसाधनपूर्विका आत्म––देवानन्दरसनिर्भरी सतत प्रवाहित रहती है । जिस आनन्दप्रवाह में अपने आपको श्रद्धापूर्वक निमज्जित करने वाला परम भागधेय–भाग्यशाली-भारतीय मानव, परम भाग्यवान् नारीबृन्द, सौम्य बालबृन्द, एवं द्विजबन्धुवर्ग सभी तो उसी प्रकार परमपदात्मक मोक्षपद के ही अनायासेनैव अधिकारी बन जाते हैं, जैसे कि–द्विजाति–मानववर्ग सांस्कृतिक–आचारनिष्ठाओं से परमपुरुषार्थ–साधन कर लिया करता है ।

१४–नित्य–पूर्ण–आनन्दलक्षणा सांस्कृतिक–निष्ठा, और भारतीय मानव—

आत्मनिष्ठ भारतीय मानव का एकमात्र आराध्य मन्त्र है–"स्वयं सदा आनन्द में रहो, अपने परिवार को आनन्द में प्रतिष्ठित रक्खो। परिवारसमष्टिरूप समाज को आनन्दमय बनाते रहो। समाजसमष्टिरूप राष्ट्र को आनन्द के चरमोत्कर्ष का अनुगामी बनाए रहो। ऐसे आनन्दमय–राष्ट्र के राष्ट्रीय आनन्दसन्देश से विश्व के अन्य मानवों को शान्ति–स्वस्ति प्रदान करते रहो। आनन्दविघ्नकारिणी, सर्वसमृद्धिहारिणी, सर्वस्वविध्वंसिनी क्षणिक भावना का, तदनुगता शून्य--भावना का, तदनुगता दुःखभावना का स्वप्न में भी संस्मरण न करते हुए सदा सर्वत्र सब अवस्थाओं में-'नित्यं--नित्यं, पूर्णं--पूर्णम्--आनन्दः--आनन्दः' का ही विस्तार करते रहो"। यही भारतीय सांस्कृतिक–आचारनिष्ठाओं का एकमात्र फलितार्थ है। एवं यही है भारतीय–'सांस्कृतिक–आयोजनों' का एकमात्र फलितार्थ।

१५–आत्मा, एवं देवभावप्रधान आयोजनों की सांस्कृतिकता—

'संस्कृति' शब्द ही जब स्वयं आत्मदेवभाव में हीं निरूढ है, तो जिन लौकिक भौतिक आयोजनों में आत्मदेवभावना का प्राधान्य रहेगा, उन आयोजनों को ही-'सांस्कृतिक-आयोजन' कहा जायगा। कदापि उन मानसिक–शारीरिक मनोविनोदात्मक–तात्कालिक अनुरञ्जनात्मक–आत्मदेवभावनाशून्य आयोजनों को 'सांस्कृतिक–आयोजन' जैसी सम्मानित उपाधि से व्यवहृत नहीं किया जा सकेगा, नहीं हीं करना चाहिए किसी भी संस्कृतिमर्म्मज्ञ को तो। इस सांस्कृतिक–विवेक को आधार मान कर ही अब हमें 'सांस्कृतिक–आयोजन' की रूपरेखा उपक्रान्त करनी है, जिसका आस्तिक–ईश्वरनिष्ठ भारतीय मानव से ही सम्बन्ध है।

१६–अकृतात्मा–सुकुमारमति–शरीरधर्म्मा मानवों का स्वरूपदिग्दर्शन—

क्या परिभाषा है–भारतीय मानव की ?। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!! कितनें एक मानव तो भीतर–बाहिर--से–सब ओर से अपने आपको केवल शरीर ही शरीर मानते मनवाते आ रहे हैं। इन्हें हीं दर्शनभाषा में "अनात्मवादी शरीरात्मवादी मानव" कहा गया है, जिनका प्रातिनिध्य मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् के अवतारयुग में सुप्रसिद्ध नास्तिक–'जाजलि' करते थे, जिनको स्वयं भगवान् नें संस्कृति--धर्म्म की आत्मनिष्ठानुगता ज्ञानविज्ञानात्मिका कारणता * का विश्लेषण करते हुए उद्बोधन प्रदान किया है। आगे चलकर बृहस्पतिप्रमुख चार्वाकादिने अनीश्वरवादात्मक--शरीरात्मवाद की विगलिता भस्त्रा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया था। एवमेव प्रत्यक्षप्रभावात्मक अनेक वर्गों नें कालानुपात से सांस्कृतिक--अभिभूति–कालों में भावुक जनता के सम्मुख इस निष्प्राणा भस्त्रा का प्रदर्शन प्रक्रान्त रक्खा। और सम्भवतः तथाविध

---

*—नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले!॥
कारणाद्धर्म्ममन्विच्छन्–स लोकानाप्नुते शुभान्॥
—वाल्मीकिरामायण

आत्मबोधवञ्चित--दुःखार्णव में निमग्न--शरीरवादी आज भी शरीरात्मवाद के ही शवशरीर को उपमर्दित कर रहे हैं। जो स्थिति आत्मबोधशून्य एक अबोध शिशु की रहती है, वही स्थिति इन सुकुमारप्रज्ञ शरीरवादियों की है। अतएव ये बालवृन्दवत् उपेक्षणीय कोटि में हीं मानें गए हैं। 'जायस्व--म्रियस्व' लक्षण शरीरधर्म्मा पशुवत् ही इनका शरीरात्मवाद है। अतएव तदनुगत प्राणियों के लिए कुछ न कहना हीं श्रेयः पन्था है। **'सर्वज्ञानविमूढाँस्तान्–विद्धि नष्टानचेतसः'** ही इनकी एकमात्र पर्य्यवसानभूमि है। गीताचार्य्यनें इन्हें हीं-- **अकृतात्मा'** नाम से व्यवहृत किया है। क्योंकि--शरीर के अतिरिक्त कोई नित्य आत्मदेवता का इन्हें बोध नहीं है। अतएव पाप--पुण्य, सत्--असत्, धर्म्म--अधर्म्म, आदि के विवेक से भी इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु–**'अच्छा--और बुरा'** ये दो ही इनके आराध्य स्थल हैं, विवेकस्थल हैं। जो इनके शरीर को अच्छा लगता है (भले ही भूतविज्ञान की दृष्टि से भी वह अच्छा न हो), वही इनके लिए समादरणीय है। जो इन्हें बुरा लगता है, वही उपेक्षणीय है। अच्छा लगता है इन्हें वही, जो इनके शरीर-धर्म्म का संरक्षण करता हो। बुरा लगता है–इन्हें वह–जो इनके शारीरिक स्वार्थ में विघात उत्पन्न करता हो। श्रेयोमूलक हितकरभाव जहाँ इस शरीरक्षेत्र में कदापि प्रवेश नहीं पा सकते, वहाँ प्रेयोमूलक रुचिकर भाव ही यहाँ सदा सम्मान्य अतिथि बने रहते हैं।

१७–अशन–पान–गीत–नृत्यादि-परायण मनोधर्म्मा मानवों का स्वरूप–विस्फोटन—

कुछ मानव ऐसे भी हैं, जो शरीर के साथ साथ 'मन' को भी थोड़ा स्थान दे देते हैं। मनोधर्म्मा वही वर्ग कामयमान वह वर्ग है, जिसके परमपुरुषार्थ ऐन्द्रियक–मनोमय भोग ही बने रहते हैं। मनोऽनुगत काम, एवं शरीरानुगत अर्थ, इन दो के अतिरिक्त इस मनःप्रधान–मनोजीवी मानववर्ग के लिए अपने मानवजीवन में अन्य कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, जिस महान्? कर्त्तव्य ? का इस लोकसूक्ति से स्पष्टीकरण हुआ है कि–**'खाना–पीना, मौज–उड़ाना'**। अशन-पानात्मक–खाना–पीना शरीरात्मक अर्थभाव है, एवं 'मौज उड़ाना' मानवीय-मानस–कामभाव है, जिसके साथ वैदिक–प्राणविद्या के अनुसार चान्द्र–गन्धर्व्वप्राण, एवं **अप्सराप्राण** का सम्बन्ध माना गया है। गन्धर्वाप्सरा-नामक प्राण ही मन की कामवृत्ति को प्रोत्साहन–प्रदान करने वाले वे चान्द्रधर्म्म हैं, जो चान्द्रसोमप्रधान मनस्तन्त्र को तत्प्राणानुगत–सहचारी–नृत्य–गीत–वादित्र (नाचना–गाना–बजाना) के साथ अनैतिकता की ओर प्रवृत्त रखते हैं। **'गीते वा रमते वा'** (शतपथ ब्रा०) के अनुसार कविता–नृत्य–गीत–वाद्य–समष्टिरूप * सङ्गीत,–अखाद्य–खादन, अपेय--पानादि ही काममय अर्थासक्त मनोजीवी मानववर्ग की एकमात्र जीवनचर्य्या बने रहते हैं, जिनमें बुद्धि का तो प्रवेश भी निषिद्ध माना गया है। पुराणपुरुष भगवान् व्यासदेव ने इन्हीं लक्षणों को तमोगुण की महिमा ? बतलाया है, जिसकी परिभाषा यही हुई है–व्यासभगवान् के शब्दों में कि–''ऐसे व्यक्ति की रसनेन्द्रिय सदा विविध प्रकार के–सुस्वादु–भोजनद्रव्यों के लिए ही लालायित बनी रहती है। आप इनसे जब भी कहीं भी मिलेंगे–सर्वप्रथम ये अपना जिह्वालौल्य ही अभिव्यक्त कर डालेंगे–**'भक्षणाद्यभिरोचनम्'** ही इनकी प्राथमिक कामना रहेगी। इसके साथ ही अपनी काममयी लोलुपता से ये कभी भोजनसमारम्भों से तृप्ति–तुष्टि का अनुभव ही न करेंगे। अपितु एक गृध्नु–मलीमस–पिन्दपान–कीटाणु की भाँति सदा खाते हुए भी ये खाते रहने के लिए ही आकुल व्याकुल बने रहते हैं।

*** नृत्यं–गीतं च वाद्यं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते।**

यही इनका–'**भोजनानामपर्य्याप्तिः**' रूप दूसरा पुरुषार्थ ? माना जायगा। भोज्यद्रव्यों के अतिरिक्त वारुण–आसुर–तमोगुण इन्हें 'वारुणी' नामक पेयद्रव्य के **गौड़ी–पैष्टी–माध्वी**–आदि विविध पेय–वर्गों की ओर आकर्षित करता रहेगा, जो पेय–अतृप्ति–भोजन–अतृप्ति–से भी दुरधिगम्या बनी रहती है। यही इनका–'**तथा पेयेष्वतृप्तता**' रूप तीसरा पुरुषार्थ माना जायगा। इन तीन प्रधान पुरुषार्थों के अतिरिक्त–तत्सहचारी–विविधप्रकार के गन्धों (तैल–इत्रादि–सेन्ट–लवेन्डरादि) का लिम्पन, तथाविध मनोजीवी प्राणियों की जघन्या–विहारस्थलियों–गोष्ठियों–पानगृहों के प्रति निरन्तर अनुधावन, व्यसनों से म्लान हो जाने पर भोगनिद्रात्मक शयन, शयन से भी जब थकान हो जाय, तो उठ कर अकर्म्मण्यरूप से एकत्र बैठ जाना, बैठे रहना, अनर्गल प्रलाप करते रहना, विशेषतः दिन में हीं सोते रहना, (और रात्रि में निशाचर की भाँति) विहारस्थलियों में दन्द्रम्यमाण बने रहना, रोगाक्रान्त–प्रमादस्थलों–में रत्यासक्त बने रहना, तत्तद्विशेष विहारस्थलियों (होटलों–क्लबों–रेस्टारेन्टों–पानालयों) में पहिले से ही समायोजित नृत्य–गीत–वादित्रादि भावों के प्रति पूर्ण श्रद्धा से अनुगमन, और सर्वोपरि धार्म्मिक पर्वों–उत्सवों–आचारों–आयोजनों के प्रति सर्वथा–द्वेष प्रकट करते रहना हीं इत्थंभूत मनःशरीरधर्म्मा–कामार्थपरायण–कामोपभोगजीवी मानवों का समस्त इतिवृत्त है, जिसका इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

तमसो लक्षणानीह भक्षणाद्यभिरोचनम् ॥
भोजनानामपर्य्याप्ति, स्तथा पेयेष्वतृप्तता ॥ १ ॥
गन्धवासो–विहारेषु–शयनेष्वासनेषु च ॥
दिवास्वप्नेऽतिवादे च प्रमादेषु च वै रतिः ॥ २ ॥
नृत्य–वादित्र–गीतानां–अज्ञानाच्छ्रद्दधानता ॥
द्वेषो धर्म्मविशेषाणां–एते वै तामसो गुणाः ॥ ३ ॥

—महाभारत शा० मो० ३१३ अध्याये।

१८–केवल तत्त्वविजृम्भक, वाग्विग्लापक आचारशून्य बुद्धिधर्म्मा मानवों का स्वरूपेतिवृत्त–

अब क्रमप्राप्त तीसरे बुद्धिजीवी–वर्ग की यशोगाथा को श्रवण कर अपने आपको धन्य बनाइए, जो आजकी भाषा में–विचारक, नीरक्षीरविवेकी–बुद्धिवादी कहलाया है। आत्मस्वरूप से एकान्ततः विस्मृत, अतएव आत्मस्वरूपबोधोपयिक आस्था–श्रद्धाभावों से असंस्पृष्ट, अतएव श्रद्धानुगता सहज–माधुरी से सर्वथैव पराः-परावत, अतएव अत्यन्त ही रूक्ष–कर्कश, मानसविनोदभावों से वञ्चित, शारीरिक पुष्टिभावों से बहिष्कृत, अतएव मानसिक–शारीरिक–तुष्टि–पुष्टि–भावों से वञ्चित, अहोरात्र स्वकल्पना के बल पर ही–बुद्धि के बल पर ही शब्दों के जोड़–तोड़ बैठाने में पारङ्गत, इस पारङ्गतता को ही अपना महान् बुद्धिकौशल–पाण्डित्य–मानने–मनवाने की भ्रान्ति में अहोरात्र निमग्न, सतत लोकैषणाओं में आत्मविस्मृत, अतएव सभी को प्रसन्न करने के लिए समातुर अमुक श्रेणिविशेष के तत्त्वविचारक को ही आज हम भारतीय–बुद्धिजीवी–बुद्धिवादी–मानव कहेंगे, जो अपने इस काल्पनिक पाण्डित्य की प्रतिष्ठा के संरक्षण के लिए युगधर्म्मानुगता सभी सदसत्–मान्यताओं का शब्दानुकरणमाध्यम से, शब्दों के हेर–फेर से, उनके काल्पनिक अर्थसमन्वय से समर्थन ही करते रहते हैं। ऐसे बुद्धिवादियों की कृपा से ही पूर्वोपवर्णित मनोजीवी, तथा शरीरजीवीवर्ग निःशङ्क बन कर, अपनी

निःशङ्कताओं पर तथाविध बुद्धिवादियों का मुद्राङ्कन करवा कर (छाप लगवा कर) सर्वतन्त्रस्वतन्त्ररूप से विचरण करते रहते हैं, जिन बुद्धिवादियों के लोकरुचि के अनुसार **साहित्यिक-आलोचक-लेखक-पुरातत्त्वविद्-दार्शनिक-कवि-सन्त-उपदेशक-पत्रकार-प्रकाशक-प्रचारक-संस्कृतिभक्त-सुधारक**-आदि आदि अनेक अवान्तरवर्ग शरभदलवत् इतस्ततः विचरण कर रहे हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य है-जनता, और सत्ता को उद्बोधन * प्रदान करते रहना, जिन उद्बोधनों के इतिहास के लिए तो स्वतन्त्र ही निबन्ध अपेक्षित माना जायगा।

१९-त्रिविध मानवश्रेणियों के सम्मिश्रणतारतम्य से अनेक वर्गों का आविर्भाव—

इसप्रकार-केवल **शरीरजीवी**, केवल **मनोजीवी**, **शरीरमनोजीवी**, केवल **बुद्धिजीवी**, **मनोबुद्धिजीवी**, **शरीरबुद्धिजीवी**, **शरीरमनोबुद्धिजीवी**, आदि भेद से तथाकथित तीन प्रधान वर्गों की संकरता से-सम्मिश्रणतारतरूप से अवान्तर अनेक वर्ग और उत्पन्न हो जाते हैं, जो भारतदेश की पावन मिट्टी से शरीरी बनते हुए भी, चान्द्रसोम से मनोमय बनते हुए भी, एवं सौरसविता से बुद्धिमय प्रमाणित होते हुए भी-अव्यक्त स्वायम्भुवतत्त्व से अभिन्न भूतात्मा के स्वरूपबोधात्मक अनुग्रह से वञ्चित रहते हुए आत्मनिष्ठ भारतदेश की आत्मनिष्ठा की दृष्टि से तो कदापि-'भारतीय' नहीं कहे जा सकते, नहीं माने जा सकते।

२०-भारतीय मानव की नैष्ठिकी स्वरूप-परिभाषा—

आत्मसाक्षात्कारकर्त्ता भारतवर्ष तो अपने पावन क्रोड़ में आविर्भूत होने वाले उसी मानवश्रेष्ठ को-'भारतीय-मानव' कहेगा, जो न केवल शरीरधर्म्मा ही होगा, न केवल मनोजीवी ही होगा, न केवल बुद्धिवादी ही होगा, एवं न केवल आश्रमव्यवस्थाशून्य-असमय में हीं काषायवस्त्र धारण करने वाला जगन्मिथ्यात्ववादी कल्पित आत्मवादी ही होगा। अपितु यह तो उसे ही भारतीय मानव कहेगा-जो ईश्वरीय-स्वायम्भुव-सौर-चान्द्र-पार्थिव-सनातन पर्वों के प्रवर्ग्य भागों से आविर्भूत भूतात्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-इन सनातन चारों पर्वों का समसमन्वय करता हुआ शरीर से **अर्थसाधन** में, मन से **कामसाधन** में, बुद्धि से **धर्म्मसाधन** में, एवं भूतात्मा से **मोक्षसाधन** में प्रवृत्त रहेगा। एवं तत्प्रवृत्तियों के संरक्षण-परिवर्द्धन के लिए अपनी द्विजातित्व-मर्य्यादा से **सांस्कृतिक--आचारनिष्ठा** का मर्य्यादापूर्वक यावज्जीवन अनुगमन करता रहेगा, किंवा तदसामर्थ्य में उन-**सांस्कृतिक--आयोजनों** का यावज्जीवन अनुगामी बना रहेगा, जिन पर्व-उत्सव-समारोह-आयोजनात्मक सांस्कृतिक-आयोजनों से भी आचारनिष्ठावत् ही तथाविध भारतीय मानव अपनी सच्चिदानन्दब्रह्मात्मिका मोक्षनिष्ठा को अन्वर्थ बनाने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, निश्चयेन प्राप्त कर लेता है। यही है-उस भारतीय-मानव की स्वरूप-परिभाषा का दिग्दर्शन, जिसे लक्ष्य बना कर ही अब हमें आयोजनों की रूपरेखा का उपक्रम करना है।

२१-सर्वसमन्वयात्मक-पारिभाषिक-'व्यक्तिमानव'—

भारतीय मानव का प्रकृतिसिद्ध जैसा पारिभाषिक स्वरूप है, ठीक वैसा ही पारिभाषिक स्वरूप इसके **'सांस्कृतिक-आयोजन'** का है। भारतीय मानव न तो केवल शरीर को ही 'मानव' कहता, न केवल 'मन'

* विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय भावुक जनतन्त्र इत्थंभूत विभिन्न नव (९) ग्रहग्राहात्मक उद्बोधक-विवेचक-वर्गों के आक्रमण से किस प्रकार अपनी आत्मनिष्ठा से उत्तरोत्तर अभिभूत होता आ रहा है ?, प्रश्न का समाधान श्वेतक्रान्तिनिबन्ध के द्वितीयखण्ड में हीं द्रष्टव्य है।

को ही 'मानव' मानता, न केवल 'बुद्धि' को ही 'मानव' उपाधि से समन्वित करता, एवं न केवल 'भूतात्मा' को ही मानव-अभिधा से युक्त मानता। अपितु चारों के समन्वित-रूप को ही वह पारिभाषिक-यथार्थ-'मानव' मानता है, जो इत्थंभूत परिपूर्ण मानव शरीरजीवी-मनोजीवी-बुद्धिजीवी-समस्त कृमि-कीट-पक्षी-पशुओं के समतुलन में श्रेष्ठ माना गया हैं, जैसा कि **'भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः (मनो जीविनः)--प्राणिनां-बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु--नराः श्रेष्ठाः'** इत्यादि मनुवचन से प्रमाणित है। चारों पर्व परस्पर समन्वित हैं। अतएव चारों चारों के उपकारक भी हैं, उपकार्य्य भी हैं। अनुग्राहक भी हैं, अनुग्राह्य भी हैं। अन्योऽन्याश्रित चारों प्राकृतिक-मानवीय पर्वों के समन्वयात्मक पारिभाषिक इत्थंभूत मानवश्रेष्ठ के प्रत्येक सांस्कृतिक-आयोजन को भी गौण-प्राधान्यरूपेण-आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर इन-चारों मानवीय पर्वों की पुष्टि-तुष्टि-तृप्ति-शान्ति का उपोद्बलक होना चाहिए। **पुष्टि शरीर का धर्म्म है, तुष्टि (अर्द्ध तृप्तिरेव-आंशिक तृप्तिरेव तुष्टिः) मनका धर्म्म है, तृप्ति बुद्धि का धर्म्म है, एवं शान्ति भूतात्मा का धर्म्म है।**

१-मानवीयः--भूतात्मा--स्वायम्भुवः-शान्तिगुणान्वितः	समन्वयात्मकः-पारिभाषिकः **"व्यक्तिमानवः"**
२-मानवीया--बुद्धिः---सौरी---तृप्तिगुणान्विता	
३-मानवीयं--मनः---चान्द्रम्--तुष्टिगुणान्वितम्	
४-मानवीयं--शरीरम्--पार्थिवम्--पुष्टिगुणान्वितम्	

----*----

२२-चतुष्पर्वा भारतीय मानव के पर्वचतुष्टयसमन्वयात्मक-सांस्कृतिक-आयोजन--

प्रकृत्यनुगत-सत्त्वगुणान्वित-अन्नब्रह्म ही शारीरिक पुष्टि का परम्परया निमित्त बनता है। अतएव प्रत्येक आयोजन में अनुरूप--मर्य्यादित--अन्न का भी आयोजन होना ही चाहिए। प्रकृत्यनुगत--शिष्टजनसम्मत-मानसिक शक्तिवर्द्धक--गन्धर्वाप्सरा--प्राणनुगृहीत--सङ्गीत से समन्वित आराधन (उपासन) ही मानसिक--तुष्टि का परम्परया निमित्त बनता है। अतएव प्रत्येक आयोजन में आयोजन के मूलधारभूत आत्मदेव के स्वरूपानुरूप-सात्त्विक सङ्गीत का भी आयोजन व्यवस्थित होना हीं चाहिए। प्रकृत्यनुगत-आत्म-देवस्वरूपविश्लेषक-तत्त्वविवेक ही बौद्धिक--तृप्ति--का कारण बना करता है। अतएव आयोजन में तत्तद्देवानुबन्धिनी तत्त्वचर्चा से अनुप्राणिता--कथात्मिका--तृप्ति का भी आयोजन होना हीं चाहिए। स्वायम्भुव भूतात्मा--नियतिःसत्यात्मक है, जिसका प्रथम प्रकरण में दिगदर्शन कराया जाचुका है। नियतिःसत्यात्मक--भूतात्मा के अनुग्रह से ही शान्ति का उदय होता है। तदर्थ भूतात्मानुबन्धी वैसे कुछ एक प्रकृतिसिद्ध विधि-विधानों का भी संग्रह अपेक्षित होजाता है, जिन विधि--विधानों का शास्त्रीया--आचारनिष्ठा से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। भूतात्मानुगता-शान्ति के प्रतिष्ठापन के लिए तत्संग्राहक--उस आचार का भी आयोजन में--आस्थाश्रद्धा--पूर्वक संग्रह करना आवश्यक हो जाता है। और यों चतुष्पर्वा भारतीय मानव का प्रत्येक सांस्कृतिक-आयोजन तथाविध--चारों गुणों के द्वारा सचमुच भारतीय मानव का सांस्कृतिक--आयोजन ही प्रमाणित होजाता है।

२३–यथाकाल-पात्र-श्रद्धा-देवता-आदि के समन्वय के द्वारा आयोजनों की स्वरूपनिष्पत्ति–

अमुक **शास्त्रीय आचार**, अमुक **तत्त्वचर्चा**, अमुक **मङ्गलगान**, अमुक **भोजनायोजन**, चारों हीं आयोजन प्रत्येक आयोजन के अङ्ग बने हीं रहने चाहिएँ। चारों में से एक का भी अभाव आयोजन के स्वरूप को उसी प्रकार विकृत-दूषित–यातयाम–गतरस–बना देता है, जैसेकि आत्मा–बुद्धि–मन–शरीर–में से एक का भी अभाव मानव को मानवस्वरूप से पराङ्मुख बना देता है। इनका उदाहरणात्मक–विशेष समन्वय तो तदायोजनों की रूपरेखा में ही स्पष्ट होगा। प्रसङ्गसमन्वय के लिए सामान्यरूपेण अभी इस सम्बन्ध में यही जान लीजिए कि, परम सांस्कृतिक, अतएव परमभाग्यशाली–आचारनिष्ठ–राजस्थान की राजधानी जयपत्तन–नगर (जयपुर) में सामान्यरूपेण सदा ही, किन्तु विशेषरूपेण प्रत्येक पुरुषोत्तममास में ('मलिम्लुच' नामक अधिकमास में) बेदसिद्ध * '**सप्ताहयज्ञ**' के सांस्कृतिक आचार के प्रतीकभूत पौराणिक '**सप्ताहकथा**' नामक सांस्कृतिक आयोजन बड़े ही समारोह के साथ नगर के तत्तद्विशेष देवमन्दिरों में एकमात्र प्रजा के सहयोग से ही मनाए जाते हैं, जो यहाँ की भाषा में–'**सात दिन की बरणी**' कहलाया है, जो 'सप्ताहवरण' का ही प्राकृतरूप है। अमुक माङ्गलिक तिथि–नक्षत्र के पावन मुहूर्त्त में सप्ताहपारायण का आरम्भ होता है। सप्ताह के अधिदेवता भगवान् विष्णु का **पूजन–स्थापन–हवन**–आदि वे सभी शास्त्रीय आचार आचारनिष्ठ ब्राह्मणों के द्वारा साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न किए जाते हैं, जिनका मानव के भूतात्मपर्व से सम्बन्ध है। तदनन्तर व्यासपीठ पर समारूढ कथावाचक महानुभाव के द्वारा तत्त्वचर्चा–विश्लेषणपूर्वक सात दिवस पर्य्यन्त कथा होती है, जिसका बुद्धिपर्व से सम्बन्ध है। सप्ताहपर्य्यन्त पारायणपाठ के लिए पारायणसत्र में वृत १०८ ब्राह्मणों के द्वारा उपांशुरूप से होने वाले पारायणपाठमात्र का भूतात्मा की शान्ति से भी सम्बन्ध है, एवं बुद्धि की वैय्यक्तिक तृप्ति से भी सम्बन्ध है। कथारम्भ में, एवं कथासमाप्ति पर प्रतिदिन कथा में समवेत श्रद्धालुवर्ग के द्वारा भगवत्स्मरणात्मक सङ्गीत का भी आयोजन होता है, यही मानसिक तुष्टि का संग्राहक तृतीय आयोजन है। सर्वान्त में सायंकाल शरीरपुष्ट्यनुगत ब्राह्मणभोजन का आयोजन होता है प्रतिदिन। और यही चतुर्थ पर्व का संग्राहक आयोजन है। यों इस कथारूप सांस्कृतिक–आयोजन में चारों पर्वों के चारों आयोजन यथापात्र–यथाकाल–यथाश्रद्धा–यथादेवता, सर्वोपरि यथायुग समन्वित बने रहते हैं।

२४–आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-समन्वयमूलक प्रत्येक आयोजन की सर्वता—

महाराष्ट्रीया श्रद्धालु प्रजा का–'**सत्यनारायणाँची महापूजा**' नाम से प्रसिद्ध सांस्कृतिक आयोजन भी प्रतिपूर्णिमा को आयोजन की चतुष्पर्वसमन्वयवृत्ति को ही प्रमाणित कर रहा है। भूतात्मा की शान्ति से सम्बद्ध '**विष्णुदेव का स्थापन**', बुद्धितृप्त्यनुगता **सत्यनारायणकथा**, मनस्तुष्ट्यनुगत भावुक भक्तों के द्वारा झञ्झातालमृदङ्ग–द्वारा **विष्णुस्तवन**, सर्वान्त में शरीरपुष्टिभावानुगत **प्रसादवितरण**, रूप से स्पष्ट ही इसका परिपूर्ण आयोजनत्व संसिद्ध है। एवमेव बड़े से बड़ा आयोजन हो, अथवा छोटे से छोटा आयोजन, प्रत्येक

***–येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।**
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

—यजुःसंहिता ३४।४।